रिफॉर्म्ड विश्वास

वेस्टमिन्स्टर विश्वास
के अंगीकार-कथन की व्याख्या

The Reformed Faith

An Explanation of
the Westminster Confession of Faith

रॉबर्ट शॉ

by Robert Shaw

***The Reformed Faith, A Commentary on the Westminster Confession of Faith*, by Robert Shaw**

© Christian Focus Publications
First published in 1845.
First Christian Focus Publications edition in 1973
English edition published in 2008, Reprinted in 2020 and 2021
in the Christian Heritage Imprint

by Christian Focus Publications,
Geanies House, Fearn, Ross-shire,
IV20 1TW, Scotland, UK
www.christianfocus.com

All rights reserved. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted, in any form, by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise without the prior per-mission of the publisher or a license permitting restricted copying. In the U.K. such licenses are issued by the Copyright Licensing Agency, 4 Battlebridge Lane, London, SE1 2HX.

Hindi Edition © 2026 by:

Reformation Translation Fellowship (RTF-USA)
3026 6th Ave.
Beaver Falls, PA 15010
www.rtf-usa.com

Contact Information: rtfdirector@gmail.com

FOR FREE DISTRIBUTION ONLY – NOT FOR SALE

विषय-वस्तु

डॉ. सिंक्लेयर बी. फर्ग्यूसन द्वारा प्राक्कथन..... v

प्रस्तावना..... ix

परिचयात्मक निबंध..... xi

1. पवित्र शास्त्र 1

2. परमेश्वर और पवित्र त्रिएक परमेश्वर..... 37

3. परमेश्वर के अनन्त विधान..... 71

4. सृष्टि की रचना..... 101

5. परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन (Providence)..... 111

6. मनुष्य का पाप में गिरना, पाप, और इसके परिणामस्वरूप दण्ड 123

7. मनुष्य के साथ परमेश्वर की वाचा..... 141

8. मध्यस्थ यीशु ख्रीष्ट..... 159

9. स्वतंत्र इच्छा..... 193

10. प्रभावशाली बुलाहट..... 201

11. धर्मी ठहराया जाना (धर्मीकरण)..... 213

12. लेपालकपन..... 237

13. पवित्रीकरण..... 245

14. उद्धार वाला विश्वास..... 253

15. जीवन के लिए पश्चाताप..... 267

16. भले कार्य..... 283

17. संतों का अंत तक दृढ़ बने रहना (Perseverance of the Saints) 299

18. अनुग्रह एवं उद्धार का आश्वासन..... 317
19. परमेश्वर की व्यवस्था..... 335
20. मसीही स्वतंत्रता, और विवेक की स्वतंत्रता..... 351
21. मसीही आराधना, एवं सब्त का दिन..... 373
22. वैध शपथ एवं व्रत लेना..... 413
23. नागरिक मजिस्ट्रेट..... 423
24. विवाह और तलाक..... 447
25. कलीसिया..... 457
26. संतों की संगति..... 479
27. मसीही संस्कार (Sacraments)..... 493
28. बपतिस्मा..... 501
29. प्रभु भोज..... 519
30. कलीसिया के निन्दा प्रस्ताव..... 539
31. मसीही धर्म महासभाएं (Synods) एवं मसीही परिषद (Councils) 547
32. मृत्यु के पश्चात् मनुष्यों की अवस्था और मृतकों का पुनरुत्थान 557
33. अन्तिम न्याय..... 571
परिशिष्ट 1 विश्वास के अंगीकार-कथन को स्वीकृति देने वाला अधिनियम..... 581
विषय सूची..... 585

प्राक्कथन

वेस्टमिन्स्टर विश्वास का अंगीकार-कथन मसीही कलीसिया के सबसे महान एवं सबसे प्रभावशाली लेखों में से एक है। यह मसीही विश्वास के विषय में अब तक लिखी गई सबसे पूर्ण एवं बहुत ही सावधानीपूर्वक रचित संक्षिप्त व्याख्या है। लगभग तीन सौ पचास वर्ष बाद भी इसे बाइबल की शिक्षाओं के एक भव्य सारांश के रूप में उपयोग एवं पसंद किया जाता है।

बीते समय में इस अंगीकार-कथन को शिक्षा के सभी स्तरों के मसीही लोगों द्वारा पढ़ा, उस पर विचार एवं इसका अध्ययन किया जाता था। खेती करने वाला किसान और कारीगर इससे उतना ही परिचित था जितना कि कोई शिक्षक या धर्म-विज्ञानी था। मसीही सिद्धांत को समझना एवं सफल मसीही जीवन व्यतीत करना उस समय आपस में घनिष्ठ सम्बन्धी के रूप में देखे जाते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इसका परिणाम एक दृढ़, सशक्त, बुद्धिमत्तापूर्ण और आत्म-त्यागी मसीही विश्वास था, क्योंकि इस अंगीकार-कथन ने मसीही लोगों की आत्मिक हड्डियों में जान डाली।

बेशक, इस अंगीकार-कथन का उत्कर्ष उस युग में था, जब मसीही लोगों के पास बहुत कम आराम का समय होता था, कोई टेलीविजन नहीं थे, और पुस्तकें भी कम थीं। इसके विपरीत हमारे पास हमारा ध्यान भटकाने के लिए बहुत सारी वस्तुएँ हैं। फिर भी, यह हमारी आत्मिक हानि के लिए ही है कि हम – तुलनात्मक रीति से इतने सुशिक्षित होने के बावजूद – उन बातों में, अर्थात, सुसमाचार की उन सच्चाइयों के विषय में इतने कम शिक्षित हैं जो सबसे अधिक मायने रखती हैं। निश्चित ही, अंगीकार-कथन

पढ़ने से हम आधुनिक लोग एक ऐसे संसार एवं शब्दावली में प्रवेश कर सकते हैं, जिससे हम में से कई लोग अपरिचित हैं।

इस स्थिति में, हमें अपने युग के प्रभावों को निष्क्रिय रूप से स्वीकार करने, या, यह इच्छा करने की गलती नहीं करनी चाहिए कि हम किसी दूसरे युग में पैदा हुए हैं। इसके विपरीत, हमें हमारे मनों के नवीनीकरण के द्वारा तेजी से परिवर्तित होते हुए, पूर्ण रूप से गैर-सादृश्यता-वादी (non-conformist) वाला मसीही जीवन जीना सीखना चाहिए (जैसा कि पौलुस ने रोमियों 12:1 – 2 में कहा है)।

इस बात में, रॉबर्ट शॉ हमारी सहायता कर सकते हैं। अंगीकार-कथन के एक-एक अध्याय को प्रारम्भिक बिंदु के रूप में लेते हुए, वे गर्मजोशी एवं उत्साहपूर्वक इसकी शिक्षा को समझाते हैं। उनका कार्य ईश्वर-विज्ञान में एक लघु पाठ्यक्रम प्रदान करता है। इससे भी अधिक, यह सम्पूर्ण सुसमाचार को इस रीति से समझाते, व्याख्या करते और अनुप्रयोग करते हैं, जो कि पवित्रशास्त्र के संदेश को समझाएगा, समझ को प्रकाशित करेगा, आराधना को प्रोत्साहित करेगा और मसीही जीवन को अधिक मजबूत बनाएगा। एक शिक्षक एवं साथी के रूप में, रॉबर्ट शॉ के साथ निजी अध्ययन का यह पाठ्यक्रम हमें आधुनिक संसार में यीशु ख्रीष्ट के लिए बुद्धिमान एवं सक्षम गवाह बनने हेतु तैयार करेगा – जो कोई तुम से तुम्हारी आशा के विषय में कुछ पूछे, उसे उत्तर देने के लिए सर्वदा तैयार रहो (1 पतरस 3:15)। यह एक पुस्तक के मूल्य में मामूली निवेश और थोड़े समय एवं अध्ययन के खर्च के लिए बहुत अच्छा प्रतिफल है।

यदि व्यक्तिगत गवाही से कोई प्रोत्साहन मिलता है, तो सम्भवतः मुझे स्वयं की गवाही को अभिलिखित करने की अनुमति दीजिए। मैं बड़े कृतज्ञता-पूर्वक अपने किशोरावस्था के अंतिम दिनों को स्मरण करता हूँ, जब मैं पहली बार वेस्टमिन्स्टर अंगीकार-कथन से परिचित हुआ था, और मैंने एक टीका की सहायता से इसका अध्ययन करना आरम्भ किया था।

पीछे पलटकर देखने पर, मुझे लगता है कि यह मेरे द्वारा किए गए समय और विचार के सबसे मूल्यवान निवेशों में से एक है। इसने मुझे परमेश्वर की महानता, ख्रीष्ट की महिमा, पवित्र आत्मा की सेवकाई, मसीही जीवन की प्रकृति, कलीसिया और आने वाले संसार को समझने में एक कदम आगे बढ़ाया है। कभी-कभी मैं अध्ययन के उस समय की तुलना गिलहरी की उस गतिविधि से करता हूँ जो उसे सर्दियों के मौसम में जीवित रहने के लिए मेवे इकट्ठा करती है! और यह सच साबित हुआ है। इस पुस्तक को सावधानीपूर्वक और प्रार्थना-पूर्ण विचार, विवेक और प्रशंसा के साथ पढ़ते हुए, रॉबर्ट शॉ को अपना मार्गदर्शक बनाइए, और आप समझ जाएंगे कि मेरे कहने का क्या तात्पर्य है।

सिंक्लेयर बी. फर्ग्यूसन
फर्स्ट प्रेस्बिटेरियन चर्च, कोलम्बिया, साउथ कैरोलिना।

प्रस्तावना

वेस्टमिन्स्टर असेंबली के संतों द्वारा तैयार किए गए विश्वास के अंगीकार-कथन के निम्नलिखित व्याख्या को तैयार करते समय, लेखक का उद्देश्य, प्रत्येक भाग में समाहित सत्य को बताना, जहाँ भी आवश्यक लगे, वहाँ प्रयुक्त शब्दावली की व्याख्या करना, और सिद्धांतों को चित्रित एवं उनकी पुष्टि करना है। पुस्तक को अनावश्यक रूप से बड़ा होने से बचाने के लिए, तर्कों को यथा-सम्भव संक्षिप्त कर बताया गया है; दृष्टांतों में, संक्षिप्तता के साथ सुस्पष्टता का अध्ययन किया गया है, तथा पवित्रशास्त्र के अनेक अंश, जो चर्चा किए गए विषयों को स्पष्ट करते हैं, उन्हें बड़ा करके उद्धृत किए बगैर, केवल संदर्भ में दिया गया है। यह आशा की जाती है कि सतर्क पाठक यहाँ पर बड़ी रचनाओं के सार को एक सीमित स्थान में समेटे हुए पाएगा; यह कि मनन चिंतन के लिए सामग्री सुझाई जाएगी; तथा चिह्नित पवित्रशास्त्र के लेखों की जाँच, उन बिंदुओं पर अधिक प्रकाश डालेगी जिनका वे उल्लेख करते हैं।

वेस्टमिन्स्टर विश्वास के अंगीकार-कथन में, परमेश्वर के वचन पर आधारित सत्य की एक सरल व्याख्या है; लेकिन इसके कई तर्क उन गलत शिक्षाओं और त्रुटियों के विरोध में लिखे गए हैं, जो कि विभिन्न समयों में प्रचारित किए गए। इसलिए, इस व्याख्या के लेखक का एक प्रमुख उद्देश्य यह रहा है, कि वह उन असंख्य त्रुटि-पूर्ण शिक्षाओं को गिनाए जिनके विरुद्ध अंगीकार-कथन में वक्तव्य निर्देशित हैं। इस प्रकार पाठक वेस्टमिन्स्टर असेंबली के संतों द्वारा उन विभिन्न त्रुटियों पर व्याख्या पाएगा जिनके द्वारा पूर्व के समय में सत्य को भ्रष्ट किया गया था, और जिनके द्वारा आधुनिक त्रुटियों से बचाव किया जाएगा, जो सामान्यतः उन गलत शिक्षाओं की पुनः

बहाली मात्र है जिन्होंने पूर्व समय में कलीसिया को परेशान किया था, तथा जिनका बहुत पहले खण्डन किया जा चुका है।

सन्दर्भ के लिए इस रचना को अधिक सुलभ बनाने हेतु, इसमें विषय-सूची आरम्भ में जोड़ी गई है, और एक विस्तृत अनुक्रमणिका अन्त में जोड़ी गई है, जो एक ही दृष्टि में, चर्चा किए गए विभिन्न विषयों तथा कार्य के दौरान पाई गई अनेक त्रुटियों को दिखाएगी।

वेस्टमिन्स्टर असेंबली के संतों द्वारा प्रत्येक व्याख्या के साथ संलग्न किए गए पवित्रशास्त्र के प्रमाणों को लिपिबद्ध करने से यह पुस्तक अनावश्यक आकार में बढ़ जाती। लेकिन प्रत्येक खंड के बाद पवित्रशास्त्र के पदों को रखा गया है; और जो लोग बाइबल में इन प्रमाणों को देखने का कष्ट उठाएंगे, उनका यह अतिरिक्त परिश्रम बहुत लाभकारी होगा। पवित्रशास्त्र का उनका ज्ञान और बढ़ेगा और वे इस बात से संतुष्ट हो जाएंगे कि अंगीकार-कथन में वर्णित प्रत्येक सत्य परमेश्वर के वचन के बहुत अधिक अनुकूल है। इस विषय पर, इस व्याख्या का लेखक पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं कि उन्होंने सिद्धांत के किसी भी एक बिंदु पर अंगीकार-कथन के निर्माताओं से अलग विचार रखने को आवश्यक नहीं समझा। कुछ मामलों में, भाषा में सुधार की गुंजाइश हो सकती है; लेकिन विषय-वस्तु की सच्चाई के विषय में, वे 1647 में चर्च ऑफ स्कॉटलैंड की जनरल असेंबली के निर्णयों से पूरी रीति से सहमत है, कि यह सबसे अधिक रूढिवादी है और परमेश्वर के वचन पर आधारित है। और यदि यह अंगीकार-कथन दो सौ वर्ष पूर्व सत्य की एक भरोसेमंद रचना थी, तो उसे आज भी वैसा ही होना चाहिए; क्योंकि पवित्रशास्त्र के सत्य, अपने दिव्य लेखक के समान, कल, आज और सर्वदा एक जैसा है।

व्हिटबर्न,

12 मई 1845

परिचयात्मक निबंध

विभिन्न समयों पर और ज्ञान या बौद्धिकता के विभिन्न स्तरों के साथ विश्वास के कथनों एवं अंगीकार-कथनों के उपयोग के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई गई हैं। यह आवश्यक नहीं कि इन सभी आपत्तियों को सूचीबद्ध किया जाए या उन सभी का उत्तर दिया जाए, क्योंकि उनमें से कई विस्मृति में खो गई हैं, और अन्यों का पर्याप्त खण्डन पहले ही किया जा चुका है। लगभग एकमात्र आपत्ति जो अब किसी स्तर तक विश्वास के साथ उठाई जाती है, वह है, जो अंगीकार-कथनों पर उस पद और अधिकार को हड़पने का आरोप लगाती है, जो केवल परमेश्वर के सत्य के पास है। यह आपत्ति स्वयं इस गलत दृष्टिकोण से उत्पन्न हुई है कि विश्वास के अंगीकार-कथन वास्तव में क्या है, और कि वह क्या बात है, जिसमें अंगीकार-कथन के बनाए जाने की आवश्यकता सम्मिलित है। विश्वास के अंगीकार-कथन की रचना की आवश्यकता मनुष्य को प्रकट किए गए पवित्र सत्य की प्रकृति में निहित नहीं है; लेकिन यह स्वयं मनुष्य की प्रकृति में निहित है। विश्वास के अंगीकार-कथन परमेश्वर के सत्य का प्रकाशन नहीं है – यह न ही विश्वास एवं व्यवहार का नियम है, लेकिन हमारे अपने विश्वास के अंगीकार-कथन के वचनों का उपयोग करते हुए, यह दोनों में सहायक है; लेकिन यह उस रीति की घोषणा है जिसमें कोई भी मनुष्य, या कई मनुष्य – कोई भी मसीही व्यक्ति या कोई भी कलीसिया – उस सत्य को समझता है जो प्रकट किया गया है। इसलिए, इसका उद्देश्य परमेश्वर के सत्य की शिक्षा देना नहीं है; बल्कि स्वयं हमारी भावनाओं की एक स्पष्ट, व्यवस्थित एवं बौद्धिक-पूर्ण घोषणा-पत्र को दिखाना है, और विशेष रूप से मसीही धर्म के विवादों में, अन्य लोगों के विचारों को जानने का साधन प्रदान करना है।

इस दृष्टिकोण की सच्चाई, और विश्वास-कथनों एवं अंगीकार-कथनों के अस्तित्व की आवश्यकता के विषय में जो व्याख्या यह देती है, उसे सहजता से प्रमाणित किया जा सकता है। मनुष्य का मन गलती करने में, और हर दृष्टि में इतनी अधिक विविधता-पूर्ण रीति से त्रुटि करने में प्रवृत्त है, कि जब ग्रहण करने के लिए एक सरल सत्य भी उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, तो उस सत्य को लगभग उतने ही विभिन्न पहलुओं में फिर से उत्पादित किया जा सकता है, जितने कि भिन्न-भिन्न मनों के सामने उसे प्रस्तुत किया गया था। मान लीजिए कि यह कोई एक वाक्य है, जो मुख से बोला गया है, या सभी व्यक्तियों के द्वारा समझी जाने वाली भाषा में लिखा गया है – प्रत्येक व्यक्ति इसे अपने ढंग से समझ सकता है, तथा उस पर वह उस व्याख्या को लागू कर सकता है जो उसे सबसे अधिक स्पष्ट लगती है; लेकिन यह पता लगाना असम्भव होगा, कि क्या केवल उन्हीं शब्दों को दोहराने से जो उन्होंने सुने या पढ़े हैं, वे सभी इसे एक ही अर्थ में समझते हैं कि नहीं; जब तक कि वे सभी अपने-अपने शब्दों में यह न बता दें, कि उन्होंने इसका क्या अर्थ समझा है। तब प्रत्येक व्यक्ति यह कह सकता है, मैं मानता हूँ कि इसका अर्थ इस प्रकार था। तो वास्तव में, उस सत्य के विषय में यह उसका विश्वास-कथन, या विश्वास का अंगीकार-कथन होगा; और जब सभी ने इस प्रकार अपना विश्वास व्यक्त कर दिया हो, और उनके मध्य सामंजस्यपूर्ण सहमति जैसी कोई बात प्राप्त हो सकती हो, तो यह उस विशेष सत्य के सम्बन्ध में, जो प्रकट एवं समझा गया है, उनका एकजुट विश्वास का अंगीकार-कथन होगा।

लेकिन यह इससे भी अधिक होगा – यह उस सत्य पर उनके बीच एकता का बंधन होगा, और साथ ही अन्य सभी लोगों के लिए एक संयुक्त गवाही भी होगी; पूरी रीति से और निश्चित रीति से उस सत्य को सिखाने के रूप में नहीं, बल्कि पूरी रीति से और निश्चित रीति से उस अर्थ को व्यक्त करने के रूप में, जिस रूप में इन लोगों ने इसे समझा था, जहाँ तक कि

उनका कथन स्वयं विशेष था और समझ में आने वाला था; और यह उन लोगों के समूह में प्रवेश की शर्त साबित हो सकता है, जिन्होंने इस प्रकार उस सत्य के अर्थ के विषय में, जो वे विश्वास करते हैं, उसकी एक संयुक्त घोषणा की थी।

इस सीमा तक, हम सोचते हैं, सभी बुद्धिमान एवं स्पष्टवादी व्यक्ति सहजता से सहमत होंगे; और अब तक, यह स्पष्ट होना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति की स्वाभाविक स्वतंत्रता का कोई उल्लंघन नहीं हुआ है, न ही किसी दिए गए या सम्भावित मामले में जो वह सत्य होने के लिए विश्वास करता है, उसके सम्बन्ध में उसके कर्तव्यनिष्ठ विश्वासों को नियंत्रित करने या दबाने का कोई प्रयास किया गया है। यदि कोई व्यक्ति उन सहमत हुए लोगों द्वारा दी गई संयुक्त गवाही से सहमत नहीं हो सकता है, तो यह आपसी खेद का करण बन सकता है; लेकिन यह न तो उन्हें ऐसा कोई अधिकार देता है कि वे उस व्यक्ति को अपने साथ सम्मिलित होने के लिए मजबूर करें, जो उनके विश्वासों के विरोध में हो, और न ही उन लोगों के समूह से बाहर रखे जाने के कारण शिकायत करने का उस व्यक्ति को कोई अधिकार देता है, जिनके विचारों के साथ वह सहमत नहीं है। कोई भी ईमानदार व्यक्ति ऐसे लोगों के समूह का भागीदार बनने की इच्छा भी नहीं कर सकता, जिनके साथ वह उस विशेष बात पर सहमत न हो, जो उनके संगठन का आधार बनता है।

अब, इस दृष्टिकोण को मसीही सत्य के विषय पर लागू किया जाना चाहिए – साथ ही, उन विशेष बातों को चिह्नित करने का भी ध्यान रखना चाहिए, जो मसीही सत्य के विचार अनिवार्य रूप से प्रस्तुत करते हैं। मसीही सत्य मनुष्य के लिए परमेश्वर की इच्छा का प्रकाशन है – चाहे वह प्रकाशन मौखिक रूप से व्यक्त किया गया हो या लिखित पुस्तक के रूप में। जैसा कि यह हमारे पास पहुँचा है, यह एक लिखित आलेख के रूप में है। इसके लिए हम विश्वास करते हैं कि यह सत्य परमेश्वर का सत्य वचन

है। इस सम्बन्ध में, यह प्रत्येक मनुष्य के लिए विश्वास का एकमात्र और सर्व-पर्याप्त नियम है, 'परमेश्वर के विषय में मनुष्य को क्या विश्वास करना चाहिए और परमेश्वर मनुष्य से क्या कर्तव्य चाहता है।' लेकिन एक प्रश्न तुरन्त ही सामने आता है, जैसा कि ऊपर सुझाया गया है, क्या वे सभी लोग जिनके लिए परमेश्वर की इच्छा का प्रकटीकरण किया गया है, इसे समान अर्थ में समझते हैं? यदि कोई व्यक्ति कहता है, कि बाइबल उसके विश्वास का एकमात्र नियम है, तो बाइबल को परमेश्वर का वचन मानने वाला हर एक व्यक्ति इस भावना से सहमत होगा; लेकिन फिर भी प्रश्न बना रहेगा, 'बाइबल क्या सिखाती है, इससे आप क्या समझते हैं?' मात्र बाइबल के पदों की एक श्रृंखला को दोहराना इस प्रश्न का उत्तर नहीं होगा; क्योंकि इससे यह सूचना नहीं मिलेगी कि इन पदों को किस मायने में समझा गया था। यह हर उस व्यक्ति को स्पष्ट होना चाहिए जो एक क्षण के लिए चिन्तन करता है। हर कोई जो मसीही होने का दावा करता है, उसके विचार कितने भी असंगत क्यों न हों, कम से कम बाइबल पर विश्वास करने की कल्पना तो करते ही हैं; लेकिन हर एक विवादास्पद विधर्मी इस पवित्र पुस्तक के लेख को अपना अलग अर्थ देता है; और यह केवल उसके अपने शब्दों के उस निर्माण के कथन के परिणामस्वरूप ही जाना जा सकता है, कि क्या उसके अर्थ व मायने बहुसंख्यक मसीही विश्वासियों की भावनाओं से मेल खाते हैं या उनसे भिन्न हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया है, यह प्रकट किए गए सत्य की प्रकृति से नहीं, बल्कि उन मनुष्यों की प्रकृति से उत्पन्न होता है जिनके लिए सत्य प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए, यह प्रश्न परमेश्वर के सत्य के सम्बन्ध में नहीं है, बल्कि मनुष्य के सत्य के सम्बन्ध में है – बाइबल के सत्य के सम्बन्ध में नहीं है, बल्कि उस सत्य के विषय में मनुष्य की समझ के सम्बन्ध में है।

अब एक और तथ्य सामने आता है। बाइबल में न केवल अनन्त सत्य का प्रकाशन है, जिसे ग्रहण एवं विश्वास करना मनुष्य का कर्तव्य है, परन्तु

यह उस सत्य के संरक्षक एवं शिक्षक होने के लिए मनुष्यों के समूह को भी नियुक्त करती है – अर्थात कलीसिया, जो उन लोगों का स्वैच्छिक संगठन नहीं है जिन्होंने सुनिश्चित किया है कि एकता के आधार के लिए भावनाओं का सामंजस्य पर्याप्त है, बल्कि यह एक दिव्य संस्था है, जो प्रत्यक्ष रूप से परमेश्वर के अधीन है, और जिसका विवेक पर कोई अधिकार नहीं है। और इस विचार को पूरा करने लिए, आगे इस बात को भी कहा जाना चाहिए कि, कलीसिया की स्थापना में, परमेश्वर ने, उसे सत्य के ज्ञान की ओर ले जाने के लिए, पवित्र आत्मा से अभिषिक्त करने की प्रतिज्ञा की है। यह प्रतिज्ञा, इसके अतिरिक्त केवल समग्र क्षमता में कलीसिया के लिए ही नहीं है, बल्कि इसके प्रत्येक व्यक्तिगत सदस्य के लिए भी है, जिससे कि वह अपनी स्वयं की जिम्मेदारी की अखंडता को संरक्षित रख सके, और परमेश्वर के साथ अपने व्यक्तिगत मेल को सुदृढ़ कर सके। इस महान प्रतिज्ञा की अनुभूति उस बात को प्रदान करती है जो किसी भी अन्य मामले में अस्तित्व में नहीं है, या अस्तित्व में हो सकती है – मसीही विश्वास के सम्बन्ध में उठने वाले सभी प्रश्नों के निर्णय के लिए एक अचूक निर्णायक। क्योंकि यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि जब भी विवादास्पद कलीसिया या व्यक्तिगत मसीही व्यक्ति को ईमानदारी, विनम्रता और गम्भीर भावना से पवित्र आत्मा के प्रकाश एवं मार्गदर्शन की खोज करने में सक्षम बनाया गया है, तो उन्होंने विवाद में निर्णय लेने के ऐसे बिंदुओं या अर्थ को प्राप्त किया है जिसने विवाद समाप्त किया, और मेल के बन्धन में आत्मा की एकता को सुदृढ़ किया है: और इसके अतिरिक्त, कई शताब्दियों के दौरान मसीही धर्म के सभी विभिन्न पहलुओं को बाहरी रूप से छिपाए जाने के बावजूद, विश्वास का वास्तविक सद्भाव अभी भी वर्तमान है, जिसे और कोई नहीं, बल्कि एक अचूक शिक्षक एवं मध्यस्थ ही प्राप्त कर सकता था।

एक दिव्य संस्था के रूप में, मसीही कलीसिया, अपने विश्वास के एकमात्र नियम के रूप में केवल परमेश्वर के वचन को, और परमेश्वर के सम्पूर्ण वचन को मानती है; परन्तु उसे उस विषय में ऐसा कथन भी तैयार एवं प्रचारित करना चाहिए, जिसके लिए वह विश्वास करती है कि परमेश्वर का वचन निम्न सिद्धातों को सिखाता है। वह ऐसा किसी अधिकार के रूप में नहीं करती है, जिससे वह परमेश्वर के वचन को दबा दे, बदल दे या संशोधित कर दे, बल्कि वह ऐसा परमेश्वर, संसार और स्वयं अपने समुदाय के लोगों के प्रति अपने विभिन्न कर्तव्यों के निर्वहन के लिए करती है। चूंकि उसे परमेश्वर के सत्य का भण्डार बनाया गया है, इसलिए उसका यह कर्तव्य है कि वह परमेश्वर के प्रति, सबसे स्पष्ट शब्दों में बताए कि वह उस सत्य का क्या अर्थ समझती है। इस प्रकार वह न केवल यह घोषित करती है कि परमेश्वर ने क्या कहा है, बल्कि इस बात पर भी मुहर लगाती है कि परमेश्वर सत्य है। इसलिए विश्वास का अंगीकार-कथन परमेश्वर के सत्य की वास्तविक ध्वनि नहीं है, बल्कि उन प्राणों की ध्वनि की प्रतिध्वनि है जिन्होंने उसका उच्चारण सुना है, उसकी शक्ति को महसूस किया है, और वे उसकी पुकार का प्रत्युत्तर दे रहे हैं।

और, चूंकि भटकते हुए संसार को परमेश्वर की सच्चाई सिखाने के उद्देश्य से उसे स्थापित किया गया है, इसलिए संसार के प्रति उसका कर्तव्य यह अपेक्षा करता है, कि जिस संदेश को उसे प्रसारित करना है, उसे जिस रीति से वह समझती है, उसके सम्बन्ध में वह किसी संदेह में न रहे। ऐसा किए बिना, कलीसिया शिक्षक नहीं बनेगी, और जहाँ तक उसका सम्बन्ध है, यह संसार अशिक्षित रह सकता है। क्योंकि जब संदेश को स्वयं परमेश्वर के शब्दों में कहा गया है, तो प्रत्येक सुनने वाले को अपने मन की संरचना के अनुसार, उन शब्दों के अर्थ के विषय में कुछ धारणा बनाने का प्रयास करना चाहिए; और उसकी धारणा बहुत अस्पष्ट और अनिश्चित, या यहाँ कि बहुत ही त्रुटिपूर्ण भी हो सकता है, जब तक कि उन्हें परिभाषित करने,

स्पष्ट करने एवं सही करने का कुछ प्रयास न किया जाए। वास्तव में, न तो सुनने वाले और न ही शिक्षक गण यह जान सकते है कि अर्थ के सम्बन्ध में पारस्परिक कथनों और स्पष्टीकरण के बिना, उन्होंने उस सत्य को एक समान रूप में समझा है, जिसे वे क्रमशः व्यक्त करने के लिए विश्वास करते हैं।

इसके भी अतिरिक्त, कलीसिया के पास स्वयं अपने सदस्यों के प्रति निभाने के लिए एक कर्तव्य है। उनके लिए उसे उचित सिद्धांतों व शब्दों का एक प्रारूप तैयार करना चाहिए, ताकि उनके ज्ञान को बढ़ावा मिले एवं उसकी पुष्टि हो सके, और साथ ही उन्हें गलत मार्ग पर जाने के खतरे से भी बचाया जा सके; और, जैसा कि माना जाना चाहिए कि सभी इस बात पर सहमत हों, कि जिन सत्यों पर वे विश्वास करते हैं, उनकी मुख्य रूपरेखा के सम्बन्ध में, वे इस बात की गहन इच्छा रखते हैं कि भविष्य की पीढ़ियों में जो लोग उनके शिक्षक बनेंगे, वे परमेश्वर के और उद्धार प्रदान करने वाले उन्हीं सत्यों की शिक्षा देते रहेंगे। कलीसिया के हर सदस्यों को एक-दूसरे के विश्वासों के विषय में जानना चाहिए – इन्हीं सत्यों के लिए गवाह के रूप में, आसपास के सभी लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए दृढ़ता एवं निरन्तरता के साथ एकजुट होकर इन सत्यों को मानना चाहिए; और उन्हें इस बात को सुनिश्चित करने के लिए हर सम्भव प्रयास करना चाहिए कि उनके सभी पादरियों को, और प्रवेश के लिए सभी उम्मीदवारों को यही सत्य सिखाया जाए। इन उद्देश्यों के लिए एक विश्वास-वचन या विश्वास के अंगीकार-कथन की रचना करना, अत्यंत आवश्यक है; और इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी कलीसिया विश्वास के अंगीकार-कथन के बिना, परमेश्वर के प्रति, संसार के प्रति, और स्वयं अपने सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्य का पर्याप्त रूप से निर्वहन नहीं कर सकती है।

ऐसा किसी भी समय नहीं हुआ कि मसीही कलीसिया में विश्वास का अंगीकार-कथन नहीं था, हालाँकि ये अंगीकार-कथन स्वरूप एवं विस्तार

दोनों में भिन्न-भिन्न रहे हैं। सबसे पहला एवं सबसे सरल अंगीकार-कथन पतरस का है: 'तू मसीह, जीवित परमेश्वर का पुत्र है।' इथियोपिया के खजाँची का भी अंगीकार-कथन लगभग ऐसा ही है: 'मैं परमेश्वर के पुत्र यीशु ख्रीष्ट पर विश्वास करता हूँ।' इस अंगीकार-कथन ने कलीसिया में प्रवेश सुनिश्चित किया; परन्तु, इसके बिना, प्रवेश नहीं मिल सकता था।

इस सरल और संक्षिप्त आरम्भिक अंगीकार-कथन को बड़ा बनाने में अधिक समय नहीं लगा; सबसे पहले, यहूदी शिक्षकों की विकृत धारणाओं का सामना करने के लिए, और फिर, उन लोगों को बाहर करने के लिए, जो गूढ़ज्ञानवादी (Gnostics) विधर्मी शिक्षाओं से दूषित होने लगे थे। उस समय यह आवश्यक हो गया कि न केवल यह स्वीकार किया जाए कि यीशु ख्रीष्ट परमेश्वर का पुत्र था, बल्कि यह भी कि यीशु शरीर में होकर आया था, ताकि उन लोगों के प्रवेश को रोका जा सके, और उनकी शिक्षाओं पर रोक लगाई जा सके, जो मानते थे कि ख्रीष्ट का मानवीय स्वभाव केवल एक भ्रम या दिखावा मात्र था।

इसी रीति से हर एक विधर्मी शिक्षा के उदय ने, सबसे पहले परमेश्वर के वचन और पवित्र आत्मा के निर्णय के द्वारा नए सिद्धांत की जाँच करने को, और फिर उसे पहले ही से विद्यमान विश्वास के अंगीकार-कथन में एक नया अनुच्छेद जोड़ने को आवश्यक बना दिया, जिसे प्रत्येक आने वाली विधर्मी शिक्षा के सम्बन्ध में कलीसिया की अधिघोषणा को सम्मिलित किया गया। इस प्रकार, परमेश्वर, संसार, और स्वयं के प्रति अपने कर्तव्य के निर्वहन में, कलीसिया को अपने विश्वास के अंगीकार-कथन को बड़ा करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

परन्तु इस अपरिहार्य विस्तार को अनावश्यक रूप से लम्बा या छोटा मानकर इसकी निन्दा नहीं की जानी चाहिए; क्योंकि, यह ध्यान दिया जाना चाहिए, कि इससे कलीसिया के विश्वास की गवाही में निरन्तर बढ़ने वाली

स्पष्टता और सटीकता में अगवाई हुई, और पवित्र सत्य का प्रगतिशील विकास प्रवृत्त हुआ।

इसके अतिरिक्त, चूंकि अंगीकार-कथन की आवश्यकता मनुष्यों के मन की प्रकृति से उत्पन्न होती है, और अंगीकार-कथन का विस्तार त्रुटिपूर्ण शिक्षा के क्रमिक प्रगट होने और खंडन करने के कारण होता है, और चूंकि मनुष्य का मन अभी भी वही है, और उन्हीं त्रुटिपूर्ण धारणाओं से ग्रस्त है, इसलिए विश्वास का अंगीकार-कथन, जिसमें अतीत की विधर्मी शिक्षाओं का खंडन सम्मिलित है, उन सभी के लिए जो इसे समझते हैं, फिर से उठने वाली विधर्मी शिक्षा का सामना करने के लिए एक तैयार हथियार प्रदान करता है। इस दृष्टिकोण की सच्चाई उन लोगों के लिए सबसे अधिक स्पष्ट होगी, जिन्होंने मसीही कलीसिया के द्वारा तैयार किए गए विभिन्न विश्वास के अंगीकार-कथनों का सबसे अधिक ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है। और यह उन लोगों के द्वारा कभी भी छोटी बात नहीं समझी जानी चाहिए जो किसी भी कलीसिया में प्रवेश चाहते हैं, कि इस कलीसिया के अंगीकार-कथन में वे सदस्य बनने की शर्तों का सम्पूर्ण प्रारूप प्राप्त कर सकते हैं जिनके लिए उन्हें सहमति देनी की आवश्यकता पड़ेगी। विश्वास के अंगीकार-कथन का अस्तित्व सदैव किसी भी कलीसिया के अनजाने में विधर्मी शिक्षा में फंस जाने के खतरे के विरुद्ध एक स्थायी बचाव है। यद्यपि किसी भी कलीसिया के द्वारा अपने अंगीकार-कथन को किसी भी अन्य स्वरूप में अधीनस्थ अर्थ के अतिरिक्त, विश्वास के मानक के रूप में नहीं मानना चाहिए, फिर भी यह स्वीकृत विश्वास का मानक है, जिसे कलीसिया आसानी से नहीं छोड़ सकती है, और यह उसके अपने सदस्यों की संगति के लिए एक शर्त है, जब तक कि इसके लेखों पर त्रुटिपूर्ण होने का आरोप न लगाया जाए, और फिर से अंतिम निर्णायक एवं सर्वोच्च मानक, अर्थात परमेश्वर के वचन और पवित्र आत्मा के शिक्षा को, ईमानदारी, विनम्रता, और निष्ठा के साथ विश्वास एवं प्रार्थना में खोजा न जाए।

ख. सामान्य रूप से विश्वास के अंगीकार-कथनों के विषय को छोड़कर, हम अपना ध्यान वेस्टमिन्स्टर असेंबली के संतों द्वारा तैयार विश्वास के अंगीकार-कथन की ओर केंद्रित करते हैं।

वेस्टमिन्स्टर असेंबली के विश्वास के अंगीकार-कथन को ध्यानपूर्वक और बारीकी से अध्ययन करने के बाद, किसी भी विचारशील पाठक के मन में जो पहली बात आएगी, वह है *इसके स्वरूप की उल्लेखनीय व्यापकता और सटीकता, जिसे परमेश्वर के सत्य के व्यवस्थित प्रकटीकरण के रूप में देखा जाता है, या जिसे ईश्वर-विज्ञान की प्रणाली कहा जाता है*। इस सम्बन्ध में, इसकी व्यवस्था एवं इसकी सम्पूर्णता दोनों में, इसे लगभग पूर्ण माना जा सकता है। इसकी विषय-सूची पर एक दृष्टि डालने से ही यह पता चल जाएगा कि इसकी व्यवस्था, पहले सिद्धांतों के कथन से लेकर प्रकट सत्य की पूरी योजना के नियमित विकास एवं अंतिम चरमोत्कर्ष तक किस उत्कृष्ट कौशल के साथ आगे बढ़ती है। किसी भी आवश्यक बात को छोड़ा नहीं गया है; और किसी भी बात को उसके उचित महत्व के अनुपात में नहीं बढ़ाया गया है। न ही हम सोचते हैं कि ईश्वरीय-विज्ञान का व्यवस्थित अध्ययन विश्वास के अंगीकार-कथन से बेहतर योजना पर किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में, अंगीकार-कथन पर शायद बहुत कम ध्यान दिया गया है; और हम दृढ़ता के साथ आश्वस्त हैं कि इसे हमारे ईश्वर-विज्ञानीय कक्षाओं में एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में सबसे अधिक लाभप्रद रूप से उपयोग किया जा सकता है।

कम से कम, इस बात की पुष्टि तो की ही जा सकती है, कि कोई भी मसीही व्यक्ति विश्वास के अंगीकार-कथन की ध्यानपूर्वक और अध्ययनशील अध्ययन और पुनः अध्ययन से बड़े पैमाने पर लाभ उठाने से नहीं चूक सकता, जिसका स्पष्ट उद्देश्य पवित्र सत्य की स्पष्ट और व्यवस्थित अवधारणा को सीखना है, जो कि समग्र रूप से, और इसके सभी भागों में इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि वे अपने सापेक्ष महत्व को

प्रदर्शित कर सकें, और एक दूसरे पर उनके पारस्परिक प्रभाव, और एक दूसरे का उदाहरण प्रस्तुत कर सकें। इस प्रकार का ध्यानपूर्वक किया गया अध्ययन, मन को अपरिष्कृत धारणाओं से भटक जाने या किसी प्रिय सिद्धांत को अनावश्यक महत्व देने, तथा अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांतों की अवमानना करने, और विश्वास की सामंजस्यपूर्ण समानता को गम्भीर क्षति पहुंचाने के खतरे के विरुद्ध अधिक दृढ़ता भी प्रदान करेगा।

वेस्टमिन्स्टर विश्वास के अंगीकार-कथन की एक और विशेषता है जिस पर आमतौर पर और भी कम ध्यान दिया गया, लेकिन यह भी कम उल्लेखनीय नहीं है। जैसा कि, इसे प्रतिष्ठित ज्ञान एवं योग्यता वाले लोगों द्वारा तैयार किया गया था, जो आरम्भिक समय से लेकर अपने समय तक कलीसिया के इतिहास से पूरी रीति से परिचित थे, *इसमें पिछले उन सभी विधर्मी शिक्षाओं और विवादों के विषयों पर इन महान विद्धानों का शांत एवं स्थिर निर्णय है, जिसने किसी भी युग या राष्ट्र में कलीसिया को परेशान किया था।* यह स्पष्ट रूप से इनमें से किसी भी विधर्मी शिक्षा का नाम लिए बगैर या विवाद को जन्म दिए बगैर ऐसा करती है। प्रत्येक त्रुटि की निंदा, उसके प्रत्यक्ष कथन ओर खंडन से नहीं, बल्कि विपरीत सत्य के स्पष्ट, निश्चित एवं सशक्त कथन से की जाती है। सत्य को प्रकट करने के इस तरीके में, विलक्षण ज्ञान के साथ-साथ विलक्षण विनम्रता भी थी। हर प्रकार के चिढ़ पैदा करने वाले प्रकृति को दब दिया गया है, और केवल शुद्ध एवं सरल सत्य को प्रकट किया गया है; जबकि न केवल श्रेष्ठ ज्ञान का दिखावा किया गया है, बल्कि सबसे सटीक एवं गहन ज्ञान को भी छिपाया गया है।

विश्वास के अंगीकार-कथन का उतावलेपन या सतही वाला पाठक शायद ही यह समझ पाएगा कि, इसके कुछ स्पष्ट सरल प्रस्तावों में, वह विभिन्न विधर्मी शिक्षाओं और विवादों का एक सटीक और निर्णायक खंडन पढ़ रहा है, जिन्होंने कलीसिया को भ्रष्ट एवं अशांत बना दिया है। फिर भी, यदि वह कलीसिया के इतिहास को पढ़ेगा, उसके विवरणों से परिचित

होगा, और अंगीकार-कथन का अध्ययन पुनः आरम्भ करेगा, तो उसे यह देखकर आश्चर्य होगा कि किसी एक स्थान पर गूढ़ज्ञानवाद (Gnosticism) के निराधार सिद्धांतों को दूर किया गया है; अन्य स्थान पर, एरियन (Arian) एवं सोसिनियन (Socinian) विधर्मी शिक्षा को बाहर कर दिया गया है; एक अन्य स्थान पर, पोप प्रणाली का मूल सार नष्ट कर दिया गया है; और एक और स्थान पर पेलाजियन (Pelagian) एवं आर्मिनियन (Arminian) त्रुटियों को हटा दिया गया है।

इस प्रकार से देखा जाए तो, विश्वास का अंगीकार-कथन कलीसिया के इतिहास के पहलू से इस रीति से जुड़ा हुआ है, कि यदि विधर्मी शिक्षाओं के उदय एवं खंडन के अध्ययन के लिए क्रमवार व्यवस्था के अनुसार पाठ्य-पुस्तक नहीं भी दी जाए, तो भी सैद्धांतिक रूप से उनके सापेक्ष महत्व की एक मूल्यवान व्यवस्थित पाठ्यक्रम अवश्य प्रदान किया जा सकता है। और जब हम इस तथ्य पर ध्यान देते हैं कि, मानव मन की एकरूपता के कारण, पुरानी एवं ध्वस्त त्रुटि को पुनः पैदा करने की निरन्तर चलने वाली प्रवृत्ति, जैसे कि यह कोई अब तक अज्ञात या उपेक्षित सत्य की नई खोज हो, तो यह स्पष्ट होना चाहिए कि अधिक ज्ञात और अधिक ध्यान दिए गए, पहले से विद्यमान सभी विधर्मी शिक्षाओं के छुटकारे के रूप में, हमारे अंगीकार-कथन की यह विशिष्ट उत्कृष्टता है, तो यह आशा करने का बहुत बड़ा कारण होगा कि उनका पुनः प्रकट होना लगभग असम्भव हो जाएगा, या, कम से कम, उनके विकास को बहुत शीघ्रता और प्रभावी रीति से रोक दिया जाएगा।

विश्वास के अंगीकार-कथन की इस उत्कृष्टता के साथ *इसके विचार एवं भाषा की आश्चर्यजनक सटीकता* जुड़ी हुई है। उस समय के प्रतिष्ठित धर्म-विज्ञानियों के सम्पूर्ण मानसिक प्रशिक्षण ने इस परिणाम को जन्म दिया। वे हर तर्क को न्याय-संबंधी स्वरूप से ढालने और उसके सभी शब्दों को अत्यंत सावधानी एवं सटीकता के साथ समायोजित करने के आदी

थे। जिस किसी ने भी अंगीकार-कथन के अभिकथनों का अध्ययन किया होगा, उसने उनकी अत्यंत परिशुद्धता पर ध्यान दिया होगा, लेकिन विशेष ध्यान के बगैर, वह यह नहीं समझ सकता कि इन धर्म-विज्ञानियों ने अपने महान कार्य के इस भाग पर कितनी आश्चर्यजनक सावधानी बरती होगी। इसे एक उदाहरण से सबसे अच्छी रीति से दर्शाया जा सकता है। आइए अध्याय 3, 'परमेश्वर के अनन्त विधान के विषय में,' भाग 3 और 4: 'परमेश्वर के विधान के द्वारा, उसकी महिमा के प्रकटीकरण के लिए, कुछ मनुष्यों एवं स्वर्गदूतों को अनन्त जीवन के लिए पहले ही से निर्धारित (predestinated) किया गया है, और अन्यों को अनन्त मृत्यु के लिए पहले ही से ठहराया (fore-ordained) गया है। इन स्वर्गदूतों एवं मनुष्यों को इस प्रकार *पहले से ही निर्धारित किया गया* और *पहले ही से ठहराया गया,*' आदि।

हम पाठकों का ध्यान जिन शब्दों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, वे हैं 'पहले से निर्धारित किया गया', और 'पहले से ठहराया गया'। जल्दबाजी करने वाला या ऊपरी तौर से पढ़ने वाला पाठक इन शब्दों के बीच कोई अन्तर नहीं देख सकेगा। परन्तु यदि ऐसा है, तो इन दोनों का उपयोग क्यों किया गया है? क्योंकि अंगीकार-कथन की संक्षिप्त भाषा में केवल दोहराने के लिए कोई उदाहरण नहीं है। परन्तु, इसके अतिरिक्त, यह भी अच्छी रीति से ध्यान में रखना चाहिए कि 'पहले से निर्धारित (predestinated)' शब्द का उपयोग केवल 'अनंत जीवन' के सम्बन्ध में किया जाता है, और 'पहले के ठहराना (foreordained)' शब्द का उपयोग 'अनंत मृत्यु' के सम्बन्ध में उपयोग किया जाता है। और जब कथन के मिश्रित स्वरूप को माना जाता है, तो दोनों शब्दों का उपयोग सामान्य अभिपुष्टि में, प्रत्येक के अपने सम्बन्धित सदस्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए किया जाता है। ऐसा क्यों है? क्योंकि वेस्टमिन्स्टर असेंबली के संतों ने *पहले से निर्धारित* और *पहले से ठहराने* के शब्दों के अर्थ को

समान नहीं समझा, और इसलिए इन शब्दों को कभी भी समानार्थी के रूप में उपयोग नहीं किया। पहले से निर्धारित से उनका तात्पर्य *अनन्त जीवन प्रदान करने का निर्धारण करने के लिए एक सकारात्मक परमेश्वरीय आदेश* से था; और इसे उन्होंने *सेंतमेंत अनुग्रह के सम्पूर्ण सिद्धांतों* का आधार माना, जो मनुष्य में किसी भी वस्तु से उत्पन्न नहीं होती, बल्कि जिसका उद्गम परमेश्वर का चरित्र और संप्रभुता है। दूसरी ओर, *पहले से ठहराए गए* से उनका तात्पर्य उस *परमेश्वरीय आदेश या व्यवस्था से था, जिसमें निर्धारित किया जाता है कि दोषी को अनन्त मृत्यु का दण्ड दिया जाना चाहिए;* और इसे उन्होंने *न्यायिक प्रक्रिया* का आधार माना, जिसके अनुसार परमेश्वर 'मनुष्यों को उनके पाप के लिए निंदा और क्रोध के लिए ठहराता है,' और इसका सम्बन्ध मनुष्य के अपने चरित्र और व्यवहार में होता है।

आगे यह भी कहा जा सकता है, कि जबकि, इस दृष्टिकोण के अनुसार, *पहले से निर्धारित* शब्द को कभी भी *पाप में खोए हुए* लोगों पर लागू नहीं किया जा सकता है, परन्तु *पहले से ठहराए गए* शब्द को *उद्धार प्राप्त* लोगों के लिए उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि वे भी एक अर्थ में, न्यायिक प्रक्रिया के अधीन हैं। तदनुसार, विश्वास के अंगीकार-कथन में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जहाँ *पहले से निर्धारित* शब्द को *पाप में खोए हुओं* के लिए लागू किया गया हो, हालाँकि ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ *पहले से ठहराए गए* या इससे मिलते-जुलते शब्दों को *उद्धार प्राप्त लोगों* के लिए लागू किया गया है। और यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि, *नरक में मृत्यु-दण्ड के लिए ठहराया गया (reprobation)* शब्द, जिसे पहले से निर्धारित सिद्धांत के लिए आपत्तिजनक अर्थ में समझा और लागू किया जा सकता है, उसे विश्वास के अंगीकार-कथन और विस्तृत (WLC) एवं संक्षिप्त मसीही धर्म-प्रश्नोत्तरी (WSC) में एक बार भी उपयोग नहीं किया गया है। इस सिद्धांत पर बाद के लेखकों ने वास्तव में इस शब्द का उपयोग किया, जैसा कि

पुराने लेखकों ने किया था, और इस प्रकार उन्होंने इस सिद्धांत के विरोधियों को इसे गलत रीति से प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान किया; परन्तु वेस्टमिन्स्टर असेंबली के संतों ने सावधानीपूर्वक आपत्तिजनक शब्द के उपयोग से परहेज किया, एवं ध्यानपूर्वक ऐसे शब्दों का चयन किया जो उनके अर्थ को व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त थे, और प्रत्येक मामले में उनका उपयोग अत्यंत कड़ाई एवं निश्चित परिशुद्धता के साथ किया।[1]

विचार एवं भाषा की उल्लेखनीय सटीकता के कई अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो विश्वास के अंगीकार-कथन की एक विशिष्ट विशेषता बनाते हैं; लेकिन हमें जाँच की दिशा का सुझाव देने के साथ ही संतुष्ट हो जाना चाहिए, तथा प्रत्येक पाठक को स्वयं इसकी जाँच करने के लिए छोड़ देना चाहिए।

अंगीकार-कथन का एक और निर्णायक और विशिष्ट गुण उन स्पष्ट एवं सु-परिभाषित कथन में समाहित है *जो यह उन सिद्धांतों के लिए कहता है, जिन पर नागरिक एवं कलीसियाई न्यायिक क्षेत्राधिकारों के समन्वय, फिर भी पारस्परिक समर्थन के महान विचार को अकेले ही सुरक्षित रूप से स्थापित किया जा सकता है।* लेकिन लोगों के लिए अंगीकार-कथन के उन भागों को गलत समझना बहुत ही आम बात है जो इन न्यायिक अधिकारों के विषय में बताते हैं – कुछ लोग उन अंशों पर ईरास्टियन छूट (कलीसिया के मामलों में राष्ट्र की सर्वोच्चता का सिद्धांत) होने का आरोप लगाते हैं, और अन्य लोग उन पर अराजक होने या असहिष्णु होने का आरोप लगाते हैं। सत्य तो यह है, कि वे किसी भी चरम सीमा का समर्थन नहीं करते हैं। जो इस पवित्र नियम से निकलता है – जो कैसर का है वह

[1] इस व्याख्या में, मृत्यु दंड के लिए ठहराया गया (reprobation) शब्द का प्रयोग करना आवश्यक पाया गया है, क्योंकि यह शब्द सबसे प्रसिद्ध आधुनिक लेखकों के लेखों में प्रायः आता है; हालाँकि, उन्होंने इसे समझाने में सावधानी बरती है, ताकि पूर्वाग्रही विरोधियों द्वारा इसके अर्थ की कठोर गलत व्याख्या से बचा जा सके। जब इस प्रकार समझाया जाता है तो इससे हानि नहीं होती; लेकिन यह भला हो सकता था, यदि इस प्रकार से विकृत होने वाले शब्द का उपयोग कभी नहीं किया गया होता।

कैसर को, और जो परमेश्वर का है परमेश्वर को दो – वे स्वेच्छा से नागरिक मजिस्ट्रेट को राष्ट्र में सर्वोच्च शक्ति प्रदान करते हैं: वह सब कुछ जो उसके अधिकार से सम्बन्धित है, न केवल व्यक्तियों और मनुष्यों की सम्पत्ति पर उसके उचित अधिकार के सम्बन्ध में, बल्कि राजाओं के राजा को श्रद्धा देने के अपने आधिकारिक तरीके से सम्बन्धित है। यह मजिस्ट्रेट वाले कर्तव्य के इस बाद वाले विभाग में है जिसे नागरिक मजिस्ट्रेट की शक्ति कहा जाता है – *पवित्र वस्तुओं के विषय में* – धार्मिक मामलों में। लेकिन यहीं उसका अधिकार समाप्त हो जाता है, और *पवित्र वस्तुओं* - धार्मिक मामलों में उसकी कोई शक्ति नहीं होती है। अध्याय 30 के मुख्य प्रस्ताव में इसे सबसे अधिक सावधानी से संरक्षित किया गया है: 'प्रभु यीशु ने, अपनी कलीसिया के राजा एवं सिर (प्रधान) होने के रूप में, उसमें कलीसिया के अधिकारियों के हाथों में एक सरकार नियुक्त की है, जो नागरिक मजिस्ट्रेट से भिन्न है।'

उस समय के प्रमुख ईरास्टियन व्यक्तियों को, जो कि विद्वान और चतुर थे, इस प्रस्ताव के बल से बचना असम्भव लगा, और इसे विधानमंडल की मंजूरी देने से इनकार कर दिया, जिसे वे दे सकते थे। हालाँकि, वे वेस्टमिन्स्टर असेंबली को इसे संशोधित करने या इसे मिटाने के लिए दबाव नहीं बना पाए; और यह वेस्टमिन्स्टर असेंबली के संतों द्वारा ईरास्टियन विधर्मी शिक्षा का अनुत्तरित और अकाट्य खण्डन के रूप में बना हुआ है, और इसे बना रहना चाहिए।

आधुनिक समय में इरास्टियनवाद के विरोधियों के लिए यह बहुत ही आम बात हो गई है कि वे इरास्टियन तर्क को मौन स्वीकृति दें – या कम से कम उस सिद्धांत को जिस पर यह आधारित है – यह स्वीकार करने के द्वारा, या यहाँ तक कि यह दावा करने के द्वारा, कि यदि कलीसिया स्थापित हो जाती है, तो उसके पास अलग एवं स्वतंत्र न्यायिक अधिकार नहीं होना चाहिए, और यहाँ तक कि आध्यात्मिक मामलों में भी उसे राष्ट्र के नियमों का पालन करना चाहिए, लेकिन फिर यह घोषित करते हैं कि चूंकि यह

स्पष्ट रूप से गलत है, इसलिए कोई स्थापित कलीसिया नहीं होनी चाहिए। जैसा कि आमतौर पर माना जाता है, इरास्टियनवाद से बचने के इस तरीके में नागरिक और धार्मिक स्वतंत्रता दोनों के लिए यह खतरा है; क्योंकि, यदि यह आमतौर पर स्वीकार किया जाता कि, आध्यात्मिक मामलों में भी स्थापित कलीसिया को राष्ट्र के नागरिक न्यायिक अधिकार के अधीन होना चाहिए, तो फिर नागरिक शासक कलीसिया को स्थापित करने में प्रत्यक्ष एवं स्वीकृत रुचि, मसीही धर्म को बढ़ावा देने के लिए नहीं, न ही पृथ्वी के राजाओं के राजकुमार को श्रद्धा देने के उद्देश्य के लिए होगी, बल्कि यह रुचि कलीसिया को राष्ट्र की नीति के लिए एक शक्तिशाली इंजन के रूप में नियोजित करने के उद्देश्य के लिए होगी। यह निश्चित है कि वे इस प्रकार की स्वीकृति का लाभ उठाएंगे; और यह अनिवार्य रूप से धार्मिक स्वतंत्रता के रक्षकों और मनमानी शक्ति के समर्थकों के बीच एक खतरनाक प्रतिस्पर्धा को जन्म देगा; और यह मुद्दा इरास्टियनवाद की जीत होगी, तो इस मुद्दे में अनिवार्य रूप से दो न्यायिक अधिकारों के सम्मिश्रण में, नागरिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता दोनों की हानि एक साथ ही होगी – जो कि पूर्ण निरंकुशता का सार है।

इस बात से अंगीकार-कथन को लिखने वाले अच्छी तरह से परिचित थे; और, इसलिए उन्होंने नागरिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता दोनों के सर्वोत्तम सुरक्षा उपायों के रूप में, और परमेश्वर के वचन के स्पष्ट अधिकार पर आधारित, दोनों न्यायिक अधिकारों के बीच अच्छी रीति से समायोजित एवं पारस्परिक संतुलन और सहयोग को प्राप्त करने का प्रयास किया। यह बात अभी तक न तो पवित्र शास्त्र से और न ही तर्क से सिद्ध हुई है कि वे गलत थे, यद्यपि उनके दृष्टिकोणों को बहुत गलत समझा गया और गम्भीर रूप से गलत रीति से प्रस्तुत किया गया है। लेकिन, इस विषय को जारी रखने के बजाय, हम उन अध्यायों पर टिप्पणी का उल्लेख करते हैं जो नागरिक मजिस्ट्रेट, धर्म महासभाओं, और कलीसिया के निन्दा प्रस्तावों

को, इन विषयों पर अंगीकार-कथन के सिद्धांत की बहुत सटीक एवं बुद्धिमत्तापूर्ण व्याख्या को देते हुए पेश करते हैं।

विश्वास के अंगीकार-कथन पर प्रायः *असहिष्णुता और उत्पीड़नकारी सिद्धांतों की वकालत* करने का आरोप लगाया गया है। हालाँकि, सच तो यह है कि यह एक ओर तो उदारवादी लापरवाही, और दूसरी ओर असहिष्णुता से समान रूप से मुक्त है। 'मसीही स्वतंत्रता, और विवेक की स्वतंत्रता के विषय में', अध्याय 20 का बुद्धिमत्तापूर्ण एवं स्पष्ट अध्ययन ही ऐसी सभी आलोचनाओं का खण्डन करेगा। मनुष्य के मन ने कभी भी निम्नलिखित से अधिक सच्चा या महान प्रस्ताव नहीं दिया:

> 'केवल परमेश्वर ही विवेक का प्रभु है, और उसने इसे मनुष्यों के उन सिद्धांतों एवं आज्ञाओं से स्वतंत्र रखा है, जो विश्वास या आराधना के विषय में उसके वचन के विपरीत है, या उससे भिन्न हैं।'

जो व्यक्ति इस सिद्धांत को समझ सकता है, इसे अपना सकता है और इसके अनुसार कार्य कर सकता है, वह कभी भी अपने साथी मनुष्य के विवेक पर अत्याचार करने वाले और असहिष्णु अधिकार को हावी नहीं होने दे सकता, और न ही उसके विरुद्ध निर्दयतापूर्वक उत्पीड़न के हथियार का प्रयोग कर सकता है।

लेकिन सहिष्णुता और विवेक की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में सोचने या सोचने का दिखावा करने का एक बहुत ही प्रचलित और फिर भी बहुत ही गलत तरीका है। कई लोगों का मानना है कि सहिष्णुता का अर्थ है, सत्य और असत्य में कोई भेद न करना, बल्कि उन्हें समान दृष्टि से देखना। यदि इस विचार का ध्यानपूर्वक विश्लेषण किया जाए तो यह मूलतः धर्म-विरोधी प्रकृति का पाया जाएगा। कई लोग सोचते हैं कि विवेक की स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों की

भावनाओं, विश्वासों एवं अधिकारों की परवाह किए बिना, हर बात में अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। यह वास्तव में, स्वतंत्रता को अराजकता में बदलना होगा, तथा अनैतिकता के विवेक को बनाना होगा।

लेकिन अंगीकार-कथन इस सिद्धांत पर आगे बढ़ता है कि सत्य को त्रुटि से, सही को गलत से अलग किया जा सकता है; कि यद्यपि विवेक को बाध्य नहीं किया जा सकता, फिर भी उसे प्रबुद्ध किया जा सकता है; और जब पापमय, भ्रष्ट और अनैतिकता में प्रवृत्त होने पर, मनुष्य को ऐसे दुराचार वाले कार्य करने से विधिपूर्वक रोका जा सकता है, जो सार्वजनिक भावना को ठेस पहुँचाते हैं, और समुदाय के नैतिक कल्याण के लिए हानिकारक हैं। यदि यह असहिष्णुता है, तो यह एक उस प्रकार की असहिष्णुता है जिसके विषय में केवल वे लोग ही शिकायत करेंगे जो कानून के सभी प्रतिबंध से मुक्त होना चाहते हैं, चाहे वे प्रतिबंध मानवीय हों या ईश्वरीय हों। हमारे विचार में, विश्वास के अंगीकार-कथन में व्यक्त भावनाओं को गलत रीति से प्रस्तुत करने के लिए जानबूझकर किया गया दृढ़ संकल्प, या इन भावनाओं के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में जानबूझकर किया गया आपराधिक स्तर की अज्ञानता के अलावा और कुछ भी बात, किसी भी मनुष्य को इसे असहिष्णु और उत्पीड़नकारी सिद्धांतों का समर्थन करने का आरोप लगाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। निश्चित रूप से इसे तैयार करने वालों के आचरण से इस प्रकार के आरोप को कोई समर्थन नहीं मिला, यद्यपि यह लांछन प्रायः और सबसे दृढ़तापूर्वक लगाया गया है। इस बिन्दु पर यह भी अच्छा होगा कि लोग यह पता लगाने का कष्ट करें कि अंगीकार-कथन के निर्माताओं ने उन शब्दों को क्या सटीक अर्थ दिया है, जिनको उन्होंने नियोजित किया; क्योंकि उनके द्वारा किसी भिन्न अर्थ में प्रयुक्त शब्द की आधुनिक स्वीकृति को अपनाना और फिर उन पर उस शब्द के आधुनिक प्रयोग या दुरुपयोग द्वारा

व्यक्त भावना को धारण करने का आरोप लगाना, उनके प्रति और उनके कार्य के प्रति न्याय नहीं है। फिर भी, विश्वास के अंगीकार-कथन के आक्रमणकारियों द्वारा लगभग सदैव यही तरीका अपनाया जाता है।

ग. विश्वास के अंगीकार-कथन की सही अवधारणा बनाने के लिए, उस समय के इतिहास से थोड़ा बहुत परिचित होना नितांत आवश्यक है, जिसमें इसकी रचना की गई थी। हालाँकि, हमारा यह लेख केवल एक संक्षिप्त रूपरेखा को ही प्रस्तुत कर सकता है।

आरम्भ से ही, इंग्लैंड और स्कॉटलैंड की रिफॉर्म्ड कलीसियाओं के बीच बहुत ही दृढ़ एवं अनिवार्य अंतर था; यह बहुत हद तक सम्बन्धित राष्ट्रों में उस समय प्रचलित विशिष्ट तत्वों से निकला था। इंग्लैंड में, मसीही धर्म-सुधारवाद का आरम्भ, संचालन और समाप्ति लगभग पूर्ण रूप से वहाँ शासन कर रहे राजशाही की इच्छा के अनुसार किया गया था। स्कॉटलैंड में, राजशाही के दृढ़ विरोध के बावजूद इसे आरम्भ किया गया, आगे बढ़ाया गया और पूरा किया गया। इसलिए, इंग्लैंड में, आरम्भ से ही राजा की इच्छा एक अनिवार्य तत्व था, और सम्पूर्ण धर्म-सुधार के दौरान भी यह ऐसा ही रहा; और इसी के अनुसार चर्च ऑफ इंग्लैंड इरास्टियन सिद्धांत के दुष्ट प्रभाव पर आधारित था और उससे प्रभावित था, जिसमें राजशाही को कलीसियाई मामलों के साथ-साथ नागरिक मामलों में भी सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में मान्यता दी गई। स्कॉटलैंड के चर्च ने एक बहुत ही अलग आधार को ग्रहण किया, तथा एक बहुत ही अलग राजा के प्रति अपनी सम्पूर्ण निष्ठा रखी: उसने सिद्धांत, आराधना, कलीसिया प्रशासन एवं अनुशासन के सभी मामलों में केवल परमेश्वर के वचन को, तथा परमेश्वर के सम्पूर्ण वचन को ही अपने एकमात्र नियम के रूप में माना और कलीसिया के एकमात्र राजा और प्रधान के रूप में, उसने प्रभु यीशु ख्रीष्ट के प्रति, तथा केवल उन्हीं के प्रति अपनी निष्ठा रखी। इसलिए, स्कॉटलैंड

की कलीसिया में आरम्भ से ही एक स्तर की आत्मिक स्वतंत्रता, व सच्ची धार्मिक स्वतंत्रता थी, जिसे इंग्लैंड का चर्च कभी भी प्राप्त नहीं कर सका।

स्कॉटलैंड के चर्च द्वारा प्राप्त इस आध्यात्मिक स्वतंत्रता से जेम्स चतुर्थ कतई भी सहमत नहीं था, जिसने हर उस तरीके से इसे नष्ट करने का प्रयास किया, जिसे धोखाधड़ी वाली (उसके द्वारा जिसे 'राजा की धूर्तता' कहा गया) योजना बना सकती थी, या बलपूर्वक प्राप्त कर सकती थी। वह पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ; विश्वासियों एवं निर्भीक लोगों को निर्वासित करके, डरपोकों को डराकर, उसने इसे कुछ हद तक अपनी मनमानी इच्छा के अनुरूप ढालने में सफलता प्राप्त की, तथा इस पर चापलूस और अत्याचारी धर्मगुरुओं का एक समूह थोप दिया। उसके कठोर लेकिन कम धोखेबाज़ बेटे चार्ल्स प्रथम ने संकीर्ण सोच वाले एवं क्रूर लॉड (Laud) के दबाव में आकर, अपने पिता द्वारा आरम्भ किए गए कार्य को पूरा करने के प्रयास में, स्कॉटलैंड को नागरिक एवं कलीसिया की अपनी स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए विद्रोह की आवश्यकता पर मजबूर किया। इसने 1638 की महान राष्ट्रीय कवनेन्ट (National Covenant of 1638) को जन्म दिया, जिसके द्वारा लगभग सम्पूर्ण राष्ट्र के लोग पवित्र सत्य और स्वतंत्रता को बनाने और उसकी रक्षा करने के लिए गम्भीर बन्धन में, परमेश्वर और एक-दूसरे के साथ बांध दिए गए। टकराव आगे बढ़ा, उसी वर्ष के अंत में ग्लासगो में एक महा आम सभा का आयोजन किया गया, जिसमें उच्चधर्माधिकारीगण (Prelacy) की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया, और स्कॉटलैंड की प्रेस्बिटेरियन कलीसिया को बहाल किया गया। राजा ने इस दूसरे धर्म-सुधार को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया, यहाँ तक कि आक्रमण के प्रयास के चरम उपाय के द्वारा भी, लेकिन यह प्रयास व्यर्थ रहा। युद्ध की लहर स्कॉटलैंड की सीमाओं से पीछे हट गई, और कलीसिया एवं राष्ट्र वाचा में बंधे हुए और स्वतंत्र बने रहे।

लेकिन इंग्लैंड में बहुत पहले से ही एक बवंडर बन रहा था, और यह बेकाबू ताकत के साथ फूटने को तैयार था। हालाँकि इंग्लैंड में धर्म-सुधार की प्रगति अपने सभी तत्वों में पंगु हो गई थी, और पूर्णता जैसी बात तक पहुँचने से बहुत पहले ही रुक गई थी, फिर भी कई ऐसे लोग थे जो सिद्धांत, आराधना, और अनुशासन में अतिरिक्त सुधारों के लिए इंग्लैंड की कलीसिया की शुद्धता को बढ़ावा देने के लिए उत्सुक थे। यह हासिल नहीं किया जा सका; लेकिन इन सच्चे धर्म-सुधारकों के दृढ़ प्रयासों ने प्यूरिटन (Puritan) समूह को जन्म दिया, जैसा कि उन्हें नामित किया गया था, और इसने एक अधिक उग्र और दुर्जेय संघर्ष के लिए तैयारी की।

दूसरी ओर, जबकि प्यूरिटन मसीही लोग, और अधिक सुधार के लिए प्रयास कर रहे थे, वहीं जिसे दरबारी राजा का दल कहा जा सकता है, वह सुधार के सिद्धांतों से और भी अधिक दूर होता जा रहा था, और धीरे-धीरे रोम के सिद्धांतों के समीप पहुँच रहा था। दुखी लॉड (William Laud) की दुष्ट चतुराई ने मामले को संकट में डाल दिया। उसके प्रभाव ने दुर्भाग्यपूर्ण राजा को नागरिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता दोनों के लिए समान रूप से कठोर उपाय अपनाने के लिए प्रेरित किया।

इंग्लैंड की स्वतंत्र भावना बहुत हद तक उत्तेजित हुई; और निरंकुश राजा और उसकी स्वतंत्रता चाहने वाली प्रजा के बीच संघर्ष ने गृहयुद्ध का रूप लेना आरम्भ कर दिया। संसद ने अपनी बैठकों को स्थायी घोषित कर दिया; और बिशप अगुवों के निरंकुश सिद्धांतों और आचरण को उस उत्पीड़न का प्रत्यक्ष कारण मानते हुए जिसके अधीन वे इतने लम्बे समय से कराह रहे थे, प्रीलेसी (उच्च-धर्माधिकारी प्रणाली) के उन्मूलन के लिए एक विधेयक को पारित किया। राजा ने गृहयुद्ध की तलवार निकाल ली; और इंग्लैंड की संसद ने स्कॉटलैंड की सहायता माँगी, क्योंकि दोनों देशों की स्वतंत्रता को बनाए रखना आवश्यक था।

स्कॉटलैंड के प्रमुख राजनेता अच्छी रीति से जानते थे, कि यदि राजा इंग्लैंड की संसद को अपने अधीन में करने के अपने प्रयास में सफल हो जाता है, तो वह तुरन्त स्कॉटलैंड पर अधिक शक्ति एवं दृढ़ संकल्प के साथ आक्रमण कर देगा। लेकिन साथ ही, क्योंकि उनका पूरा संघर्ष पवित्र आध्यात्मिक आधार पर था, इसलिए वे किसी भी कम आध्यात्मिक कारण या किसी भी कम महत्वपूर्ण उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए इंग्लैंड की संसद के साथ आक्रामक और रक्षात्मक गठबंधन में नहीं बंध सकते थे। यदि राजा अपनी सीमा से बाहर न जाता, और धर्म पर आक्रमण न करता, तो वे उसके अधिकार क्षेत्र और अधिकार को निर्विवाद एवं अछूता छोड़ देते। इन कारणों के लिए, वे इंग्लैंड के साथ नागरिक संघ नहीं बनाना चाहते थे, जब तक कि यह धार्मिक अनुबंध पर आधारित और उसमें व्याप्त नहीं होता। इन विचारों से इंग्लैंड सहमत था; और इसका परिणाम था, **द सॉलेम लीग एंड कवनेन्ट** (The Solemn League and Covenant) का निर्माण – एक ऐसा दस्तावेज़ जिसे हम संसार के अंतरराष्ट्रीय समझौतों में अभिलिखित सभी दस्तावेज़ों में से, अपने मूल प्रकृति एवं सिद्धांतों के सम्बन्ध में सबसे गरिमापूर्ण और सर्वश्रेष्ठ मानने से नहीं बच सकते।

इस महत्वपूर्ण घटना के घटित होने से बहुत समय पहले, इंग्लैंड में एक विचार पर चर्चा हुई कि चर्च की शांति और अच्छे प्रशासन के लिए आवश्यक सभी बातों पर विचार-विमर्श करने के उद्देश्य से 'सबसे गम्भीर, धर्मपरायण, विद्वान और विवेकशील धर्मगुरुओं की एक आम धर्म-महासभा,' को बुलाना बहुत ही वांछनीय होगा। इस इच्छा को बहुत पहले 1641 में ही व्यक्त किया जा चुका था; जबकि संसद ने 12 जून, 1643 तक धर्म-महासभा बुलाने का अध्यादेश जारी नहीं किया था। इसलिए, हालाँकि **द सौलेम लीग एंड कवनेन्ट** ने उस महासभा के विचार-विमर्श में बहुत प्रभाव डाला, लेकिन यह उस महासभा को बुलाने का कारण नहीं था।

जिस समय महासभा को बुलाया गया, उस समय इंग्लैंड में कोई संगठित कलीसिया नहीं थी। प्रीलेसी (उच्च-धर्माधिकारी प्रणाली) को समाप्त कर दिया गया था, और कलीसियाई सरकार का कोई अन्य स्वरूप अस्तित्व में नहीं था। यह इस अभिव्यक्ति के किसी भी सटीक अर्थ में कलीसियाई न्यायपालिका के रूप में नहीं मिला था, बल्कि यह वास्तव में केवल धर्मविज्ञानियों की एक सभा थी, जिसे अत्यधिक आपातकालीन परिस्थिति में परामर्श करने, विचार-विमर्श एवं परामर्श देने के लिए बुलाया गया था, न कि सीधे तौर पर किसी भी न्यायिक या कलीसियाई सम्बन्धी कार्य के लिए। यह बात ध्यान में रखने के लिए आवश्यक है, इसके चरित्र एवं कार्यवाही पर कोई तुच्छ दृष्टिकोण के लिए नहीं, बल्कि यह दिखाने के उद्देश्य से कि उन लोगों के दावे कितने निराधार हैं, जो इस पर इरास्टियन सिद्धांत पर गठित होने का आरोप लगाते हैं। संसद की सुरक्षा के बिना इसकी बैठक नहीं हो सकती थी। यह कोई कलीसियाई न्याय-पालिका नहीं थी; क्योंकि यह कलीसियाई प्रशासन की एपिसकोपेलियन, प्रेस्बिटेरियन या कॉंग्रेगेशनल प्रणालियों के अनुरूप नहीं थी; यह न तो संसद पर अधिकार रखती थी, और न ही संसद द्वारा शासित थी; इसने अपने समक्ष महत्वपूर्ण मुद्दों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया, तर्क किया और मतदान किया, और अपने परिणाम संसद को अपने परामर्श के रूप में दिए, जिससे कि संसद स्वयं अपनी जिम्मेदारी पर उनका अनुसरण करे या तिरस्कृत करे। जब संसद के सदस्यों ने, जो कि आम नागरिक मूल्यांकनकर्ता के रूप में इसके घटक थे, इसके निर्णयों में इरास्टियन सिद्धांतों को सम्मिलित करने का प्रयास किया, तो इस महासभा ने इन प्रयासों का जोरदार, दृढ़ता से, और सफलतापूर्वक विरोध किया – यह इच्छा रखते हुए कि यह बेहतर होगा कि इसके सम्पूर्ण लम्बे समय तक चलने वाले परिश्रम को खारिज कर दिया जाए, बजाय इसके कि किसी भी

कमजोर और पापपूर्ण समझौते से, यह एक बुरे सिद्धांत को स्वीकार करने के लिए सहमति दे।

वेस्टमिन्स्टर असेंबली जिन धर्म-विज्ञानियों से बनी थी, उनमें अधिकांश प्यूरिटन थे; लेकिन इनमें से लगभग सभी मूल रूप से एपिस्कोपेलियन थे, कम से कम उनके अभिषेक के सम्बन्ध में, और उन्होंने प्रीलेसी (उच्च-धर्माधिकारी प्रणाली) कलीसिया के सम्बन्ध में पादरी का पद सम्भाला था। स्वतंत्र (Independent) कलीसिया के लोगों की संख्या आरम्भ में केवल पाँच थी – गुडविन, नाय, बरोज़, ब्रिज और सिम्पसन – लेकिन बाद यह बढ़कर एक दर्जन हो गई। इरास्टियन सिद्धांतों को मानने वाले केवल दो ही धर्म-विज्ञानी थे – लाइटफुट और कोलमैन। जिन स्कॉटिश कमीशनरों को मतदान के लिए नहीं, बल्कि केवल परामर्श और विचार-विमर्श के लिए नियुक्त किया गया था, उनकी संख्या छह थी, जिनमें से चार पादरी थे – हेंडरसन, बेएली, रदरफोर्ड और गिलेप्सी; और दो प्राचीन मैटलैंड और वारिस्टन के जॉनस्टन। महासभा की सम्पूर्ण संख्या एक सौ बयालीस धर्म-विज्ञानी और बत्तीस आम नागरिक मूल्यांकनकर्ता थे; लेकिन इस संख्या में से शायद ही कभी साठ या अस्सी से अधिक लोग नियमित रूप से उपस्थित होते थे। महासभा पहली बार शनिवार, 1 जुलाई 1643 को बुलाई गई थी, और 22 फरवरी 1649 तक इसकी नियमित बैठकें होती रहीं; उसके बाद इसे औपचारिक रूप से भंग करने के बजाय, पादरियों के परीक्षण के लिए एक समिति में बदल दिया गया। इस रीति से यह 25 मार्च 1652 तक कभी-कभी बैठकें करता रहा, जब क्रॉमवेल ने जबरन लॉन्ग संसद (Long Parliament) को भंग कर दिया, और उन सब बातों को समाप्त कर दिया जिसको इस महासभा ने अस्तित्व दिया था। वेस्टमिन्स्टर असेंबली द्वारा आयोजित सत्रों की संख्या एक हजार एक सौ तिरसठ थी, तथा इसकी अवधि पाँच वर्ष, छह महीने और इक्कीस दिन की थी।

वेस्टमिन्स्टर असेंबली के विचार-विमर्शों का सामान्य परिणाम विश्वास के अंगीकार-कथन, सार्वजनिक आराधना के लिए निर्देशिका, कलीसियाई प्रशासन एवं अनुशासन का स्वरूप, और विस्तृत एवं संक्षिप्त मसीही-धर्म-प्रश्नोत्तरी का निर्माण था। जब ये पूरे हो गए, तो स्कॉटलैंड के कमिश्नर अपने देश लौट आए, और स्कॉटलैंड के चर्च की महासभा के समक्ष अपने परिश्रम के उन फलों को प्रस्तुत किया, जिसमें वे इतने लम्बे समय से लगे हुए थे, और उन महत्वपूर्ण प्रस्तुतियों का अनु-समर्थन प्राप्त किया।

हालाँकि स्कॉटलैंड का चर्च ऐसी किसी भी वस्तु की सम्भावित स्वीकृति के प्रति इतना सतर्क था, जिसमें इरास्टियनवाद का थोड़ा सा भी दाग होने का संदेह हो, कि महासभा ने, 27 अगस्त, 1647,[2] को विश्वास के अंगीकार-कथन को स्वीकृति देते हुए अध्याय 31 का स्पष्टीकरण जोड़ा, जो कि धर्म महासभा बुलाने को लेकर नागरिक मजिस्ट्रेट के अधिकार से सम्बन्धित था – उस अधिकार को सीमित करते हुए यह कहा 'प्रशासन के बिन्दु पर स्थापित या गठित नहीं की गई कलीसियाओं' तक ही सीमित कर दिया, और धर्म महासभाओं को आयोजित करने के कलीसिया के अपने अधिकार की रक्षा की, 'ख्रीष्ट से प्राप्त आंतरिक अधिकार के द्वारा' भले ही नागरिक मजिस्ट्रेट को उसकी सहमति से इनकार करना पड़े।

स्कॉटलैंड की संसद ने इसका कोई विरोध नहीं किया; लेकिन इंग्लैंड की संसद ने इसे स्वीकार करने या इसे पारित करने से इनकार कर दिया, या कम से कम मना कर दिया, और अनुशासन में कुछ विशेष विवरणों को फिर से लागू किया। ये विवरण थे, भाग 4, अध्याय 20, 'मसीही स्वतंत्रता, एवं विवेक की स्वतंत्रता के विषय में'; अध्याय 30, 'कलीसिया द्वारा निन्दा प्रस्तावों के विषय में'; और अध्याय 31, 'मसीही धर्म महासभा और मसीही परिषदों के विषय में।' बुद्धिमान और स्पष्टवादी पाठक उपरोक्त अंशों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करे, तो वह उन लोगों की मूर्खता, बेतुकापन, या

[2] पाठक इस अधिनियम को परिशिष्ट 1 में पाएगा।

विकृत द्वेष को समझे बिना नहीं रह सकता, जो विश्वास के अंगीकार-कथन पर असहिष्णुता और इरास्टियनवाद होने का आरोप लगाते हैं; क्योंकि जिन अंशों के आधार पर ऐसे लोग अपने आरोपों को लगाने का दावा करते हैं, ये वे ही हैं जिन्हें निश्चित रूप से इरास्टियन, और विशेष रूप से असहिष्णु इंग्लैंड की संसद ने स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। इस प्रकार के निन्दनीय आरोपों को बनाने का उल्लेख करने के लिए भी विवश होना दुखद है, और वह भी कुछ ऐसे लोगों द्वारा जो या तो जानते हैं, या उन्हें पता होना चाहिए कि ये आरोप पूरी रीति से झूठे हैं। एक महत्वाकांक्षी युवक ने एक प्राचीन दार्शनिक से पूछा, 'प्रसिद्ध होने के लिए मुझे क्या करना चाहिए?' दार्शनिक ने उत्तर दिया, 'तुम किसी ऐसे व्यक्ति को मार डालो जो पहले से ही प्रसिद्ध है, और फिर तुम्हारा नाम सदा के लिए उसके साथ उल्लेखित किया जाएगा।' कुछ इसी सिद्धांत पर ये लोग कार्य करते दिखते हैं, जो विश्वास के अंगीकार-कथन पर असहिष्णुता का आरोप लगाते हैं, मानो यह प्रसिद्धि पाने का सबसे आसान तरीका हो। लेकिन दार्शनिक ने प्रसिद्धि और बदनामी के बीच अंतर करने को नजरअंदाज कर दिया; और अंततः ऐसा लग सकता है कि जिन लोगों ने वेस्टमिन्स्टर असेंबली के संतों की प्रतिष्ठा को नष्ट करने का प्रयास करके प्रसिद्धि चाही, उन लोगों ने भी ऐसी ही गलती की है।

लेकिन यहाँ पर वेस्टमिन्स्टर असेंबली और विश्वास के अंगीकार-कथन के औचित्य पर न्याय करना आवश्यक नहीं है। हाल ही में विभिन्न प्रकाशनों द्वारा इसे प्रभावी रीति से किया गया है, जिनके लिए पाठक को सन्दर्भित किया गया है। हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि ऐसे आरोपों के सम्बन्ध में, सामान्य रूप से प्रेस्बिटेरियन लोग, और विशेष रूप से स्कॉटलैंड के प्रेस्बिटेरियन लोग, लम्बे समय से उन महान और भले लोगों की स्मृति के प्रति सबसे कृतघ्न उपेक्षा और अनादर के दोषी हैं, जिनके द्वारा उनकी कलीसिया के सराहनीय अधीनस्थ मानकों का निर्माण किया गया था। उन

लोगों या उनके कार्यों को सिद्धता का स्तर या श्रेय देना बेतुका होगा; लेकिन निश्चित रूप से इन लोगों के बराबर के किसी भी व्यक्ति द्वारा उनके बचाव में एक शब्द भी न कहना, उन लोगों को सभी प्रकार के आक्रमणकारियों द्वारा बदनाम करने देना बेतुकापन से भी बदतर है। हालाँकि, उनका बचाव करने का सबसे अच्छा तरीका है कि लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया जाए। उन्हें पढ़ा जाए और गहन रूप से उनका अध्ययन किया जाना चाहिए; उन्हें सबसे सूक्ष्म और गहन परख के लिए उजागर किया जाना चाहिए; प्रत्येक प्रस्ताव को तर्क के सबसे कठोर नियम और परमेश्वर के वचन के सर्वोच्च मानक द्वारा कठोरता से परखा जाना चाहिए। जो कुछ भी इस जाँच को नहीं सहन कर सकता है, उसे मानो तराजू में तोल कर और कमी पाकर अलग कर दिया जाना चाहिए; क्योंकि यह इसकी अपनी स्पष्ट स्वीकारोक्ति के केवल अनुरूप है, कि 'प्रेरितों के समय से सभी धर्म महासभाएँ और परिषदें, चाहे सामान्य हों या विशेष, गलत हो सकती हैं, और कइयों ने गलती भी की है; इसलिए इन्हें विश्वास या व्यवहार का नियम नहीं बनाया जाना चाहिए, बल्कि दोनों में सहायता के रूप उपयोग किया जाना चाहिए।' लेकिन जहाँ तक यह इतने अधिक गहन जाँच का सामना करता है – और जिसका हमें कोई डर नहीं है – इसे अब असभ्य, अज्ञानता, कपटपूर्ण निन्दा या कटु द्वेष के घृणित आक्रमणों के समक्ष उजागर होने नहीं दिया जाना चाहिए। उन महान मृतकों के स्मृति, उनके जीवित विश्वास के अंगीकार-कथन, और इनमें वर्णित और बनाए गए पवित्र सिद्धांतों के प्रति हमारी स्वयं की श्रद्धापूर्ण भावना की केवल यही माँग है।

घ. हमारी आरम्भिक टिप्पणी विश्वास-कथनों और अंगीकार-कथनों के अस्तित्व की आवश्यकता तथा इन अधीनस्थ मानकों द्वारा प्राप्त महत्वपूर्ण उद्देश्यों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए प्रारम्भ की गई थी; और उस निष्कर्ष को बताने के उद्देश्य के लिए, जिसके लिए इनको हमारा मार्गदर्शन करना चाहिए, हम उसी दृष्टिकोण को फिर से प्रस्तुत करते हैं।

चूंकि कोई भी कलीसिया बिना किसी अंगीकार-कथन या यह सुनिश्चित करने के तरीके के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकती, कि परमेश्वर के सत्य के अर्थ के विषय में इसके सदस्य अपनी सामान्य अवधारणा में कितने एकमत में हैं; और चूंकि विधर्मी विचारों के क्रमिक उदय और उनके क्रमिक खण्डन, अनिवार्य रूप से अंगीकार-कथन के विस्तार, और साथ में परमेश्वर के ज्ञान के बढ़ते विकास की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि भिन्न-भिन्न कलीसियाओं के विभिन्न अंगीकार-कथनों में सदृश्य होने की नित्य प्रवृत्ति होगी, जब तक कि वे सभी एक आम कलीसिया के सामंजस्यपूर्ण अंगीकार-कथन में एक साथ न मिल जाए?

प्रोटेस्टेंट अंगीकार-कथनों के सामंजस्य का अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार करने में संकोच नहीं कर सकता कि यह बहुत सम्भव है, क्योंकि यह सबसे वांछनीय परिणाम है। जब, हम और आगे बढ़कर, उस आत्मिक तत्व की ओर बढ़ते हैं, जिस पर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, तो हम लोग मसीही कलीसिया में पवित्र आत्मा द्वारा दी गई प्रबुद्धता के बढ़ते क्रम की अपेक्षा कर सकते है, जो कि ईमानदार और विनम्र विश्वास की सच्ची प्रार्थनाओं के उत्तर में है, और यह विश्वास एवं प्रेम में उस मसीही एकता को बहुत तेजी से आगे बढ़ाएगी और सुरक्षित करेगी, जो कि प्रेरितों के समय में थी और उसके बाद बहुत कम ही अस्तित्व में रही है। इस सुखद विचार को ध्यान में रखते हुए, हम यह आशा कर सकते हैं कि प्रोटेस्टेंट कलीसिया द्वारा निर्मित नए विश्वास का अंगीकार-कथन सबसे उत्तम होगा, और यह भी कि यह सम्पूर्ण कलीसिया के लिए सुसमाचारीय एकता का आधार बन सकता है।

कुछ लोगों को यह चौंकाने वाली बात, या यहाँ तक कि एक अतिशयोक्तिपूर्ण विचार प्रतीत हो सकता है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि, कुछ प्रतिकूल परिस्थितियों की विशेष श्रृंखला के कारण,

वेस्टमिन्स्टर असेंबली के विश्वास का अंगीकार-कथन मसीही कलीसियाओं में अभी तक पर्याप्त रूप से नहीं जाना गया है। केवल स्कॉटलैंड की कलीसिया द्वारा ही इसे पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया था; और उस कलीसिया में घटित विभिन्न घटनाओं के परिणामस्वरूप, हाल के समय तक विश्वास के अंगीकार-कथन पर तुलनात्मक रूप से बहुत कम ध्यान दिया गया है। हम विश्वास करते हैं, कि यह अब, पहले से कहीं अधिक जाना और बेहतर रीति से समझे जाने की प्रक्रिया में है; और हमें विश्वास है कि जितना अधिक इसे जाना जाएगा और जितना बेहतर इसे समझा जाएगा, उतना ही अधिक इसकी महान एवं विविध उत्कृष्टता का मूल्यांकन किया जाएगा। यह, साथ ही, अन्य कलीसियाओं का ध्यान भी इस ओर आकर्षित करेगा; और हम यह अनुमान लगाने में असमर्थ नहीं हो सकते कि अनेक प्रतिभाशाली लोगों को कितना आश्चर्य होगा कि वे इतने लम्बे समय तक ऐसे उल्लेखनीय मूल्य की रचना से अनभिज्ञ रहे।

यदि ऐसी बात ही हो, जैसी कि हम आशा कर सकते हैं, और यदि निष्पक्ष और स्पष्टवादी मन द्वारा अंगीकार-कथन के सम्बन्ध में कोई गम्भीर आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, तो यह दिखाने के लिए उनका क्या अर्थ था, और हम उन्हें किसी रीति से समझते हैं, इनके साथ कुछ छोटी मौखिक व्याख्याएँ जोड़ने में कोई कठिनाई नहीं होगी; क्योंकि हम पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं कि किसी भी सुसमाचारीय मसीही व्यक्ति या कलीसिया द्वारा की जाने वाली आपत्तियों का बड़ा भाग केवल विशिष्ट शब्दों से सम्बन्धित होगा, और लगभग पूर्ण रूप से इस गलत धारणा पर आधारित होगा कि इन शब्दों को क्या अर्थ को बताने के लिए लिखा गया था। हमारे अपने लिए, हम कोई परिवर्तन नहीं चाहते हैं, यहाँ तक कि एक शब्द के लिए भी नहीं; लेकिन हम भी यह आवश्यक नहीं समझते हैं कि किसी शब्द की गलत व्याख्या को अन्य कलीसियाओं द्वारा हमारे अंगीकार-कथन में बाधा बनने दिया जाए, यदि, उस शब्द की व्याख्या से, बाधा दूर हो सकती है।

ऐसा परिणाम वेस्टमिन्स्टर असेंबली के प्रमुख सदस्यों, और विशेषकर स्कॉटलैंड के कमिश्नरों द्वारा रखे गए विचार को साकार करेगा – जिनके साथ वास्तव में यह आरम्भ हुआ था। कोई भी संकीर्ण और सीमित उद्देश्य इन प्रबुद्ध और बड़े हृदय वाले लोगों की इच्छाओं और अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकता था। एक व्यापक दृष्टि से उन्होंने मसीही जगत और संसार की स्थिति का सर्वेक्षण किया – इसकी आवश्यकताओं को चिह्नित किया, और उपचार पर विचार किया। इस प्रकार से उन्होंने सम्पूर्ण मसीही जगत में प्रोटेस्टेंट एकता के महान और यहाँ तक कि अवर्णनीय विचार का निर्माण किया; न केवल पोप के अधिकार के विरोध में प्रति-संतुलन बनाने के उद्देश्य से, बल्कि सभी सच्ची मसीही कलीसियाओं को शुद्ध, दृढ़ एवं एकजुट करने के लिए; ताकि, वे संयुक्त ऊर्जा और उत्साह के साथ, सभी जातियों को शिक्षा देते हुए, और स्वर्ग के नीचे सारी सृष्टि को अनन्त जीवन का सुसमाचार कर प्रचार करते हुए, अपने उद्धारकर्ता की आज्ञाओं का खुशी-खुशी पालन करते हुए आगे बढ़ सकें।

इन व्यक्तियों की अवधारणा इतनी उत्कृष्ट थी, जिन्हें संकीर्ण सोच वाले कट्टरपंथी के रूप में कलंकित करना बहुत अधिक चलन में है। एक कट्टरपंथी के हृदय में ऐसे प्रेम को पैदा नहीं किया जा सकता जो मसीही धर्म को अपनाने में सक्षम हो – एक कट्टरपंथी के मन में ऐसा विचार पैदा नहीं हो सकता जो इतना नैतिक उत्कृष्टता का हो। यह कहा जा सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं, कि यह विचार समय से पहले का था। एक अर्थ में समय से पहले था; क्योंकि यह उस समय साकार नहीं हो सकता था; लेकिन इसका कथन समय से पहले का नहीं था, क्योंकि यह उस महान परिणाम का कथन था, जिसे मसीही धर्म-सुधार द्वारा उत्पन्न किया जाना चाहिए था। एक और अर्थ में, यह समय से पहले का नहीं था, जितना कि बसंत में बीज बोना समय से पहले नहीं है, जिससे कि हम पतझड़ में फसल को काटने की अपेक्षा करते हैं। फसल पैदा होने से पहले बीज का बोया

जाना अवश्य है – विचार को साकार होने से पहले इसे व्यक्त किया जाना अवश्य है। फिर इसे मनुष्य के मन में कार्य करने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए – बढ़ने, दृढ़ होने, और विस्तारित होने के लिए, जब तक कि यह अपने मौसम में अपना फल न दे।

क्या यह आशा नहीं की जा सकती है कि फल लगने का मौसम निकट है? सभी बातें किसी बड़े परिवर्तन या विकास की ओर तेजी से आगे बढ़ती हुई प्रतीत होती हैं। सभी ओर बुराई के तत्व लगभग अलौकिक गति और शक्ति के साथ एकत्रित हो रहे हैं।

पोपवाद, अनपेक्षित स्तर तक, अपने घातक घाव और अपनी थकी हुई कमजोरी से उबर चुका है, और संसार के हर कोने में अपनी विनाशकारी ऊर्जाओं का प्रयोग कर रहा है।

इंग्लैंड में लॉड की प्रीलेसी (उच्च-धर्माधिकारी प्रणाली) का भयानक रूप फिर से प्रकट हुआ है – जिसे वास्तव में, एक नए नाम से पुकारा गया है, लेकिन यह अपने पूर्ववर्ती के सभी भयानक लक्षण प्रदर्शित करता है – यह अपने अहंकारी दिखावे में, पोपवाद जैसी प्रवृत्ति में, हर दूसरी कलीसिया के प्रति अपने तिरस्कारपूर्ण अवमानना में, और सताने वाली अपनी भावना में पूर्ववर्ती के समान है।

ऐसा लगता है कि नागरिक सरकार किसी ऐसे मोह से प्रेरित है और ऐसे कदम उठा रही है, या उनका समर्थन कर रही है, जो नागरिक और धार्मिक स्वतंत्रता दोनों के लिए बहुत ही अशुभ हैं, मानो किसी ऐसे संकट की ओर बढ़ रही है जिसके विषय में सोचकर ही सभी काँप उठें। समुदाय के लोग किसी भी प्रकार के आघात के लिए तैयार अवस्था में है, जो बहुत ही भयानक है, क्योंकि उन्हें कई पीढ़ियों से मसीही धर्म के सत्य के विषय में अशिक्षित एवं बिना किसी निर्देश के छोड़ दिया गया है।

स्कॉटलैंड की कलीसियाई स्थापना को चीर कर टुकड़ों में कर दिया है; इसके संविधान को बदल दिया गया है, या कहें तो इसे उलट दिया गया

है; और जिन लोगों ने स्कॉटलैंड के चर्च के सिद्धांतों को दृढ़ता से माना है, वे इन सिद्धांतों को अखंड रूप से बनाए रखने के लिए देश से अलग होने के लिए बाध्य किए गए हैं। स्कॉटलैंड की कलीसिया फिर से विघटित हो गई है, जैसे कि वह पहले के समय में थी; परन्तु वह स्वतंत्र है: मसीही धर्म-सुधारकों, और ईश्वरविज्ञानियों और शहीदों द्वारा उसे दिए गए सभी पवित्र सिद्धांतों को बनाए रखने के लिए स्वतंत्र; सभी अन्य सुसमाचारवादी कलीसियाओं को भाईचारे के प्रेम एवं संगति का दाहिना हाथ देने के लिए स्वतंत्र; पवित्र एवं अनन्त सत्य के दृढ़ आधार पर, एक महान सुसमाचारीय संघ के निर्माण में, उनके साथ जुड़ने के लिए स्वतंत्र है।

निश्चित रूप से ये सभी घटनाएँ उन सभी को बाध्य करने के लिए पर्याप्त है जो उन्हें समझने में सक्षम हैं, अर्थात, किसी ऐसे निश्चित उत्साहवर्धक आधार की लालसा करने के लिए जिस पर मसीही धर्म के सत्य और स्वतंत्रता के रक्षक अपने झंडे को गाड़ सकें। हमें लगता है कि विश्वास का यह अंगीकार-कथन ऐसे उत्साहवर्धक आधार को प्रदान करेगा, यदि इसके सिद्धांतों पर ध्यान से विचार किया जाए और उन्हें पूर्ण रूप से समझा जाए। और हम इस बात पर पूरा विश्वास करते हैं कि हम अंततः उस मसीही उद्यम को पूरा करने की आशा संजोए रख सकते हैं जिसके लिए वेस्टमिन्स्टर असेंबली एकत्रित हुई थी, और उस महान विचार को साकार करने के लिए जिसने इसके सबसे प्रतिष्ठित मसीही भक्तों के मनों को परिपूर्ण किया था।

वेस्टमिन्स्टर असेंबली की सफलता में बाधा डालने वाली गलतियाँ हमारे लिए प्रकाश-स्तम्भ हो सकती हैं, जो खतरे से चेतावनी और सुरक्षित स्थान की ओर मार्गदर्शन, दोनों बातें कर सके। उनके मामले में, राजनीतिक प्रभाव और साजिश घातक शक्ति का विषैला तत्व बन गए। सभी राजनीतिक प्रभावों पर अविश्वास किया जाना चाहिए, और उनसे दूर रहना चाहिए, और मसीही धर्म के हमारे सभी विचार-विमर्शों में राजनीतिक

साजिशों को पूर्ण रूप से अज्ञात रखना चाहिए। संकट और चिंता के समय में, परमेश्वर के स्थान पर 'प्रधानों पर भरोसा न रखना, न किसी मनुष्य पर,' सभी सच्चे मसीही कलीसियाओं का नारा एवं उत्तर होना चाहिए, 'परमेश्वर पर भरोसा रखो, और सम्पूर्ण मन से अपने परमेश्वर पर भरोसा रखो।'

भाइयों के बीच में मतभेद, निराधार ईर्ष्या, गलतफहमियाँ और धोखा, और खुलेपन एवं ईमानदारी की कमी, वेस्टमिन्स्टर असेंबली के लिए बहुत ही गम्भीर रीति से घातक थे। यदि प्रेस्बिटेरियन और इंडिपेंडेंट कलीसियाएँ मतभेद की भावना को दूर कर सकते, सभी छोटी-मोटी ईर्ष्या को हटा पाते, और ईश्वरीय सादगी एवं ईमानदारी से एक-दूसरे के लिए अपने हृदयों को खोल पाते, तो वह सारी एकरूपता जो वास्तव में आवश्यक थी, आसानी से प्राप्त की जा सकती थी। और यदि सभी सच्चे सुसमाचारवादी मसीही लोग, - चाहे वे प्रेस्बिटेरियन, या इंडिपेंडेंट, या बैप्टिस्ट, या मैथोडिस्ट, या एपिस्कोपल हों, जैसे कि कुछ के नाम लिए जा सकते हैं - यदि वे अपने पहले से स्थापित और दृढ़ सिद्धांतों और विश्वास एवं आशा और प्रेम की भावनाओं को पूरा अवसर देंगे, तो इस प्रकार के मसीही संघ को तैयार करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती – इसे चाहे प्रेस्बिटेरियन या सुसमाचारवादी कह लीजिए, ताकि यह वास्तव में पवित्रशास्त्र पर आधारित हो – जो कि परमेश्वर की आशीष और सहायता से, उस पोपवाद और विश्वासघात के बढ़ते और भयावह ज्वार को रोक सकने और वापस ले जा सकने में सक्षम हो, जो अपने घमंड की लहरों के साथ, एक बार फिर से संसार को डुबोने की धमकी दे रहे हैं।

क्या इस महान सुसमाचारीय एवं पवित्रशास्त्रीय एकता का समय नहीं आ गया है? किसी महान घटना के लिए लगभग सार्वभौमिक तैयारी के संकेतों को देखे बिना, किसी भी व्यक्ति के लिए संसार के सामान्य स्वरूप पर एक त्वरित दृष्टि डालने को नज़रअंदाज करना असम्भव है। पृथ्वी के राष्ट्र शांत हैं – लेकिन शांति में नहीं, बल्कि थके हुए योद्धाओं के समान,

अपने हथियारों पर थोड़े समय के लिए आराम करते हुए, ताकि, फिर से प्राप्त शक्ति और नई शत्रुता के साथ, वे नश्वर संघर्ष के लिए नए रीति से लड़ाई में उतर सकें। इस भ्रामक विश्राम के दौरान, पक्ष लेने वाले लोगों को प्राप्त करने के लिए, सबसे उग्र विरोधी सिद्धांतों के द्वारा, सबसे प्रचण्ड और अशांत मुठभेड़ का प्रयास किया गया है और किया जा रहा है। निरंकुशता और लोकतंत्रता, अंधविश्वास और नास्तिकता, समान रूप से अपनी शक्तियों और अपनी ऊर्जाओं को एकत्रित कर रहे हैं, अपनी आदत एवं प्रकृति के अनुसार पारस्परिक विनाश के लिए कम, बल्कि स्वतंत्र, पवित्र और आत्मिक मसीही धर्म के अस्तित्व के विरुद्ध एक धर्मभ्रष्ट गठबंधन बना रहे हैं और षडचंत्र रच रहे हैं।

न ही, किसी एक भी दृष्टिकोण में भी, मसीही धर्म हाल में नींद और निष्क्रियता में पड़ा हुआ है। देश-विदेश में सुसमाचार के विस्तार के लिए कई महान साहसिक कार्यों की योजना बनाई गई है और उन्हें क्रियान्वित किया गया है; और उद्धार प्रदान करने वाले सत्य के महान सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से समझाया गया है, और ईमानदारी एवं अडिग निष्ठा के साथ साहसपूर्वक घोषित किया गया है। प्रभु की उपस्थिति से नवजीवन का समय भी आया है – प्यासी कलीसिया पर नए जीवन की आत्मा भी उँडेली गई है – और मसीही भाइयों के हृदयों ने उदार एवं आनन्दमय सहानुभूति के साथ पिघलना एवं घुलना-मिलना सीख लिया है, जिससे वे बहुत समय से अपरिचित थे।

क्या इन सभी बातों को हल्के में लिया और अनदेखा किया जा सकता है, जैसे कि इनका परिणाम कुछ नहीं है, और इनका कोई महत्व नहीं है? यह अंधे मोह से कुछ कम नहीं था। जो वे पूरी रीति से संकेत देते हैं, उसे कहना दुस्साहस होगा; लेकिन यह कहना कठिन नहीं है कि वे एक अभूतपूर्व तैयारी का निर्माण करते हैं। संसार भर में सुसमाचार एवं पवित्रशास्त्र पर आधारित एकता को अब क्या बात रोकती है? 'सब कुछ

तैयार है, विवाह में आओ।' 'यदि तुम मुझसे प्रेम करते हो, तो एक दूसरे से प्रेम रखो।' 'क्योंकि उसने हमारे लिए अपना प्राण दे दिया, इसलिए हमें भी भाइयों के लिए अपना प्राण देना चाहिए।' यदि ये पूरी रीति से वेस्टमिन्स्टर असेंबली के आचरण के सिद्धांत एवं नियम होते, तो इसका महान विचार साकार हो सकता था। उन्हें वे बातें होना चाहिए जो अब सभी मसीही कलीसियाओं को प्रेरित करते एवं मार्गदर्शन करते हैं। प्रार्थना के लिए हमारे महान सघों में उन्हें महसूस किया गया है; उन्हें उन सभी लोगों द्वारा महसूस किया जाना चाहिए जो वेस्टमिन्स्टर असेंबली के मानकों का सम्मान करते और उन्हें समझ सकते हैं। और यदि वे हैं, तो हम न केवल इसके **सॉलेम लीग एंड कवनेन्ट** के उद्देश्य को पूरा कर सकते हैं, इसके विश्वास के अंगीकार-कथन से सहमत हो सकते हैं, और एक सामान्य सुसमाचारीय संघ के इसके महान विचार को साकार कर सकते हैं; बल्कि हम, यदि हमारे ईश्वरीय प्रधान एवं राजा की ऐसी इच्छा हो, तो सुसमाचार के सार्वभौमिक प्रचार को बढ़ावा देने में शक्तिशाली रूप से सहायक हो सकते हैं, और उस प्रार्थना का पूर्ण उत्तर स्वर्ग से प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें हम सभी एकजुट हैं: '**तेरा राज्य आए: तेरी इच्छा जैसे स्वर्ग में पूरी होती है, वैसे ही पृथ्वी पर भी पूरी हो।**'

अध्याय 1
पवित्र शास्त्र

भाग 1

यद्यपि प्रकृति का ज्ञान, और सृष्टि एवं दिव्य प्रबन्धन के कार्य, अब तक परमेश्वर की भलाई, बुद्धि, और सामर्थ्य को प्रकट करते हैं, जिससे मनुष्य निरुत्तर हो जाते हैं (रोमियों 2:14, 15; 1:19, 20; भजन संहिता 19:1 – 3; रोमियों 1:32; 2:1); फिर भी वे परमेश्वर के उस ज्ञान पर कार्य करने में, और उसकी उस इच्छा को पूरा करने में अपर्याप्त हैं, जो कि उद्धार के लिए आवश्यक है (1 कुरिन्थियों 1:21; 2:13, 14): इसलिए विभिन्न समयों पर, और विविध तरीकों से, कलीसिया के लिए स्वयं को प्रकट करने, और अपनी इच्छा को घोषित करने में प्रभु को प्रसन्नता हुई (इब्रानियों 1:1); और उसके पश्चात्, सत्य के बेहतर संरक्षण एवं प्रचार के लिए, और शरीर की भ्रष्टता, और शैतान एवं संसार के द्वेष के विरुद्ध, कलीसिया की अधिक पक्की स्थापना एवं शान्ति के लिए, उसे सम्पूर्ण रूप से लेख के रूप में समर्पित किया (नीतिवचन 22:19 – 21; लूका 1:3, 4; रोमियों 15:4; मत्ती 4:4, 7, 10; यशायाह 8:19 – 20); जो पवित्रशास्त्र (बाइबल) को अति आवश्यक बनाता है (2 तीमुथियुस 3:15; 2 पतरस 1:19); क्योंकि अपने लोगों के लिए परमेश्वर द्वारा अपनी इच्छा को प्रकट करने के वे पूर्व तरीके अब समाप्त हो गए हैं (इब्रानियों 1:1, 2)।

व्याख्या

अलौकिक प्रकटीकरण (revelation) के कुछ ही सिद्धांत हैं, जिनका किसी

न किसी समय में खंडन न किया गया हो, या विवादास्पद न रहा हो; और यह वेस्टमिन्स्टर विश्वास के अंगीकार-कथन की एक विशेष उत्कृष्टता है कि इसकी रचना करने वालों ने अनेक अनुच्छेदों को सबसे उत्तम स्वरूप में प्रस्तुत किया है, ताकि न केवल पवित्र सत्यों के विषय में सटीक विचार व्यक्त किए जा सकें, बल्कि असंगत त्रुटियों से रक्षा भी की जा सके। एक ओर, जो लोग प्राकृतिक सत्य के अस्तित्व को नकारते हैं, और दूसरी ओर, देववादी लोग, जो मनुष्य को अनन्त सुख की ओर मार्गदर्शन के लिए प्रकृति के ज्ञान की पर्याप्तता को मानते है, उनके विरोध में यह भाग दावा करता है:

क. परमेश्वर के अस्तित्व, और उसकी अनेक सिद्धताओं का ज्ञान, प्रकृति के ज्ञान, और सृष्टि एवं दिव्य प्रबन्धन के कार्यों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

ख. कि प्रकृति का ज्ञान पाप में पतित मनुष्य को परमेश्वर, और उसकी इच्छा के विषय में ज्ञान देने के लिए अपर्याप्त है, जो कि उद्धार के लिए आवश्यक है।

ग. कि परमेश्वर को अपनी कलीसिया को अपनी इच्छा का अलौकिक प्रकटीकरण देने में प्रसन्नता हुई है।

घ. कि इस प्रकटीकरण को लिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है, और कि पवित्रशास्त्र अत्यंत आवश्यक है; अपने लोगों के लिए परमेश्वर द्वारा अपनी इच्छा को प्रकट करने के प्राचीन तरीके अब समाप्त हो गए हैं।

पहला: कि सभी धर्मों का पहला सिद्धांत है कि परमेश्वर है, चाहे वे धर्म प्राकृतिक हों या प्रकाशित, और हमें यहाँ सिखाया जाता है कि परमेश्वर का अस्तित्व और उसके अनेक गुण प्रकृति के ज्ञान के द्वारा खोजे जा सकते हैं। 'परमेश्वर' शब्द से तात्पर्य अनन्त सिद्धता वाले अस्तित्व से है; जो स्वयं से अस्तित्ववान और स्वतंत्र है; जो सभी वस्तुओं का सृष्टिकर्ता, संरक्षक और प्रभु है।

> वास्तव में, यह सच है, कि परमेश्वर की एक पूर्ण परिभाषा देना असम्भव है, न ही हमारी सीमित बुद्धि अनन्तता के किसी अनुपात को सोच सकती है; परन्तु फिर भी हमारे पास इस परमेश्वरत्व का बोध है, इसकी पहली और सामान्य अवधारणा इन तीन विशेषताओं में निहित है – कि वह स्वयं से अस्तित्व में है, और किसी भी अन्य से स्वतंत्र है; कि वह ऐसा जन है जिस पर सभी सृजी गई वस्तुएँ निर्भर हैं; कि वह सभी वस्तुओं पर शासन करता है।[3]

जब हम पुष्टि करते हैं कि परमेश्वर के अस्तित्व को प्रकृति के ज्ञान द्वारा खोजा जा सकता है, तो हमारा तात्पर्य इंद्रियों एवं तार्किक शक्तियों से है जो मनुष्य के स्वभाव से सम्बन्धित है, जो उसे यह दिखाने के लिए कि एक परमेश्वर है, बहुत अधिक ज्ञान देने में सक्षम हैं। अपनी इंद्रियों द्वारा हम उसके कार्यों से परिचित हैं, और उसके कार्यों के द्वारा हमारी बुद्धि यह पता लगाने के लिए हमारा मार्गदर्शन कर सकती है कि इनसे अधिक महान जन है जिसने इन्हें बनाया है। यही बात पवित्रशास्त्र स्पष्ट रूप से दावा करती है

> इसलिए कि परमेश्वर के विषय का ज्ञान उनके मनों में प्रगट है, क्योंकि परमेश्वर ने उन पर प्रगट किया है। उसके अनदेखे गुण, अर्थात उसकी सनातन सामर्थ्य और परमेश्वरत्व, जगत की सृष्टि के समय से उसके कामों के द्वारा देखने में आते हैं, यहाँ तक कि वे निरुत्तर हैं (रोमियों 1:19, 20)।

परमेश्वर का अस्तित्व हमारे अपने अस्तित्व से कम असंदिग्ध नहीं है। प्रत्येक मनुष्य पूर्ण निश्चितता से जानता है, कि वह स्वयं अस्तित्व में है।

---

[3] विश्वास कथन, अनुच्छेद 1 पर Pearson

वह यह भी जानता है कि उसका आरम्भ हुआ था, और उसने अपने अस्तित्व को अपने जैसे प्राणियों के अनुक्रम से प्राप्त किया। चाहे इस अनुक्रम को कितना भी भूतकाल में क्यों न मान ले, यह उसके अस्तित्व के कारण का संतोषजनक विवरण नहीं देता है। उसके पूर्वज स्वयं को रचने में उससे अधिक सक्षम नहीं थे; इसलिए उसे किसी मूल अस्तित्व तक पहुँचना होगा, जिसका कोई आरम्भ नहीं था, परन्तु जो अनन्त काल से अपने आप में जीवन रखता था, और जो सभी अन्य प्राणियों को जीवन और अस्तित्व देता है। यह वह व्यक्ति है जिसे हम परमेश्वर कहते हैं। परन्तु

> हम न केवल अपने अस्तित्व के प्रति सचेत हैं, बल्कि हम यह भी जानते हैं कि भौतिक एवं आत्मिक दोनों ही प्रकार की कई अन्य वस्तुएँ भी अस्तित्व में हैं। यह बात उतनी ही अकल्पनीय है कि ये वस्तुएँ अनंतकाल से अपनी वर्तमान अवस्था में अस्तित्व में रही होगी, या कि वे संयोग से इस अवस्था में आ गई होंगी; और परिणामस्वरूप, क्योंकि एक ऐसा समय था जब उनका अस्तित्व नहीं था, और क्योंकि स्वयं को उत्पन्न करना उनके लिए असम्भव था, तो इससे निष्कर्ष निकलता है कि कोई बाहरी अभिकर्ता या सृष्टिकर्ता था जिसके कारण पृथ्वी का आरम्भ हुआ एवं आज उसका ऐसा स्वरूप है: उस अभिकर्ता या सृष्टिकर्ता को हम परमेश्वर कहते हैं।[4]

परमेश्वर के विधान के अद्‌भुत कार्य, कई हजारों वर्षों से आकाश के प्रकाश-पुंजों की नियमित एवं अचूक गति, गर्मी एवं सर्दी का न चूकने वाला आगमन, बोने का समय और कटाई का समय, दिन व रात, और अनगिनत अन्य चमत्कार, ऐसे सर्वोच्च व्यक्ति के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं, जो सभी वस्तुओं को बनाए रखता है और उन पर शासन करता

[4] Pretyman's *Elements of Christian Theology*, vol. 2, p. 62.

है। सृष्टि और दिव्य प्रबन्धन के कार्यों में भी, हम अनन्त शक्ति, ज्ञान, और भलाई के सबसे स्पष्ट चरित्र को देखते हैं।

> इन कार्यों के विषय में हम जितना अधिक जानते हैं, उतना ही अधिक हम समझ पाते हैं कि प्रकृति में न केवल शक्ति का प्रयोग होता है, बल्कि एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधनों का समायोजन भी होता है, जिसे हम ज्ञान कहते हैं, और सभी प्राणियों को सुख वितरित करने के लिए साधनों का समायोजन होता है, जो कि ऐसी सर्वोच्च अवधारणा है जिसको हम भलाई के लिए सोच सकते हैं।[5]

जिस प्रकार सृष्टि के सभी कार्यों में परमेश्वर के चिह्न स्पष्ट रूप से अंकित हैं, उसी रीति से हम प्राचीन काल के इतिहास, और आधुनिक यात्रियों के अवलोकन से सीखते हैं, कि हर एक देश में, और हर एक काल में, किसी न किसी सर्वश्रेष्ठ जन, और किसी न किसी प्रकार की दिव्य उपासना की अवधारणा प्रचलित रही है। परमेश्वर की धारणा सार्वभौमिक है, और सबसे प्राचीन अभिलेख हमें किसी भी जाति के इतिहास में ऐसे युग की ओर नहीं ले जाते हैं जब यह धारणा अस्तित्व में नहीं थी। इस सत्य को निश्चित रूप से प्रकृति का शासन होना चाहिए, जिसके लिए सभी जातियों ने सहमति दी है। संसार में बहुत अधिक व्यावहारिक नास्तिकता है, लेकिन प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि क्या कोई भी व्यक्ति अपने मन से एक सर्वोच्च व्यक्ति की छाप को पूर्ण रूप से मिटाने में सक्षम हुआ है। वास्तव में, इसकी पुष्टि की गई है: 'मूर्ख ने अपने मन में कहा है, कोई परमेश्वर है ही नहीं' (भजन 14:1); परन्तु यह जानबूझकर लिए गए निर्णय के उचित निर्धारण की तुलना में अपवित्र भावनाओं की अभिलाषा है, जिन्हें ये शब्द व्यक्त करते हैं। हालाँकि कि कुछ लोग अपने शब्दों में परमेश्वर के अस्तित्व को नकार

[5] Hill's *Lectures*, vol. 1, p. 9.

सकते हैं, फिर भी वे अपने हृदयों में ऐसे डर महसूस करते हैं, विशेषकर कुछ दुस्साहसिक दुष्टता करने पर, जो उन्हें कायल करता है कि कोई सर्वोच्च जन है, जो अपनी व्यवस्था के उल्लंघन करने वालों का न्याय करेगा और उन्हें दण्डित करेगा। वास्तव में, इस सत्य के लिए मनुष्य का विवेक हजारों गवाहों के स्थान पर है। प्रेरित पौलुस हमें बताता है कि, 'मनुष्यों के हृदयों में व्यवस्था लिखी हुई है', वह आगे कहता है कि 'उनके विवेक भी गवाही देते हैं, और उनके विचार परस्पर दोष लगाते या उन्हें निर्दोष ठहराते हैं' (रोमियों 2:15)। विवेक मनुष्य को उसके दुष्ट कार्यों के लिए धिक्कारता, निन्दा करता और सताता है, और उसके सभी कार्यों का लेखा-जोखा देने की प्रत्याशा करता है, इस प्रकार विवेक प्रदर्शित करता है कि परमेश्वर है। इसी के अनुसार, पवित्रशास्त्र, परमेश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है, और यह साबित करने के बजाय कि परमेश्वर है, हमें यह बताने से आरम्भ करता है कि परमेश्वर ने क्या किया: 'आदि में परमेश्वर ने आकाश और पृथ्वी की रचना की' (उत्पत्ति 1:1)।

प्रकृति के ज्ञान से प्राप्त होने वाला परमेश्वर का यह ज्ञान विभिन्न उपयोगी उद्देश्यों की पूर्ति करता है। यह अपने सभी प्राणियों के प्रति परमेश्वर की भलाई का प्रमाण है (प्रेरितों के काम 14:17)। जैसा कि यह मनुष्यों को उनका कर्तव्य बताता है, और कई बातों में, उन्हें पाप के प्रति कायल करता है; इसी रीति से इसने मानवजाति पर कुछ हद तक प्रभाव डाला है, कम से कम दण्ड के भय के द्वारा, उन्हें दुष्टता की चरम सीमा से रोकने में (रोमियों 2:14, 15)। यह मनुष्यों को परमेश्वर के स्पष्ट प्रकटीकरण की खोज करने के लिए उत्साहित करता है, और उनके लिए उसके अनुग्रह के सुसमाचार को प्राप्त करने का मार्ग तैयार करता है (प्रेरितों के काम 17:27)। यह परमेश्वर को एक धर्मी शासक के रूप में, हठी पापियों के साथ यहाँ संसार में और इस संसार के बाद उसके कठोर न्याय करने के आचरण को सही साबित करता है। यह मनुष्यों को न्याय के उस महान दिन में निरुत्तर

करेगा, जब परमेश्वर मनुष्यों की गुप्त बातों का न्याय करेगा (रोमियों 1:20, 21; 2:15, 16)। परन्तु, प्रकृति के ज्ञान के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान अस्पष्ट और दोषपूर्ण है।

दूसरा प्रस्ताव पाप में पतित मनुष्य को परमेश्वर, और उसकी इच्छा के विषय में वह ज्ञान प्रदान करने में प्रकृति के ज्ञान की अपर्याप्तता पर जोर देता है, जो उद्धार के लिए आवश्यक है। परमेश्वर की बातों के सम्बन्ध में मनुष्य के ज्ञान का विस्तार, जिसे कोई व्यक्ति पाने में सक्षम है, उसे आधुनिक देववादियों (Deists) के लेखों से निश्चित नहीं किया जा सकता है, जो, भले ही अलौकिक प्रकाशन को कितना ही तुच्छ समझते हों, परन्तु परमेश्वर और नैतिक दायित्व के सम्बन्ध में उनकी भावनाओं का अधिकांश भाग, उन्होंने उसी स्रोत से निकाला है। बीते समय का और प्राचीन देशों का इतिहास दिखाता है, कि अलौकिक प्रकाशन से वंचित प्रत्येक देश में, अधिकांश मानवजाति सच्चे परमेश्वर के विषय में, उसके प्रति अपने कर्तव्य के विषय में बहुत कम जानती थी। 'संसार ने अपनी बुद्धि से परमेश्वर को नहीं जाना'; यहाँ तक कि विद्वान एथेंसवासी भी सच्चे परमेश्वर के विषय में इतने अनभिज्ञ थे कि उन्होंने 'अनजाने ईश्वर के लिए' एक वेदी समर्पित कर दी। मूर्तिपूजक संसार सबसे घिनौनी मूर्तिपूजा और घोर अंधविश्वास में डूबी हुई थी। न केवल आकाशीय ग्रहों को देवता बना दिया गया था, बल्कि पृथ्वी पर लगभग हर प्राणी को देवता के रूप में पूजा जाता था, और असंख्य काल्पनिक प्राणियों को दिव्य सम्मान दिया जाता था। यद्यपि कुछ मूर्तिपूजक दार्शनिकों ने परमेश्वर की प्रकृति के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और उन्होंने अपने अनुयायियों में अनेक नैतिक सद्गुणों को सिखाया था, फिर भी इस बात ने उन्हें उनके देश में मूर्तिपूजा करने से नहीं रोका, या सबसे जघन्य और अप्राकृतिक अपराध करने से नहीं रोका (रोमियों 1:21 – 28)। प्रकृति के ज्ञान से हम सीख सकते हैं कि संसार में नैतिक और दण्डात्मक दोनों प्रकार की बुराइयाँ हैं;

परन्तु इस प्रश्न के विषय में प्रकृति का ज्ञान पूर्ण रूप से मौन है, कि पाप संसार में कैसे आया और इससे मुक्ति कैसे पाई जा सकती है। यह मनुष्यों को उनका पाप और विपत्ति तो दिखाती है, परन्तु यह उद्धार का स्पष्ट एवं निश्चित मार्ग नहीं दिखाती है। पवित्रशास्त्र हमें आश्वस्त करता है, कि यीशु ख्रीष्ट के नाम के सिवाय किसी और अन्य नाम में पापी मनुष्यों के लिए कोई उद्धार नहीं है – कि उसके द्वारा विश्वास के बिना कोई उद्धार नहीं है, और कि प्रकाशन के बिना, ख्रीष्ट का कोई ज्ञान, और उस पर कोई विश्वास नहीं हो सकता है (प्रेरितों के काम 4:12; मरकुस 16:16; रोमियों 10:14 – 17)। पवित्रशास्त्र अत्यंत स्पष्टता से पुष्टि करता है कि 'जहाँ कोई दर्शन,' या प्रकाशन नहीं है, 'वहाँ लोग नष्ट हो जाते हैं'; और यह उन लोगों का वर्णन जो ईश्वरीय प्रकाशन से वंचित हैं, इस प्रकार करता है, 'आशाहीन, और जगत में ईश्वर-रहित हैं' (नीतिवचन 29:18; इफिसियों 2:12)। परमेश्वर किसी भी कार्य को व्यर्थ नहीं करता; और यदि प्रकृति का ज्ञान मनुष्यों को अनन्त सुख की ओर ले जाने के लिए पर्याप्त होता, तो यह नहीं माना जा सकता है कि ईश्वरीय प्रकाशन दिया गया होता। परन्तु –

तीसरा प्रस्ताव यह दावा करता है, कि परमेश्वर को यह भाया कि अपनी कलीसिया के लिए अपनी इच्छा का एक अलौकिक प्रकाशन प्रदान करे। यह अविश्वसनीय बात नहीं मानी जा सकती कि परमेश्वर को अपने मन और इच्छा का प्रकाशन मनुष्य के लिए देना चाहिए। क्या उसने मनुष्यों को इस प्रकार रचा कि उन्हें बोलकर और लिखकर एक दूसरे को अपने मन की बात बताने में सक्षम होना चाहिए? और क्या यह अविश्वसनीय बात मानी जाएगी कि उसे भी अपने मन की बात उनसे इसी रीति से बतानी चाहिए?

> यह वास्तव में, असीम प्रेम, दया, और करुणा के कारण ही था कि परमेश्वर पापियों के लिए अपने मन और इच्छा को प्रकट करेगा। वह सर्वदा के लिए अपने ज्ञान एवं बुद्धिमत्ता के खजाने को बंद कर सकता था, जिसमें से वह अपने वचन में, अपने स्वयं के शाश्वत हृदय में हमारे प्रति भरपूर

> मात्रा में देता है। वह सभी मनुष्यों को उस दुखद अंधकार में छोड़ सकता था, जिसमें पाप के द्वारा उन्होंने स्वयं को डाल दिया था, और उन्हें उन स्वर्गदूतों के साथ, जिन्होंने पहले पाप किया था, न्याय के उस महान दिन तक जंजीरों और उसकी शक्ति के अधीन रख सकता था। परन्तु असीम प्रेम से उसने स्वयं को और अपनी इच्छा को हमारे सामने प्रकट करने की कृपा की।[6]

कलीसिया के लिए परमेश्वर का मन एक ही बार में प्रकट नहीं किया गया था, बल्कि, जैसा कि उसकी असीम बुद्धि ने उचित समझा, यह कई भागों एवं कई स्तरों में प्रकट हुआ। 'पूर्व युग में परमेश्वर ने बापदादों से थोड़ा-थोड़ा करके और भाँति-भाँति से भविष्यद्वक्ताओं के द्वारा बातें की' (इब्रानियों 1:1)। 'पूर्व युगों' को 'प्राचीन प्रकटीकरण के विषय के रूप में समझा जा सकता है, जिसे अलग-अलग भागों में, और भिन्न-भिन्न समयों में दिया गया, इस प्रकार अलग-अलग युगों में, और भिन्न-भिन्न मनुष्यों द्वारा सत्य के क्रमिक विकास के विचार को व्यक्त करता है'; और 'भाँति-भाँति से' को उन विभिन्न तरीकों को 'इंगित करने के रूप में समझा जा सकता है, जिसमें ये प्रकटीकरण संप्रेषित किए गए थे – स्वप्नों, दर्शनों, प्रतीकों, ऊरीम और तुम्मीम, नबियों के उत्कर्ष, आदि में।'[7] नए विधान के अन्तर्गत, परमेश्वर ने अपने पुत्र के द्वारा अपनी इच्छा के सम्पूर्ण प्रकटीकरण को पूरा किया है, और संसार के अंत तक किसी नए प्रकाशन की आशा नहीं की जा सकती है।

चौथा प्रस्ताव यह दावा करता है, कि इस प्रकटीकरण को लिखित रूप में होने के लिए दिया गया है। मूसा के समय तक, या दो हज़ार पाँच सौ वर्षों की अवधि के लिए, पवित्र पुस्तकों का कोई भी भाग लिखा नहीं

---

[6] इब्रानियों 1:1 पर ओवन (Owen)।

[7] इब्रानियों 1:1 पर स्टुआर्ट (Stuart) की टीका।

गया था। परमेश्वर ने उसके बाद अपनी इच्छा को बिना किसी माध्यम वाले प्रकटीकरण के द्वारा कलीसिया को बताया; और कुलपिताओं के लम्बे जीवन ने उन्हें इस योग्य बनाया कि जो प्रकट किया गया था उसे बिना दूषित किए संरक्षित करके रखें, और उसे पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित करते रहें। दो व्यक्ति इसे आदम से अब्राहम तक पहुँचा सकते थे; क्योंकि मतूशेलह तीन सौ से अधिक वर्ष तक जीवित रहा, जबकि आदम अभी भी जीवित था, और शेम मतूशेलह के साथ लगभग सौ वर्ष जीवित रहा, और अब्राहम के साथ सौ से अधिक वर्ष जीवित रहा। लेकिन जब मनुष्यों के जीवनों को घटा दिया गया, और प्रकटीकरण को बहुत हद तक बढ़ा दिया गया, तो परमेश्वर को यह अच्छा लगा कि उसकी सम्पूर्ण इच्छा को लिखित रूप में समर्पित किया जाना चाहिए, ताकि कलीसिया के पास विश्वास एवं जीवन का एक स्थायी नियम हो, जिसके द्वारा सभी सिद्धांतों की जाँच की जा सके, और सभी कार्यों को व्यवस्थित किया जा सके – ताकि पवित्र सत्य को बिना किसी भ्रष्टता के और सम्पूर्णता में संरक्षित किया जा सके – ताकि इसे पृथ्वी के कई विभिन्न राष्ट्रों में प्रचारित किया जा सके, और सभी आने पीढ़ियों तक पहुँचाया जा सके। हालाँकि, कलीसिया की आरम्भिक अवस्था में, परमेश्वर ने अपने लोगों को लिखित वचन के बिना सिखाया था, फिर भी अब जबकि अपने लोगों को अपनी इच्छा प्रकट करने के उसके पिछले तरीके समाप्त हो गए हैं, तो पवित्र शास्त्र, या लिखित वचन सबसे आवश्यक है। इसके बिना कलीसिया परम्परा और मौखिक शिक्षा की अनिश्चितता में ही रह जाती; लेकिन लिखित वचन सिद्धांतो की एक निश्चित परख है, और अंधकारमय स्थान में एक ज्योति है, जो कि दोनों ही अत्यंत आवश्यक हैं (यशायाह 8:20; 2 पतरस 1:19)।

भाग 2

पवित्रशास्त्र (बाइबल), या लिखित परमेश्वर के वचन के नाम के तहत,

अब पुराने एवं नए नियम की भी पुस्तकें सम्मिलित हैं, जो इस प्रकार से हैं:

पुराने नियम की पुस्तकें: उत्पत्ति, निर्गमन, लैव्यव्यवस्था, गिनती, व्यवस्थाविवरण, यहोशू, न्यायियों, रूत, 1 शमूएल, 2 शमूएल, 1 राजा, 2 राजा, 1 इतिहास, 2 इतिहास, एज्रा, नहेम्याह, एस्तेर, अय्यूब, भजन संहिता, नीतिवचन, सभोपदेशक, श्रेष्ठगीत, यशायाह, यिर्मयाह, विलापगीत, यहेजकेल, दानिय्येल, होशे, योएल, आमोस, ओबद्याह, योना, मीका, नहूम, हबक्कूक, सपन्याह, हाग्गै, जकर्याह, मलाकी।

नए नियम की पुस्तकें: मत्ती, मरकुस, लूका, यूहन्ना, प्रेरितों के काम, रोमियों की पत्री, 1 कुरिन्थियों, 2 कुरिन्थियों, गलातियों, इफिसियों, फिलिप्पियों, कुलुस्सियों, 1 थिस्सलुनीकियों, 2 थिस्सलुनीकियों, 1 तीमुथियुस, 2 तीमुथियुस, तीतुस, फिलेमोन, इब्रानियों, याकूब, 1 पतरस, 2 पतरस, 1 यूहन्ना, 2 यूहन्ना, 3 यूहन्ना, यहूदा, प्रकाशितवाक्य।

ये सभी, विश्वास एवं जीवन हेतु नियम होने के लिए, परमेश्वर की प्रेरणा से दिए गए हैं (लूका 16:29, 31; इफिसियों 2:20; 2 तीमुथियुस 3:16; प्रकाशितवाक्य 22:18, 19)।

भाग 3

वे पुस्तकें जो सामान्य रूप से अपोक्रिफा (Apocrypha) कहलाती हैं, परमेश्वर की प्रेरणा से लिखे नहीं जाने के कारण, पवित्रशास्त्र की आधिकारिक ग्रन्थ-संग्रहण वाली पुस्तकें (Canonical Books) नहीं हैं; और इसलिए अन्य मानवीय लेखन के समान ही, परमेश्वर की कलीसिया में न तो उनका कोई अधिकार है, और न ही किसी अन्य रीति से उनका अनुमोदन किया जाना चाहिए, या उन्हें उपयोग में लाया जाना चाहिए। (लूका 24:27, 44; रोमियों 3:2; 2 पतरस 1:21)।

व्याख्या

ये भाग सच्ची आधिकारिक पुस्तकों, और पवित्रशास्त्र की परमेश्वर द्वारा

प्रेरणा से सम्बन्धित हैं। रोमन कैथोलिक चर्च के विरोध में, जो कि अपोक्रिफा वाली पुस्तकों को पवित्रशास्त्र के बराबर आधिकारिक मानती है, यह दावा किया गया है कि ये पुस्तकें पवित्रशास्त्र की आधिकारिक पुस्तकों का भाग नहीं हैं; और देववादियों (Deist) के विरोध में, जो इस बात को नकारते हैं कि पुराने और नए नियम का पवित्रशास्त्र परमेश्वर का वचन है, यह दावा किया गया है कि सभी पवित्र पुस्तकें परमेश्वर की प्रेरणा से दिए गए हैं।

पवित्रशास्त्र शब्द सामान्यतः *लिखित पुस्तकों* को चिह्नित करता है, लेकिन इसे परमेश्वर के वचन के लिए उपयोग किया जाता है, जिसे कि श्रेष्ठता के आधार पर, बाइबल या *पुस्तक* भी कहा जाता है, क्योंकि यह सभी पुस्तकों में अतुलनीय रूप से सर्वश्रेष्ठ है। पवित्र पुस्तकों को पुराना नियम एवं नया नियम में विभाजित किया गया है। पहले वाले में वे सभी पुस्तकें सम्मिलित हैं जो अनुग्रह की वाचा के *पुराने विधान* के तहत या परमेश्वर के पुत्र के देहधारण से पहले लिखी गई थीं; दूसरे भाग में वे पुस्तकें सम्मिलित हैं जो *नए विधान* के आरम्भ के पश्चात, या ख्रीष्ट के जन्म के बाद लिखी गई थीं। प्रेरित पौलुस इस अंतर के लिए नींव प्रदान करता है; क्योंकि वह पुराने नियम एवं नए नियम के वाक्यांशों का उपयोग करता है, और एक स्थान पर वह मूसा एवं नबियों की पुस्तकों को पहले वाले शीर्षक से नामित करता है (2 कुरिन्थियों 3:14)। कैनन (Canon) शब्द का शाब्दिक अर्थ नियम है, और बहुत पहले ही से इसका उपयोग प्रेरणा प्राप्त पवित्रशास्त्र को नामित करने के लिए किया जाता था, जो कि विश्वास एवं जीवन का एक आदर्श नियम बनाते हैं।

पवित्रशास्त्र अब एक ग्रन्थ में संकलित है, लेकिन इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न युगों में, एवं अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा लिखी गई अधिक संख्या में भिन्न-भिन्न पुस्तकें हैं। तो फिर, हम इनमें से प्रत्येक पुस्तक की प्रामाणिकता एवं सत्यता का पता कैसे लगा सकते हैं, और हम अन्य सभी पुस्तकों को

छोड़कर इन्हें आधिकारिक पुस्तकें क्यों मानते हैं? इस प्रकार के प्रश्न को निर्धारित करने में, हमें उसी पद्धति का उपयोग करना चाहिए जिसका हम तब उपयोग करते हैं जब किसी अन्य पुस्तक की प्रामाणिकता जाँच का विषय होती है। हम कैसे जानते हैं कि होमर (Homer), टैसिटस (Tacitus), और लिवी (Livy) के नाम वाली पुस्तकें वास्तव में उनके द्वारा लिखी गई थी, सिवाय सभी बाद के युगों की एक समान गवाही के द्वारा। इसी रीति से हम यह सुनिश्चित करते हैं कि प्रेरितों एवं सुसमाचार प्रचारकों की पुस्तकें वास्तविक हैं; हमारे पास उनके समकालीनों एवं तत्काल उत्तराधिकारियों की गवाही है, जो इस विषय में सबसे सक्षम गवाह हैं। पुरातन अभिलेखों की खोज का कार्य विद्वानों द्वारा किया गया है, और इसे बड़े परिश्रम एवं उत्साह के साथ क्रियान्वित किया गया है। उनकी जाँच का परिणाम यह है कि, वे पुस्तकें जिन्हें अब नए नियम में सम्मिलित किया है, वे आरम्भिक कलीसिया द्वारा प्रेरणा प्राप्त माने गए थे, और आरम्भिक मसीही लेखकों द्वारा उनमें से कई अंश उद्धत किए गए थे; इन पुस्तकों की सूची, जो हमारी सूची से मेल खाती है, तीसरी एवं चौथी शताब्दियों में रहे विभिन्न लेखकों के कार्यों में डाली गई हैं; और इन पुस्तकों को मसीही मण्डलियों में सार्वजनिक रूप से पढ़ा जाता था, और विश्वास के मानक, एवं विवादों के सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में, मसीही लेखकों द्वारा निरन्तर अपील की जाती थीं। पुराने नियम का कैनन (आधिकारिक पुस्तकें) एक छोटी प्रक्रिया द्वारा निर्धारित किया जाता है: हम जानते हैं कि यहूदियों ने अपनी पवित्र पुस्तकों को तीन वर्गों में व्यवस्थित किया, व्यवस्था, नबी और पवित्र लेखन (Hagiography)। अब, हमारे प्रभु ने, अपने स्वर्गारोहण से ठीक पहले, अपने शिष्यों को इस प्रकार सम्बोधित किया:

> ये मेरी वे बातें हैं, जो मैं ने तुम्हारे साथ रहते हुए तुम से कही थीं कि अवश्य है कि जितनी बातें मूसा की व्यवस्था और नबियों और भजनों की पुस्तकों में मेरे विषय में लिखी है, सब पूरी हों (लूका 24:44)।

भजन संहिता को यहाँ पवित्र लेखन के लिए कहा गया है, सम्भवतः इसलिए क्योंकि वह प्रमुख पुस्तक थी, या उस भाग में प्रथम स्थान पर था। हमारे प्रभु ने पवित्र पुस्तकों के इस सामान्य विभाजन को अपनाकर, जिसमें पूरा इब्रानी पवित्रशास्त्र समाहित था, पुराने नियम के कैनन की पुष्टि की, जैसा कि इसे यहूदियों द्वारा प्राप्त किया गया था। हालाँकि, यह बात, यह निर्धारित नहीं करता है कि पवित्र ग्रन्थ में कौन सी विशेष पुस्तकों को सम्मिलित किया गया था; लेकिन इस विषय पर हमारे पास यहूदी इतिहासकार जोसेफस (Josephus) की गवाही है, जो वास्तव में पुराने नियम की पुस्तकों का नाम तो नहीं बताता है, परन्तु वह उनकी संख्या बताता है, और इस प्रकार से उनका वर्णन करता है कि किसी भी गलती की गुंजाइश नहीं है। उसकी गवाही की पुष्टि कई आरम्भिक मसीही पिताओं की गवाही से होती है, जिन्होंने हमें पुराने नियम की पुस्तकों की सूची प्रदान की है, जिससे यह प्रतीत होता है कि उस समय अस्तित्व में आधिकारिक पुस्तकें वही थीं जो अब हमारे पास है। इसके अतिरिक्त, पुराने नियम का एक यूनानी अनुवाद, जिसे *सेप्टुआजेंट* (Septuagint) के नाम से जाना जाता है, मसीही युग से दो सौ सत्तर वर्ष पहले रचा गया था, जिसमें वे सभी पुस्तकें है जो वर्तमान में इब्रानी प्रतिलिपियों में पाई जाती हैं।

जिन पुस्तकों को सामान्य तौर पर *अपोक्रिफा* कहा जाता है, उन्हें कभी भी आधिकारिक पुस्तकों की सूची में सम्मिलित नहीं किया गया था, जब तक कि ट्रेन्ट की परिषद (Council of Trent) ने, अपने चौथे सत्र में, 1546 में, उन्हें प्रेरणा प्राप्त पुस्तकों के समान स्तर पर नहीं रखा। उन्हें प्रोटेस्टेंट कलीसियाओं द्वारा निम्नलिखित कारणों से अस्वीकार किया गया है:

क. यहूदियों ने, जिन्हें परमेश्वर के वचन सौंपे गए थे, तथा जिन पर कभी भी उनके विश्वास के प्रति विश्वासघात करने का आरोप नहीं लगाया

गया था, उन्होंने कभी भी इन पुस्तकों को परमेश्वर द्वारा अधिकार प्राप्त नहीं माना।

ख. वे इब्रानी भाषा में नहीं, बल्कि यूनानी भाषा में लिखे गए थे, और उनके लेखक मलाकी के बाद के थे, जिसके साथ ही, यहूदियों की विश्वव्यापी गवाही के अनुसार, भविष्यवाणी का आत्मा समाप्त हो गया था।

ग. इन पुस्तकों का कोई भी अंश ख्रीष्ट या उसके प्रेरितों द्वारा उद्धृत नहीं किया गया है, न ही पूरे नए नियम में एक भी ऐसा शब्द मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि ऐसी पुस्तकें अस्तित्व में थीं।

घ. इन पुस्तकों में बहुत सी बातें गलत, अंधविश्वासी और अनैतिक हैं; तथा कुछ लेखक प्रेरणा का दावा करने के स्थान पर अपनी कमजोरी को स्वीकार करते हैं और अपनी कमियों के लिए क्षमा माँगते हैं।

इंग्लैंड का चर्च, यद्यपि अपोक्रिफा की पुस्तकों को प्रामाणिक पवित्रशास्त्र के रूप में स्वीकार नहीं करता है, और इसलिए उन्हें 'किसी सिद्धांत को स्थापित करने के लिए लागू नहीं करता है,' फिर भी वह 'जीवन के उदाहरण के लिए, और शिष्टाचार की शिक्षा' के लिए उनके कुछ हिस्सों को चर्च में पढ़ने का निर्देश देता है। अब, चूंकि इन अंशों को आधिकारिक पुस्तकों से लिए गए पाठों के साथ बेतरतीब रीति से पढ़ा जाता है, और लोगों को यह नहीं बताया जाता है कि ये अंश अपोक्रिफा से लिए गए हैं, इसलिए वास्तव में वे प्रेरणा प्राप्त पुस्तकों से भिन्न दिखाई नहीं देते हैं; और ये अपोक्रिफा के पाठ भले ही कितने अच्छे एवं शिक्षाप्रद क्यों नहों, यह कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता है कि उन्हें परमेश्वर के वचन के साथ उसी स्तर पर रखा जाए।

पवित्रशास्त्र को *परमेश्वर का वचन* इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह परमेश्वर की प्रेरणा से दिया गया है।

> पवित्रशास्त्र का परमेश्वर द्वारा प्रेरित होना उन सभी लोगों द्वारा स्वीकार किया जाता है जो मसीही होने का दावा करते है, हालाँकि पवित्रशास्त्र के लिए लागू होने वाली इसकी प्रकृति एवं सीमाओं के सम्बन्ध में विचारों में बहुत विविधता है। कुछ का विचार है कि पवित्रशास्त्र की प्रेरणा पवित्र लेखकों के मस्तिष्क पर केवल एक पर्यवेक्षण (superintendence) से अधिक कुछ और नहीं था, जिससे कि उन्हें घोर गलतियाँ प्रकाशित करने से रोका जा सके। कुछ दूसरे लोग थोड़ा और आगे जाते हैं, और कहते हैं पर्यवेक्षण के अतिरिक्त, कई लेखकों की समझ को विस्तारित किया गया था – कि उनकी समझ को सामान्य मनुष्यों की समझ से ऊपर उठाया गया था – और इस प्रकार उनके मस्तिष्क को ऊपर उठाने के साथ ही, उन्हें दोनों विषयवस्तु एवं शब्दों के बारे में उनके स्वयं के निर्णय पर छोड़ दिया गया था। समग्र प्रेरणा (plenary inspiration) के पक्षधर, फिर से, यह मानते हैं कि पवित्र आत्मा ने प्रेरित व्यक्तियों के मनों को न केवल संप्रेषित किए जाने वाले विषय का सुझाव दिया, बल्कि उन शब्दों का भी सुझाव दिया, जिनमें संचार किया जाना था। चौथा पक्ष अब तक वर्णित इन सभी कथित प्रेरणाओं को लेने के पक्ष में है; और वे कहते हैं कि पवित्र लेखकों ने कभी-कभी केवल पर्यवेक्षण के तहत, कभी-कभी उच्च स्तर की समझ के साथ पर्यवेक्षण के तहत, और कभी-कभी एक ईश्वरीय सुझाव के तहत लिखा या जिसे समग्र प्रेरणा कहते हैं, अर्थात उस विषय की प्रकृति के अनुसार जिस पर उन्होंने लिखा।[8]

किसी भी सुदूर समय में, पवित्रशास्त्र की समग्र एवं मौखिक प्रेरणा को बहुत ही सामान्य तौर पर त्यागा नहीं गया था। हालाँकि, हाल के वर्षों में ऐसी घटनाएँ हुई है, जिनके कारण इस विषय की अधिक गहन जाँच की आवश्यकता पड़ी है; और उन लोगों के विरोध में जो मानते हैं कि यह प्रेरणा केवल आंशिक और सामयिक थी, और साथ ही उन लोगों के विरोध

[8] Stevenson on the *Offices of Christ*, p. 50 – 51.

में जो मानते हैं कि केवल भावनाएँ, या विषयवस्तु प्रेरित थी, न कि शब्द, सबसे प्रतिष्ठित लेखक, जिन्होंने हाल ही में इस पर विचार किया है, पवित्र पुस्तकों की समग्र प्रेरणा एवं मौखिक प्रेरणा को बनाए रखते हैं।

> हम विनम्रतापूर्वक इस विचार पर सहमत हैं कि प्रेरणा, जैसे कि पवित्र वचनों को मनुष्यों तक पहुँचाने में प्रयुक्त किया गया है, *केवल एक ही प्रकार* का था, और यह सुझाव की प्रेरणा है, जिसके अनुसार न केवल विषयवस्तु, बल्कि शब्द भी पवित्र लेखकों के मनों तक संचारित किए गए थे।
>
> 1. पवित्रशास्त्र स्वयं केवल एक ही प्रकार की प्रेरणा पर ध्यान देता है, और इसे पवित्रशास्त्र के सभी भागों तक विस्तारित करते हुए प्रस्तुत करता है – उस विषयवस्तु के लिए जो ऐतिहासिक एवं नैतिक है, और साथ में उन के लिए भी जो भविष्यवाणी एवं सिद्धांत से सम्बन्धित हैं (2 तीमुथियुस 3:16, 17; 2 पतरस 1:21)।
>
> 2. पवित्रशास्त्र की प्रेरणा में समझ के विस्तार, एवं अवधारणा के उत्थान से कहीं अधिक कुछ हुआ होगा, क्योंकि बहुत सारी बातें ऐसी थीं जो मनुष्यों या स्वर्गदूतों के मन में प्रवेश नहीं कर सकती थीं, यदि इन बातों को परमेश्वर की आत्मा द्वारा मन में सुझाया न गया होता। वे घटनाएँ तथा वे सभी सिद्धांत जो मनुष्य के छुटकारे की परमेश्वर की योजना से सम्बन्धित हैं, इस विवरण में सम्मिलित थीं, जिनकी भविष्यवाणी पवित्र लेखकों ने उनके घटित होने से कई वर्ष पहले कर दी थी (1 कुरिन्थियों 2:9, 10)।
>
> 3. इसी तरह के कारणों से हमें न केवल विचारों के सुझाव पर जोर देना चाहिए, बल्कि पवित्रशास्त्र के शब्दों के सुझाव पर भी जोर देना चाहिए। हमारे लिए यह पूर्ण रूप से कल्पना से बाहर है कि पवित्र लेखक, जो अन्य लोगों के समान, शब्दों में सोचने के आदी थे, शब्दों के अतिरिक्त, उनके अपने मन को विचारों का सुझाव कैसे दिया गया होगा; या यदि भाषा के साथ-साथ विषयवस्तु भी उन्हें परमेश्वर के सुझाव द्वारा प्रदान

नहीं की गई होती, तो वे कैसे भविष्य की घटनाओं के विषय में, जिनके विषय में उन्हें पहले से कोई जानकारी नहीं थी, और सैद्धांतिक विषयों के बारे में, जो उनकी समझ से परे थे, समझदारी से लिख सकते थे (1 कुरिन्थियों 2:13)।

4. यदि पर्यवेक्षण और उत्थान की प्रेरणा जिसे कहा गया है, उसे किसी भी मामले से पर्याप्त माना जा सकता था, तो यह उन मामलों में माना जा सकता है जिनके लिए पवित्र लेखकों को अन्य स्रोतों से उन विषयों के साथ पहले से परिचित होना चाहिए, जिन पर उन्हें लिखने के लिए बुलाया गया था; जैसे कि नैतिकता एवं इतिहास के विषय। लेकिन इन मामलों में भी, समग्र प्रेरणा एकदम आवश्यक प्रतीत होती है। नैतिक विषयों के सम्बन्ध में, यह देखा जा सकता है, कि यद्यपि प्रकृति के नियम के अवशेष मनुष्य को कुछ नैतिक भावनाएँ प्रदान करते हैं, फिर भी, पाप में पतित उसकी अवस्था में, भले और बुरे के विषय में उसके विचार इतने अंधकारमय एवं भ्रमित हैं, कि शायद कोई भी ऐसा मामला नहीं था जिसमें समग्र प्रेरणा इससे अधिक आवश्यक नहीं थी, जिससे कि मनुष्य को कर्तव्य के सिद्ध नियम से सुसज्जित किया जा सके। इतिहास के सम्बन्ध में, जहाँ दर्ज किए गए तथ्यों को पवित्र लेखकों द्वारा अपने स्वयं के अवलोकन से, या अन्य प्रामाणिक स्रोतों से ज्ञात माना जा सकता है, यह सामान्य रूप से देखा जा सकता है कि पवित्र इतिहास, इसके द्वारा प्रस्तावित मुख्य उद्देश्यों में, सांसारिक इतिहास से भिन्न होता है।'

जबकि सांसारिक इतिहास का उद्देश्य केवल व्यक्तियों एवं राष्ट्रों का नागरिक और राजनैतिक लाभ होता है, प्रेरणा प्राप्त इतिहासकार इससे कहीं अधिक उच्चतर उद्देश्य का प्रस्ताव रखते हैं – ख्रीष्ट में परमेश्वर की महिमा के अधीन उद्धार की योजना की प्रगति – एक ऐसा उद्देश्य जिसके लिए इस प्रकार की सोच एवं लेखन की आवश्यकता होती है जो अपने आप में विशिष्ट हो।

‘न ही, हमारी समझ के अनुसार, पवित्रशास्त्र में पाई जाने वाली शैली की विविधता, समग्र प्रेरणा के सिद्धांत पर कोई वैध आपत्ति उत्पन्न करती है। हालाँकि, प्रेरणा प्राप्त लेखक उनके द्वारा संप्रेषित की जाने वाली भावनाओं के सम्बन्ध में, और इन भावनाओं को व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त वाक्यांशों, अर्थात दोनों के सम्बन्ध में अचूक निर्देशन के अधीन थे; फिर भी, पवित्र आत्मा ने, बुद्धिमत्तापूर्ण कारणों से, जहाँ तक उनकी शैली से सम्बन्धित है, उस युग के अनुसार जिसमें उन्होंने लिखा था, और रचना के लिए उनकी सम्बन्धित प्रतिभाओं के अनुसार अपने सुझावों को समायोजित किया।

5. समग्र प्रेरणा (Plenary inspiration) के समर्थन में, हम आगे देखते हैं कि, जब तक यह स्वीकार न किया जाए कि बाइबल के पास परमेश्वर का वचन कहलाने का कोई वैध दावा नहीं है। पवित्रशास्त्र बार-बार विश्वास एवं जीवन व्यवहार के नियम के रूप में अपने सर्वोच्च अधिकार के सम्बन्ध में परमेश्वर द्वारा उत्पन्न होने का दावा करता है; लेकिन यदि पवित्र लेखक केवल उस बात के अधीन थे जिसे पर्यवेक्षण कहा जाता है, तो हम उस दावे की न्यायसंगतता को नहीं देख सकते हैं। किसी ऐसे व्यक्ति को किसी पुस्तक का लेखक कहना शब्दों का घोर बिगाड़ होगा, जिसका पुस्तक के निर्माण में कोई हाथ नहीं था, सिवाय इसके कि उसने इसके वास्तविक लेखक को घोर त्रुटि में पड़ने से बचाया था। यह पदनाम, परमेश्वर का वचन, प्रत्येक निष्पक्ष मन के लिए यह सुझाव देना चाहिए कि बाइबल भावना एवं अभिव्यक्ति दोनों के सम्बन्ध में परमेश्वर की ओर से है। न ही यह कहना मामले को बेहतर बनाता है कि बाइबल के कुछ भाग पवित्र आत्मा के केवल पर्यवेक्षण में लिखे गए थे, जबकि अन्य भाग सुझाव की प्रेरणा से लिखे गए थे; क्योंकि यह सम्पूर्ण बाइबल पर संदेह उत्पन्न करता है, चूंकि हमारे लिए यह निर्धारित करना असम्भव है कि कौन से भाग समग्र प्रेरणा से लिखे गए थे, और कौन से नहीं। सबसे सुरक्षित तरीका यह है कि स्वयं बाइबल के सिद्धांत को ही माना जाए, कि प्रेरणा एक ही प्रकार का होता है; कि यह आंशिक नहीं, बल्कि पूर्णतः या

समग्र प्रेरणा है; और कि यह सम्पूर्ण पवित्रशास्त्र पर लागू होता है। "सम्पूर्ण पवित्रशास्त्र परमेश्वर की प्रेरणा से दिया गया है।""[9]

भाग 4

पवित्रशास्त्र का अधिकार, जिसके कारण उस पर विश्वास और उसका आज्ञापालन किया जाना चाहिए, किसी व्यक्ति या कलीसिया की गवाही पर आश्रित नहीं है, परन्तु पूर्ण रूप से परमेश्वर पर है (जो स्वयं सत्य है), जो उसका कर्ता है; और इस कारण इसको ग्रहण किया जाना चाहिए, क्योंकि यह परमेश्वर का वचन है। (2 पतरस 1:19, 21; 2 तीमुथियुस 3:16; 1 यूहन्ना 5:9; 1 थिस्सलुनीकियों 2:13)।

भाग 5

पवित्रशास्त्र के प्रति उच्च एवं श्रद्धापूर्ण आदर के लिए हम लोग कलीसिया की गवाही से प्रभावित और प्रेरित हो सकते हैं; और विषयवस्तु की दिव्यता, शिक्षा की प्रभाव-उत्पादकता, शैली की उत्कृष्टता, सभी भागों की सहमति, सम्पूर्ण पवित्रशास्त्र का विषय क्षेत्र (जो कि परमेश्वर को सारी महिमा देना है), मनुष्य के उद्धार के लिए एकमात्र मार्ग की इसकी पूर्ण खोज, अन्य अनेक अतुलनीय श्रेष्ठताएँ, तथा इसकी सम्पूर्ण सिद्धता, ऐसे तर्क हैं जिनके द्वारा यह स्वयं को परमेश्वर का वचन होने के निमित्त प्रचुर मात्रा में प्रमाण देता है; फिर भी, इसके अचूक सत्य और परमेश्वरीय अधिकार के विषय में हमारा पूर्ण विश्वास एवं आश्वासन, पवित्र आत्मा के आंतरिक कार्य से है, जो वचन के द्वारा और इसके साथ हमारे हृदयों में गवाही देता है। (1 यूहन्ना 2:20, 27; यूहन्ना 16:13–14; 1 कुरिन्थियों 2:10–12; यशायाह 59:21)।

---

[9] Stevenson on the *Offices of Christ*, pp. 51–57. Professor Gaussen, on *The Plenary Inspiration of the Holy Scriptures*.

व्याख्या

ये भाग हमें सिखाते हैं, कि पवित्रशास्त्र का अधिकार किसी मनुष्य या कलीसिया पर आधारित नहीं है, परन्तु पूर्ण रूप से केवल पर परमेश्वर पर आधारित है, जो इसका लेखक है, और फिर ये भाग उन साक्ष्यों की ओर इंगित करते हैं कि पवित्रशास्त्र परमेश्वर का वचन है। इनमें से पहला भाग पोप के अधिकार को मानने वालों के विरोध में कहा गया है, जो मानते हैं कि पवित्रशास्त्र का अधिकार चर्च से व्युत्पन्न किया जाता है। इस विचार की मूर्खता सहजता से उजागर हो जाती है। ख्रीष्ट की सच्ची कलीसिया पवित्रशास्त्र पर आधारित है, और इसलिए पवित्रशास्त्र का अधिकार चर्च पर निर्भर नहीं हो सकता (इफिसियों 2:20)।

कि पवित्रशास्त्र परमेश्वर का वचन है, यह बाहरी एवं आंतरिक दोनों साक्ष्यों से प्रमाणित होता है।

(क) *बाहरी साक्ष्य* इस प्रकार से हैं: पवित्र लेखकों के चरित्र – उनके द्वारा किए गए चमत्कार, जो उनके दिव्य मिशन और प्रेरणा प्राप्त होने को प्रमाणित करते हैं – पवित्रशास्त्र में अभिलिखित कई भविष्यवाणियों का सटीक रीति से पूरा होना – पवित्रशास्त्र की प्राचीनता, आज तक उनके अद्‌भुत रीति से संरक्षण के सम्बन्ध में – पवित्रशास्त्र द्वारा उत्पन्न ऐसे प्रभाव, जो न तो दर्शनशास्त्र के पाठों, और न ही मानवीय कानूनों के बल से कभी भी प्राप्त किए जा सकते थे – जहाँ कहीं भी पवित्रशास्त्र का ज्ञान प्रसारित किया गया, वहाँ सबसे बर्बर देशों को सभ्य बनाने में तथा व्यापक रूप से समाज की स्थिति को सुधारने में पवित्रशास्त्र का प्रभाव रहा है।

(ख) *आंतरिक साक्ष्य* इस प्रकार से हैं: पवित्रशास्त्र में निहित सिद्धांतों की तुलना न की जा सकने वाली उत्कृष्टता, और उनमें कई सत्यों का खुलासा जो प्रकृति या तर्क से खोजे नहीं जा सकते थे – उनके उपदेशों का विस्तार और शुद्धता – परमेश्वर के चरित्र एवं नैतिक प्रशासन का जो प्रतिनिधित्व वे करते हैं – मनुष्य की स्थिति और आवश्यकताओं के लिए

उनमें निहित प्रकाशन का सटीक अनुकूलन – उनके विभिन्न भागों का सम्पूर्ण सामंजस्य, यद्यपि वे विभिन्न व्यक्तियों द्वारा और विभिन्न युगों में लिखे गए हैं – उनकी शैली का गौरव – परमेश्वर की महिमा को आगे बढ़ाने और मनुष्यों के उद्धार को सुरक्षित करने के लिए सम्पूर्ण पवित्रशास्त्र का विषय-क्षेत्र और उसकी प्रवृत्ति। इस प्रकार के तर्कों से यह तर्कसंगत विश्वास उत्पन्न हो सकता है कि पवित्रशास्त्र परमेश्वर का वचन है; लेकिन यह केवल पवित्र आत्मा के प्रभावी अनुप्रयोग द्वारा हृदय पर उनके स्व-प्रमाणित प्रकाश एवं शक्ति से ही है, जो इस विषय पर एक सौहार्दपूर्ण एवं उद्धार प्रदान करने वाला विश्वास उत्पन्न कर सकता है। 'वह जो विश्वास करते है, उसके हृदय में स्वयं गवाही है'। हालाँकि बहुत से लोग जो विश्वास करते हैं, वे तर्कसंगत तर्कों द्वारा पवित्रशास्त्र की प्रेरणा को दिखाने के लिए योग्य नहीं हैं, फिर भी, अपने स्वयं के हृदयों पर पवित्रशास्त्र की शक्ति और प्रभावकारिता के अनुभव से, वे अचूक रीति से आश्वस्त हैं कि यह परमेश्वर का वचन है; और वे नास्तिकों के तर्कों और आपत्तियों से इस बात पर और अधिक आश्वस्त नहीं हो सकते कि, कि पवित्रशास्त्र मनुष्यों की रचना है, जैसे कि वे इस बात पर आश्वस्त नहीं हो सकते हैं कि मनुष्यों ने उस सूर्य की रचना की है, जिसका प्रकाश वे देखते हैं, और जिसकी किरणों से उन्हें प्रसन्नता मिलती है।

भाग 6

परमेश्वर की सम्पूर्ण सम्मति, जो सभी बातों के सम्बन्ध में उसकी अपनी महिमा, मनुष्यों के उद्धार, विश्वास, और जीवन के लिए आवश्यक है, जिन्हें या तो पवित्रशास्त्र में स्पष्ट रूप से निर्धारित किया गया है, या भले एवं अनिवार्य परिणाम के द्वारा पवित्रशास्त्र से निकाला जा सकता है: जिसमें कभी भी कुछ भी जोड़ा नहीं जाना चाहिए, चाहे वह आत्मा के नए प्रकाशनों के द्वारा हो, या मनुष्यों की परम्परा के द्वारा (2 तीमुथियुस

3:15–17; गलातियों 1:8–9; 2 थिस्सलुनीकियों 2:2)। फिर भी हम मानते हैं कि परमेश्वर के आत्मा का आंतरिक प्रकाशन वचन में प्रकट की गई ऐसी बातों की उद्धार देने वाली समझ के लिए आवश्यक है (यूहन्ना 6:45; 1 कुरिन्थियों 2:9–12); और यह कि परमेश्वर की आराधना, कलीसिया का प्रशासन, जो मानवीय कार्यों एवं समाजों के लिए सामान्य हैं, इन्हें वचन के सामान्य नियमों के अनुसार, प्रकृति के ज्ञान और मसीही विवेक के द्वारा निर्देशित किया जाना चाहिए, और इनका पालन सर्वदा किया जाना चाहिए (1 कुरिन्थियों 11:13–14; 1 कुरिन्थियों 14:26, 40)।

भाग 7

पवित्रशास्त्र में सभी बातें अपने आप में एक समान रीति से स्पष्ट नहीं हैं, न ही वे सभी लोगों के लिए एक समान रीति से स्पष्ट हैं (2 पतरस 3:16); फिर भी उद्धार के लिए जिन बातों को जानना, विश्वास करना और पालन करना आवश्यक है, वे पवित्रशास्त्र में किसी न किसी स्थान पर इतनी स्पष्टता से प्रतिपादित एवं बताई गई हैं, कि न केवल विद्वान, बल्कि अशिक्षित मनुष्य भी सामान्य साधनों के समुचित उपयोग से उनके विषय में पर्याप्त समझ प्राप्त कर सकता है (भजन संहिता 119:105, 130)।

व्याख्या

ये भाग पवित्रशास्त्र की *सिद्धता* (Perfection) और *सुस्पष्टता* (Perspicuity) से सम्बन्धित हैं।

(क) पवित्रशास्त्र की *सिद्धता*, या पर्याप्तता (sufficiency) के सम्बन्ध में, यह स्वीकार किया जाता है कि परमेश्वर की आराधना और कलीसिया के प्रशासन से सम्बन्धित कुछ परिस्थितियाँ हैं, जिनके सम्बन्ध में पवित्रशास्त्र में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं दिया गया है, और जिन्हें प्रकृति के

ज्ञान एवं मसीही विवेक द्वारा वचन के सामान्य नियमों के अनुसार में आदेशित किया जाना चाहिए। इस प्रकार के मामलों में प्रेरितों का नियम है: 'सारी बातें शालीनता और व्यवस्थित रूप से की जाएं' (1 कुरिन्थियों 14:40)। लेकिन यह सामान्य नियम परमेश्वर की आराधना को बढ़ावा देने के लिए रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों के मानवीय आविष्कारों को कलीसिया में सम्मिलित करने का अधिकार नहीं देता है। कलीसिया की सेवाओं को अधिक आकर्षक बनाने, इससे वंचित लोगों को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से, इसे किसी भी प्रकार की सुविधा के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता है।

> और यहाँ पर यह टिप्पणी की जा सकती है, कि जिस सबसे पहली और बड़ी गलतियों में से एक जिसमें प्रेरणा समाप्त होने के बाद कलीसिया गिरी, वह थी कि उसने इस सुविधावाद के सिद्धांत का बहुत अधिक स्वतंत्र रूप से उपयोग किया। इस दिखावटी आवरण के तहत जो दुरुपयोग हुए हैं, उनका पूर्वानुमान नहीं लगाया गया था। कलीसिया के पिताओं को उदासीन अनुष्ठानों में कोई बुराई नहीं दिखाई दी, जिनमें, शायद, उनके नए धर्मान्तरित लोग लम्बे समय से जुड़े हुए थे। इस प्रकार की बातों को अपनाने से, कलीसिया, जो पहले साधारण और अनुष्ठानों से मुक्त थी, अब अजीब रीति से रूपांतरित हो गई; और उसने अपने श्वेत वस्त्र के स्थान पर एक भव्य पोशाक पहन ली, जिस पर भड़कीले और विभिन्न रंगों के आभूषण चढ़ाए गए। और नए-नए अनुष्ठानों का आविष्कार करने की यह प्रथा बढ़ती ही चली गई, जब तक कि, समय के साथ, लैव्यव्यवस्था का बोझिल अनुष्ठान मसीही कलीसिया की आराधना विधि के जैसा नहीं बन गया। अब जो भी व्यक्ति किसी 'विशेष दिन' पर रोमन कैथोलिक चर्च में जाता है, वह कैसे मान पाएगा कि वहाँ की गई आराधना सभा नए नियम के मसीही धर्म से जुड़ी थीं?[10]

[10] Alexander on the *Canon of the Scriptures*.

पवित्रशास्त्र की सिद्धता पर विश्वास करने में, हम इस बात पर जोर नहीं देते हैं कि मसीही धर्म का प्रत्येक सिद्धांत पवित्रशास्त्र में इतने ही शब्दों में समाहित है; लेकिन हम मानते हैं कि परमेश्वर के वचन की घोषणाओं से निकाले गए निष्कर्ष वास्तव में परमेश्वर के प्रकाशन के भाग हैं, जैसे कि उन्हें पवित्र लेख में स्पष्ट रूप से सिखाया गया था। कि पवित्रशास्त्र से निकाले गए अच्छे एवं आवश्यक परिणामों को विश्वास और व्यवहार के नियम के भाग के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, यह हमारे उद्धारकर्ता के उदाहरण से स्पष्ट है, जब उसने सदूकियों के विरुद्ध पुनरुत्थान के सिद्धांत को सिद्ध किया (मत्ती 22:31, 32); और पौलुस के उदाहरण से, जिसने यहूदियों के साथ पुराने नियम के पवित्रशास्त्र से तर्क करके यह प्रमाणित किया कि नासरत का यीशु ही ख्रीष्ट है (प्रेरितों के काम 17:2, 3)। सम्पूर्ण पवित्रशास्त्र को 'उपदेश, और समझाने, और सुधारने, और धार्मिकता की शिक्षा के लिए लाभदायक' घोषित किया गया है; परन्तु ये सभी लक्ष्य परिणामों के निष्कर्ष के बिना प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। वास्तव में, केवल वैध परिणाम ही पवित्रशास्त्र के शब्दों का पूर्ण अर्थ सामने लाते हैं; और जबकि हमें तर्क करने की क्षमता के साथ बनाया गया है, और पवित्रशास्त्र को खोजने की आज्ञा दी गई है, इसलिए यह स्पष्ट रूप से अभिप्राय था कि हमें उसमें स्पष्ट शब्दों में कही गई बातों से निष्कर्ष निकालना चाहिए।

तो फिर, पवित्रशास्त्र की *सिद्धता* से, हमारा अर्थ है, कि पवित्रशास्त्र, जिसमें आवश्यक परिणामों के साथ-साथ स्पष्ट शब्द सम्मिलित हैं, उनमें परमेश्वर की इच्छा का सम्पूर्ण प्रकाशन है, जो उसकी स्वयं की महिमा, मनुष्य के उद्धार, विश्वास एवं जीवन के लिए आवश्यक सभी बातों के विषय में है। पवित्रशास्त्र को प्रत्येक आवश्यक लक्ष्य को पूरा करने के लिए उपयुक्त, *सिद्ध* होने के रूप में दिखाया गया है (भजन संहिता 19:8,

9)। यह 'परमेश्वर के जन को सिद्ध' बनाने, और एक-एक मसीही व्यक्ति को ख्रीष्ट यीशु में विश्वास के माध्यम से 'उद्धार प्राप्त करने के लिए बुद्धिमान बनाने' हेतु पर्याप्त है (2 तीमुथियुस 3:15–17)। पवित्रशास्त्र इतना पूर्ण है कि इसके लेखक (परमेश्वर) ने इसमें कुछ भी जोड़ने या मात्रा तक को घटाने की सख्त मनाही की है (व्यवस्थाविवरण 4:2; प्रकाशितवाक्य 22:18, 19)।

पवित्रशास्त्र की सिद्धता को उन उत्साही लोगों के विरोध में बनाए रखा जाना चाहिए जो आत्मा के नए प्रकाशनों का दिखावा करते हैं, और रोम के चर्च के विरोध में, जो 'परम्परा को उसी श्रद्धा के साथ स्वीकार करते हैं जिस रीति से वे पवित्रशास्त्र को स्वीकार करते हैं'। परमेश्वर के वचन में किसी भी *नए प्रकाशनों* को नहीं जोड़ा जाना चाहिए, क्योंकि ख्रीष्ट और उसके प्रेरितों ने झूठे नबियों के खड़े होने को पहले ही से बताया है, और हमें चेतावनी दी है कि हम उनके दिखावटी प्रकाशनों पर ध्यान न दें (मत्ती 24:11, 24)। प्रेरित पौलुस उन सभी पर अभिशाप की घोषणा करता है जो पवित्रशास्त्र में निहित सुसमाचार के अतिरिक्त किसी अन्य सुसमाचार का प्रचार करते हैं (गलातियों 1:8, 9)। निजी प्रकाशनों की अनिश्चितता उनके विरुद्ध एक और तर्क प्रस्तुत करती है। हृदय की धूर्तता ऐसी है, कि मनुष्य अपनी स्वयं की सनक और कल्पनाओं को ही आत्मा का प्रकाशन समझ लेने की गलती करता है, और शैतान की चालाकी ऐसी है, कि वह कभी-कभी स्वयं को ज्योतिर्मय स्वर्गदूत में बदल लेता है। इसलिए, निजी प्रकाशनों को हमारे लिए बहुत ही अनिश्चित होना चाहिए, और दूसरों के लिए और भी अधिक। और यह देखा जा सकता है, कि कोई भी व्यक्ति निजी प्रकाशनों के अधिकार की वकालत नहीं करता है, परन्तु ऐसे लोग हैं जिनके अपने विचार एवं जीवन पवित्रशास्त्र के विपरीत होने के कारण, स्वयं को भ्रम की आत्मा द्वारा प्रेरित होता दिखाते हैं।

न ही *मनुष्यों की परम्पराओं*को परमेश्वर के वचन में जोड़ा जाना चाहिए। परम्पराएँ, यहूदी एवं मसीही दोनों ही धर्मों में भ्रष्टाचार का एक उपजाऊ स्रोत रहे हैं। यहूदियों का मानना था कि मूसा ने जो लिखा, उसके अतिरिक्त, उसे परमेश्वर से अनेक प्रकाशन प्राप्त हुए थे, जिन्हें उसने हारून को मौखिक रीति से बताए थे और ये प्रकाशन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप से प्रसारित होते रहे। ये परम्पराएँ अत्यधिक बढ़ गए, विशेष रूप से तब जब कलीसिया से भविष्यवाणी का आत्मा को उठा लिया गया; और जब ख्रीष्ट पृथ्वी में आए, तो उन्होंने पाया कि यहूदी लोग इतने अधिक बिगड़ गए हैं, कि उनका धर्म ऐसी परम्पराओं को मानने तक ही सिमट गया था। इसलिए हम उसे यह घोषणा करते हुए पाते हैं, 'इस प्रकार तुम ने अपनी परम्परा के कारण परमेश्वर का वचन टाल दिया।' 'ये व्यर्थ मेरी उपासना करते हैं, क्योंकि मनुष्यों की विधियों को धर्मोपदेश करके सिखाते हैं' (मत्ती 15:6, 9)। इसी रीति से रोम के चर्च के सिद्धांत एवं आराधना में भी बहुत सारी भ्रष्टताएँ उग आई हैं। वे भी, यहूदियों का अनुसरण करते हुए यह दिखावा करते हैं कि ख्रीष्ट और उसके प्रेरितों ने बहुत सारी ऐसी बातें बताई हैं, जो पवित्रशास्त्र में नहीं पाई जाती हैं, और जो हम तक परम्परा के द्वारा पहुँची हैं। परन्तु यह कैसे प्रमाणित किया जा सकता है कि धर्म के वे सिद्धांत, या आराधना के नियम, जिनके विषय में वे कहते हैं कि वे परम्परा से पहुँचे हैं, वास्तव में ख्रीष्ट के मुख से या उनके प्रेरितों की शिक्षाओं से प्राप्त हुए थे? या मान लीजिए कि वे इसी स्रोत से प्राप्त किए गए थे, तो यह कैसे सुनिश्चित किया जा सकता है कि वे बिना परिवर्तन या भ्रष्टाचार के हमारे पास तक पहुँचे हैं? तथ्य यह है, कि इनमें से कई परम्पराएँ, जिन्हें प्रेरितीय कहा जाता है, उनके आरम्भ प्रेरितों के समय से बहुत बाद की अवधि में हुए थे। लिखी न गई परम्पराओं को स्वीकार करने से उन सभी नए विचारों और भ्रष्टाचार के लिए द्वार खुल जाएंगे जिन्हें मनुष्य की कल्पनाएं बना सकती हैं, और वे परमेश्वर की व्यवस्था को निरर्थक

बना देंगे। परन्तु जिस प्रकार हमारे प्रभु ने यहूदी परम्पराओं की कड़ी निन्दा की थी, उसी रीति से हम भी रोम के चर्च द्वारा अपनाई गई परम्पराओं को उचित रूप से अस्वीकार करते हैं।

(ख) उद्धार के लिए आवश्यक सभी बातों के विषय में पवित्रशास्त्र *स्पष्ट* (clear) एवं *सुस्पष्ट* (Perspicuous) है। हम मानते हैं कि पवित्रशास्त्र में ऐसे सिद्धांत प्रकट किए गए हैं जो सृजित प्राणियों की समझ से परे हैं, जैसे कि, त्रिएक परमेश्वर का सिद्धांत, परमेश्वर के पुत्र का अनन्त काल से पिता का एकलौता होना और देहधारण का सिद्धांत। ये ऐसे रहस्य हैं जिन्हें हम समझ नहीं सकते हैं, परन्तु ये सिद्धांत स्वयं पवित्रशास्त्र में स्पष्ट रूप से सिखाए गए हैं। हम यह भी मानते हैं कि पवित्रशास्त्र में कुछ बातें अस्पष्ट है और 'समझने में कठिन' हैं। परन्तु यह अस्पष्टता मुख्य रूप से इतिहास और भविष्यवाणियों में है, जिनसे हमारे उद्धार का इतना अधिक सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार प्रकृति में जीवन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु लगभग सब स्थानों में पाई जाती है, तथा उसे बहुत ही सरलता से खोजने पर पाया जा सकता है, जबकि अन्य कम आवश्यक वस्तुएँ, जैसे कि रत्न व सोना, कुछ निश्चित स्थानों में छिपा रहता है, और उन्हें केवल बड़े प्रयासों और अथक परिश्रम से ही खोजा एवं प्राप्त किया जा सकता है; वैसे ही पवित्रशास्त्र में ऐसी बाते हैं, जिनके विषय में अज्ञानता, प्राणों (soul) के उद्धार को खतरे में नहीं डालेगी। ऐसी बातें गूढ़ हैं और इन्हें समझना यहाँ तक कि उन लोगों के लिए भी कठिन है, जिनके पास कुशाग्र बुद्धि एवं बड़ा ज्ञान है। परन्तु हम मानते हैं कि उद्धार के लिए जिन बातों को जानना, विश्वास करना, और पालन करना आवश्यक है, वे सभी बातें पवित्रशास्त्र में किसी न किसी स्थान में इतनी स्पष्टता से प्रकट की गई हैं, कि हर एक गम्भीर जिज्ञासु व्यक्ति, सामान्य साधनों के समुचित उपयोग से उन्हें समझ सकता है। इस तथ्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पवित्रशास्त्र का रचयिता परमेश्वर है। यदि उसने इन्हें मनुष्यों के लिए विश्वास एवं जीवन

का नियम बनाने का इरादा किया है, तो निश्चित रूप से उसने इन्हें मनुष्यों की समझ के अनुसार ढाला है। पवित्रशास्त्र को पढ़ने एवं खोजने के लिए अनेक आज्ञाएँ दी गई हैं, लेकिन ये अनिवार्य रूप से दिखाते हैं कि वे सुस्पष्ट एवं बोधगम्य हैं। पवित्रशास्त्र की खोज करने, और लिखित वचन के द्वारा दिए गए सिद्धांतों के अनुसार जीवन जीने के लिए मसीही लोगों की सराहना भी की गई है (प्रेरितों के काम 17:11)। यदि पवित्रशास्त्र आम मसीही लोगों की समझ से परे होता, और उनका अर्थ जानने के केवल कलीसिया की व्याख्या आवश्यक होती, तो फिर ऐसे मसीही लोगों के पास ऐसा कोई आधार नहीं होता जिस पर ईश्वरीय विश्वास टिका होता। उनका विश्वास अंत में मनुष्यों की गवाही में परिणत होना चाहिए; परन्तु मानवीय गवाही, जो त्रुटिपूर्ण है, अचूक अनुनय का आधार नहीं हो सकती।

पवित्रशास्त्र की व्यक्ति-परक सुस्पष्टता के बावजूद, हम स्वीकार करते हैं कि उसमें प्रकट की गई बातों की उद्धार वाली समझ के लिए परमेश्वर के आत्मा का आंतरिक प्रकाश आवश्यक है। यह मानवीय समझ के अंधेपन और भ्रष्टता के कारण है, जो अब भ्रष्ट और विकृत हो चुका है (1 कुरिन्थियों 2:14)। यदि पवित्र आत्मा के प्रबुद्ध प्रभाव आवश्यक नहीं होते, तो मानव साहित्य में सबसे महान निपुण लोग पवित्रशास्त्र से सबसे अच्छी रीति से परिचित होते; हालाँकि, ऐसी बात नहीं है (मत्ती 11:25)। परमेश्वर की प्रतिज्ञाओं में, और संतों की प्रार्थनाओं में, पवित्र आत्मा का विशेष प्रकाश परमेश्वर की बातों को समझने में हमें उद्धार देने के लिए आवश्यक होने के रूप में दर्शाया गया है (यूहन्ना 14:26; भजन संहिता 118:18, आदि)।

भाग 8

इब्रानी भाषा में पुराना नियम (जो कि प्राचीन समय में परमेश्वर के लोगों की मूल भाषा थी), और यूनानी भाषा में नया नियम (जो इसके लेखन

समय में अधिकांश जातियों में सामान्य रूप से ज्ञात थी), परमेश्वर द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रेरित होने के कारण, और उसके अद्वितीय देखभाल और दिव्य प्रबंधन द्वारा सभी युगों में इसे शुद्ध रखे जाने के कारण, ये प्रामाणिक हैं मत्ती (5:18); इसलिए मसीही विश्वास के सभी विवादों में कलीसिया को अंततः उनसे अपील करनी चाहिए (यशायाह 8:20; प्रेरितों के काम 15:15; यूहन्ना 5:39, 46)। परन्तु, चूंकि ये मूल भाषाएँ परमेश्वर के उन सभी लोगों को ज्ञात नहीं हैं, जिन्हें पवित्रशास्त्र पढ़ने का अधिकार एवं रुचि है, और जिन्हें परमेश्वर के भय में उन्हें पढ़ने और खोजने के लिए आज्ञा दी गई है (यूहन्ना 5:39), इसलिए प्रत्येक जातियों की सामान्य स्थानीय भाषा में उनका अनुवाद किया जाना चाहिए, जिनके पास वे पहुँचाई जाती हैं (1 कुरिन्थियों 14:6, 9, 11 – 12, 24, 27 – 28)। ताकि परमेश्वर का वचन सभी लोगों में भरपूरी के साथ बसने पाए, और वे स्वीकृत रीतियों से उसकी आराधना करें (कुलुस्सियों 3:16), और पवित्रशास्त्र से धीरज और शान्ति के द्वारा, आशा पा सकें रोमियों (15:4)।

भाग 9

पवित्रशास्त्र की व्याख्या या अर्थानुवाद का अचूक नियम पवित्रशास्त्र स्वयं है; और इसलिए, जब पवित्रशास्त्र के किसी खण्ड के सच्चे एवं पूर्ण अर्थ के विषय में प्रश्न हों, तो उसे उन अन्य स्थानों पर खोजा और समझा जाना चाहिए, जो अधिक स्पष्ट रूप से बात करते हैं (2 पतरस 1:20 – 21; प्रेरितों के काम 15:15)।

भाग 10

वह सर्वोच्च न्यायाधीश, जिसके द्वारा मसीही विश्वास के सभी विवादों का निर्णय किया जाना चाहिए, और मसीही महासभाओं के सभी

आदेशों, प्राचीन लेखकों के विचारों, मनुष्यों के सिद्धांतों, और निजी आत्माओं की जाँच की जानी चाहिए, और जिसके निर्णय पर हमें भरोसा करना चाहिए, वह कोई और नहीं हो सकता बल्कि पवित्र आत्मा है जो पवित्रशास्त्र में बातें करता है (मत्ती 22:29, 31; इफिसियों 2:20; प्रेरितों के काम 28:25)।

व्याख्या

इन भागों में चार मुख्य बातें सम्मिलित हैं। *पहला,* कि मूल भाषाओं में पवित्रशास्त्र हमारे पास बिना किसी बिगाड़ के पहुँची है, और इसलिए, यह प्रामाणिक है। *दूसरा,* कि पवित्रशास्त्र का अनुवाद हर उस देश की आम भाषा में किया जाना चाहिए जहाँ उसे ले जाया जाता है। *तीसरा,* कि पवित्रशास्त्र की व्याख्या का अचूक नियम स्वयं पवित्रशास्त्र है। *चौथा,* कि पवित्रशास्त्र मसीही धर्म के सत्य का सर्वोच्च मानक है, और वह सर्वोच्च न्यायाधीश है, जिसके द्वारा मसीही धर्म के सभी विवादों का निर्णय किया जाना चाहिए, और यह पवित्र आत्मा ही है जो पवित्रशास्त्र में हमसे बात करता है।

क. पुराना नियम, कुछ अंशों को छोड़कर जो कि *बाबुल* की भाषा (आरामी) में लिखे गए थे, मूल रूप से *इब्रानी* भाषा में लिखा गया था, जो यहूदियों की भाषा थी, जिन लोगों को परमेश्वर की भविष्यवाणियाँ सौंपी गई थीं। *बाबुल* की भाषा (आरामी) में लिखे गए अंश हैं, यिर्मयाह की भविष्यवाणियों के दसवें अध्याय का ग्यारहवां पद; और दानिय्येल के चौथे अध्याय के दूसरे पद से सातवें अध्याय के अंत तक; और एज्रा की पुस्तक का चौथा, पाँचवां और छठा अध्याय। नया नियम मूल रूप से यूनानी भाषा में लिखा गया था, जो इसके लिखे जाने के समय में सबसे अधिक प्रचलित भाषा थी। मत्ती के सुसमाचार की मूल भाषा वास्तव में विवाद का विषय है। प्राचीन कलीसिया, एक स्वर में पुष्टि करते हैं कि यह इब्रानी भाषा में

लिखी गई थी, और इस विचार का समर्थन कई आधुनिक आलोचक करते हैं; अन्य, विद्वान लोग समान रूप से मानते हैं कि मूल रूप से यह यूनानी भाषा में लिखी गई थी। इस विषय पर कई हाल के लेखकों ने यह राय अपनाई है कि दो मूल लेख थे, इब्रानी और यूनानी, दोनों स्वयं मत्ती ने लिखे थे – एक यहूदियों के उपयोग के लिए, दूसरा अन्यजातियों के उपयोग के लिए।

यद्यपि प्रेरणा प्राप्त लेखों की मूल प्रतियाँ (स्वहस्तलेख) बहुत पहले ही लुप्त हो चुके हैं, फिर भी, इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि परमेश्वर की विलक्षण देखभाल एवं कृपा से, वे सभी युगों में शुद्ध रूप से संरक्षित रखे गए हैं, तथा जो प्रतियाँ अब हमारे पास हैं, वे साधारण रूप से मूल प्रतियों से मेल खाती हैं।

पुराने नियम के पवित्रशास्त्र की शुद्धता की पुष्टि, वर्तमान समय के इब्रानी प्रतियों के सभी पहले के अनुवादों, विशेषकर सेप्टुआजेंट (Septuagint) संस्करण से साथ सामान्य संयोग से होती है। यह भी देखा जा सकता है कि यद्यपि हमारे प्रभु यीशु ने यहूदियों के पुरणियों और गुरुओं की उनके गलत और झूठे सिद्धांतों के लिए बार-बार ताड़ना की, फिर भी उसने कभी भी उन पर अपनी पवित्र पुस्तकों में किसी भी प्रकार के बिगाड़ का आरोप नहीं लगाया; और प्रेरित पौलुस ने इसे यहूदियों के विशेषाधिकारों में गिना है, कि 'उन्हें परमेश्वर के वचन सौंपे गए थे', उसने कभी भी यह संकेत नहीं दिया कि वे अपने भरोसे के प्रति विश्वासघाती थे। यहूदियों और मसीहों के बीच जो शत्रुता तब से चली आ रही है, उसके कारण दोनों में से किसी के लिए भी इन पवित्र लेखों को बिना तत्काल पता चले दूषित करना असम्भव हो गया है।

नए नियम की पुस्तकों का दूषित होना पूर्ण रूप से अविश्वसनीय है। यदि कोई भी दल इन्हें बदलने की इच्छा रखता, तो उनके लिए सफल होना असम्भव होता। इसकी प्रतियाँ बहुत शीघ्रता से बढ़ती गई; बहुत पहले ही

इसका अनुवाद उन विभिन्न देशों की भिन्न-भिन्न भाषा में किया गया जिनके बीच सुसमाचार फैलाया गया था; मसीही कलीसिया के आदि पिताओं ने इसके अनेक उद्धरणों को अपने लेखों में सम्मिलित किया; शीघ्र ही कई सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए, जो एक-दूसरे के घोर विरोधी थे, परन्तु सभी के पास यही पवित्र पुस्तक प्राप्त थी, और ये एक-दूसरे पर अंकुश बन गए, तथा इस बात ने इन्हें बिगाड़ने व इनमें जोड़-तोड़ करने को अव्यावहारिक बना दिया। प्रत्येक आने वाले युग ने कठिनाई को बढ़ाया; और यद्यपि बहुत सारे प्राचीन पांडुलिपियों और प्रतियों की तुलना करने पर विविध लेखों की एक बड़ी संख्या सामने आई है, जो प्रति के लेखकों की असावधानी और अशुद्धि के कारण हुई थी, फिर भी इनमें से कोई भी अंतर मसीही विश्वास एवं आश्वासन के किसी भी सिद्धांत को प्रभावित नहीं करता है।

ख. चूंकि पवित्रशास्त्र मूल रूप से उन भाषाओं में लिखा गया था, जो उस समय आमतौर पर समझी जाती थीं, इसलिए परमेश्वर ने अपनी इच्छा प्रकट की है कि उनका अनुवाद विभिन्न देशों की स्थानीय भाषाओं में किया जाए, ताकि हर कोई उन्हें पढ़ और समझ सके। इस बात को हम रोम के चर्च के विरोध में कहते हैं, जो पवित्रशास्त्र का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद करने पर रोक लगाता है, और सबके द्वारा उन्हें पढ़े जाने को बेहद खतरनाक बताता है। यद्यपि उस चर्च द्वारा पवित्रशास्त्र के स्वतंत्र उपयोग पर प्रतिबन्ध लगाया गया था, फिर भी परमेश्वर ने निश्चय ही इन्हें मानवजाति के सभी वर्गों और जातियों के लिए लिखा था। सभी लोगों को पवित्रशास्त्र पढ़ने की आज्ञा दी गई है (यूहन्ना 5:39); और आम लोगों को न केवल उन्हें खोजने के लिए बल्कि उनके द्वारा अपने सार्वजनिक शिक्षकों के सिद्धांतों की जाँच करने के लिए भी सराहना की जाती है (प्रेरितों के काम 17:11)। इसलिए, यह आवश्यक है कि पवित्रशास्त्र का अनुवाद हर देश की भाषा में किया जाना चाहिए; और अनुवाद का उपयोग प्रेरितों द्वारा

अनुमोदित किया गया है, जो अक्सर सेप्टुआजेंट से पुराने नियम के अंशों को उद्धृत करते थे।`

ग. पवित्रशास्त्र की व्याख्या का सबसे अच्छा और एकमात्र अचूक नियम स्वयं पवित्रशास्त्र ही है। कुछ बातें जो एक स्थल पर संक्षिप्त और अस्पष्ट रूप से बताई गई हैं, उन्हें अन्य स्थलों पर अधिक पूर्ण और स्पष्ट रूप से समझाया गया है; और, इसलिए जब हम पवित्रशास्त्र का सही अर्थ जानना चाहते हैं, तो हमें एक अंश की तुलना दूसरे से करनी चाहिए, ताकि वे एक-दूसरे को स्पष्ट कर सकें; और हमें कभी भी किसी विशेष अंश के लिए कोई भी अर्थ नहीं देना चाहिए, बल्कि वह अर्थ देना चाहिए जो 'विश्वास की समरूपता' या परमेश्वर के सत्य की सामान्य योजना के अनुकूल हो। अंगीकार-कथन की रचना करने वाले इस बात की पुष्टि करते हैं कि पवित्रशास्त्र का अर्थ केवल एक ही है, न कि अनेक। इसमें कोई संदेह नहीं कि पवित्रशास्त्र के कई अंशों के अर्थ बहुत जटिल हैं – जैसे कि कुछ भविष्यवाणियों के पूरा होने के कई चरण हैं, यहूदी राष्ट्र में, मसीही कलीसिया में, और स्वर्गीय राज्य में, और कुछ अंशों में कोई एक ऐसी बात है जो अन्यों के लिए प्रतीकात्मक है। फिर भी, यह पवित्र आत्मा द्वारा अभिप्रेत एक और सम्पूर्ण अर्थ को बनाते हैं। सत्य की एकता और पवित्रशास्त्र की सुस्पष्टता के कारण, पवित्रशास्त्र के किसी भी अंश का उचित रूप से दो या अधिक अर्थ नहीं हो सकता, और न ही वे किसी भी रूप में एक-दूसरे से कम महत्व के हो सकते हैं।

घ. कि पवित्रशास्त्र मसीही धर्म के सत्य का सर्वोच्च मानक है, सोसिनियन (Socinians) लोगों के विरोध में कहा जाता है, जो मानते हैं कि बौद्धिक तर्क ही वह मानक है जिसके द्वारा हमें प्रकाशन के सिद्धांतों की जाँच करनी चाहिए, और कि हम किसी भी ऐसी वस्तु को सत्य के रूप में स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हैं जिसे बौद्धिक तर्क समझ नहीं पाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म के मामलों में बौद्धिक तर्क के प्रयोग के

बहुत उपयोग हैं; लेकिन, यह कहा जा सकता है 'कि बौद्धिक तर्क का कार्य, प्रकाशन के सन्दर्भ में, उसकी विषय-वस्तु पर चर्चा करना, उसे अपने मानक से परखना, तथा उससे सहमत या असहमत होने पर उसे स्वीकृत या अस्वीकृत करना नहीं है; क्योंकि ऐसा करना उस समय पर यह मानने जैसा होगा कि वह प्रकाशन नहीं है, जबकि हम उसे ऐसे ही स्वीकार करते हैं; या यह आरोप लगाना कि परमेश्वर का वचन. यद्यपि उसका वचन माना जाता है, लेकिन जब तक उसे स्वतंत्र प्रमाण द्वारा समर्थित न किया जाए, तब तक उसे यह मान्यता नहीं दी जा सकती है। बौद्धिक तर्क का एकमात्र कार्य यह है कि वह प्रस्तुत किए गए प्रमाणों की जाँच करके यह दर्शाए कि यह परमेश्वर का वचन है, तथा किसी अन्य पुस्तक का अर्थ निर्धारित करने में प्रयुक्त नियमों के आधार पर उसके अर्थ की जाँच करे। इन प्रारम्भिक बातों के तय हो जाने के बाद, प्रकाशन जिस मन की स्थिति की माँग करता है वह विश्वास, पूर्ण विश्वास है, जिसमें संदेहों और आपत्तियों का कोई स्थान नहीं है; हमारी समझ का परमेश्वर के अधिकार के अधीन होना – अनन्त ज्ञान के निर्देशों के प्रति पूर्ण समर्पण। इसका कारण यह है, कि उसकी गवाही सभी अन्य साक्ष्यों का स्थान लेती है।'[11]

यह कि वह सर्वोच्च न्यायाधीश, जिसके द्वारा मसीही धर्म में सभी विवादों का निर्णय किया जाना चाहिए, कोई और नहीं बल्कि पवित्र आत्मा है जो पवित्रशास्त्र में बाते करता है, यह बात रोमन पोप के समर्थकों के विरोध में दृढ़तापूर्वक कही गई है, जो मानते हैं कि मसीही धार्मिक विवादों में चर्च एक अचूक न्यायाधीश है; हालाँकि वे आपस में इस बात पर सहमत नहीं हैं कि यह अचूक अधिकार पोप में है, या चर्च परिषद में है, या दोनों में एक साथ है। निश्चित रूप से, पवित्रशास्त्र में पृथ्वी पर ऐसे अचूक न्यायाधीश का उल्लेख कभी नहीं किया गया है। न तो पोप में, न ही परिषदों में मसीही विश्वास के विवादों में सर्वोच्च न्यायाधीश बनने के लिए आवश्यक

[11] Dick's *Lectures on Theology*, vol. 2, p. 5.

गुण हैं; क्योंकि वे चूक करने वाले हैं, और उन्होंने कई बार गलतियाँ की हैं, और एक-दूसरे का खण्डन किया है। यद्यपि चर्च या उसके पादरी पवित्रशास्त्र के आधिकारिक संरक्षक हैं, और यद्यपि परमेश्वर के वचन में निहित सिद्धांतों और नियमों को समझाने और लागू करने का कार्य उन्हीं का है, फिर भी उसका अधिकार केवल सेवकाई का है, और उनकी व्याख्या और निर्णय विवेक पर केवल उस हद तक ही बाध्यकारी हैं, जहाँ तक वे पवित्रशास्त्र में पवित्र आत्मा के मन के अनुरूप हैं। इस जाँच के द्वारा, परिषदों के निर्णयों, प्राचीन लेखकों के विचारों, और वर्तमान समय में मनुष्यों के सिद्धांतों की जाँच की जानी चाहिए, और इस नियम के द्वारा मसीही विश्वास में सभी विवादों का निर्णय किया जाना चाहिए (यशायाह 8:20; मत्ती 22:29)।

अध्याय 2
परमेश्वर और पवित्र त्रिएक परमेश्वर

भाग 1

केवल एक[1] ही जीवित और सच्चा परमेश्वर[2] है, जो अपने अस्तित्व और सिद्धता में असीम[3] है, सबसे पवित्र आत्मा[4] है, अदृश्य,[5] बिना किसी शरीर के अंगों,[6] या वासनाओं [7] वाला, अपरिवर्तनीय,[8] अपार,[9] अनन्त,[10] अबोधगम्य,[11] सर्वशक्तिमान,[12] सबसे बुद्धिमान,[13] सबसे पवित्र,[14] सबसे स्वतंत्र,[15] सबसे परम है,[16] जो स्वयं अपनी महिमा[17] के लिए, स्वयं अपने अपरिवर्तनीय और सबसे धर्मी इच्छा के मत के अनुसार,[18] सब कुछ करता है; जो सबसे अधिक प्रेमी,[19] अनुग्रहकारी, करुणामय, विलम्ब से क्रोध करने वाला, भलाई एवं सत्य से भरपूर, अधर्म, अपराध एवं पाप को क्षमा करने वाला है;[20] वह अपने खोजने वालों को प्रतिफल देने वाला;[21] और अपने न्याय करने में धर्मी और भयानक है;[22] सब पाप से घृणा करने वाला,[23] और जो दोषी को किसी भी रीति से निर्दोष नहीं ठहराएगा।[24]

1. व्यवस्थाविवरण 6:4; 1 कुरिन्थियों 8:4, 6.
2. यिर्मयाह 10:10; 1 थिस्सलुनीकियों 1:9.
3. अय्यूब 11:7 – 9; 26:14.
4. यूहन्ना 4:24.
5. 1 तीमुथियुस 1:17.
6. व्यवस्थाविवरण 4:15 – 16; यूहन्ना 4:24 के साथ लूका 24:39.
7. प्रेरितों के काम 14:11, 15.
8. मलाकी 3:6; याकूब 1:17.
9. 1 राजा 8:27; यिर्मयाह 23:23 – 24.
10. भजन संहिता 90:2; 1 तीमुथियुस 1:17.
11. भजन संहिता 145:3.
12. उत्पत्ति 17:1; प्रकाशितवाक्य 4:8.
13. रोमियों 16:27.
14. यशायाह 6:3; प्रकाशितवाक्य 4:8.
15. भजन संहिता 115:3.
16. निर्गमन 3:14.
17. इफिसियों 1:11.
18. नीतिवचन 16:4; रोमियों 11:36.
19. 1 यूहन्ना 4:8, 16.
20. निर्गमन 34:6 – 7.
21. इब्रानियों 11:6.
22. नहेम्याह 9:32 – 33.
23. भजन संहिता 5:5 – 6.
24. निर्गमन 34:7; नहूम 1:2 – 3.

भाग 2

परमेश्वर के पास स्वयं में और स्वयं के द्वारा सम्पूर्ण जीवन,[25] महिमा,[26] भलाई,[27] परमानंद[28] है; और वह अकेले ही स्वयं में और स्वयं के लिए सर्वथा पर्याप्त है, उसे स्वयं के अस्तित्व के लिए अपने द्वारा रचित किसी भी प्राणी की आवश्यकता नहीं है,[29] न ही वह उनसे किसी महिमा को प्राप्त करता है,[30] परन्तु वह उनमें, उनके द्वारा, उनके लिए, और उन पर अपनी स्वयं की महिमा प्रकट करता है: वह समस्त अस्तित्व का एकमात्र स्रोत है, जिसके द्वारा, जिसके माध्यम से, और जिसके लिए सभी वस्तुएँ हैं;[31] और उनके द्वारा, उनके लिए, या उन पर जो वह चाहता है उस कार्य को करने के लिए, उसका सर्वोच्च सम्प्रभुत्व वाला शासन है।[32] उसकी दृष्टि में सभी वस्तुएँ दृश्यमान एवं प्रत्यक्ष हैं;[33] उसका ज्ञान अनन्त, अचूक और प्राणियों पर निर्भर नहीं है;[34]

25. यूहन्ना 5:26.
26. प्रेरितों के काम 7:2.
27. भजन संहिता 119:68.
28. रोमियों 9:5; 1 तीमुथियुस 6:15.
29. प्रेरितों के काम 17:24 – 25.
30. अय्यूब 22:2 – 3.
31. रोमियों 11:36.
32. दानिय्येल 4:25, 35; 1 तीमुथियुस 6:15; प्रकाशितवाक्य 4:11.
33. इब्रानियों 4:13.
34. भजन संहिता 147:5; रोमियों 11:33 – 34.

इस कारण उसके लिए कुछ भी आकस्मिक या अनिश्चित नहीं है;[35] वह अपने सभी सम्मति में, अपने सभी कार्यों में, और अपनी सभी आज्ञाओं में

35. यहेजकेल 11:5; प्रेरितों के काम 15:18.

परम पवित्र है।[36] केवल उसी के लिए स्वर्गदूतों और मनुष्यों, और हर एक प्राणी से, सभी प्रकार की आराधना, सेवा, या आज्ञाकारिता देय है, जिसकी अपेक्षा वह उनसे करता है।[37]	36. भजन संहिता 145:17; रोमियों 7:12. 37. प्रकाशितवाक्य 5:12 – 14.

व्याख्या

यहाँ पर हमें सिखाया गया है: *पहला,* कि केवल एक ही परमेश्वर है; *दूसरा,* कि केवल वही जीवित एवं सच्चा परमेश्वर है; *तीसरा,* कि वह सबसे पवित्र आत्मा है; *चौथा,* कि वह अपने सभी सम्भव गुणों में सिद्धता से युक्त है।

क. यह कथन कि केवल *एक ही* परमेश्वर है, इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल *एक ही परमेश्वरत्व व्यक्ति* है, क्योंकि बाद में यह कहा गया है, कि 'परमेश्वरत्व की एकता में तीन व्यक्ति हैं'; परन्तु इसका अर्थ है कि परमेश्वरीय व्यक्तित्व *संख्यात्मक रूप से प्रकृति या सार-तत्व में एक है*। यह बात मूर्तिपूजक जातियों के बहुदेववाद (Polytheism) तथा त्रिदेववादियों (Tritheists) की गलत शिक्षा के विरोध में कही गई है, जो मानते हैं कि तीन अलग-अलग परमेश्वरत्व हैं, या एक परमेश्वरत्व तीन अलग-अलग भागों में विभाजित है।

परमेश्वरीय व्यक्ति की एकता को प्रकृति के ज्ञान से पता लगाया जा सकता है, क्योंकि तर्क की वही प्रक्रिया जो परमेश्वर के विचार की ओर ले जाती है, इस निष्कर्ष की ओर भी ले जाती है कि एक से अधिक परमेश्वर नहीं हो सकते। केवल एक ही प्रथम कारण, एक ही स्व-अस्तित्व, स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान, अनन्त और सर्वोच्च व्यक्ति हो सकता है; इसके अतिरिक्त मानना विरोधाभास है। अतः यद्यपि मूर्तिपूजकों के बीच ढीठ, विचारहीन जनसमूह ने अनेक देवताओं और अनेक ईश्वरों की पूजा की, फिर भी उनके दार्शनिकों में सबसे बुद्धिमानों का एक ही सर्वोच्च देवता था और उनके कवियों ने एक ही सर्वोच्च देवता के गीत गाए, जिसे उन्होंने *देवताओं और*

मनुष्यों का पिता कहा। फिर भी, यह निर्विवाद है कि मूर्तिपूजक संसार ने अनेक देवताओं को स्वीकार किया, और दार्शनिकों ने ईश्वर की प्रकृति के विषय में खोखली अटकलों से ही स्वयं को संतुष्ट किया; और परमेश्वर की एकता में आम लोगों को शिक्षित करने के बजाय, अपने देश के रीति-रिवाजों के साथ व्यावहारिक रूप से पालन करके, उनकी त्रुटियों में उनकी पुष्टि की।

लेकिन परमेश्वरीय प्रकाशन ने परमेश्वर की एकता के सिद्धांत को दृढ़ता से स्थापित किया है। यहोवा गम्भीरता से घोषणा करता है, 'मैं ही वह हूँ, और मेरे संग कोई देवता नहीं' (व्यवस्थाविवरण 32:29)। 'मुझ से पहले कोई परमेश्वर न हुआ और न मेरे बाद कोई होगा' (यशायाह 43:10)। उसके विषय में पुराने नियम के प्रेरणा प्राप्त लेखकों ने कहा है, 'यहोवा ही परमेश्वर है उसको छोड़ और कोई है ही नहीं' (व्यवस्थाविवरण 4:35) और, 'हे इस्राएल, सुन: यहोवा हमारा परमेश्वर है, यहोवा एक ही है' (व्यवस्थाविवरण 6:4)। यीशु इस महान सत्य के लिए अपनी साक्षी जोड़ते हैं; उसने उस शास्त्री से जो उसके धर्म के विषय में उससे प्रश्न करने आया था, यह कहा, 'सब आज्ञाओं में से यह मुख्य है: हे इस्राएल सुन! प्रभु हमारा परमेश्वर एक ही प्रभु है'; और उस शास्त्री ने दिए गए उत्तर की बहुत प्रशंसा की, 'शास्त्री ने उससे कहा, हे गुरु, बहुत ठीक! तू ने सच कहा: कि वह एक ही है, और उसे छोड़ और कोई नहीं' (मरकुस 12:29, 32)। प्रेरित पौलुस भी प्रायः इसी सत्य को सिखाते हैं: 'हम जानते हैं कि मूर्ति जगत में कोई वस्तु नहीं, और एक को छोड़ और कोई परमेश्वर नहीं' (1 कुरिन्थियों 8:4); 'क्योंकि परमेश्वर एक ही है, और परमेश्वर और मनुष्यों के बीच में भी एक ही मध्यस्थ है, अर्थात मसीह यीशु जो मनुष्य है' (1 तीमुथियुस 2:5)। (2) यह दृढ़ता के कहा गया है कि केवल परमेश्वर ही एकमात्र जीवित और सच्चा परमेश्वर है। वास्तव में, पवित्रशास्त्र में, ईश्वर का नाम विभिन्न अन्य प्राणियों को दिया गया है, क्योंकि कुछ विशेष मायनों में, वे परमेश्वर

की कुछ समानता धारण करते हैं। स्वर्गदूतों को उनके स्वभाव की उत्कृष्टता के आधार पर देवता या ईश्वर कहा गया है (भजन संहिता 97:7)। मजिस्ट्रेट लोगों को ईश्वर कहा गया है, क्योंकि अपने पद के कार्य का निष्पादन करने में, वे परमेश्वर के नाम पर कार्य करते हैं और क्योंकि उनकी आज्ञा पालन करने के लिए हम बाध्य हैं (निर्गमन 22:28)। फिरौन के लिए, मूसा एक ईश्वर था, और हारून उसका नबी था, क्योंकि हारून को ईश्वरीय संदेश स्वयं मूसा से प्राप्त होते थे, जिन्हें वह मूसा से सीधे लेकर फिरौन के पास ले जाता था; जबकि अन्य नबी लोग सीधे स्वयं परमेश्वर से लोगों के लिए संदेश प्राप्त करते थे (निर्गमन 7:1)। मूर्तियों को देवता इसलिए कहा जाता है क्योंकि मूर्तिपूजक उन्हें ईश्वर मानते हैं और उन्हें ईश्वर के समान सम्मान देते हैं। और शैतान को इस संसार का ईश्वर इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह संसार के बड़े भाग पर राज करता है, और वे उसके सेवक हैं, और उसके कामों को करते हैं (2 कुरिन्थियों 4:4)। परन्तु, 'भले ही स्वर्ग या पृथ्वी पर कितने ही ईश्वर कहलाते हों, फिर भी हमारे लिए तो केवल एक ही परमेश्वर है', जो एकमात्र जीवित और सच्चा परमेश्वर है। उसे जीवित परमेश्वर कहा गया है, ताकि उसे मूर्तियों से अलग किया जा सके, जो पूरी रीति से जीवन से रहित हैं। जीवित परमेश्वर और मृत मूर्तियों के बीच विरोध को भजनकार सबसे विश्वसनीय रीति से बताता एवं चित्रित करता है (भजन संहिता 115:3 – 7)। उसे काल्पनिक एवं झूठे देवताओं के विरोध में, सच्चा परमेश्वर कहा गया है। मूर्तिपूजक लोग, मृत मूर्तियों को पुजने के साथ-साथ, जीवित प्राणियों की भी पूजा करते हैं (व्यवस्थाविवरण 32:17)। ये केवल उनकी व्यर्थ कल्पना में ही ईश्वर हैं, न कि वास्तविकता में। उन्हें देवता कहा जाता है, परन्तु वे स्वभाव से ईश्वर नहीं थे और न हैं (गलातियों 4:8)। जीवित परमेश्वर और सभी प्रतिद्वंद्वी ईश्वरों के बीच अनन्त असमानता है।

ग. यह दृढ़ता से कहा गया है यही परमेश्वर सबसे पवित्र आत्मा है – अर्थात वह बिना शरीर का, अभौतिक, अदृश्य, और अमर प्राणी, बिना

किसी शारीरिक अंगों या वासनाओं का है। 'किसी भी व्यक्ति ने कभी भी परमेश्वर को नहीं देखा है'। वह 'ज्योति में वास करता है, जिस तक कोई मनुष्य नहीं पहुँच सकता, जिसे किसी मनुष्य ने न तो देखा है और न ही देख सकता है'। उसे अदृश्य, अविनाशी और अमर के रूप में वर्णित किया गया है। विधर्मियों के एक प्राचीन सम्प्रदाय के विरोध में, जो परमेश्वर के विषय में कही गई सभी बातों को शाब्दिक अर्थ में समझने के कारण, मानते थे कि परमेश्वर के शारीरिक अंग हैं और उसका एक मानवीय रूप है; पवित्रशास्त्र के अनुसार, अंगीकार-कथन इस बात की पुष्टि करता है कि परमेश्वर पूर्ण रूप से पवित्र आत्मा है। इन विधर्मियों को मानवरूपवादी (Anthropomorphites) कहा जाता था; यह नामकरण दो यूनानी शब्दों से मिलकर बना है – एक मनुष्य को, और दूसरा, आकार या रूप को दर्शाता है। वे भौतिक भाग एवं शारीरिक अंग – जैसे कि आँखें, कान, हाथ और चेहरा – निश्चित रूप से पवित्रशास्त्र में परमेश्वर को दिए गए हैं। परन्तु ऐसी भाषा का प्रयोग हमारी क्षमताओं के अनुसार समायोजन में किया गया है, और इसे विशुद्ध आत्मा के लिए उपयुक्त तरीके में समझा जाना चाहिए। यदि महान परमेश्वर अपने सत्व और सिद्धताओं के विषय में बातें करता जैसा कि वह स्वयं में है, तो हम जानकारी प्राप्त करने के बजाय, भ्रमित हो जाएंगे। इसलिए, वह अपने स्वयं के आत्मिक सिद्धताओं और कार्यों के प्रतीक के रूप में मानवीय गुणों और कार्यों का उपयोग करता है। हम लोगों और वस्तुओं को देखकर या उनके विषय में सुनकर उनसे परिचित होते हैं; और उस सिद्ध ज्ञान को बताने के लिए जो कि परमेश्वर के पास उसके प्राणियों के विषय में है, *आँखें* और *कान* उसको दिए जाते हैं। हम मुख्यतः अपने हाथों के द्वारा ही अपनी शारीरिक शक्ति का प्रयोग करते हैं और परमेश्वर की अदम्य शक्ति को दिखाने के लिए परमेश्वर को *हाथ* दिए गए हैं। जिनसे हम प्रेम करते हैं, उन्हें हम संतुष्टि और संतोष के भाव से देखते हैं; और परमेश्वर का *चेहरा* उसके अनुग्रहकारी प्रेम की अभिव्यक्ति को

दर्शाता है। इसी रीति से हमें परमेश्वर को दिए गए कई *भावनाओं* की व्याख्या करनी चाहिए – जैसे क्रोध, रोष, ईर्ष्या, बदला, और दया की भावना, आदि।

> जुनून या आवेश कार्य की उग्रता को उत्पन्न करता है; इसलिए जब परमेश्वर के प्रावधान में, ऐसी उग्रता होती है जो मनुष्य के स्वभाव के अनुसार आवेश को जन्म देती है, तब उस आवेश को परमेश्वर के लिए माना जाता है। जब वह मनुष्यों को पाप के लिए दण्ड देता है, तो उसे क्रोधित कहा जाता है; जब वह यह कार्य गम्भीरता और दुगुने प्रहारों से करता है, तो उसे क्रोध और प्रतिशोध से भरा हुआ कहते हैं; जब वह मूर्तिपूजा, या स्वयं के प्रति किए गए किसी अपमान के लिए दंड देता है, तो उसे ईर्ष्यालु कहा जाता है; जब वह अपने कार्यों का मार्ग बदलता है, तो कहा जाता है कि वह पछताया; जब उसका दिव्य विधान बहुत कोमल होता है, और उसके न्याय उससे विलम्ब से आते हैं, तो कहा जाता है कि वह बड़ा दयावान व अनुग्रहकारी है। और इस रीति से परमेश्वर के विधान की सभी विभिन्नताएँ उन सभी प्रकार की भावनाओं या आवेश द्वारा व्यक्त होती हैं, जो मनुष्यों के बीच, ऐसे विभिन्न प्रकार के कार्यों को जन्म दे सकती हैं।[12]

घ. यह दृढ़ता से दावा किया गया है कि परमेश्वर सम्भावित सभी सिद्धताओं से युक्त है। परमेश्वर की सिद्धताओं को उसके गुण कहा जाता है, क्योंकि वे उसके स्वभाव के अनिवार्य गुणों के रूप में माने जाते हैं। इन गुणों को, उनके विषय में हमारे सोचने के तरीकों में, भले ही अपूर्ण रीति से, विभिन्न रूपों से पहचाना गया है। इन्हें स्वाभाविक एवं नैतिक, असंचारी एवं संचारी गुण कहा गया है – बाद वाला सबसे प्रचलित अंतर है। उन गुणों को असंचारी कहा जाता है, जिनमें प्राणियों के साथ कुछ भी समानता नहीं पाई जाती है; और उन गुणों को संचारी कहा जाता है, जिनमें प्राणियों के

[12] Burnet on the Thirty-Nine Articles, Art. i.

साथ कुछ धुँधली सी, यद्यपि बहुत ही अपूर्ण समानता पाई जाती है। इन दो शीर्षकों के अंतर्गत परमेश्वर की सिद्धताओं को वर्गीकृत करने का प्रयास किए बिना, हम हमारे समक्ष उपस्थित दो भागों में परमेश्वर के वर्णन के कई भागों को निम्नलिखित विवरणों के तहत व्यवस्थित करेंगे:

(क) परमेश्वर *अनन्त* है।

इस शब्द के शाब्दिक अर्थ के अनुसार, अनन्त होने का अर्थ है, असीमित होना – अपार। परमेश्वर के अन्य गुणों के लिए इसे लागू करने पर, यह शब्द उन गुणों की परम सिद्धता को दर्शाता है। परमेश्वर अपनी बुद्धि, शक्ति, पवित्रता आदि में अनन्त है। चूंकि इन सिद्धताओं पर बाद में विचार किया जाना चाहिए, अभी के लिए, हम केवल यह ध्यान देते हैं कि परमेश्वर अपने अस्तित्व, या सत्त्व में अनन्त है। इससे उसके विषय में अबोधगम्यता, या वह अति सर्वोच्च सिद्धता निकल कर आती है, जिसे उसके अलावा कोई और नहीं समझ सकता। परमेश्वर का सिद्ध ज्ञान केवल उसी के योग्य है, क्योंकि उसकी समझ अनन्त है। 'क्या तू परमेश्वर का गूढ़ भेद पा सकता है? क्या तू सर्वशक्तिमान का मर्म पूरी रीति से जाँच सकता है?' (अय्यूब 11:7)। उसकी अनन्तता, जैसा कि उसके अस्तित्व पर लागू होती है, इसमें उसकी *विशालता* और उसका *सर्वव्यापीता* भी सम्मिलित है। इनके बीच में एक अंतर किया जा सकता है। उसकी सर्वव्यापीता का सम्बन्ध वास्तव में विद्यमान प्राणियों से है, जिनमें से प्रत्येक के साथ वह घनिष्ठ रूप से उपस्थित है; लेकिन उसकी विशालता सभी सृजित वस्तुओं की सीमाओं से परे असीम रूप से फैली हुई है। परमेश्वर एक ही बार में सभी स्थानों में है – स्वर्ग, एवं पृथ्वी, और नरक में – अपनी अनिवार्य उपस्थिति के साथ। 'यहोवा की यह वाणी है क्या मैं ऐसा परमेश्वर हूँ, जो दूर नहीं, निकट हूँ? फिर यहोवा की यह वाणी है क्या कोई ऐसे गुप्त स्थानों में छिप सकता है,

कि मैं उसे न देख सकूँ? क्या स्वर्ग और पृथ्वी दोनों मुझ से परिपूर्ण नहीं हैं?' (यिर्मयाह 23:23, 24)।

(ख) परमेश्वर *स्वयं-अस्तित्ववान एवं स्वतंत्र है।*

उसके पास स्वयं में और स्वयं के लिए सम्पूर्ण जीवन, महिमा और धन्यता है। उसका अस्तित्व अनिवार्य एवं मौलिक है (व्युत्पन्न नहीं है); क्योंकि उसका नाम है, ' मैं जो हूँ सो हूँ' (निर्गमन 3:14)। उसकी महिमा एवं धन्यता भी मौलिक है। उसकी महिमा अनिवार्य रूप से, उसके स्वयं के स्वभाव की परम सिद्धता से उत्पन्न होती है, या बल्कि उसमें निहित है, और उसकी धन्यता उसके स्वयं की अनन्त परम-श्रेष्ठता के अधिकार एवं परमानंद में पूर्ण रूप से समाहित है। इस प्रकार अपने स्वयं में और अपने स्वयं के लिए सर्व-पर्याप्त होने के कारण, उसे किसी भी अन्य प्राणी से स्वतंत्र होना चाहिए। उसे अपने स्वयं द्वारा बनाए गए किसी भी प्राणी की आवश्यकता नहीं है, न ही वह उनसे कोई महिमा प्राप्त कर सकता है। अन्य सभी प्राणी उससे अपना सब कुछ प्राप्त करते हैं, परन्तु वह किसी से भी कोई लाभ नहीं प्राप्त करता है। 'क्योंकि तू ने ही सब वस्तुओं को सृजा, और उनका अस्तित्व और उनकी सृष्टि तेरी ही इच्छा से हुई; क्या कर्मठ व्यक्ति भी परमेश्वर के किसी काम का है, या बुद्धिमान मनुष्य स्वयं के लाभ का है; अथवा तेरी खरी चाल से उसे लाभ होता है' (प्रकाशितवाक्य 4:11; अय्यूब 22:2, 3)।

(ग) परमेश्वर *सभी प्राणियों के जीवन का स्रोत* है।

जैसे कि उसके पास स्वयं में और स्वयं के लिए जीवन है, वैसे ही वह उस जीवन का रचयिता भी है जो हर जीवित प्राणी में है। 'क्योंकि हम उसी में जीवित रहते, और चलते-फिरते, और स्थिर रहते हैं'। वनस्पति, पशु एवं विवेकशील जगत का समस्त जीवन, यहाँ पर अनुग्रह का जीवन और

इसके बाद महिमा का जीवन, सब उसी से हैं और उसी से प्राप्त होते हैं। 'जीवन का सोता उसी के पास है' – सभी प्रकार का जीवन। 'उसी के ओर से, और उसी के द्वारा, और उसी के लिए सब कुछ है' (रोमियों 11:36)। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने सभी प्राणियों पर परमेश्वर का सर्वोच्च सम्प्रभुता वाला आधिपत्य है, जिससे वह उनके द्वारा, उनके लिए, या उन पर, जो उसे अच्छा लगता है कर सकता है। वह जो सभी वस्तुओं का पहला कारण है, उसे अन्तिम लक्ष्य भी होना चाहिए। जिस प्रकार उसने सभी प्राणियों को अस्तित्व दिया, उसी रीति से उन पर शासन करने और अपनी महिमा के लिए उनका विधान करने का उसके पास पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इसीलिए हमें बताया गया है, कि, 'उसका राज्य पूरी सृष्टि पर है', और कि 'वह स्वर्ग की सेना और पृथ्वी के रहनेवालों के बीच अपनी इच्छा के अनुसार काम करता है: और कोई उसको रोककर उस से नहीं कह सकता, तू ने यह क्या किया है?' (भजन 103:19; दानिय्येल 4:35)। लेकिन परमेश्वर के पास न केवल अपने प्राणियों पर सम्प्रभुत्व आधिपत्य रखने का अधिकार है, बल्कि उनकी सेवा और आज्ञाकारिता पर उसका निर्विवाद दावा है। यह दावा भी इसी बात पर आधारित है कि उसने उन्हें उनका अस्तित्व दिया है। वे अपने स्वयं के नहीं है, परन्तु प्रभु के हैं; उसके, इसलिए वे उसकी सेवा करने के लिए बाध्य हैं। इसीलिए विश्वास-कथन, बड़े औचित्य के साथ पुष्टि करता है, कि परमेश्वर के प्रति 'स्वर्गदूतों और मनुष्यों, और हर एक प्राणी से, सभी प्रकार की आराधना, सेवा, या आज्ञाकारिता देय है, जिसकी अपेक्षा वह उनसे करता है'।

(घ) परमेश्वर *अनन्त काल* से है।

पवित्रशास्त्र एवं आम भाषा दोनों में, कभी-कभी 'अनन्त' शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में, अर्थात एक लम्बे समय या ऐसी अवधि के लिए किया जाता है जिसका अन्त हमें नहीं पता है। कभी-कभी यह ऐसी अवधि को

दर्शाता है, जो यद्यपि बिना आरम्भ के तो नहीं है, परन्तु वह अन्त के बिना है। इस प्रकार से स्वर्गदूतों और मनुष्यों की आत्माएँ अनन्त हैं; क्योंकि भले ही उनका आरम्भ हुआ हो, लेकिन उनका अन्त नहीं होगा। परन्तु शब्द के निश्चित एवं उचित अर्थ में, अनन्त काल, बिना आरम्भ के, बिना अन्त के, और निरन्तर नहीं चलने वाला है; और इस अर्थ में यह महान परमेश्वर के लिए विशिष्ट गुण है। यह विचार कि एक ऐसा समय था जब परमेश्वर का अस्तित्व आरम्भ हुआ, तर्क और प्रकाशन दोनों के लिए समान रूप से असंगत है। जिस व्यक्ति ने सभी वस्तुओं की रचना की, वह उनमें से किसी के भी अस्तित्व में आने से पहले ही अस्तित्व में रहा होगा; और उसका अस्तित्व मौलिक (गैर-व्युत्पन्न) होने के कारण, उसके अस्तित्व का अन्त नहीं हो सकता। पवित्रशास्त्र स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि उसका कोई आरम्भ नहीं है: 'इससे पहले कि पहाड़ उत्पन्न हुए, या तू ने पृथ्वी और जगत की रचना की, वरन् अनादिकाल से अनन्तकाल तक तू ही परमेश्वर है' (भजन 90:2)। यह एकदम स्पष्ट रूप से घोषणा करता है उसका कोई अन्त नहीं है: 'यहोवा सदैव सिंहासन पर विराजमान है' (भजन 9:7)। यह भी स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है कि उसका कोई उत्तराजात नहीं है: 'प्रभु के यहाँ एक दिन हज़ार वर्ष के बराबर है, और हज़ार वर्ष एक दिन के बराबर है' (2 पतरस 3:8)। एक ऐसा पद है जिसमें परमेश्वर को बिना आरम्भ, बिना अन्त, और अविरल अवधि का श्रेय दिया गया है (भजन 102:25 – 27)। उसकी महिमामय उपाधि में से एक है, 'जो महान् और उत्तम और सदैव स्थिर रहता'; और उसे पुकारा जाता है, 'सनातन परमेश्वर – अनन्तकाल का पिता – पहला और अन्तिम, आदि और अन्त।'

(ङ) परमेश्वर अपरिवर्तनीय है।

'जिसमें न तो कोई परिवर्तन हो सकता है, और न अदल-बदल के कारण उस पर छाया पड़ती है।' इस महत्वपूर्ण सत्य के लिए तर्क और प्रकाशन

अपनी संयुक्त गवाही देते हैं। उसकी अपरिवर्तनशीलता अनिवार्य रूप से उसकी पूर्ण सिद्धता से उत्पन्न होती है। यदि उसे बदलना है, तो यह या तो बेहतर के लिए होगा या बदतर के लिए। वह बेहतर होने के लिए नहीं बदल सकता, क्योंकि ऐसा करने से यह अतीत की अपूर्णता का संकेत देगी; वह बदतर होने के लिए नहीं बदल सकता, क्योंकि तब वह सिद्ध नहीं रह जाएगा। इसलिए, उसे सदैव एक जैसा ही रहना होगा। परमेश्वर की पूर्ण अपरिवर्तनशीलता के लिए पवित्रशास्त्र कई साक्ष्यों को देता है (गिनती 23:19; भजन 33:11; मलाकी 3:6)।

परमेश्वर अपने व्यक्ति में *अपरिवर्तनीय* है। 'मैं जो हूँ सो हूँ' वह नाम है जिसके द्वारा उसने मूसा को स्वयं की पहचान दी, ऐसा नाम जो न केवल स्व-अस्तित्व और स्वतंत्रता के विचार को व्यक्त करता है, बल्कि जो अपरिवर्तनशीलता को भी व्यक्त करता है। वह अपनी महिमा में अपरिवर्तनीय है। यद्यपि उसकी महिमा का प्रकटीकरण भिन्न-भिन्न हो सकता है, फिर भी वह अपने स्वयं में असीम रूप से महिमान्वित है, और हमेशा से है; क्योंकि उसकी मूलभूत महिमा न तो बढ़ने योग्य है और न ही घटने के योग्य है। वह अपनी धन्यता में अपरिवर्तनीय है; क्योंकि जैसे इसमें स्वयं का आनन्द सम्मिलित है, इसलिए यह न तो किसी वस्तु से बढ़ या घट सकता है, जो मनुष्य उसके लिए या उसके विरुद्ध कर सकता है (अय्यूब 35:5 – 7)। वह अपने उद्देश्यों एवं मनसाओं में अपरिवर्तनीय है। वह परमेश्वरीय महिमा के साथ घोषणा करता है, मेरी युक्ति स्थिर रहेगी और मैं अपनी इच्छा को पूरी करूँगा: मैं ही ने यह बात कही है और उसे पूरी भी करूँगा; मैं ने यह विचार बाँधा है और उसे सफल भी करूँगा (यशायाह 46:10, 11)। वह अपने लोगों के प्रति अपनी वाचा, प्रेम एवं प्रतिज्ञाओं में अपरिवर्तनीय है (यशायाह 54:10)। इसलिए, जब हम पवित्रशास्त्र में परमेश्वर के पछतावे के विषय में पढ़ते हैं, तो हमें इस भाषा को उसके दिव्य विधानों के बाहरी व्यवस्थाओं में परिवर्तन के रूप में

समझना चाहिए। हम किसी भी रीति से उसके मन में कोई भी परिवर्तन का रोपण नहीं कर सकते हैं; क्योंकि, इस सम्बन्ध में, परमेश्वर के लिए परिवर्तित होना असम्भव है। 'वह एक ही बात पर अड़ा रहता है, और कौन उसको उससे फिरा सकता है?' (अय्यूब 23:13)।

(च) परमेश्वर *सर्व-ज्ञानी* है।

उसकी दृष्टि में सभी वस्तुएँ खुली और प्रत्यक्ष है। उसके पास स्वयं के विषय में पूर्ण ज्ञान है, और केवल वही स्वयं को पूर्ण रूप से जानता है। अपने साथ-साथ वह सभी वस्तुओं को जानता है, चाहे वे हमारे द्वारा समय को मापने के तरीकों में, भूतकाल की हों, वर्तमान की हों या भविष्य की हों। वह सभी प्राणियों को, सबसे बड़े से लेकर सबसे छोटे तक को जानता है; वह अपने जीवों के सभी कार्यों को जानता है, चाहे वे गुप्त हों या प्रकट; उनके सभी वचनों, विचारों और इच्छाओं इरादों को। इसलिए पवित्रशास्त्र घोषित करता है, 'यहोवा की आँखें सब स्थानों में लगी रहती हैं, वह बुरे भले दोनों को देखती रहती हैं' (नीतिवचन 15:3)। 'तू मेरे विचारों को दूर ही से समझ लेता है। तू मेरे पूरे चाल-चलन का भेद जानता है। मेरे मुंह में ऐसी कोई बात नहीं जिसे तू पूरी रीति से न जानता हो' (भजन 139:2 – 4)। 'यह वही प्रभु कहता है जो जगत की उत्पत्ति से इन बातों का समाचार देता आया है' (प्रेरितों 15:18)। हाँ, वह सबसे अधिक आकस्मिक घटनाओं का जानता है: स्वतंत्र अभिकर्ताओं के कार्यों को, और उनसे सम्बन्धित सभी घटनाएँ, सदैव उसे निश्चितता से ज्ञात थीं; इसलिए, हालाँकि वे अपने स्वभाव में आकस्मिक हैं, या हमारे लिए सदैव अनिश्चित जैसे हैं, फिर भी, वास्तविकता में, उसके लिए कुछ भी आकस्मिक या अनिश्चित नहीं है। जब हम इस प्रकार की बातों से सम्बन्धित अनेक भविष्यवाणियों पर विचार पर करते हैं, जो भविष्यवाणियों की घोषणा के कई युगों बाद, एकदम सटीक और परिस्थिति के अनुसार पूर्ण हुई हैं, तो हम इस बात पर

संदेह नहीं कर सकते हैं। यह कहा जा सकता है, कि परमेश्वर वस्तुओं को सूचना के द्वारा नहीं, बल्कि तर्क और निष्कर्ष के द्वारा जानता है, विचारों के अनुक्रम से नहीं, बल्कि एक ही सहज ज्ञान से जानता है और वह उन्हें व्यापक रूप से और अचूक रूप से जानता है।

(छ) परमेश्वर सबसे *स्वतंत्र* और सबसे *निरपेक्ष* है।
'जो अपनी इच्छा के मत के अनुसार सब कुछ करता है' (इफिसियों 1:11) । उसकी इच्छा असीम रूप से स्वतंत्र है, और 'वह स्वर्ग की सेना और पृथ्वी के रहनेवालों के बीच अपनी ही इच्छा के अनुसार काम करता है'। उसे जो भला लगता है उसे करने का उसके पास परम अधिकार है, और 'कोई उसको रोककर उस से नहीं कह सकता है, तू ने यह क्या किया है?' (दानिय्येल 4:35)।

(ज) परमेश्वर असीम रूप से *बुद्धिमान* है।
परमेश्वर की बुद्धि उसकी प्रकृति की वह सिद्धता है जिसके द्वारा वह सभी बातों को उनके उचित लक्ष्य की ओर निर्देशित करता है – वह उद्देश्य जिसके लिए उसने उन्हें अस्तित्व दिया है; और यह उसकी अपनी महिमा है: क्योंकि जैसे वह सबसे उत्कृष्ट व्यक्ति है, इसलिए उसकी अपनी महिमा से अधिक उद्देश्य कुछ और नहीं हो सकता है। सृष्टि में परमेश्वर की बुद्धि कितनी अद्भूत रीति से प्रदर्शित होती है। जब हम आकाश की ओर देखते हैं, या नीचे पृथ्वी पर; जब हम खनिज, वनस्पति या पशु जगत का सर्वेक्षण करते हैं, तो क्या हम धर्मनिष्ठ भजनकार के साथ यह कहने से रुक सकते हैं कि, 'हे यहोवा, तेरे काम अनगिनत हैं! इन सब वस्तुओं को तू ने बुद्धि से बनाया है' (भजन 104:24)। जब हम उन विविध प्रकार के प्राणियों और वस्तुओं पर विचार करते हैं, जिन्हें परमेश्वर ने एक ही मूल पदार्थ से उत्पन्न किया है, प्रत्येक वस्तु की उसकी इच्छित उद्देश्य के लिए उपयुक्तता, एक

वस्तु की दूसरे वस्तु के प्रति अधीनता, और सभी का एक ही लक्ष्य के लिए मिलकर काम करना – उसकी बुद्धि कितनी स्पष्ट है! परमेश्वर की बुद्धि संसार के प्रशासन में भी एकदम स्पष्ट है, विशेष रूप से कमजोर और दुर्बल माध्यमों के द्वारा, और यहाँ तक कि मनुष्यों के बुरे स्वभावों द्वारा सबसे भव्य और गौरवशाली योजनाओं को कार्यान्वित करने में – 'निश्चय मनुष्य की जलजलाहट तेरी स्तुति का कारण हो जाएगी, और जो जलजलाहट रह जाए, उसको तू रोकेगा' (भजन 76:10)। 'आहा! परमेश्वर तेरे धन और बुद्धि और ज्ञान क्या ही गम्भीर है' (रोमियों 11:33)। लेकिन परमेश्वर की यह सिद्धता यीशु ख्रीष्ट द्वारा हमारे *उद्धार* के कार्य में सबसे उज्ज्वल ज्योति के साथ चमकती है। निश्चित रूप से परमेश्वर की बुद्धि के अलावा कुछ भी ऐसी योजना नहीं बना सकती है जिसके द्वारा 'करुणा और सच्चाई आपस में मिल गई हैं, और धर्म एवं मेल ने आपस में चुम्बन किया है' (भजन 85:10)। यहाँ 'परमेश्वर का वह गुप्त ज्ञान' है। यहाँ 'उसने सारे ज्ञान और समझ सहित हम पर बहुतायत से किया;' और इसलिए इस युक्ति को 'परमेश्वर का विभिन्न प्रकार का ज्ञान' की खोज के रूप में कहा गया है (इफिसियों 3:10)।

(ञ) परमेश्वर असीम रूप से *शक्तिशाली*, या सर्वशक्तिमान है।

परमेश्वर की शक्ति वह सिद्धता है जिसके द्वारा वह उन सभी बातों को कार्यान्वित करने में सक्षम है जो न तो उसकी अपनी सिद्धताओं के साथ, और न ही वस्तुओं की प्रकृति के साथ कोई विरोधाभास दर्शाती है। 'परमेश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है', स्वर्गदूत ने कुंवारी मरियम से कहा था। यीशु ने अपने शिष्यों से कहा, 'परमेश्वर के लिए सब कुछ सम्भव है'। वह शक्ति कितनी महान होगी जिसने शून्य से ब्रह्माण्ड की सुन्दर संरचना का निर्माण किया! 'आकाशमण्डल यहोवा के वचन से, और उसके सारे गणों की रचना उसी के मुंह की श्वास से हुई।' 'क्योंकि वह बोला, और

हो गया; उसने आज्ञा दी, और ठीक वैसा ही हो गया' (भजन 33:6, 9) । उसकी शक्ति अभी भी संसार के संरक्षण में कार्यान्वित है; क्योंकि वह अपनी शक्ति के वचन से सभी प्राणियों को उनके अस्तित्व और कार्यों में बनाए रखता है। यह संसार के नैतिक प्रशासन में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है – विशेष रूप से दुष्ट लोगों को उनके उद्देश्यों से रोकने में; क्योंकि वह समुद्र का महाशब्द, उसकी तरंगों का महाशब्द, और देश-देश के लोगों का कोलाहल शान्त करता है; लेकिन यह सबसे अधिक स्पष्ट रूप से यीशु ख्रीष्ट द्वारा उद्धार के कार्य में दिखाई देता है; कुंवारी के गर्भ में उसके मानवीय स्वभाव के निर्माण में; हमारे अपराधों के कारण हम पर पड़ने वाले क्रोध के बोझ तले अपने मानवीय स्वभाव को सहारा देने में; और उसको मृतकों में से जिलाने में। यह उस अद्‌भुत परिवर्तन के निर्माण में भी प्रदर्शित होता है जो एक पापी के मन फिराव में कार्यान्वित होता है, जिसे पवित्रशास्त्र में नई सृष्टि कहा गया है; अनुग्रह की दशा में विश्वासियों के संरक्षण में उन्हें कठिन परीक्षाओं का विरोध करने और उन पर विजय प्राप्त करने में, कठिन कर्तव्यों को पूरा करने और धैर्य एवं आनन्द के साथ बोझिल परीक्षाओं को सहने के लिए सक्षम बनाने में; और यह अन्तिम दिन में उनके शरीरों को महिमामय और अमरता में पुनर्जीवित करने में स्पष्ट रूप से प्रकट होगा।

यह ध्यान दिया जा सकता है, कि यद्यपि कुछ ऐसी बाते हैं जो परमेश्वर नहीं कर सकता, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी शक्ति में कोई कमी है। वह ऐसा कुछ नहीं कर सकता जिसमें विरोधाभास हो; उदाहरण के लिए, वह किसी वस्तु को ऐसा नहीं बना सकता कि एक ही समय में, उसका अस्तित्व है और अस्तित्व नहीं भी है; वह ऐसा कुछ नहीं कर सकता जो उसके स्वभाव या उसकी अनिवार्य सिद्धताओं के प्रतिकूल हो; वह स्वयं का इनकार नहीं कर सकता – वह झूठ नहीं बोल सकता – वह पाप को नहीं देख सकता – वह सो नहीं सकता, या पीड़ित नहीं हो सकता,

या अपना अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकता। हालाँकि, यह शक्ति के किसी दोष का तर्क नहीं देता है, परन्तु यह उसकी पूर्ण सिद्धता से उत्पन्न होता है।

(ट) परमेश्वर असीमित रूप से *पवित्र* है।

परमेश्वर की पवित्रता उसके स्वभाव की सिद्ध सात्विकता है, जिसके द्वारा वह सभी नैतिक अशुद्धियों से पूर्ण रूप से मुक्त है, और, जो कुछ भी वह करता है उसमें, अपने ही समान, और स्वयं अपने सम्मान व महिमा की बढ़ोत्तरी के लिए कार्य करता है; जो उसके स्वभाव एवं इच्छा के अनुकूल है वह उससे प्रसन्न होता है, तथा जो उसके विपरीत है, वह उससे घृणा करता है। पवित्रता, मानो परमेश्वर की सभी सिद्धताओं की चमक एवं महिमा है; इसलिए परमेश्वर को 'पवित्रता के कारण महा-प्रतापी' कहा जाता है। यह वह सिद्धता है जिसे वे महान आत्माएँ, जो परमेश्वर की प्रकृति की महिमा से सबसे अच्छी रीति से परिचित हैं, अपने स्तुति गीतों में सबसे अधिक बयान करते हैं इसलिए, सराप (सेराफिम) एक दूसरे से पुकार पुकारकर कहते हैं, 'सेनाओं का यहोवा पवित्र, पवित्र, पवित्र है' (यशायाह 6:3)। परमेश्वर स्वयं अपनी पवित्रता को विशेष सम्मान देता है; क्योंकि वह इसे उस गुण के रूप में अलग करता है जिसके द्वारा वह शपथ लेता है कि जो कुछ भी उसने कहा है, उसे पूरा करेगा (भजन 89:35)। परमेश्वर की पवित्रता सभी विवेकशील प्राणियों की मूल दशा से प्रकट होती है; क्योंकि, जब वे उसके द्वारा बनाए गए थे, तो वे पूर्णतः पवित्र थे। यह उन न्याय दण्डों में भयानक रूप से दिखाई दिया है जिसे परमेश्वर ने पापियों पर ऊँडेला है। स्वर्ग से विद्रोही स्वर्गदूतों का निकाला जाना – जैसे ही मनुष्य पापी बना, तो उसका अदन की वाटिका से निकाला जाना – जल से पुराने संसार का विनाश – सदोम और अमोरा का विनाश; ये और अनगिनत अन्य उदाहरण, पाप के प्रति परमेश्वर के भयंकर क्रोध के विषय में अभिलेख हैं। लेकिन पाप के प्रति परमेश्वर की घृणा का सबसे मर्मभेदी उदाहरण उसके

अपने पुत्र का दुख-दर्द एवं मृत्यु है। परमेश्वर को अधर्म देखने के बजाए अधिक पवित्र आँखों वाला होना चाहिए, क्योंकि, जब हमारा दोष स्वयं उसके पुत्र पर स्थानांतरित किया गया, तो उसने उसे भी नहीं बख्शा। क्या वह किसी एक मामले में पाप को नजरअंदाज कर सकता था, तो निश्चित रूप से अपने प्रिय पुत्र के मामले में उसने ऐसा अवश्य किया होता। परन्तु, यद्यपि वह अपने पिता की अवर्णनीय प्रसन्नता का पात्र था, और यद्यपि वह व्यक्तिगत रूप से निर्दोष था, फिर भी, जब उस पर उसके लोगों के पापों का आरोप लगाया गया, तो उसे दुःख-दर्द और मृत्यु से छूट नहीं दी जा सकती थी। 'तौभी यहोवा को यही भाया कि उसे कुचले, उसी ने उसको रोगी कर दिया' (यशायाह 53:10)।

(ठ) परमेश्वर असीमित रूप से *धर्मी* या *न्यायप्रिय* है।

परमेश्वर का न्याय उसके स्वभाव की वह सिद्धता है जिसके अनुसार वह स्वयं में असीम रूप से धर्मी है, और अपने प्राणियों के सम्बन्ध में अपने सभी कार्यों में धर्मी एवं निष्पक्ष है। 'वह सच्चा ईश्वर है, उसमें कुटिलता नहीं, वह धर्मी और सीधा है' (व्यवस्थाविवरण 32:4)। सभी बातों में अपने स्वभाव एवं सिद्धताओं के अनुरूप कार्य करने के द्वारा, और स्वयं अपने अधिकारों एवं विशेषाधिकारों को बनाए रखने के द्वारा, परमेश्वर अपने प्रति न्यायसंगत है। अपने प्राणियों के प्रति, उन्हें उनके स्वभाव के अनुसार, उसके द्वारा दी गई व्यवस्था के अनुसार उन पर शासन करने में वह न्यायोचित है। परमेश्वर के न्याय को उनके विभिन्न तरीकों के अनुसार कार्यान्वित होने के अनुसार विभिन्न प्रकारों से नामित किया गया है। उसका विधि सम्बन्धी न्याय यह है कि वह अपने प्राणियों को उनकी मूल क्षमताओं के अनुसार धार्मिक व्यवस्था देता है, और ऐसी बातों को करने या न करने की आज्ञा देता या रोक लगाता है, जो उनके लिए उपयुक्त हैं। इसलिए कहा गया है कि, 'उसकी व्यवस्था पवित्र है, और आज्ञा भी पवित्र,

खरी और उत्तम है' (रोमियों 7:12)। उसका *वितरणात्मक न्याय* यह है कि वह व्यवस्था के अनुसार, बिना किसी व्यक्ति के पक्षपात के, हर एक को उसका समुचित न्याय देता है। इसको भी आगे विभिन्न नामों से पहचाना जाता है। इसमें *लाभकारी न्याय* है, जिसके द्वारा परमेश्वर विश्वासयोग्य लोगों को पुरस्कृत करता है, उन लोगों की अपूर्ण आज्ञाकारिता के बावजूद, यीशु ख्रीष्ट की धार्मिकता के द्वारा जो उनके लिए अभ्यारोपित की जाती है, और विश्वास के द्वारा प्राप्त की जाती है, अर्थात ऐसे लोग जो उसकी दृष्टि में धर्मी के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। 'निश्चय धर्मी के लिए फल है'। 'क्योंकि परमेश्वर अन्यायी नहीं कि तुम्हारे काम, और उस प्रेम को भूल जाए' (भजन 58:11; इब्रानियों 6:10)। परन्तु यह प्रतिफल पूर्ण रूप से सेंतमेंत अनुग्रह से है, न कि किसी ऋण से। दंडात्मक न्याय भी है जिसके द्वारा परमेश्वर पापी को उसके अपराधों के अनुसार दंड देता है। यह परमेश्वर के वितरणात्मक न्याय के अलावा और कुछ नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध दंड से है। कभी-कभी इसे *प्रतिशोधात्मक* न्याय कहा जाता है, और कभी-कभी *बदला लेने वाला* न्याय। इसको, हम सोसिनियन्स (Socinians) के विरोध में मानते हैं, कि यह परमेश्वर की इच्छा का मनमाना कार्य नहीं है, बल्कि उसके स्वभाव की एक अनिवार्य सिद्धता है; और, इसलिए पाप के प्रवेश करने पर, इसका प्रयोग अपरिहार्य रूप से आवश्यक था। पापी को पाप के लिए समुचित दंड देना परमेश्वर के लिए अवश्य है, या तो स्वयं पापी पर, या उसके जामिन के रूप में किसी अन्य पर। यह परमेश्वर की पवित्रता से प्रकट होता है, जो अनिवार्य बनाता है कि उसे पाप के प्रति अपनी घृणा को उसके दोष के अनुसार दंड देकर प्रदर्शित करना चाहिए। यह परमेश्वर की सच्चाई के सम्बन्ध में, व्यवस्था की धमकी से प्रकट होता है। 'जिस दिन तू उसका फल खाएगा उसी दिन अवश्य मर जाएगा,' इस दंड को व्यवस्था में जोड़ा गया था, और अपराधियों पर इस दंड के निष्पादन के लिए परमेश्वर की विश्वासयोग्यता की प्रतिज्ञा की गई है। इस

बात की पुष्टि, सभी मनुष्यों के विवेक की गवाही द्वारा होती है, जो डराती है कि अपराधी को दंड अवश्य मिलेगा: इसलिए, बर्बर और सभ्य दोनों प्रकार के लोगों को देवता के क्रोध को शान्त करने के लिए बलिदान का मार्ग चुनना पड़ा। पाप करने वाले देशों एवं व्यक्तियों पर, इस जीवन में भी, परमेश्वर के असहनीय न्याय-दंड देने से, यह और भी अधिक पता चलता है; और विशेष रूप से पापियों के जामिन के रूप में, अपने पुत्र पर न्याय-दंड देने से, जिसमें ख्रीष्ट ने पापियों के स्थान पर स्वयं को प्रति-स्थापित किया, परमेश्वर के न्याय ने उससे पूर्ण संतुष्टि को प्राप्त की। इससे अधिक भयानक महिमा में न्याय कभी भी प्रकट नहीं हुआ, जब परमेश्वर ने उसे आदेश दिया कि उठ, और जो मेरा स्वजाति है, उसके विरुद्ध चल (जकर्याह 13:7)। तब यह देखा गया कि परमेश्वर 'दोषी को किसी प्रकार निर्दोष न ठहराएगा,' या पाप को बिना दंड दिए छोड़ देगा।

वर्तमान समय के कई लेखकों ने परमेश्वर के न्याय में *सार्वजनिक* न्याय को भी जोड़ा है; अर्थात, वह न्याय जो सरकार प्रशासन के महान सामान्य लक्ष्य से सम्बन्धित है – अर्थात, *सार्वजनिक* भलाई। लेकिन हम मानते हैं, कि न तो पवित्रशास्त्र में और न ही विवेक में, इस प्रकार का विचार करना कि परमेश्वर के नैतिक प्रशासन में इस प्रकार के न्याय का कोई स्थान है, आधारहीन है। ऐसा विचार इस धारणा से निकलता है कि परमेश्वर का प्रशासन या सरकार, जहाँ तक दंड का प्रश्न है, एकदम मानवीय सरकारों के समान है। हालाँकि, मानवीय सरकारों की कार्यप्रणाली और परम प्रधान की कार्यप्रणाली के बीच एक व्यापक और स्पष्ट अंतर है।

(ड) परमेश्वर असीम रूप से *भला* है।

यद्यपि परमेश्वर की सभी सिद्धताएँ उसकी महिमा है, फिर भी इसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है; क्योंकि जब मूसा ने यहोवा की महिमा देखने के लिए उत्सुकता से इच्छा की, तो प्रभु ने कहा, 'मैं तेरे सम्मुख होकर

चलते हुए तुझे अपनी सारी भलाई दिखाऊँगा, और तेरे सम्मुख यहोवा नाम का प्रचार करूँगा।' 'यहोवा उसके सामने होकर यों प्रचार करता हुआ चला, यहोवा, यहोवा, ईश्वर दयालु और अनुग्रहकारी, कोप करने में धीरजवन्त, और अति करुणामय और सत्य ... ' (निर्गमन 33:18, 19; 34:6)। परमेश्वर की भलाई को अलग-अलग पहलुओं के अनुसार जिसमें इसे देखा जाता है, या अलग-अलग वस्तुओं के लिए जिनके लिए इसका प्रयोग किया जाता है, अलग-अलग नामों से पहचाना जाता है। जब यह दुःखी मनुष्य को राहत पहुँचाता है, तो इसे *दया* कहा जाता है; जब यह अयोग्य लोगों पर, या उन लोगों पर जो बुराई के अलावा किसी और बात के पात्र नहीं हैं, तो इसे अनुग्रह कहा जाता है; जब यह दीन दरिद्र प्राणियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तो उसे *दान* कहा जाता है; जब यह विद्रोहियों को दंड देने से रुकता है, तो उसे *धैर्य* और *सहनशीलता* कहा जाता है। इस प्रकार, परमेश्वर की *भलाई* एक बहुत ही व्यापक उपयोग वाला शब्द है; इसमें मनुष्य के प्रति दयालुता के सभी रूप सम्मिलित हैं, चाहे उन्हें प्राणियों के रूप में, या पापियों के रूप में, या संतों के रूप में माना जाए। लेकिन हम इसका वर्णन सामान्य रूप से परमेश्वर के उस गुण के रूप में कर सकते हैं जो उसके प्राणियों को आनन्द संचारित करने के लिए प्रेरित करता है, जहाँ तक कि यह उसकी अन्य सिद्धताओं के साथ संगत में है। ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जिनमें परमेश्वर ने अपनी भलाई को प्रकट किया है। भलाई के अलावा और क्या कोई बात है जो इतने सारे जीवों को अस्तित्व देने के लिए उसे प्रेरित कर सकता था, जबकि उसे उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी, जब वह स्वयं के आनन्द में असीम रूप से मग्न है? असंख्य जीवों को अस्तित्व में बनाए रखने और उनकी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त प्रावधान करने में वह कौन सी भलाई दिखाता है? परन्तु इसका, और साथ में परमेश्वर की अन्य सभी सिद्धताओं का सबसे आश्चर्यजनक प्रदर्शन, पापियों के उद्धार में है। इस योजना की

रचना में, और आरम्भ से लेकर अंत तक इसके क्रियान्वयन में, परमेश्वर भला दिखता है, वह भी ऐसे तरीके और उस हद तक जो कि पृथ्वी एवं स्वर्ग दोनों के निवासियों को आश्चर्यचकित करता है। परमेश्वर की भलाई, जैसा कि इस कार्य में प्रकट है, सामान्यतः प्रेम शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है; और वह प्रेम जो यहाँ प्रदर्शित किया गया वह सभी ज्ञान से बढ़कर है (यूहन्ना 3:16)।

परमेश्वर की भलाई को *निरपेक्ष* और *सापेक्ष* के रूप में माना जा सकता है – जैसा कि वह स्वयं में है, और जैसा कि वह अपने जीवों के प्रति इसे क्रियान्वित करता है (भजन 119:68)। इसे *सामान्य* एवं *विशेष* के रूप में भी माना जा सकता है। पहले दृष्टिकोण में, उसकी भलाई में, उसके जीव स्वेच्छापूर्वक भागीदार हैं (भजन 33:5; 145:9)। दूसरे दृष्टिकोण में, उसकी भलाई में, उसके चुने हुए लोग भागीदार हैं (भजन 106:5)।

(ढ) परमेश्वर असीम रूप से *सत्य* एवं *विश्वासयोग्य* है।

परमेश्वर का सत्य उसके स्वभाव की वह सिद्धता है जिसके द्वारा उसके लिए जो कुछ भी उसने कहा है, उसे पूरा न करना असम्भव है। 'वह सच्चा ईश्वर है, उसमें कुटिलता नहीं, वह धर्मी और सीधा है'। जो कुछ भी परमेश्वर ने कहा है, चाहे वह प्रतिज्ञा के रूप में हो या धमकी के रूप में, वह देर-सबेर उसको अचूक रीति से पूरा करेगा। 'परमेश्वर का झूठा ठहरना अनहोना है'। उसके वचन के पालन को रोकने के लिए कोई भी कठिनाई उठ नहीं सकती और वह मन बदलने के लिए उत्तरदायी नहीं है (गिनती 23:19)। इसलिए, हम पूरे विश्वास के साथ आश्वस्त हो सकते हैं कि 'जितनी भलाई की बातें हमारे परमेश्वर यहोवा ने हमारे विषय में कहीं उनमें से एक भी बिना पूरी हुए नहीं रही'।

कितने धन्य हैं वे लोग, जो इस विश्वसनीय आधार पर, इस सर्व-सिद्ध व्यक्ति को अपना पिता और अपना परमेश्वर कह सकते हैं! वे लोग कितने

दयनीय हैं जो 'संसार में बिना परमेश्वर के रहते हैं!' और 'जीवित परमेश्वर के हाथों में पड़ना' कितनी 'भयंकर बात होगी!' ताकि हम इस विपत्ति से बच सकें, और उन लोगों के आनन्द को पा सकें जिनका परमेश्वर यहोवा है, तो आइए हम यीशु ख्रीष्ट के माध्यम से स्वयं को परमेश्वर के लिए समर्पित कर दें, और सर्वदा के लिए उसे अपना भाग मान लें। मेरी आशा है कि हर एक पाठक के सच्चे बोल ऐसे ही हों, 'स्वर्ग में मेरा और कौन है? तेरे सिवाय मैं पृथ्वी पर और कुछ नहीं चाहता।'

भाग 3

परमेश्वरत्व की एकता में एक ही तत्व, सामर्थ्य एवं अनन्तता के तीन व्यक्ति हैं, परमेश्वर पिता, परमेश्वर पुत्र और परमेश्वर पवित्र आत्मा (1 यूहन्ना 5:7; मत्ती 3:16, 17; 28:19; 2 कुरिन्थियों 13:14)। पिता किसी से नहीं है, न ही वह उत्पन्न और न ही वह अग्रसर है; पुत्र पिता का अनन्तकाल से इकलौता है (यूहन्ना 1:14, 18); पवित्र आत्मा पिता और पुत्र से अनन्तकाल से अग्रसर है (यूहन्ना 15:26; गलातियों 4:6)।

हमें यहाँ सिखाया गया है: *पहला,* कि एक परमेश्वरत्व में तीन व्यक्ति हैं, पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा; *दूसरा,* कि इन तीनों व्यक्ति में उनके व्यक्तिगत गुणों के द्वारा भेद किया जाता है; *तीसरा,* कि इनमें से प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में परमेश्वर है।

क. कि एक परमेश्वरत्व में तीन व्यक्ति हैं, इस बात की पुष्टि *त्रिएक-विरोधी* (Anti-trinitarians) लोगों के विरोध में की गई है, जो यह मानते हैं कि व्यक्ति के साथ-साथ सत्व के संदर्भ में भी परमेश्वर एक है। इस विचाराधीन सिद्धांत को व्यक्त करने में जिस शब्द को चुना गया है, वह त्रिएकता है। यह शब्द पवित्रशास्त्र में नहीं पाया जाता है, परन्तु इस महान

व गहन रहस्य को व्यक्त करने के लिए यह एक बहुत ही उपयुक्त और शुभ शब्द है। यह एक मिश्रित लातीनी शब्द है, *एकता में तीन* को दिखाता है; अर्थात, एक अविभाजित परमेश्वरत्व में तीन अलग-अलग व्यक्ति। इस सिद्धांत के विरोधी अब स्वयं को *एकेश्वरवादी* (Unitarians) कहते हैं, जिससे उनका अर्थ है केवल एक ही परमेश्वर में अपने विश्वास को व्यक्त करना, और कटाक्ष करना कि जो लोग त्रिएकता के सिद्धांत में विश्वास करते हैं, उन्हें एक से अधिक परमेश्वरों को स्वीकार करना चाहिए। लेकिन हम भी उनके ही समान दृढ़ता से मानते हैं, कि केवल एक ही परमेश्वर है, और हम सोचते हैं परमेश्वरत्व में तीन व्यक्तियों को मानना इस विश्वास के साथ पूर्ण रूप से संगत में है। यह, वास्तव में, एक रहस्य है, परन्तु इसमें कुछ भी बेतुका या तर्क के विपरीत नहीं है। हम यह नहीं कहते कि ये *तीनों* एक ही अर्थ में और एक ही मायने में *एक* हैं जिसमें वे *तीन* हैं; तब तो इसमें कोई संदेह नहीं कि यह शब्दों में एक स्पष्ट विरोधाभास होगा। लेकिन हम कहते हैं, वे एक संदर्भ में *तीन* हैं, दूसरे संदर्भ में *एक* हैं – *व्यक्ति* में *तीन*, *सत्व* में *एक*; और इसमें बिल्कुल भी बेतुकापन नहीं है। यह हमारी समझ से परे है, वास्तव में, पूरी रीति से समझने से परे है; और इसके अतिरिक्त हज़ारों बाते हैं, जिन्हें हम जानते हैं कि वे सत्य और वास्तविक हैं। परन्तु, यदि यह एक ऐसा सिद्धांत है जिसे पवित्रशास्त्र में स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है, तो हम इस पर विश्वास करने के लिए बाध्य हैं, भले ही हम इसे समझने में असमर्थ हों।

इस सिद्धांत को प्रमाणित करने से पहले, हमें प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या करनी चाहिए। *परमेश्वरत्व* शब्द ईश्वरीय स्वभाव को दिखाता है। यह पवित्रशास्त्र का एक शब्द है (रोमियों 1:20; कुलुस्सियों 2:9)। पवित्रशास्त्र में, और उससे सहमत होते हुए, हमारे अंगीकार-कथन में, परमेश्वरत्व उस असीमित, अनन्त, और अपरिवर्तनीय स्वभाव, या सत्व को दिखाता है, जो न तो पिता के लिए, या पुत्र के लिए, या पवित्र आत्मा के लिए विशिष्ट

है, बल्कि तीनों के लिए समान है। परमेश्वरत्व में भेद 'व्यक्ति' शब्द के द्वारा चिह्नित किया जाता है। आम मान्यता के अनुसार, यह शब्द 'एक अलग और स्वतंत्र व्यक्ति को दिखाता है, जिसके अस्तित्व और कार्यों का किसी अन्य व्यक्ति के अस्तित्व और कार्यों के साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता है। इसे एक विचारशील तत्व के रूप में परिभाषित किया गया है, जो स्वयं से कार्य कर सकता है, या एक बुद्धिमान अभिकर्ता, जो न तो किसी दूसरे का भाग है, और न ही दूसरे के द्वारा संपोषित किया जाता है'। परन्तु, जब इस शब्द को पवित्र तीन व्यक्तियों के लिए लागू किया जाता है, तो इसे ठीक उसी अर्थ में नहीं समझा जाना चाहिए जैसा कि जब यह प्राणियों पर लागू किया जाता है। ये दोनों मामले पूरी रीति से असमान हैं।

> तीन मानवीय व्यक्तियों के पास एक ही *विशिष्ट* स्वभाव होता है, परन्तु तीन ईश्वरीय व्यक्ति के पास एक ही संख्यात्मक स्वभाव है। त्रिएक विरोधी इस बात की पुष्टि करते हैं, कि, तीन ईश्वरीय व्यक्तियों पर विश्वास करने के द्वारा, हम अनिवार्य रूप से तीन ईश्वर बनाते हैं, क्योंकि वे हमारे गम्भीर विरोधों के बावजूद, सबसे अनुचित रीति से यह कहते हैं, कि हमें 'व्यक्ति' शब्द के लिए उसी विचार को जोड़ना चाहिए जो विचार यह मनुष्यों के संदर्भ में उपयोग किए जाने पर होता है। परन्तु हम इस बात से इनकार करते हैं कि इसका यह अर्थ है। हम यह नहीं सिखाते कि तीन अलग-अलग सत्व है जो रहस्यमयी रीति से जुड़े हुए हैं – कि पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा में से प्रत्येक के पास, दूसरे से अलग, एक ईश्वरीय प्रकृति और ईश्वरीय सिद्धता है। जो हम विश्वास करते हैं वह यह है, कि परमेश्वरत्व में एक भेद है, जिसके समान प्राणियों में कुछ भी नहीं है, जो शब्द के सभी अर्थों में एक हैं; और हम उस भेद को व्यक्त करने के लिए 'व्यक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह आपत्तिजनक हो सकता है, क्योंकि, अन्य प्राणियों के लिए लागू होने पर, यह एक ऐसे विचार का सुझाव देने के लिए प्रवृत्त होता है जो परमेश्वर की एकता के साथ असंगत है; लेकिन यह मानवीय भाषा के दोष का अपरिहार्य परिणाम है; और यह घोषित करने के द्वारा

> हम इस दुरुपयोग से बचाव करने का प्रयास करते हैं कि, इस अनुप्रयोग में, इसे इस प्रकार योग्य बनाया जाना चाहिए कि एक अलग अस्तित्व को बाहर रखा जा सके। जब हम कहते हैं कि परमेश्वरत्व में तीन व्यक्ति हैं, तो व्यक्ति शब्द उस भेद को सूचित करता है जिसकी व्याख्या करने का हम दावा नहीं करते है, परन्तु जो सत्व की एकता पर कोई आक्षेप नहीं करता है।[13]

त्रिएकता का सिद्धांत प्रकृति के ज्ञान, या बिना सहायता प्राप्त तर्क से नहीं खोजा जा सकता। यह केवल परमेश्वर के प्रकाशन द्वारा ही जाना जा सकता है, और पवित्रशास्त्र द्वारा इसकी पर्याप्त रूप से पुष्टि की गई है। पुराने नियम में कई ऐसे अंश हैं जो परमेश्वरत्व में व्यक्ति की *बहुलता* को प्रमाणित करते हैं जैसे कि वे अंश जिनमें एक ईश्वरीय व्यक्ति को दूसरे के विषय में या दूसरे के साथ बात करते हुए पेश किया गया है। हम केवल इनका उल्लेख कर सकते हैं (उत्पत्ति 1:26; 3:22; 11:7; भजन 45:6; 110:1; यशायाह 6:8)। ये सभी पद स्पष्ट रूप से परमेश्वरत्व में व्यक्तियों की बहुलता की ओर संकेत करते हैं। लेकिन यह पवित्रशास्त्र से स्पष्ट है, कि न केवल *बहुलता* है, परन्तु यह भी कि *त्रिएकता* है, या परमेश्वरत्व में केवल *तीन व्यक्ति* हैं। यह यशायाह 61:1 से स्पष्ट है, जहाँ हमारा दिव्य उद्धारकर्ता इस प्रकार बोलता है: '*प्रभु यहोवा का आत्मा मुझ* पर है; क्योंकि *यहोवा* ने ... *मेरा* अभिषेक किया है, ' आदि। यहाँ एक ईश्वरीय व्यक्ति वक्ता है; वह दूसरे ईश्वरीय व्यक्ति के विषय में बोलता है, जिसे वह *आत्मा* कहता है; और तीसरे ईश्वरीय व्यक्ति की बात करता है, जिसे वह *प्रभु यहोवा* कहता है। सृष्टि के कार्य का श्रेय तीन अलग-अलग व्यक्तियों के कार्यों को दिया गया है: 'आकाशमण्डल यहोवा के वचन से, और उसके सारे गणों की रचना उसी के मुँह की श्वास से हुई' (भजन 33:6)। यहाँ पर तीनों को स्पष्ट

[13] Dick's *Lectures on Theology*, vol. ii., pp. 64, 65.

रूप से इंगित किया गया है: *पिता; वचन,* या परमेश्वर का पुत्र; और *उसके मुँह का श्वास,* जो कि *पवित्र आत्मा* के अलावा और कोई नहीं हो सकता। लेकिन नए नियम में यह सिद्धांत और भी स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है। हमारे प्रभु के बपतिस्मा के इतिहास में हमारे पास त्रिएकता के रहस्य का एक स्पष्ट संकेत है (मत्ती 3:16, 17)। *पिता,* स्वर्ग से एक सुनाई देने योग्य ध्वनि से, देहधारी उद्धारकर्ता की गवाही देते हैं; मानव स्वभाव में *पुत्र* को यूहन्ना द्वारा बपतिस्मा दिया जाता है; और *पवित्र आत्मा* उस पर एक दृश्यमान रूप में उतरता है। इसलिए आरम्भिक मसीही लोग इस सिद्धांत की सच्चाई पर संदेह करने वाले किसी भी व्यक्ति से कहते थे, 'यरदन नदी पर जाओ, और वहाँ तुम त्रिएक परमेश्वर को देखोगे।' मसीही बपतिस्मा में प्रयोग किए जाने वाले शब्दों के रूप से यह सत्य और भी स्पष्ट हो जाता है: 'उन्हें पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा के नाम से बपतिस्मा दो' (मत्ती 28:19) । किसी एक के नाम में बपतिस्मा देने का अर्थ है, उसके अधिकार से बपतिस्मा देना, और उसकी सेवा के लिए समर्पित करना। केवल दिव्य व्यक्ति ही इस बात के लिए योग्य है। अब, यदि पिता, जिसके नाम से हमारा बपतिस्मा होता है, एक व्यक्ति है, पुत्र और पवित्र आत्मा को भी व्यक्ति होना चाहिए, क्योंकि उनके नाम पर, और साथ में पिता के नाम में हम बपतिस्मा पाते हैं। प्रेरित द्वारा दिया गया आशीष वचन त्रिएक परमेश्वर का एक और प्रमाण प्रस्तुत करता है: 'हमारे प्रभु यीशु ख्रीष्ट का अनुग्रह, और परमेश्वर का प्रेम, और पवित्र आत्मा की सहभागिता तुम सब के साथ होती रहे' (2 कुरिन्थियों 13:14)। 'यह स्पष्ट रूप से एक प्रार्थना है, जिसे परमेश्वर के अलावा किसी और को सम्बोधित करना अधर्म और मूर्तिपूजा होगी। फिर भी तीन व्यक्तियों को स्पष्ट रूप से सम्बोधित किया गया है, और परिणामस्वरूप उन्हें ईश्वरीय सिद्धता से सम्पन्न माना गया है; जो कि हमारी इच्छाओं को जानते हैं, और हमारे निवेदनों को सुनते हैं, और जो हम माँगते हैं, उसे करने में सक्षम हैं; जो अनुग्रह, प्रेम और सहभागिता जैसे

शब्दों में निहित सभी धन्यता के स्रोत हैं।' हमारे पास इस सिद्धांत के लिए एक सबसे स्पष्ट प्रमाण है: 'स्वर्ग में गवाही देनेवाले तीन हैं, पिता, वचन और पवित्र आत्मा, और इन तीनों में सहमति है' (1 यूहन्ना 5:7)। इस पद की प्रामाणिकता पर बहुत विवाद हुआ है परन्तु सिद्धांत की सच्चाई किसी एक पद पर आधारित नहीं है, जैसा कि पहले ही दिखाया जा चुका है।

त्रिएक परमेश्वर का सिद्धांत एक अटकल मात्र भी नहीं है। इसके विपरीत, डॉ. डिक की भाषा का उपयोग करें, 'तो इस सिद्धांत के ज्ञान के बिना परमेश्वर के सबसे महान कार्यों में एक – उद्धार – को समझना असम्भव है, जिसमें तीनों व्यक्ति अलग-अलग और विशिष्ट भूमिका निभाते हैं। हमें पिता के प्रेम, पुत्र की विनम्रता, और आत्मा के अनुग्रहपूर्ण कार्यों पर विचार करने के लिए बुलाया गया है। उद्धार किसी एक अकेले व्यक्ति का कार्य नहीं है, बल्कि तीनों व्यक्तियों का कार्य है, जो नाश हो रहे हमारी मानव जाति में सहमति के साथ कार्यरत हैं। इसलिए हम परमेश्वरत्व के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति अलग-अलग रीति से कृतज्ञता के ऋणी हैं, और प्रत्येक को वह महिमा देने के लिए बाध्य हैं, जिसके वे हकदार हैं। हमें उनके नाम से बपतिस्मा दिया जाता है, और हम उनकी सेवा के लिए अर्पण किए जाते हैं; और हमारी प्रार्थनाएँ पूर्ण रूप से परमेश्वर को सम्बोधित नहीं होती है, परन्तु पिता को, पुत्र के माध्यम से, और पवित्र आत्मा की सहायता से सम्बोधित होती हैं। इसलिए, ऐसा प्रतीत होता है कि कर्तव्य की मसीही प्रणाली इसी सिद्धांत पर आधारित है, और इस पर विश्वास के बिना कोई स्वीकार्य मसीही विश्वास नहीं हो सकता है। यह सिद्धांत व्यर्थ होने से बहुत दूर है, बल्कि यह सिद्धांत व्यावहारिक धर्मनिष्ठा का अचूक आधार है।'

(2) इन तीनों पवित्र व्यक्तियों को उनके व्यक्तिगत गुणों के द्वारा एक दूसरे से अलग किया जाता है।

पिता का यह व्यक्तिगत गुण है कि पुत्र को *उत्पन्न* करे (भजन 2:7)। यह

पुत्र का व्यक्तिगत गुण है कि वह पिता से अनन्त काल से *उत्पन्न* है (एकलौता है) (यूहन्ना 1:14)। यह पवित्र आत्मा का व्यक्तिगत गुण है कि वह पिता और पुत्र से अनंतकाल से *अग्रसर* है (यूहन्ना 15:26 गलातियों 4:6)। उन्हें परमेश्वरत्व के अनिवार्य सिद्धताओं से अलग-अलग करने के लिए, *व्यक्तिगत* गुण कहा जाता है। *अनिवार्य* सिद्धताएं पिता, पुत्र, और पवित्र आत्मा के लिए समान हैं, परन्तु *व्यक्तिगत* गुण प्रत्येक के लिए विशिष्ट है, कुछ ऐसा विशिष्ट जिसकी पुष्टि एक के लिए की जा सकती है, लेकिन अन्य दो के लिए नहीं की जा सकती है। पिता होना पहले व्यक्ति के लिए विशिष्ट है, पुत्र होना दूसरे के लिए, और अग्रसर होना तीसरे व्यक्ति के लिए। हम इन व्यक्तिगत गुणों की व्याख्या करने का दिखावा नहीं करते हैं; यहाँ पर, यदि किसी भी बात में व्याख्या है, तो पवित्रशास्त्र की भाषा का अनुसरण करना सबसे सुरक्षित है।

(3) पवित्र तीनों में से प्रत्येक सही अर्थों में परमेश्वर है।

कि पिता परमेश्वर है, यह बात सभी मानते हैं; इसलिए, जिस बात को कोई नहीं नकारता है, उसे प्रमाणित करना अनावश्यक है। परन्तु मसीही कलीसिया के आरम्भिक काल में ही पुत्र का परमेश्वर होना विवादित रहा था एवं इसे नकारा गया था। एरियन लोग (Arians), जो चौथी शताब्दी के आरम्भ में उभरे, उनका मानना था कि पुत्र का एक आरम्भ था, और वह रचा गया प्राणी है, भले ही वह अन्य सभी प्राणियों से प्राचीनता एवं उत्कृष्टता में श्रेष्ठ है। सोसिनियन लोग (Socinians) जो सोलहवीं शताब्दी के अंत में उभरे, वे एरियन लोगों से भी आगे निकल गए। उनका मानना था कि दूसरे व्यक्ति का तब तक कोई अस्तित्व नहीं था जब तक कि वह कुंवारी के गर्भ में रचा नहीं गया, और कि उसे परमेश्वर का पुत्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि परमेश्वर ने उसकी सेवकाई के द्वारा ईश्वरीय सत्य का प्रचार करने, और उसकी मृत्यु के द्वारा इस बात की पुष्टि करने के लिए

उसे नियुक्त किया, और उसके पुनरुत्थान के बाद, उसे ब्रह्माण्ड के प्रशासन के पद पर महिमान्वित किया। आधुनिक सोसिनियन लोग, जो स्वयं को एकेश्वरवादी (Unitarians), डॉ. प्रीस्टले के शिष्य कहते हैं, परमेश्वर के पुत्र को और नीचा करने में बहुत आगे बढ़ गए हैं। वे मानते हैं कि ख्रीष्ट मात्र एक मनुष्य है, जो यूसुफ और मरियम का मानवीय मानव सन्तान था, कि वह धार्मिक आराधना का उचित पात्र नहीं है, बल्कि केवल मानव के चरित्र के सबसे उत्कृष्ट गुणों वाला मनुष्य है – अर्थात, परमेश्वर के सभी नबियों में सबसे प्रतिष्ठित नबी। वे पुराने सोसिनियन लोगों के साथ यह मानते हैं कि अपने जन्म से पहले यीशु का कोई अस्तित्व नहीं था, लेकिन वे सोसिनस (Socinus) की धारणा को अस्वीकार करते हैं, कि उसके पुनरुत्थान के बाद से, उसे ब्रह्माण्ड के प्रशासन के पद पर महिमान्वित किया गया है; और तर्क देते हैं कि, जिस प्रकार संसार में जन्म लेने के तरीके में वह अन्य लोगों से किसी भी रीति से अलग नहीं था, उसी प्रकार आत्माओं के संसार में भी मनुष्यों के ऊपर उसका कोई प्रभुत्व या श्रेष्ठता नहीं हो सकती। पहले व बाद के विरोधियों के विरोध में, हमारा अंगीकार कथन दावा करता है कि पुत्र परमेश्वर है, जो पिता के साथ एक ही सत्व, सामर्थ्य का और अनन्त काल से है। यह कई विभिन्न तरह के तर्कों से प्रमाणित हो सकता है, जिसे हम केवल बहुत ही संक्षिप्त तरीके से इंगित कर सकते हैं।

(क) परमेश्वर वाले *नाम* उसके लिए प्रयुक्त होते हैं। उसे स्पष्ट रूप से परमेश्वर कहा गया है (यूहन्ना 1:1; रोमियों 4:5); उसे *सर्वशक्तिमान* परमेश्वर (यशायाह 4:6); *सत्य* परमेश्वर (1 यूहन्ना 5:20); *महान* परमेश्वर (तीतुस 2:13) कहा गया है। प्रभु, या यहोवा, जो कि परमेश्वर का अवर्णनीय नाम है, प्रायः पुत्र के लिए प्रयुक्त होता है (यशायाह 6:1), ख्रीष्ट के लिए प्रयुक्त होता (यूहन्ना 12:41); यशायाह 40:3, यूहन्ना 1:23 में ख्रीष्ट के लिए प्रयुक्त

हुआ है; गिनती 21:6 व 7, 1 कुरिन्थियों 10:9 में ख्रीष्ट के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(ख) परमेश्वर वाले *गुण* पुत्र को पिता से कम नहीं दिए गए हैं। सनातनत्व (Eternity) उसके लिए प्रयुक्त किया गया है (मीका 5:2; प्रकाशितवाक्य 1:8); सर्वज्ञता (Omniscience) (यूहन्ना 2:24; 21:17); सर्वव्यापीता (Omnipresence) (मत्ती 28:20); सर्वशक्तिमत्ता (प्रकाशितवाक्य 1:8; फिलिप्पियों 3:21); अपरिवर्तनशीलता (भजन 102:25 – 27, की तुलना इब्रानियों 1:10 – 12 और 13:8 से कीजिए)।

(ग) परमेश्वर वाले *कार्य* उसको दिए गए हैं। शून्य से सभी वस्तुओं की रचना का कार्य (यूहन्ना 1:3); सभी वस्तुओं का संरक्षण एवं उनका प्रशासन (कुलुस्सियों 1:17; इब्रानियों 1:3; यूहन्ना 5:17, 27); अनन्त उद्धार को प्राप्त करना (इब्रानियों 9:12); पापों को क्षमा करना (मरकुस 2:5); अंतिम दिन मृतकों को जीवित करना (यूहन्ना 5:28, 29); संसार का न्याय करना (रोमियों 14:10)।

(घ) हमें पुत्र को वही *ईश्वरीय आराधना* देने की आज्ञा दी गई है जो पिता की है। आराधना का स्थापित नियम है, 'तुम केवल अपने परमेश्वर यहोवा...की आराधना करना, और *केवल* उसी की सेवा करना।' परन्तु ईश्वरीय आराधना स्पष्ट रूप से पुत्र को देने की आज्ञा दी गई है (यूहन्ना 5:23)। स्वर्गदूतों को, जो कि सृजित प्राणियों में श्रेष्ठ हैं, उन्हें उसकी आराधना करने का आदेश दिया गया (इब्रानियों 1:6); और उसके लिए दी गई ईश्वरीय आराधना के हमारे पास ऐसे अनेक मामले हैं (प्रेरितों के काम 7:59; 2 कुरिन्थियों 12:8; 2 थिस्सलुनीकियों 2:16)।

(ङ) इस बात के अतिरिक्त प्रमाण के रूप में कि पुत्र, पिता से कम नहीं है, सर्वोच्च परमेश्वर है, तो यह ध्यान दिया जा सकता है कि उसे स्पष्ट रूप से पिता के साथ *समान* अधिकार वाला माना गया है। उसने पिता के साथ समानता का दावा किया, और ऐसा करने के लिए यहूदियों द्वारा उस पर

परमेश्वर की निन्दा करने का आरोप लगाया गया; फिर भी उसने कभी भी उन पर अपने वचनों का गलत अर्थ लगाने का आरोप नहीं लगाया, बल्कि अपने दावे के लिए अपने कार्यों का हवाला दिया (यूहन्ना 5:18; 10:30, 38)। उसने परमेश्वर के तुल्य होने को अपने वश में रखने की वस्तु न समझा (फिलिप्पियों 2:6); और उसका सनातन पिता उसे अपना स्वजाति एवं अपने बराबर मानता है (जकर्याह 13:7)।

हम यहाँ देख सकते हैं कि जब यीशु ख्रीष्ट ने कहा कि पिता मुझ से बड़ा है (यूहन्ना 14:28), तो उसका अर्थ यह नहीं है कि पिता अपने स्वभाव के सम्बन्ध में बड़ा है, बल्कि मध्यस्थ के रूप में उसके पद के सम्बन्ध में बड़ा है; इस सम्बन्ध में यीशु ख्रीष्ट, पिता के सेवक के चरित्र को बनाए रखता है, और पिता से मिले आदेश के अनुसार कार्य करता है (यशायाह 42:1)। लेकिन अविभाजित त्रिएक परमेश्वर के दूसरे व्यक्ति के रूप में, वह सभी मायनों में अपने परमेश्वर पिता के बराबर है। पवित्र आत्मा का परमेश्वर होने को भी सोसिनियन लोगों द्वारा नकारा गया है, परन्तु इसे भी उन्हीं तर्कों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है जो पुत्र के परमेश्वर होने को सिद्ध करते हैं।

(क) पिता और पुत्र के समान ही आत्मा को भी परमेश्वर वाले *नाम* दिए गए हैं। उसे परमेश्वर कहा जाता है। प्रेरितों के काम 5:3 में, हनन्याह से कहा गया, कि 'उसने पवित्र आत्मा से झूठ बोला', और पद 4 में उससे कहा गया कि 'उसने परमेश्वर से झूठ बोला'। सच्चे मसीही लोगों को 'परमेश्वर का मंदिर' कहा जाता है, क्योंकि 'परमेश्वर का आत्मा' उनमें वास करता है (1 कुरिन्थियों 3:16)। उसे *यहोवा* नाम से भी पुकारा गया है (यशायाह 6:8, 9 के साथ प्रेरितों के काम 28:25 की तुलना)।

(ख) आत्मा को परमेश्वर वाले *गुण* दिए गए हैं। सनातनत्व (उत्पत्ति 1:1, 2); सर्वव्यापिता (भजन 139:7); सर्वज्ञता (1 कुरिन्थियों 2:10, 11)। अंततः, प्रेरित पौलुस आत्मा को *सम्प्रभु वाली इच्छा* और *सर्वशक्तिमान सामर्थ्य* का श्रेय देता है (1 कुरिन्थियों 12:11)।

(ग) ईश्वरीय *कार्यों* का श्रेय आत्मा को दिए गए हैं। सामान्य रूप से ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में, और विशेष रूप से मनुष्य के सन्दर्भ में, सृष्टि का श्रेय उसे दिया गया है (उत्पत्ति 1:2; अय्यूब 33:4)। सभी वस्तुओं के संरक्षण का कार्य जितना पिता और पुत्र का है, उतना ही पवित्र आत्मा का भी है (भजन 104:30)। उद्धार के कार्य का अनुप्रयोग विशेष, रूप से आत्मा को दिया जाता है (तीतुस 3:5; 1 कुरिन्थियों 6:11)।

(घ) ईश्वरीय *आराधना* उसे दी जाती है। प्रार्थना, जो कि आराधना के सबसे गम्भीर भागों में से एक हैं, उसके लिए सम्बोधित की जाती है (प्रकाशितवाक्य 1:4, 5)। इस अंश में, *सात आत्माओं* से अभिप्राय किसी सृजित आत्मा से नहीं है, बल्कि परमेश्वरत्व के तीसरे व्यक्ति से है, जिसे उसके वरदानों और प्रतिष्ठाओं की विविधता एवं सिद्धता के कारण इस प्रकार सम्बोधित किया गया है। बपतिस्मा को, पवित्र आत्मा के नाम में, पिता और पुत्र के नाम के साथ दिया जाता है; और प्रेरितीय आशीष-वचन उसके नाम से दिया जाता है (2 कुरिन्थियों 13:14)।

तो फिर वही महिमा, अविभाजित तीनों व्यक्ति को मिलनी चाहिए – पुत्र को पिता से कम नहीं, और पिता एवं पुत्र के बराबर ही पवित्र आत्मा को भी।

अध्याय 3
परमेश्वर के अनन्त विधान

भाग 1

परमेश्वर ने सनातन काल से, अपनी स्वयं की इच्छा के सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण एवं पवित्र मत के द्वारा, जो कुछ भी होता है, उसे स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनीय रूप से ठहराया है (इफिसियों 1:11; रोमियों 11:33; इब्रानियों 6:17; रोमियों 9:15, 18); फिर भी इसके कारण से न तो परमेश्वर पाप का कर्ता है (याकूब 1:13, 17; 1 यूहन्ना 1:5), और न ही प्राणियों की इच्छा के लिए हिंसा की पेशकश की जाती है, और न ही द्वितीय कारणों की स्वतंत्रता या आकस्मिकता को दूर किया जाता है, बल्कि इन्हें स्थापित किया जाता है (प्रेरितों के काम 2:23; मत्ती 17:12; प्रेरितों 4:27 – 28; यूहन्ना 19:11; नीतिवचन 16:33)।

भाग 2

यद्यपि परमेश्वर उन सभी सम्भावित परिस्थितियों में जो कुछ भी घटित हो सकता है उसे जानता है (प्रेरितों के काम 15:18; 1 शमूएल 23:11 – 12; मत्ती 11:21, 23); फिर भी उसने किसी भी बात को इसलिए नहीं ठहराया क्योंकि उसने उसे भविष्य के रूप, या ऐसी परिस्थितियों में घटित होने वाली बात के रूप में पहले ही से देखा था (रोमियों 9:11, 12, 16, 18)।

व्याख्या

परमेश्वर के विधान का अर्थ है भविष्य की बातों के सम्बन्ध में उसका

उद्देश्य या उसके संकल्प; या अधिक स्पष्ट रूप से, उसकी निश्चित मनसा, जिसके द्वारा अनन्त काल से, जो भी कुछ उसे करना चाहिए, या समय आने पर उस बात के होने की अनुमति देगा, उसे उसने पहले से ठहराया है।

यह विषय ईश्वर-विज्ञान में सबसे गूढ़ और जटिल विषयों में से एक है, और यह विषय मसीही कलीसिया में कई प्रकार के विवादों का फलदायी स्रोत रहा है। लेकिन इस सिद्धांत के विवरणों से सम्बन्धित चाहे जितने भी विचार क्यों न हों,

> कोई भी व्यक्ति जो यह मानता है कि परमेश्वर एक बुद्धिमान व्यक्ति है, इस बात से इनकार नहीं करेगा कि ईश्वरीय विधान होते हैं, और वह इस बात पर विचार करता है कि उसका ये वाला गुण किस बात को दिखाता है। एक बुद्धिमान व्यक्ति वह है जो जानता है और निर्णय लेता है, जो उद्देश्यों का प्रयोजन करता और साधनों को बनाता है, जो रूपरेखा से कार्य करता, एक योजना बनाता, और उस योजना को क्रियान्वित करता है। प्राचीन मूर्तिपूजकों द्वारा भाग्य को देवी के रूप में पूजा जाता था, और उसे यह दर्शाने के लिए अंधे के रूप में दिखाया जाता था, कि वह किसी निश्चित नियम के द्वारा निर्देशित नहीं थी, और अपनी कृपाओं को यादृच्छिक रीति से बांटती थी। निश्चित रूप से कोई भी सामान्य विवेक वाला व्यक्ति, चाहे धर्मनिष्ठ न भी हो, वह सार्वभौमिक प्रकृति वाले प्रभु परमेश्वर पर इतना तर्कहीन प्रक्रिया का आरोप नहीं लगाएगा। क्योंकि वह उन सब बातों को जानता था जो उसकी शक्ति पूरा कर सकती थी, तो निःसंदेह ऐसे कारण थे जो उसे एक कार्य करने और दूसरे को नहीं करने के लिए निर्धारित करते थे; और उसका चुनाव जो उन कारणों पर आधारित था, उसका विधान था।[14]

[14] Dick's *Lectures on Theology*, vol. ii, p. 167.

कि परमेश्वर ने भविष्य की सभी बातों का निश्चय कर लिया होगा, ऐसा निष्कर्ष है जो उसके पूर्वज्ञान, स्वतंत्रता, और अपरिवर्तनशीलता से अनिवार्य रूप से निकलता है।

> परमेश्वर का पूर्वज्ञान अनिवार्य रूप से एक विधान को निष्कर्ष देगा; क्योंकि परमेश्वर पहले से नहीं जान सकता था कि बातें होंगी, जब तक कि उसने विधान नहीं बनाया कि उन बातों को होना चाहिए; और बातें भविष्य में नहीं होंगी, जब तक कि उसने विधान नहीं दिया हो कि उन्हें होना चाहिए।[15]

यदि परमेश्वर एक स्वतंत्र व्यक्ति है, तो सभी प्राणियों को उस पर पूर्ण रीति से निर्भर होना चाहिए लेकिन यह निर्भरता निर्विवाद रूप से प्रमाणित करती है कि उनके सभी कार्य उसकी सम्प्रभु इच्छा से संचालित होनी चाहिए। यदि परमेश्वर एक मन वाला है, जिसे कोई नहीं बदल सकता, तो उसने अपने उद्देश्य में हर बात को अपरिवर्तनीय रूप से निश्चित कर दिया होगा जिसे वह अपने विधान में कार्यान्वित करता है।

इस सिद्धांत को स्पष्ट रूप से पवित्रशास्त्र में बताया गया है। वे परमेश्वर के पूर्वज्ञान, उसके उद्देश्य, उसकी इच्छा, उसकी इच्छा की निश्चित मनसा, और उसके पूर्व-निर्धारण के विषय में बात करते हैं। 'जिन के विषय में उसे पूर्वज्ञान था, उसने उन्हें पहले से ठहराया भी' (रोमियों 8:29)। 'उसने हमें अपनी इच्छा का रहस्य अपने भले अभिप्राय के अनुसार जिसे उसने स्वयं निर्धारित किया था, बताया'। 'उसी में जो अपनी इच्छा की सुमति के अनुसार सब कुछ करता है' (इफिसियों 1:9, 11)। प्रेरित कहता है कि, 'ख्रीष्ट' को 'परमेश्वर की पूर्व-निश्चित योजना और पूर्वज्ञान के अनुसार पकड़वाया गया था' (प्रेरितों के काम 2:23)।

---

[15] Edward's *Miscellaneous Observations*, p. 114.

> परमेश्वर के विधान बिना किसी अपवाद के, भविष्य की सभी बातों से सम्बन्ध रखते हैं; जो कुछ भी समय अंतराल में किया जाता है वह समय के आरम्भ से पहले ही ठहराया गया था। उसके उद्देश्य हर बात से सम्बन्धित थे, चाहे वे बड़ी हों या छोटी, चाहे वे भली हों या बुरी; यद्यपि बुराई के सन्दर्भ में, नियुक्ति और अनुमति की बीच अंतर करना आवश्यक हो सकता है। इसका सम्बन्ध आवश्यक, स्वतंत्र, एवं आकस्मिक बातों से था; पदार्थ की गतिशीलता से, जो कि आवश्यक है; बुद्धिमान प्राणियों की इच्छाओं और कार्यों से, जो स्वतंत्र हैं; और ऐसी उन बातों से जिन्हें हम दुर्घटनाएं कहते हैं, क्योंकि वे हमारी ओर से तो अनैच्छिक रूप से, और बिना किसी कारण के घटित होते हैं, जिन्हें हम लोग खोज सकें। यह हमारे जीवन और मृत्यु के विषय से सम्बन्धित था; समय में हमारी अवस्था और अनन्तकाल में हमारी अवस्था के विषय में। संक्षेप में, परमेश्वर के विधान उसके प्रशासन के समान ही बहुत व्यापक हैं, जो उसके सभी प्राणियों और सभी घटनाओं तक फैले हुए हैं।[16]

परमेश्वर के विधान *स्वतंत्र* हैं। परमेश्वरीय स्वभाव के किसी भी आवश्यक कारण ने उसे विधान बनाने के लिए बाध्य नहीं किया था; ऐसा करना उसके आत्म-पर्याप्तता को नकारना होगा। न ही वह बाहरी बाध्यता के अधीन था; ऐसा करना उसकी स्वतंत्रता के लिए विनाशकारी होगा। इसलिए, उसके विधान उसकी इच्छा का सम्प्रभु और स्वतंत्र कार्य होना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे मनमाने निर्णय हैं; बल्कि केवल इतना है कि, अपने विधानों को बनाने में, वह किसी नियंत्रण में नहीं था, और उसने अपनी स्वयं की सम्प्रभुता के अनुसार कार्य किया।

परमेश्वर के विधान सबसे *बुद्धिमत्तापूर्ण* हैं। उन्हें यह दिखाने के लिए उसकी इच्छा का मत कहा जाता है, क्योंकि यद्यपि उसकी इच्छा स्वतंत्र

---

[16] Dick's *Lectures on Theology*, vol. ii, p. 170.

है, फिर भी वह सर्वदा पूर्ण सिद्धता वाली बुद्धिमानी से कार्य करता है। उसे दूसरों के साथ विचार-विमर्श करने, या दूसरों से परामर्श लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, बल्कि उसके सभी विधान उसकी अचूक बुद्धि का परिणाम हैं। 'आहा! परमेश्वर का धन और बुद्धि और ज्ञान क्या ही गम्भीर है! उसके विचार कैसे अथाह, और उसके मार्ग कैसे अगम हैं!' 'बुद्धि सबसे उचित उद्देश्यों के चयन, और उन्हें पूरा करने के सबसे उपयुक्त साधनों में खोजी जाती है। कि यह चरित्र परमेश्वर के विधानों से सम्बन्धित है, यह उस बात से स्पष्ट है जिन्हें हम उनके विषय में जानते हैं। उनके निष्पादन के द्वारा वे हमारे लिए प्रकट किए जाते हैं; और परमेश्वर के कार्यों में बुद्धि का हर एक प्रमाण उस योजना की बुद्धि का प्रमाण है जिसके अनुरूप वे निष्पादित किए जाते हैं।'

परमेश्वर के विधान *अनन्त* हैं। हमारा अंगीकार कथन इस बात की स्पष्ट रूप से पुष्टि करता है: 'परमेश्वर ने *सनातन काल से*, अपनी स्वयं की इच्छा के सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण एवं पवित्र मत के द्वारा, जो कुछ भी होता है, उसे स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनीय रूप से ठहराया है।' इस बात की पुष्टि सोसिनियन लोगों के विरोध में की गई है, जो मानते है कि कम से कम, परमेश्वर के कुछ विधान स्थायी हैं। उनका मानना है कि ऐसे विधान जो मनुष्य के स्वतंत्र अभिकर्ता पर निर्भर वस्तुओं से सम्बन्धित हैं, उन्हें समय में बनाया गया है। लेकिन पवित्रशास्त्र क्या कहता है? वह स्पष्ट रूप से घोषणा करता है, कि जो कुछ भी घटित हो चुका है, और जो घटित होने वाला है, वह परमेश्वर को अनादि काल से ज्ञात है। 'यह वही प्रभु कहता है, जो जगत की उत्पत्ति से इन बातों का समाचार देता आया है' (प्रेरितों 15:18)। यह मान लेना कि ईश्वरीय विधान समय पर ही बनाए गए हैं, परमेश्वर के ज्ञान को सीमित मानना है। यदि अनन्त काल से ही वह उन बातों को जानता है जो घटित होती हैं, तो अनन्त काल से ही उसने उन्हें ठहराया होगा; क्योंकि

यदि वे निर्धारित नहीं किए गए होते, तो उन्हें निश्चित रूप से पहले ही से नहीं जाना जा सकता था।

परमेश्वर के विधान *संपूर्ण* और *बिना किसी शर्त* के होते हैं। उसने किसी भी बात का विधान इसलिए नहीं दिया, क्योंकि उसने उसे भविष्य में पहले ही से देखा था; और उसके विधानों का क्रियान्वयन किसी भी ऐसी शर्त पर स्थगित नहीं किया जाता जिसे पूरा किया जा सकता है या नहीं किया जा सकता। यह हमारे अंगीकार-कथन का स्पष्ट सिद्धांत है, और यह वह सिद्धांत है जो मुख्य रूप से केल्विनवादियों (Calvinists) को आर्मीनियनवादियों (Arminians) अलग करता है, जो मानते हैं कि परमेश्वर के विधान निरपेक्ष नहीं हैं बल्कि सशर्त हैं।

> यह स्वीकार किया जाता है, कि परमेश्वर के कुछ विधान इस अर्थ में सशर्त हैं, कि घटना से पहले कुछ होना चाहिए था जो कि विधान का उद्देश्य है, और यह कि, यह क्रम स्थापित हुआ, एक घटना दूसरे के बिना घटित नहीं होगी। उदाहरण के लिए, इटली की यात्रा पर पौलुस और उसके साथियों को बचाने के लिए, परमेश्वर ने विधान बनाया; परन्तु उसने उन्हें केवल इस शर्त पर बचाने का विधान दिया कि नाविक लोग जहाज पर रहने चाहिए (प्रेरितों 27)। उसने आने वाले क्रोध से कई लोगों को बचाने के लिए विधान बनाया; परन्तु उसने उन्हें केवल तभी बचाने का विधान बनाया यदि वे ख्रीष्ट पर विश्वास करेंगे, और उसके द्वारा अपने भटके हुए मार्गों से फिराए जाएंगे। परन्तु ये विधान केवल दिखावे के लिए सशर्त हैं। वे केवल उस क्रम को बताते हैं जिसमें घटनाओं को पूरा होना चाहिए; वे साधन और साध्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं, लेकिन साधन को अनिश्चित नहीं छोड़ते हैं। जब परमेश्वर ने पौलुस और उसके साथियों को बचाने का विधान बनाया, तो उसने विधान दिया कि नाविक लोगों को जहाज छोड़ने से रोका जाना चाहिए; और इसके अनुसार उसने जहाज पर सवार प्रत्येक व्यक्ति के बचाव की पूर्व-सूचना पौलुस को दी। जब उसने उन लोगों को बचाने का विधान बनाया जिन्हें विश्वास करना

है, तो उसने उन्हें विश्वास देने का भी विधान बनाया; और इसके अनुसार, हमें सूचित किया गया है जिन्हें उसने पहले से ठहराया, उन्हें वह अपने पुत्र की सहभागिता में बुलाता भी है (रोमियों 8:30)। हम इस बात का इनकार करते हैं कि कोई भी विधान इस अर्थ में सशर्त है (आर्मीनियनवादी), कि यह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, जिसका कि वह सम्प्रभु स्वामी है, ताकि जैसा उसे अच्छा लगता है उसके अनुसार वह इच्छा करता है या नहीं करता। परमेश्वर कहता है, 'मेरी योजना स्थिर रहेगी और मैं अपनी भली इच्छा पूरी करूँगा' (यशायाह 46:10)। परन्तु वह ऐसा नहीं कह सकता था, यदि उसकी योजना किसी ऐसी शर्त पर निर्भर करती जिसे पूरा नहीं किया जा सकता था।[17]

सशर्त विधान परमेश्वर की असीम बुद्धि के साथ असंगत हैं, और मनुष्यों में उनकी कमज़ोरी के प्रभाव के कारण हैं। वे परमेश्वर की स्वतंत्रता के साथ भी असंगत हैं, जो उन्हें उसके प्राणियों की स्वतंत्र इच्छा या अभिकर्ता पर निर्भर होना बनाते हैं। उनका पूरा होना भी पूरी रीति से अनिश्चित होगा; परन्तु पवित्रशास्त्र हमें आश्वस्त करता है कि 'यहोवा की युक्ति सर्वदा स्थिर रहेगी, उसके मन की कल्पनाएँ पीढ़ी से पीढ़ी तक बनी रहेंगी' (भजन 33:11)। उसके सभी उद्देश्य अपरिवर्तनीय रूप से निर्धारित हैं, और उनका क्रियान्वयन अचूक रीति से निश्चित है। 'मनुष्य के मन में बहुत सी कल्पनाएँ होती हैं, परन्तु जो युक्ति यहोवा करता है, वही स्थिर रहती है' (नीतिवचन 19:21)।

हमारे अंगीकार-कथन में, सिखाए गए ईश्वरीय विधानों के सम्बन्ध में सिद्धांत पर प्रायः यह आपत्ति जताई गई है, कि यह परमेश्वर को पाप के कर्ता के रूप में दर्शाता है। परन्तु अंगीकार-कथन इस निष्कर्ष के विरुद्ध यह बचाव करके घोषित करती है कि परमेश्वर ने जो कुछ भी घटित होता है, उसे इस प्रकार ठहराया है कि वह पाप का कर्ता नहीं है। परमेश्वर का

[17] Dick's *Lectures on Theology*, vol. ii, pp. 175, 176, etc.

विधान या तो प्रभावी होता है या अनुमेय (अनुमेय अर्थात परमेश्वर की अनुमति)। उसका प्रभावी विधान घटित होने वाले सभी भले कार्यों के सम्बन्ध में है; उसका अनुमेय सिद्धांत बुराई के सम्बन्ध में है जो पापमय कार्यों में होता है। हमें *विशुद्ध रूप से ऐसे* कार्य, और कार्य की पापमयता के बीच भी अंतर करना चाहिए। परमेश्वर का विधान अमूर्त रूप से विचारित कार्य के सम्बन्ध में प्रभावकारी है, यह नैतिक बुराई के रूप में कार्य की *पापमयता* के सम्बन्ध में अनुमेय है।

यह भी आपत्ति जताई गई है कि यदि परमेश्वर ने जो कुछ भी घटित होता है, उसे पहले से ही ठहरा दिया है, तो मानवीय स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। इस बात के लिए सामान्य रूप से यह उत्तर दिया जाता है, कि मानवीय स्वतंत्रता के लिए यह पर्याप्त है, कि मनुष्य बिना किसी बाधा के, और स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार कार्य करे; कि ईश्वरीय विधान मानव मस्तिष्क से परे है; और जबकि यह घटनाओं के भविष्य में होने को सुरक्षित करता है, यह तार्किक अभिकर्ताओं को कार्य करने के लिए उस हद तक स्वतंत्र रूप से छोड़ देता है, जैसे कि कोई विधान था ही नहीं। इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए, कि यह उत्तर मात्र इस दावे पर जोर देता है कि, परमेश्वर के विधान के बावजूद, मनुष्य कार्य करने की अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखता है। हम अभी भी यह जानने की इच्छा रखते हैं कि घटना का पहले से ठहराया जाना मानवीय स्वतंत्रता के साथ किसी रीति से सुसंगत है। डॉ. डिक कहते हैं, ऐसे विषय पर, किसी भी व्यक्ति को अपनी अज्ञानता को स्वीकार करने में शर्म नहीं आनी चाहिए। हमें परमेश्वर के विधानों और मानवीय स्वतंत्रता के बीच सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। इतना जानना पर्याप्त है कि जो कुछ भी घटित होता है उसे परमेश्वर ने पहले ही से ठहराया है, और कि मनुष्य अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं। इन दोनों ही सत्यों के विषय में हमें पवित्रशास्त्र द्वारा आश्वस्त किया गया है; और दूसरे सत्य की पुष्टि विवेक की साक्षी से

होती है। हमें ऐसा लगता कि, यद्यपि हम परमेश्वर से स्वतंत्र नहीं है, फिर भी हम स्वतंत्र हैं; इसलिए जब हम अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हैं तो हम स्वयं को सही ठहराते हैं, और जब हम उस कार्य को नजरअंदाज करते है तो स्वयं को दोषी ठहराते हैं। यदि हम मानते हैं कि मनुष्य अनिवार्य अभिकर्ता हैं, तो हमारे अपने या दूसरों के आचरण के संदर्भ में अनुमोदन और अस्वीकृति की भावनाओं का हमारे मनों में कोई अस्तित्व नहीं होगा। परन्तु परमेश्वर के विधानों और मानवीय स्वतंत्रता को जोड़ने वाला बंधन अदृश्य है। "यह ज्ञान मेरे लिये बहुत कठिन है; यह गम्भीर और मेरी समझ से बाहर है" (भजन 139:6)।

आगे यह भी कहा जा सकता है, कि, यद्यपि परमेश्वर ने जो कुछ भी घटित होता है, उसे अपरिवर्तनीय रूप से ठहराया है, फिर भी इससे द्वितीय कारणों की आकस्मिकता समाप्त नहीं होती, चाहे वे स्वयं में हों या हमारे सम्बन्ध में हों। कोई भी बात चिट्ठी डाले जाने के निर्णय से अधिक आकस्मिक नहीं हो सकती – फिर भी 'चिट्ठी डाली तो जाती है, परन्तु उसका निकलना यहोवा ही की ओर से होता है' (नीतिवचन 16:33)।

भाग 3

परमेश्वर के विधान के द्वारा, उसकी महिमा के प्रकटीकरण के लिए, कुछ मनुष्यों एवं स्वर्गदूतों (1 तीमुथियुस 5:21; मत्ती 25:41) को अनन्त जीवन के लिए पहले ही से निर्धारित (predestined) किया गया है, और अन्यों को अनन्त मृत्यु के लिए पहले ही से ठहराया (fore-ordained) गया है (रोमियों 9:22 – 23; इफिसियों 1:5 – 6; नीतिवचन 16:4)।

भाग 4

इस प्रकार पहले ही से निर्धारित और पहले ही से ठहराए गए ये स्वर्गदूत

और मनुष्य, विशेष रूप से और अपरिवर्तनीय रूप से रचे गए हैं; और उनकी संख्या इतनी निश्चित और सुनिश्चित है कि उसे न तो बढ़ाया जा सकता है और न ही घटाया जा सकता है (2 तीमुथियुस 2:19; यूहन्ना 13:18)।

भाग 5

परमेश्वर ने जगत की उत्पत्ति से पहले, अपने अनन्त और अपरिवर्तनीय उद्देश्य, और अपनी इच्छा के रहस्यमय मत और भले अभिप्राय के अनुसार, मनुष्य जाति में से जिन लोगों को जीवन के लिए पहले ही से ठहराया है, उन्हें अपने मात्र स्वतंत्र अनुग्रह और प्रेम के द्वारा, अनन्त महिमा के लिए ख्रीष्ट में चुन लिया है, (इफिसियों 1:4, 9, 11; रोमियों 8:30; 2 तीमुथियुस 1:9; 1 थिस्सलुनीकियों 5:9) किसी भी विश्वास या भले कार्यों, या उनका किसी में भी विश्वास में दृढ़ बने रहने, या सृष्टि में किसी भी अन्य वस्तु की पूर्व-दृष्टि के बिना, जो शर्तों या कारणों के रूप में उसे प्रेरित करती हो (रोमियों 9:11, 13, 16; इफिसियों 1:4, 9); और यह सब उसके अपने महिमामय अनुग्रह की स्तुति के लिए है (इफिसियों 1:6, 12)।

व्याख्या

स्वर्गदूतों और मनुष्यों की अनन्त स्थिति के सम्बन्ध में परमेश्वर के विधान को पूर्व-निर्धारण (Predestination पहले से ठहराया जाना) के नाम से जाना जाता है; और इसमें दो शाखाएँ सम्मिलित हैं, जिन्हें सामान्य तौर पर चुनाव (Election) और शाश्वत नरक-दंड (Reprobation) के नामों से पहचाना जाता है।

कि स्वर्गदूतों का एक भाग चुना गया था, इसका निष्कर्ष पवित्रशास्त्र के उस अंश से निकाला जाता है जिसमें *चुने हुए* स्वर्गदूतों का वर्णन है (1

तीमुथियुस 5:21)। गिरे हुए स्वर्गदूतों के विषय में दो प्रेरित स्पष्ट उल्लेख करते हैं (2 पतरस 2:4; यहूदा 6)। इस प्रकार पवित्रशास्त्र में स्वर्गदूतों के एक भाग के चुनाव की स्पष्ट शिक्षा दी गई है, और दूसरों का चुना न जाना अनिवार्य रूप से इसमें निहित है; क्योंकि चुनाव एक सापेक्ष शब्द है, और इसमें अनिवार्य रूप से त्यागे जाने का विचार सम्मिलित है।

चुनाव के विधान के विषय में, जैसा कि मनुष्यों से सम्बन्धित है, उपरोक्त अनुभागों में पूर्ण विवरण है, और बाद का अनुभाग पवित्रशास्त्र के उस सिद्धांत को बताता है, जिसे सामान्य तौर पर अनन्त नरक-दंड का विधान कहा जाता है। यह बात कि, किसी न किसी अर्थ में चुनाव जैसी कोई बात है, उन सभी को स्वीकार करनी चाहिए जो पवित्रशास्त्र पर विश्वास करते हैं; लेकिन बहुत से लोग जो वचन को तो पूरी रीति से मानते हैं, पर इस विषय पर बाइबल द्वारा सिखाए गए सिद्धांत को पूरी रीति से नकार देते हैं।

कुछ लोग राष्ट्रों के, या पूरी कलीसिया के चुनाव को तो मानेंगे, परन्तु अपने सामूहिक क्षमता में इस चुनाव को स्वीकार नहीं करेंगे। कि पवित्रशास्त्र ऐसे आम चुनाव के विषय में बात करती है, इस बात को स्वीकार किया जाता है; लेकिन यह किसी विशेष और व्यक्तिगत चुनाव के साथ असंगत नहीं है। एक विशेष रीति से, परमेश्वर के लोग होने के लिए यहूदी लोग चुने हुए लोग थे, संसार के अन्य देशों में से अलग किए हुए थे; परन्तु हमारा प्रभु सूचित करता है कि उनमें से कुछ लोग श्रेष्ठ अर्थ में चुने हुए थे (मत्ती 24:22)। प्रेरित पौलुस भी कहता है, 'उसी तरह वर्तमान समय में भी परमेश्वर के अनुग्रहमय चुनाव के अनुसार कुछ लोग शेष हैं' (रोमियों 11:5)। प्रेरित कहता है, कि यह यहूदी लोग हैं, चुना हुआ राष्ट्र, और वह उनके विशाल समूह से एक चुने हुए शेष लोगों को अलग करता है, यह बात पर्याप्त रूप से स्पष्ट है; और वह स्पष्ट रूप से सूचित करता है, कि

पहले वालों को इस अर्थ में चुना गया था जिसमें बाद वाले नहीं चुने गए थे।

कुछ लोग केवल बाहरी विशेषाधिकारों के लिए एक चुनाव की अनुमति देते हैं। यह मानते हुए कि पवित्रशास्त्र केवल समुदायों के चुनाव के विषय में बात करता है, वे कहते हैं कि उद्धार के बाहरी साधनों का आनन्द मात्र लेने के लिए उनका चुनाव हुआ है। लेकिन पवित्रशास्त्र द्वारा हमें आश्वस्त किया गया है कि जो विश्वास करते हैं वे 'अनन्त जीवन के लिए ठहराए गए है' और कि 'परमेश्वर ने आरम्भ ही से तुम्हें चुन लिया ... विश्वास करके उद्धार पाओ' (प्रेरितों के काम 13:48; 2 थिस्सलुनीकियों 2:13)।

कुछ लोग, चुनाव का अर्थ, वर्तमान समय में बनाए गए, संसार से लोगों को अलग किए जाने से अधिक कुछ और नहीं समझते है, और इस रीति से इसकी पहचान अपने बुलाहट या हृदय परिवर्तन के साथ करते हैं। लेकिन पवित्रशास्त्र में, चुनाव और बुलाहट में स्पष्ट रीति से अंतर किया गया है; और बाद वाले को पहले वाले के प्रभाव के रूप में दिखाया गया है। लोगों के लिए कहा गया है कि वे 'परमेश्वर के अभिप्राय के अनुसार बुलाए गए है,' और 'जिन्हें उसने पहले से ठहराया है, उन्हें बुलाया भी' (रोमियों 8:28 – 30)। अब, जो बात इससे निकलती है वह है कि, पहले से ठहराया जाना और परमेश्वर के अभिप्राय को बुलाहट से बहुत अलग होना चाहिए, जब तक कि कारण और प्रभाव एक ही बात न हो। चुनाव शब्द पर ऐसी व्याख्याएं करना, पवित्रशास्त्र की भाषा को तोड़ना-मरोड़ना है, और उस पर उसके स्पष्ट अर्थ के स्थान पर विपरीत अर्थ को थोपना है।

इस विषय पर जिन अनगिनत विविध मतों को माना जाता है, उनका वर्णन करना उबाऊ कार्य होगा और इससे कोई लाभ नहीं होगा। सोसिनियन (Socinian) लोगों और आरमिनियन (Arminian) लोगों के

विचारों का उल्लेख करनी ही पर्याप्त होगा। सोसिनियन लोग भविष्य की आकस्मिकताओं के विषय में निश्चित पूर्व-ज्ञानता से इनकार करते हैं, जैसे कि स्वतंत्र अभिकर्ताओं के निर्धारण; और, इसलिए, वे मानेंगे कि मनुष्यों के उद्धार से सम्बन्धित विधान ऐसा एकमात्र विधान है जिसे अनंतकाल में बनाया गया था, और जो अपरिवर्तनीय है, यह एक सशर्त विधान है, कि जो लोग सुसमाचार पर विश्वास करते और उसका पालन करते हैं, वे ही बचाए जाएंगे; और, उनके अनुसार, विशेष व्यक्तियों से सम्बन्धित विशेष विधान को केवल उस समय के साथ बनाया जाता है, जब लोग सामान्य विधान में निहित उस शर्त को पूरा करते हैं। आर्मिनियन लोग या जैसा कि उन्हें रेमॉन्स्ट्रेट्स (Remonstrants) भी कहा जाता है, सोसिनियन लोगों से अलग हैं; वे मानते हैं कि आकस्मिक घटनाएँ, जैसे कि मनुष्यों के निर्धारण और कार्य, परमेश्वर के द्वारा पहले से ही देखे गए हैं; परन्तु वे भी पूर्ण और बिना शर्त चुनाव का इनकार करते हैं, और मानते हैं कि मनुष्यों से सम्बन्धित जिस भी बात के लिए परमेश्वर ने पहले से विधान बनाया है, वह उनके कार्यों के प्रति परमेश्वर की पूर्व-दृष्टि पर आधारित है। परमेश्वर ने बिना किसी विधान के, पहले ही से देखा, कि आदम स्वयं को और अपने वंशजों को पाप और उसके परिणामों में लिप्त करेगा, इसलिए उसने अपने पुत्र को उन सभी के लिए मरने के लिए भेजने, और उन्हें उद्धार के साधनों में सुधार करने के लिए पर्याप्त अनुग्रह देने का निश्चय किया; और यह पहले ही से जानते हुए कि कौन विश्वास करेगा और विश्वास में अंत तक दृढ़ बना रहेगा, और कौन नहीं रहेगा, इस रीति से उसने पहले वालों को अनन्त जीवन के लिए चुना और बाद वालों को नरक-दंड की अवस्था में छोड़ दिया। हालाँकि, इस सामान्य प्रणाली को मानने वालों के बीच विचारों की विविधता है; और उनमें से कुछ लोग सोसिनियन लोगों के साथ इस बात पर सहमति रखते हैं कि मनुष्यों के विषय में परमेश्वर के विधान अनन्त नहीं हैं, बल्कि समय के अनुसार बनाए जाते हैं; कि मनुष्यों को विश्वास

करने के पश्चात् अनन्त जीवन के लिए चुना जाता है, और कि, यदि वे अविश्वास और पश्चातापहीनता की अवस्था में गिर जाते हैं, तो निर्णय या विधान उलट दिया जाता है।

इन प्रणालियों के विरोध में, हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है कि परमेश्वर ने कुछ विशेष और निश्चित संख्या में व्यक्तियों का चुनाव किया है और उन लोगों को अनन्त जीवन के लिए पहले ही से ठहराया है; कि उसने जगत की उत्पत्ति से पहले उन्हें जीवन के लिए पहले से ठहराया है; ऐसा करने में, उसने अपनी सम्प्रभु इच्छा के अनुसार कार्य किया, और वह मनुष्यों के विश्वास या अच्छे कामों की पूर्व-दृष्टि के द्वारा, या उनमें से किसी में विश्वास में दृढ़ बने रहने से प्रभावित नहीं हुआ; और चूंकि यह योजना अपरिवर्तनीय है, इसलिए यह असम्भव है कि चुने हुए लोगों में से कोई भी नाश होगा। यह सहजता से प्रमाणित किया जा सकता है कि ये सिद्धांत पवित्रशास्त्र के अनुसार हैं।

1. परमेश्वर ने कुछ विशेष और निश्चित संख्या में व्यक्तियों का चुनाव किया है और उन लोगों को अनन्त जीवन के लिए पहले ही से ठहराया है। सोसिनियन लोगों के अनुसार, परमेश्वर ने अनन्त जीवन के लिए मानवजाति के विशेष व्यक्तियों को नहीं, बल्कि मनुष्यों के एक निश्चित प्रकार के विवरण को पहले से ठहराया है; व्यक्तियों को नहीं, बल्कि चरित्रों को। परन्तु, पवित्रशास्त्र स्पष्ट रूप से सिखाता है कि परमेश्वर ने मानवजाति में से कुछ निश्चित संख्या में व्यक्तियों का चुनाव किया, और उन्हें अनन्त जीवन के लिए ठहराया। ऐसा लिखा है, 'प्रभु अपनो को पहिचानता है' (2 तीमुथियुस 2:19)। वह पूर्ण रूप से जानता है कि कितने व्यक्ति, और विशेष रूप से कौन, उसके चुने हुए हैं। इसलिए कहा जाता है कि उनके नाम एक पुस्तक में लिखे गए हैं, जिसे जीवन की पुस्तक कहा जाता है; क्योंकि यह वह पुस्तक है जिसमें मानवजाति के उन सभी व्यक्तियों के नाम लिखे हैं जिन्हें अनन्त जीवन के लिए चुना गया था। किसी व्यक्ति का नाम वह है

जिसके द्वारा वह पहचाना जाता है और दूसरों से अलग किया जाता है; इसलिए, जब कहा गया कि उनके नाम पुस्तक में लिखे हुए हैं, तो यह सूचित करता है कि परमेश्वर को उन सभी व्यक्तियों का सटीक ज्ञान है जिन्हें उसने चुना था।

2. परमेश्वर ने इन व्यक्तियों को अनन्तकाल से जीवन के लिए पहले से निर्धारित किया है। सोसिनियन लोगों, और आर्मिनियन लोगों के अनुसार, जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, विशेष चुनाव केवल समय के साथ होता है, जब व्यक्ति वास्तव में सुसमाचार पर विश्वास करते हैं और उसका अनुपालन करते हैं। परन्तु समय के साथ चुनाव का होना पवित्रशास्त्र के सिद्धांत के एकदम विपरीत है। ऐसा लिखा है, 'परमेश्वर ने हमें जगत की उत्पत्ति से पहले उसमें चुन लिया' (इफिसियों 1:4)। और यह जोरदार वाक्यांश स्पष्ट रूप से अनंतकाल की अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार पौलुस थिस्सलुनीके के मसीही लोगों को सम्बोधित करता है, 'परमेश्वर ने आदि से तुम्हें चुन लिया कि ... उद्धार पाओ' (2 थिस्सलुनीकियों 2:13)। यह वाक्यांश जगत की उत्पत्ति जो अनन्तता को सूचित करता है, नीतिवचन 8:23 से स्पष्ट है, जहाँ ख्रीष्ट का परिचय देते हुए कहा गया है, 'मैं सदा से वरन् आदि ही से पृथ्वी की सृष्टि से पहले ही से ठहराई गई हूँ।' यह स्पष्ट है कि वाक्यांश 'आदि ही से' वाक्यांश 'सदा से' के समतुल्य है। वास्तव में, हम परमेश्वर के मन में उत्पन्न होने वाली किसी भी नए निर्धारण की कल्पना नहीं कर सकते हैं, बिना यह सोचे कि ईश्वरीय व्यक्ति ज्ञान में दोषपूर्ण है, या उसकी सिद्धताएँ परिवर्तनशील हैं – ये धारणाएँ उस व्यक्ति की प्रकृति के साथ पूर्ण रूप से असंगत है, जिसका नाम **यहोवा** है।

3. इस चुनाव को करते समय, परमेश्वर ने स्वयं अपने सम्प्रभु इच्छा से कार्य किया और वह उनके विश्वास या किसी अन्य योग्यताओं की पूर्व-दृष्टि से प्रभावित नहीं हुआ था। आर्मीनियन लोगों के अनुसार, मनुष्यों के

उद्धार से सम्बन्धित परमेश्वर का विधान पहले से देखे गए उनके विश्वास और अच्छे कर्मों पर आधारित है। अतः,

> परमेश्वर का विधान, यद्यपि समय से पहले का है, फिर भी मनुष्यों के कर्मों के क्रम में उत्तरवर्ती है, और यह उसकी इच्छा के निर्धारण पर निर्भर करता है। परन्तु इस धारणा के प्रति पवित्रशास्त्र का सिद्धांत प्रत्यक्ष रूप से विरोध में है, क्योंकि यह परमेश्वर के सर्वोच्च प्रभुत्व और परम अधिकार के लिए बेहद अपमानजनक है। चुनाव को कर्मों से हटकर, अनुग्रह के आधार पर माना जाता है और इन दोनों कारणों को असंगत और परस्पर विनाशकारी दर्शाया गया है। 'ठीक उसी तरह वर्तमान समय में भी परमेश्वर के अनुग्रहमय चुनाव के अनुसार कुछ लोग शेष हैं। यदि यह अनुग्रह से हुआ, तो फिर कर्मों के आधार पर कदापि नहीं, अन्यथा अनुग्रह, अनुग्रह न रहा' (रोमियों 11:5, 6)। परन्तु यदि यह कर्मों से हुआ, तो फिर यह अनुग्रह नहीं है; अन्यथा कर्म, कर्म नहीं रहा। इन शब्दों के साथ इस विचार को संगत कैसे बनाया जा सकता है कि मनुष्यों के भले कर्मों की पूर्व-दृष्टि उनके चुनाव का कारण थी? इसके अतिरिक्त, यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि विश्वास और पवित्रता, जिन्हें कि सशर्त विधानों के समर्थक चुनाव के कारण बताते हैं, पवित्रशास्त्र में स्पष्ट रूप से इसके प्रभाव बताए गए हैं (2 थिस्सलुनीकियों 2:13; इफिसियों 1:4)। रोमियों 9:10 – 13 में, पौलुस इस विषय के उदाहरण के रूप में याकूब और एसाव का उदाहरण प्रस्तुत करता है, और उनके कर्मों पर कोई भी विचार किए बिना, उनके सुख और दुख के पूर्व-निर्धारण को परमेश्वर की सम्प्रभुता से जोड़ता है। जिस प्रकार इसहाक के दोनों पुत्रों का भविष्य उनके व्यक्तिगत व्यवहार से पहले ही तय हो गया था, उसी प्रकार प्रेरित यह इंगित करता है कि उद्धार के लिए विशेष व्यक्तियों की नियुक्ति पूर्ण रूप से केवल परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर करती है।[18]

[18] Dick's *Lectures on Theology*, vol. ii., pp. 189, 190.

कि चुनाव परमेश्वर की भली इच्छा पर आधारित है, और न कि उसके पात्र में किसी वस्तु पर, इस बात को इसी अध्याय के पद 16 में स्पष्ट रीति से बताया गया है: 'अतः यह न तो चाहने वाले पर और न दौड़ धूप करने वाले पर निर्भर है, परन्तु परमेश्वर पर जो दया करता है'; और पद 18 में भी: 'अतः वह जिस पर चाहता है दया करता है, ...।' यदि यह ऐसा नहीं होता, तो इस सिद्धांत पर कोई आपत्ति भी नहीं होती।

> यदि परमेश्वर उनके कर्मों के आधार पर किसी व्यक्ति का चुनाव करता है और दूसरे व्यक्ति को अस्वीकार करता है, तो मनुष्य कैसे कह सकते हैं कि यह तो अन्याय है? और कोई भी व्यक्ति कैसे आपत्ति जता सकता है, जैसा कि पद 19 में कहा गया है, 'कि चूंकि परमेश्वर की इच्छा का विरोध नहीं किया जा सकता, इसलिए मनुष्यों को दोष नहीं दिया जा सकता है।' यदि यह निर्णय परमेश्वर की इच्छा पर नहीं, बल्कि मनुष्यों की इच्छा पर आधारित होता? तो विरोध करने वाले को उत्तर देना कितना सहज हो जाता, 'तुम गलत हो, यह चुनाव परमेश्वर का नहीं है, वह जिसको चाहे उसका चुनाव नहीं करता, बल्कि उसका चुनाव करता है जिसे वह देखता है कि वह व्यक्ति उसका चुनाव करेगा! यह उसकी इच्छा नहीं है बल्कि यह मनुष्य की इच्छा है जो इस बात का निर्णय करती है।' पौलुस इस रीति से उत्तर नहीं देता है, बल्कि परमेश्वर की सम्प्रभुता के सिद्धांत का समर्थन करता है। इसलिए, यह तथ्य, कि पौलुस को उन्हीं आपत्तियों के लिए उत्तर देना पड़ा जो अब चुनाव के सिद्धांत के विरुद्ध निरन्तर उठाई जाती हैं, इस बात को दर्शाता है यह सिद्धांत उसका ही था।[19]

4. अपने चुने हुए लोगों के सम्बन्ध में परमेश्वर के उद्देश्य अपरिवर्तनीय है। जैसा कि आर्मिनियन लोग मानते हैं कि विश्वासी संत अनुग्रह की अवस्था से गिर सकते हैं, इसलिए वे यह भी मानते हैं कि एक

[19] Hodge's *Commentary on the Romans*.

व्यक्ति जो आज चुना हुआ है कल नरक में दंड पाने वाले लोगों में से एक बन सकता है। वे पुष्टि करते हैं कि मनुष्य अपने चुने जाने को रद्द कर सकता है – कि 'जैसे वे स्वयं को विश्वासी से अविश्वासी में बदलते हैं, उसी रीति से उनके विषय में परमेश्वर के निर्णय भी बदलते हैं।' परन्तु पवित्रशास्त्र स्पष्ट रूप से घोषणा करता है, कि 'यहोवा की युक्ति सर्वदा स्थिर रहेगी, उसके मन की कल्पनाएँ पीढ़ी से पीढ़ी तक बनी रहेंगी' (भजन 33:11)। उसकी मनसा के अपरिवर्तनशीलता के इस सामान्य आश्वासन के अतिरिक्त, इसकी पुष्टि की गई है कि 'परमेश्वर की पक्की नींव बनी रहती है, और उस पर यह छाप लगी है प्रभु अपनों को पहिचानता है' (2 तीमुथियुस 2:19)। चुनाव के विषय में, परमेश्वर की मनसा, स्थिर रहेगी; इस कारण से चुने हुओं की संख्या न तो बढ़ेगी और न ही घटेगी।

एक परिस्थिति है जो कि चुनाव से सम्बन्धित है जिस पर ध्यान देना बाकी है। चुने हुए लोगों को ख्रीष्ट में चुने गए कहा गया है, जो कि, वास्तव में, पवित्रशास्त्र की स्पष्ट भाषा है (इफिसियों 1:4)। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ख्रीष्ट की मध्यस्थता का कार्य उनके चुनाव का कारण था; क्योंकि, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, चुनाव केवल परमेश्वर की सम्प्रभु इच्छा का परिणाम है; और पवित्रशास्त्र हमारे उद्धारकर्ता के मिशन को परमेश्वर के प्रेम के प्रभाव के रूप में प्रस्तुत करता है (यूहन्ना 3:16)। ख्रीष्ट की मध्यस्थता आवश्यक थी ताकि चुनाव वाले प्रेम के प्रभावों को परमेश्वर के चुने हुए लोगों पर, उसके न्याय के अधिकारों एवं गौरव के साथ संगतता में दिया जा सके; परन्तु स्वयं चुनाव परमेश्वर की सम्प्रुता से उत्पन्न हुई, और परमेश्वर की इच्छा के भले अभिप्राय (इफिसियों 1:5) के अतिरिक्त इसका कोई और कारण नहीं था। परमेश्वर का उद्देश्य एक है, जो साधनों के साथ साध्य का आलिंगन करता है; परन्तु परमेश्वर के मन के कार्यों के विषय में हमारे विचारों के अनुसार, इच्छा में पहले लक्ष्य है, और फिर साधनों को नियुक्त किया जाता है जिसके द्वारा इसे कार्यान्वित

किया जाना है। इसलिए, हम समझते हैं कि *'ख्रीष्ट में चुने हुए '* वाला वाक्यांश, यह दर्शाता है कि परमेश्वर ने ख्रीष्ट की मध्यस्थता का सम्मान किया, उनके चुनाव के कारण के रूप में नहीं, बल्कि उस साधन के रूप में जिसके द्वारा चुनाव के उद्देश्य को पूरा किया जाना था।

भाग 6

जिस प्रकार परमेश्वर ने चुने हुओं को महिमा के लिए नियुक्त किया है, उसी प्रकार से उसने, अपनी इच्छा के अनन्त और सबसे स्वतंत्र उद्देश्य के द्वारा, उनके लिए सभी साधनों को पहले ही से निर्धारित किया है (1 पतरस 1:2; इफिसियों 1:4, 5; 2:10; 2 थिस्सलुनीकियों 2:13)। जिसके कारण, वे जो चुने हुए हैं, आदम में पाप में गिरे होने पर भी, ख्रीष्ट के द्वारा छुड़ाए गए हैं (1 थिस्सलुनीकियों 5:9, 10; तीतुस 2:14); और उचित समय पर उसके आत्मा द्वारा ख्रीष्ट में विश्वास रखने के लिए प्रभावशाली रीति से बुलाए गए हैं; वे धर्मी ठहराए गए, गोद लिए गए और पवित्र किए गए हैं (रोमियों 8:30; इफिसियों 1:5; 2 थिस्सलुनीकियों 2:13), और उद्धार के निमित्त विश्वास के माध्यम से उसकी सामर्थ्य के द्वारा सुरक्षित रखे गए हैं (1 पतरस 1:5)। केवल चुने हुओं को छोड़कर, कोई भी अन्य न तो ख्रीष्ट द्वारा छुड़ाया गया है, न प्रभावशाली रीति से बुलाया गया है, न धर्मी ठहराया गया है, न गोद लिया गया है, न पवित्र किया गया है, और न ही बचाया गया है (यूहन्ना 17:9; रोमियों 8:28 – 39; यूहन्ना 6:64, 65; 10:26; 8:47; 1 यूहन्ना 2:19)।

व्याख्या

इस भाग में हमारे पास पहला ऐसा सामान्य कथन है कि, परमेश्वर की मनसा में, साधन और साध्य अविभाजित रूप से जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार

परमेश्वर ने चुने हुए लोगों को महिमा के लिए ठहराया है, उसी रीति से उसने ख्रीष्ट में और उसी के द्वारा, और केवल उसके कार्यों के आधार पर, उन्हें महिमा प्राप्त करने के लिए ठहराया है (1 थिस्सलुनीकियों 5:9)। इसी रीति से उसने उन्हें उन सभी साधनों के लिए नियुक्त किया है जो कि उस महिमा का आनन्द लेने के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है जैसे कि विश्वास और पवित्रीकरण, और अंत तक दृढ़ता के साथ विश्वास में बने रहना (2 थिस्सलुनीकियों 2:13)। इस प्रकार, यद्यपि ख्रीष्ट की मध्यस्थता उनके चुनाव का कारण नहीं थी, फिर भी उसकी आज्ञाकारिता और मृत्यु उस अनुग्रहकारी मनसा के कार्यान्वयन के लिए नियुक्त महान साधन थे; और यद्यपि सर्वशक्तिमान ने भविष्य में मनुष्य के विश्वास और पवित्रता के कारण किसी को नहीं चुना, फिर भी उनके द्वारा उस परमांनद का सुख लेने से पहले, परमेश्वर की अनन्त मनसा में उसके सभी चुने हुए लोगों के विश्वास और पवित्रीकरण के लिए प्रावधान किया गया था। इसलिए, लोगों के लिए यह आशा करना कि वे नियुक्त किए गए साधनों के उपयोग की उपेक्षा करते हुए, साध्य को प्राप्त कर लेंगे, इस चुनाव के सिद्धांत का घोर दुरुपयोग है। कोई भी व्यक्ति जीवन के सामान्य मामलों के सम्बन्ध में इस रीति से कार्य नहीं करता है, और असीम रूप में महत्वपूर्ण मामलों में ऐसा करना सबसे बड़ा अहंकार और मूर्खता होगी।

आगे, यह भाग विशेष रूप से उन साधनों को बताता है जिनके द्वारा चुने हुए लोगों को महिमा में लाया जाता है। उन्हें ख्रीष्ट के द्वारा छुटकारा दिया जाता है, और उसके छुटकारे को उन पर उसके आत्मा के कार्य करने के द्वारा प्रभावकारी रीति से लागू किया जाता है। 'ख्रीष्ट के द्वारा छुटकारा दिया गया' वाक्यांश का अर्थ समझने के लिए, यह पता करना आवश्यक है कि *छुटकारा* शब्द यहाँ पर किस अर्थ में प्रयोग किया गया है। पवित्रशास्त्र में 'छुटकारा' शब्द बहुधा पाप और उसके दंड़ात्मक परिणामों से *वास्तविक मुक्ति* को इंगित करता है; लेकिन मूल और उचित रूप से

इसका अर्थ है, *फिरौती देने के द्वारा प्राप्त की गई मुक्ति*। इसलिए ईश्वर-विज्ञानियों ने आमतौर पर *कीमत अदा कर* छुटकारा और *शक्ति के द्वारा* छुटकारा के बीच अंतर किया है; दूसरा वाला *वास्तविक मुक्ति* के साथ मेल खाता है; पहला वाला *कीमत के भुगतान* को दर्शाता है, जिसके द्वारा ख्रीष्ट ने पुण्य-पूर्वक रीति से अपने लोगों के उद्धार को प्राप्त किया। जब वेस्टमिन्स्टर विश्वास के अंगीकार-कथन को लिखा गया, तो उस समय 'छुटकारा' शब्द का प्रयोग सामान्यतः आधुनिक शब्द 'प्रायश्चित' के लगभग समतुल्य के रूप में किया जाता था; और, निस्संदेह, जिसे तब सामान्य और विशेष छुटकारा कहा जाता था, वह आधुनिक वाक्यांशों, सामान्य और सीमित प्रायश्चित के अनुरूप है। कुछ लोगों ने तर्क दिया है कि इस भाग में छुटकारा शब्द, कीमत अदा करने के समतुल्य नहीं है, बल्कि उस उद्धार के समतुल्य है जिसे कीमत अदा करके प्राप्त किया गया है; या, *छुड़ाया गया* शब्द *बचाए गए* के समतुल्य के रूप में प्रयोग किया गया है। लेकिन यह भाग स्पष्ट रूप से चुने हुए लोगों के छुड़ाए जाने और उनको बचाए जाने के बीच अंतर करता है; और यह ख्रीष्ट द्वारा उनके छुटकारे को ख्रीष्ट में विश्वास लाने हेतु बुलाए जाने से पहले सिद्ध और पूर्ण होने के रूप में दर्शाता है। उनका धर्मी ठहराया जाना, लेपालकपन, पवित्रीकरण और अंतिम उद्धार वे आशीषें हैं, जो ख्रीष्ट की मृत्यु के माध्यम से उनके लिए प्राप्त छुटकारे को स्थापित करते हैं; और, इसलिए, ख्रीष्ट द्वारा उनके छुटकारे का अर्थ, स्वयं छुटकारे के लिए नहीं, बल्कि उस कीमत के भुगतान के लिए होना चाहिए जिसने उनका छुटकारा खरीदा है। ख्रीष्ट द्वारा उनका छुटकारा पहले ही पूरा किया जा चुका है – यह क्रूस पर ख्रीष्ट द्वारा *पूरा किया* गया था; लेकिन उनका वास्तविक छुटकारा *उचित समय* पर पूर्ण होगा, अर्थात, जब वे विश्वास के द्वारा ख्रीष्ट के साथ एक हो जाते हैं।

तो फिर, इस भाग में, हमें सिखाया गया है

1. कि ख्रीष्ट ने, अपनी मृत्यु के द्वारा, न केवल सभी मनुष्यों के लिए उद्धार को सम्भव बनाया, या उन्हें उद्धार पाने योग्य स्थिति में लाया, बल्कि उसने उन सभी लोगों के लिए एक निश्चित उद्धार को खरीदा और सुरक्षित किया जिनके लिए वह मरा (यूहन्ना 17:4; इब्रानियों 4:12)।

2. कि ख्रीष्ट केवल चुने हुए लोगों के लिए मरा और उसने केवल उन्हीं के लिए छुटकारा खरीदा; दूसरे शब्दों में, कि ख्रीष्ट ने केवल चुने हुए लोगों के लिए प्रायश्चित किया, और किसी भी मायने में वह बाकी मानवजाति के लिए नहीं मरा। हमारा विश्वास का अंगीकार-कथन सबसे पहले सकारात्मक रूप से यह दावा करता है, कि *चुने हुए लोग ख्रीष्ट के द्वारा छुड़ाए गए हैं*; और फिर, नकारात्मक रीति से, कि *चुने हुए लोगों के अतिरिक्त, ख्रीष्ट द्वारा किसी अन्य का छुटकारा नहीं किया गया है*। यदि यह विशिष्ट छुटकारे, या सीमित प्रायश्चित के सिद्धांत की पुष्टि नहीं करता है, तो हम नहीं जानते कि कौन सी भाषा इस सिद्धांत को अधिक स्पष्ट रूप से स्पष्ट कर सकती है। यह आर्मीनियन लोगों की प्रणाली के एकदम विपरीत है, जो मानते हैं 'कि यीशु ख्रीष्ट ने, अपनी मृत्यु और दुःख के द्वारा, सामान्य रूप से समस्त मानवजाति के पापों के लिए, और विशेष रूप से प्रत्येक व्यक्ति के पापों के लिए प्रायश्चित किया'। यह कई लोगों द्वारा विश्वास किए गए सिद्धांत के विपरीत नहीं है, कि यद्यपि ख्रीष्ट की मृत्यु का विशेष संदर्भ चुने हुए लोगों के लिए था, और, परमेश्वर की मनसा के सम्बन्ध में, यह उनके उद्धार को अचूक रूप से सुरक्षित करता है, फिर भी इसका एक आम संदर्भ भी है, और यह सभी मनुष्यों के लिए एक समान प्रायश्चित को करता है। प्रसिद्ध रिचर्ड बैक्सटर (Richard Baxter), जो सभी मनुष्य के लिए आम छुटकारे के पक्षधर थे, हमारे विश्वास के अंगीकार-कथन के इस भाग पर और अन्य भाग पर निम्न टिप्पणी करते हैं:

> अध्याय 3 का भाग 6, और अध्याय 8 का भाग 8, जो सार्वभौमिक छुटकारे के विरोध में बाते करते हैं, मैं सम्पूर्ण छुटकारे की बात नहीं कर रहा हूँ, और विशेष रूप से केवल मनुष्य के पापों के दंड को भोगने और परमेश्वर के न्याय को संतुष्ट करने की बात नहीं कर रहा हूँ, बल्कि चुने हुए लोगों के लिए उचित उस विशेष छुटकारे की बात कर हूँ, जो कि समय पर उद्धार के लाभों के वास्तविक अनुप्रयोग की मनसा के साथ जुड़ा हुआ था। यदि मुझे इस व्याख्या की अनुमति नहीं दी जाती है, तो मुझे इस पर असहमति जतानी होगी।[20]

मेरे विचार से, अंगीकार-कथन की भाषा, इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करेगी; और इससे भी अधिक, बाइबल सभी मनुष्य के आम छुटकारे या ख्रीष्ट की मृत्यु के आम संदर्भ के विषय में चुप है। उद्धारकर्ता स्वयं घोषणा करते हैं, 'मैं अपनी भेड़ों के लिए अपना प्राण देता हूँ'; और वह पुष्टि करता है कि जिन *भेड़ों* के लिए वह अपना प्राण देता है, उन्हें निश्चित संख्या में परमेश्वर द्वारा चुना गया है, और अनन्त वाचा में उन भेड़ों को उसे सौंपा गया है, और जिन्हें वह अन्ततः अनन्त जीवन प्रदान करेगा (यूहन्ना 10:15, 28, 29)।

> यह सत्य है, मसीही विश्वास को इस प्रमुख बिंदु पर यहूदी धर्म से अलग किया जाना चाहिए, कि जहाँ यहूदी धर्म को अब्राहम के वंशजों तक ही सीमित किया गया था, और एक जाति और देश में ही सीमित किया गया था, मसीही विश्वास को हर एक प्राणी को प्रचारित किया जाना था, ख्रीष्ट की मृत्यु के सम्बन्ध में सार्वभौमिक शब्दों का उपयोग किया जाता है; परन्तु ये शब्द 'हर एक प्राणी को प्रचार करना', और 'सारे संसार' इन दोनों को सम्पूर्ण सीमाओं तक में समझा नहीं जाना चाहिए – क्योंकि तब ये वचन कभी भी सत्यापित नहीं हुए हैं, क्योंकि सुसमाचार को अभी तक,

[20] Baxter's *Confession of his Faith*, p. 21.

जैसा हमें दिखाई देता है, आकाश के नीचे प्रत्येक देश में प्रचारित नहीं किया गया है – बल्कि इन्हें एक या अधिक देशों तक सीमित न होने वाले एक कमीशन के रूप में सामान्य रीति से समझाया जाना चाहिए, किसी को इससे बाहर नहीं रखा गया है; जैसे-जैसे पवित्र आत्मा के द्वारा प्रेरितों के मन को इस कार्य के लिए प्रेरित किया जाएगा, उन्हें एक नगर से दूसरे नगर जाकर इस कार्य को पूरा करना था; इसलिए केल्विनवादी लोग सोचते हैं कि ख्रीष्ट की मृत्यु के लिए लागू होने वाले बड़े शब्दों को इसी सीमित तरीके से समझा जाना चाहिए; कि कोई भी देश, या मनुष्यों की जातियों को, इससे बाहर नहीं रखा गया है, और कि सभी प्रकारों और जातियों के कुछ लोग उसके द्वारा बचाए जाएंगे। और इस बात को परमेश्वर के न्याय पर आरोप लगाए बिना और बढ़ाना नहीं चाहिए; क्योंकि यदि उसने समस्त संसार के पापों के लिए पर्याप्त बलिदान और प्रायश्चित प्राप्त कर लिया है, तो यह न्याय के अनुकूल नहीं है कि सभी लोग इससे उद्धार न पाएँ, या कम से कम उन्हें इसकी पेशकश न मिले और उनके लिए इसका प्रचार न किया जाए; कि इस प्रकार का प्रयत्न किया जा सकता है, चाहे वे इसे स्वीकार करते हैं या नहीं।[21]

3. हमें आगे यह भी सिखाया गया है कि पवित्र आत्मा द्वारा उद्धार को उन सभी लोगों पर प्रभावशाली रीति से लागू किया जाएगा जिन्हें परमेश्वर ने चुना है और ख्रीष्ट द्वारा छुड़ाया गया है; और कि यह केवल उन्हीं लोगों पर प्रभावकारी रूप से लागू किया जाएगा। चुने हुए सभी लोग, उचित समय पर, पवित्र आत्मा की सामर्थ्य से, ख्रीष्ट पर विश्वास करने के लिए प्रभावी रूप से बुलाए जाते हैं। 'जो कुछ पिता मुझे देता है वह सब मेरे पास आएगा' (यूहन्ना 6:37)। 'जितने अनन्त जीवन के लिए ठहराए गए थे, उन्होंने विश्वास किया' (प्रेरितों 13:48)। उन सभी को धर्मी ठहराया जाता, लेपालक बनाया जाता, पवित्र किया जाता है, और अनुग्रह में दृढ़ता से बने

[21] Burnet on the Thirty-Nine Articles, Art. 17.

रहने के लिए सक्षम बनाया जाएगा, और अंत में उनका उद्धार महिमा में परिपूर्ण किया जाएगा। 'जिन्हें उसने पहले से ठहराया, उन्हें बुलाया भी; और जिन्हें बुलाया, उन्हें धर्मी भी ठहराया है; और जिन्हें धर्मी ठहराया, उन्हें महिमा भी दी है' (रोमियों 8:30)।

इस प्रकार हमारा अंगीकार-कथन, पवित्रशास्त्र के अनुरूप परमेश्वर में प्रत्येक व्यक्ति को मानव के उद्धार के महान कार्य में एक विशिष्ट भूमिका निभाते हुए, और परामर्श एवं कार्यान्वयन में पूर्ण रीति से सहमत होने के रूप प्रस्तुत करता है। पिता परमेश्वर ने मानवजाति के पापियों की एक निश्चित संख्या को अनन्त जीवन के लिए चुना; पुत्र ने उन सभी लोगों के लिए अपना प्राण दिया जिन्हें जगत की उत्पत्ति से पहले उसमें चुन लिया गया था, और उसने उनके लिए अनन्त छुटकारे को खरीदा; और पवित्र आत्मा उचित समय पर खरीदे गए छुटकारे को उन पर लागू करता है। यहाँ सब कुछ पूर्ण सामंजस्य में है। पुत्र पिता की इच्छा को पूरा करता है, और पवित्र आत्मा का कार्य पिता के उद्देश्य और पुत्र की मध्यस्थता के साथ पूर्ण अनुरूपता में है। परन्तु सभी लोगों के छुटकारे, सार्वभौमिक प्रायश्चित की योजना के अनुसार, यह सामंजस्य पूरी रीति से नष्ट हो जाता है। पुत्र उस जन मानस के लिए अपना लहू बहाता है जिन्हें पिता ने कभी भी बचाने की मनसा नहीं की थी, और आत्मा उन सभी के लिए उद्धार के अनुप्रयोग को सुरक्षित करने हेतु प्रभाव नहीं डालता है जिनके लिए ख्रीष्ट मरा!

भाग 7

परमेश्वर को जैसा ठीक लगा कि शेष मानव जाति को, अपने स्वयं की इच्छा के अथाह मत के अनुसार, जिसके द्वारा उसे जैसा ठीक लगता है वह दया करता या दया नहीं करता है, अपने प्राणियों के ऊपर अपने सम्प्रभुता वाले सामर्थ्य की महिमा के लिए, उनके पापों के कारण लज्जित होने और क्रोध के लिए उन्हें ठहराने हेतु, उन्हें छोड़ देता है,

जिससे कि उसके महिमामय न्याय की स्तुति हो (मत्ती 11:25 – 26; रोमियों 9:17 – 18, 21 – 22; 2 तीमुथियुस 2:19 – 20; यहूदा 1:4; 1 पतरस 2:8)।

व्याख्या

यह भाग उस बात का वर्णन करता है जिसे आमतौर पर *नरक के दंड* (Reprobation) का विधान कहा जाता है। यह शब्द अंगीकार-कथन में प्रयुक्त नहीं किया गया है, और जब यह पवित्रशास्त्र में आता है तो इसका अर्थ ईश्वरविज्ञानीय अर्थ से भिन्न होता है; लेकिन सुविधा के लिए, इसका उपयोग परमेश्वर की इच्छा के उस कार्य को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, जिसके द्वारा, जब उसने समस्त मानवजाति को पाप के दोष और दुःख में लिप्त देखा, तो उसने कुछ का तिरस्कार किया, जबकि अन्यों को उसने चुन लिया। कुछ लोग जो व्यक्तिगत और अनन्त चुनाव को स्वीकार करते हैं, वे नरक के दंड जैसी किसी भी बात को नकारते हैं। लेकिन पहला अनिवार्य रूप से दूसरे से जुड़ा हुआ है; क्योंकि कुछ लोगों के चुनाव का अर्थ है अनिवार्य रूप से अन्य लोगों का तिरस्कार।

> चुनाव और तिरस्कार सह-सापेक्ष शब्द हैं; जब मनुष्य चुनाव को स्वीकार करते और नरक के दंड को अस्वीकार करते हैं, तो जिस बात की कल्पना करना असम्भव है, उसे मनुष्य स्वयं पर थोपते हैं, और उसकी कल्पना करने की सोचते हैं... । पवित्रशास्त्र में ऐसे कई अंश हैं जिनमें इस सिद्धांत को सिखाया गया है। हम कुछ ऐसे लोगों के विषय में पढ़ते हैं जिनके नाम 'जीवन की पुस्तक' में 'नहीं लिखे गए हैं,' और जो परिणामस्वरूप उन लोगों के विरोध में हैं 'जिनके नाम लिखे गए हैं'; वे जो 'विनाश के लिए तैयार क्रोध के पात्र हैं'; 'जिनके इस दंड का वर्णन पुराने समय से पहले ही से लिखा गया था'; 'वे वचन को न मानकर ठोकर खाते हैं और इसी के लिए वे ठहराए भी गए थे;' ऐसे लोग जिनके विषय में कहा जाता है

> कि परमेश्वर उनसे घृणा करता है, जबकि वह अन्यों से प्रेम करता है। व्यक्ति रोमियों की पत्री के 9वें और 11वें अध्याय को ध्यानपूर्वक और निष्पक्षता से पढ़े, तो उसे इस बाते में कोई संदेह नहीं रहेगा कि कुछ लोग मृत्युदंड के लिए ठहराए गए हैं, जबकि अन्य लोग जीवन के लिए ठहराए गए हैं।[22]

हमारा अंगीकार-कथन परमेश्वर द्वारा कुछ लोगों को छोड़ दिए जाने और उन्हें क्रोध के लिए ठहराने के विषय में भी बात करता है; और हम समझते हैं कि इन दोनों के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर है। यदि इसका कारण पूछा जाए कि परमेश्वर ने मानवजाति के कुछ पापियों को क्यों *छोड़ दिया,* जबकि अन्यों को उसने जीवन के लिए चुना, तो इसका उत्तर उसकी अपनी इच्छा के मत के अनुसार ही होगा, जिसके द्वारा वह अपनी इच्छानुसार दया करता है या दया नहीं करता। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिनको परमेश्वर ने छोड़ दिया है, वे पाप में पतित और दोषी प्राणी माने गए थे; लेकिन यदि उनमें पाप था, तो उन लोगों में भी पाप था जो उद्धार के लिए चुने गए थे; इसलिए, हमें परमेश्वर की इच्छा में उसके प्रतिकूल नियतन (विपरीत नियति) को हल करना चाहिए; 'इसलिए वह जिस पर चाहता है उस पर दया करता है, और जिसे चाहता है उसे कठोर कर देता है' (रोमियों 9:18)। चूंकि परमेश्वर के लिए यह उचित होता कि वह हमारी सम्पूर्ण मानवजाति को छोड़ देता, और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करता जैसा उसने उन स्वर्गदूतों के साथ किया था, जिन्होंने पाप किया, तो यह स्पष्ट हो जाना चाहिए, कुछ लोगों को जीवन के लिए चुनने में, उसने गैर-चुने हुए लोगों के साथ कोई अन्याय नहीं किया, जिनकी स्थिति उतनी ही बुरी होती, भले ही यह मान लिया जाए कि अन्य लोगों को चुना ही नहीं गया होता। लेकिन यदि इसका कारण पूछा जाए कि परमेश्वर ने उन लोगों को

---

[22] Dick's *Lectures on Theology*, vol. ii., pp. 197, 198.

निन्दा और क्रोध के लिए क्यों ठहराया जिन्हें उसने छोड़ दिया, तो इसका उत्तर उनके अपने पाप में ही निहित होना चाहिए। इस कार्य में परमेश्वर एक ऐसे न्यायाधीश के रूप में प्रकट होता है, जो दोषी के दंड को पहले ही से निश्चित कर देता है; और उनके प्रति उसका विधान न्याय के स्वाभाविक मार्ग के अनुसार क्रियान्वित करने का केवल एक उद्देश्य है। उनका अपना पाप ही उनके अंतिम विनाश का कारण है, और इसलिए परमेश्वर उनके साथ कोई अन्याय नहीं करता है। चुने हुए लोगों का उद्धार पूर्ण रूप से 'उसके महिमामय अनुग्रह की महिमा की स्तुति के लिए' है, और गैर-चुने हुए लोगों का नरक में मृत्यु-दंड 'उसके महिमामय न्याय की स्तुति के लिए है'।

भाग 8

पूर्व-निर्धारण के इस महान रहस्यमय सिद्धांत को विशेष विवेक एवं सावधानी के साथ संभाला जाना चाहिए (रोमियों 9:20; 11:33; व्यवस्थाविवरण 29:29), जिससे कि मनुष्य परमेश्वर के वचन में प्रकट की गई उसकी इच्छा पर ध्यान दें, और इसके प्रति आज्ञाकारिता के लिए इच्छुक होते हुए, अपने प्रभावशाली बुलाहट के प्रति निश्चितता से, अपने अनन्त चुनाव के विषय में आश्वस्त हो सकें (2 पतरस 1:10)। इस प्रकार यह सिद्धांत परमेश्वर की स्तुति, श्रद्धा-भक्ति और आदर-सम्मान का विषय बन जाएगा (इफिसियों 1:6; रोमियों 11:33)। और उन सभी लोगों के लिए विनम्रता, परिश्रम, और भरपूर सांत्वना का विषय बन जाएगा जो विश्वासयोग्यता से सुसमाचार का पालन करते हैं (रोमियों 11:5, 6, 20; 2 पतरस 1:10 रोमियों 8:33; लूका 10:20)।

व्याख्या

पूर्व-निर्धारण का सिद्धांत, वास्तव में, एक महान रहस्य है – परमेश्वर की गूढ़ बातों में से एक, जिसको हमारी मंद बुद्धि पूर्ण रूप से नहीं समझ

सकती। इसके विषय में हमारी खोजबीन में, हमें व्यर्थ जिज्ञासा को दबा देना चाहिए, और जो लिखा गया है उससे अधिक बुद्धिमान बनने का प्रयास नहीं करना चाहिए। परन्तु, चूंकि इस सिद्धांत को परमेश्वर ने अपने वचन में प्रकट किया है, इसलिए यह गंभीरता-पूर्वक जाँच करने का विषय है, और इसे कलीसिया के मंच और लेखों द्वारा प्रचारित किया जाना चाहिए। कैल्विन ने उचित ही कहा है: 'जिन बातों को प्रभु ने गुप्त रखा है, हम उनकी खोज न करें; जिन बातों को उसने खुल कर बताया है, हमें उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; कहीं ऐसा न हो कि एक ओर तो हम व्यर्थ जिज्ञासा के कारण दोषी ठहराए जाएं, या दूसरी ओर कृतज्ञ-हीनता के दोषी पाए जाएं।' यदि यह सिद्धांत खतरनाक या बेकाम का होता, तो परमेश्वर ने इसे प्रकट नहीं किया होता, और मनुष्यों द्वारा इसे दबाने का प्रयास करना, परमेश्वर की बुद्धि पर दोष लगाना है, जैसे कि उसने उस खतरे को पहले से नहीं देखा था, जिसे रोकने के लिए मनुष्य अहंकार के साथ हस्तक्षेप करेंगे। कैल्विन आगे कहते हैं, 'जो कोई भी पूर्व-निर्धारण के सिद्धांत को नापसंद या गुमराह करने की स्थिति में लाने का प्रयास करता है, वह खुलेआम परमेश्वर की बुराई करता है; मानों अनजाने में उसके मुंह से कुछ ऐसी बात फिसल गई है जो कलीसिया के लिए हानिकारक है।'[23] हालाँकि, इस सिद्धांत को विशेष विवेक और समझदारी के साथ, मानवीय अटकलों से बचते हुए, और पवित्रशास्त्र में स्पष्ट रूप से प्रकट बातों का पालन करते हुए, उपयोग किया जाना चाहिए। जब विवेकपूर्ण रीति से चर्चा की जाती है, तो यह न तो अनैतिकता और न ही निराशा की ओर ले जाएगी; परन्तु मसीही लोगों के ज्ञान, विश्वास में दृढ़ता और सांत्वना के लिए उत्कृष्ट रूप से सहायक होगी।

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने मन-फिराव से पहले अपने चुने जाने को नहीं जान सकता। इसलिए, परमेश्वर के गुप्त

[23] Calvin's *Institutes*, book iii, ch. 21. sec. 4.

उद्देश्य में झाँकने के स्थान पर, उसे परमेश्वर की प्रकट इच्छा पर ध्यान देना चाहिए, ताकि वह अपने बुलाए जाने को सुनिश्चित करने के द्वारा, अपने चुने जाने को सुनिश्चित कर सके। जिस क्रम और तरीके से इस ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है, उसे प्रेरित पतरस ने बताया है, जब वह मसीही लोगों को प्रोत्साहित करता है कि 'अपने बुलाए जाने, और चुने जाने को सिद्ध करने का भली भाँति यत्न करते जाओ' (2 पतरस 1:10)। उनका अनन्त चुनाव तब तक एक गूढ़ रहस्य बना रहना चाहिए जब तक कि समय आने पर उनके प्रभावशाली बुलाहट द्वारा उन्हें इसका पता न चल जाए; लेकिन जब वे अपनी बुलाहट को निश्चित कर लेते हैं, तब वे निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वे अनन्त काल से चुने गए थे। तो फिर, चुनाव किसी भी व्यक्ति को सुसमाचार की बुलाहट का पालन करने और उसके प्रस्ताव को स्वीकार करने से हतोत्साहित नहीं करता है। सुसमाचार के निमंत्रण मनुष्यों को *चुने हुओं* के समान नहीं, परन्तु नाश होने की कगार पर खड़े पापियों के रूप में सम्बोधित करता है। सभी लोग इन निमंत्रणों को स्वीकार करने के समान दायित्व के तले हैं, और ख्रीष्ट से प्रोत्साहन सभी लोगों के लिए एक समान है – 'जो कोई मेरे पास आएगा उसे मैं कभी न निकालूँगा।' और चुनाव के सिद्धांत का प्रभाव उन सभी लोगों पर पवित्रता और सांत्वना वाला होना चाहिए, जो विश्वासयोग्यता से सुसमाचार का पालन करते हैं। उनमें परमेश्वर के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता की भावना को प्रेरित करने के लिए; अनन्त सम्प्रभुत्व वाले प्रभु के समक्ष उनके मनों को पूर्ण रूप से नम्र बनाने के लिए; उन्हें कर्तव्य निर्वहन में तत्परता हेतु उत्साहित करने के लिए; जीवन की परीक्षाओं और परीक्षणों के समय उन्हें दृढ़ सांत्वना प्रदान करने के लिए; और उन्हें अनन्त महिमा की जीवंत आशा के साथ प्रेरित करने के लिए इस सिद्धांत को बनाया गया है।

अध्याय 4
सृष्टि की रचना

भाग 1

परमेश्वर पिता, पुत्र, और पवित्र आत्मा (इब्रानियों 1:2; यूहन्ना 1:2 – 3; उत्पत्ति 1:2; अय्यूब 26:13; 33:4) को यह प्रसन्नता हुई, कि अपने सनातन सामर्थ्य, बुद्धि, और भलाई की महिमा के प्रकटीकरण के लिए (रोमियों 1:20; यिर्मयाह 10:12; भजन संहिता 104:24; 33:5 – 6), आदि में, ब्रह्माण्ड और उसमें की सभी वस्तुओं को, कुछ भी नहीं से, चाहे वे सदृश्य हों या अदृश्य, छः दिन के अन्तराल में, और सभी वस्तुओं को बहुत अच्छा बनाया जाए या उनकी सृष्टि की जाए (सम्पूर्ण उत्पत्ति 1; इब्रानियों 11:3; कुलुस्सियों 1:16; प्रेरितों के काम 17:24)।

व्याख्या

'सृष्टि' शब्द से, हमारा अर्थ सभी वस्तुओं के उत्पादन और रचे जाने से है। मैंने दो शब्दों का प्रयोग किया, क्योंकि सृष्टि का कार्य दो तरीकों में हैं – प्राथमिक और द्वितीयक, या बिना किसी माध्यम के और माध्यम के द्वारा। पहले वाले का अर्थ है, कुछ भी नहीं से किसी वस्तु का रचा जाना; दूसरे वाले से अर्थ है, पूर्व-अस्तित्व वाले पदार्थ से वस्तुओं की रचना, परन्तु पदार्थ स्वाभाविक रूप से ऐसी रचनाओं के लिए असमर्थ है, और जिसे किसी भी द्वितीय कारणों की शक्ति द्वारा कभी भी ऐसे रूप में नहीं लाया जा सकता है। यह भाग हमें सिखाता है:

1. कि ब्रह्माण्ड या जगत का एक *आरम्भ* था। यह कहा जा सकता है, कि अब इसे सबसे स्पष्ट सत्यों में से एक माना जाएगा, परन्तु यह ऐसी बात

है जिसकी पुष्टि परमेश्वर के प्रकाशन द्वारा आवश्यक है। प्राचीन मूर्तिपूजक दार्शनिकों द्वारा सामान्य तौर पर यह माना जाता था कि जगत अनंतकाल से अस्तित्व में है। उनमें से कुछ का मानना था, कि न केवल वह पदार्थ जिससे जगत बना है, वह अनंतकाल से अस्तित्व में है, बल्कि जगत उस सुंदर रूप में विद्यमान रहा है, जिसमें हम उसे आज देखते हैं। अन्य लोगों ने स्वीकार किया कि अपने वर्तमान स्वरूप के सम्बन्ध में आकाश और पृथ्वी का एक आरम्भ है, लेकिन जिस पदार्थ से उनकी रचना हुई है उसकी अनन्तता को उन्होंने बनाए रखा है। कि जगत की एक उत्पत्ति थी, यह पवित्रशास्त्र का एक अपरिवर्तनशील सिद्धांत है (उत्पत्ति 1:1; भजन 90:2)। यह इन वाक्यांशों में निहित है, 'जगत की उत्पत्ति से पहले' (इफिसियों 1:4; 2 तीमुथियुस 1:9)।

सामान्य तौर पर स्वीकृत समयकाल के अनुसार, मूसा वाली सृष्टि ख्रीष्ट के जन्म से 4004 वर्ष पूर्व हुई थी। यदि, वास्तव में, मिस्रियों, हिंदुओं और चीन के वृत्तांतों को सच माना जाए, तो हमें यह मानना होगा कि ब्रह्मांड, अपने वर्तमान स्वरूप में, कई लाखों वर्षों से अस्तित्व में है। लेकिन इन वृत्तांतों को संतोषजनक रूप से झूठा प्रमाणित किया गया है। और इस प्रबल धारणा के साथ कि संसार को अस्तित्व में आए अभी 6000 वर्ष भी नहीं हुए हैं, प्रायः यह कहा जाता रहा है कि कलाओं का आविष्कार और आरम्भिक साम्राज्यों का निर्माण कोई बहुत प्राचीन नहीं है, बल्कि उनकी उत्पत्ति का पता लगाया जा सकता है।

2. कि सृष्टि परमेश्वर की रचना है। अन्य देवी-देवताओं को अलग करके, प्रायः परमेश्वर इस कार्य को अपने ईश्वरत्व की विशिष्ट महिमाओं में से एक होने का दावा करते हैं। हालाँकि, सृष्टि के कार्य में त्रिएक परमेश्वर के तीनों व्यक्तियों की समान भूमिका है। इसका श्रेय पिता को (1 कुरिन्थियों 8:6); पुत्र को (यूहन्ना 1:3); पवित्र आत्मा को (उत्पत्ति 1:2; अय्यूब 26:13) को दिया जाता है। ये तीनों व्यक्ति एक परमेश्वर हैं। इसलिए,

हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि सृष्टि की रचना में पिता प्रमुख अभिकर्ता है, और पुत्र एवं पवित्र आत्मा निम्न स्तर के अभिकर्ता हैं, या मात्र साधन हैं। परमेश्वरत्व के सभी बाहरी कार्यों में, परमेश्वरत्व के प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से सहमत व सम्मिलित हैं।

3. कि सृष्टि का कार्य 'जगत और जो कुछ उसमें है, चाहे वे सदृश्य हों या अदृश्य' सब कुछ में हुआ है। इस बात को पवित्रशास्त्र के कई अंशों में स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है: 'परमेश्वर जिसने जगत और उसमें की सब वस्तुओं को बनाया' (प्रेरितों के काम 17:24)। 'क्योंकि उसी में सब वस्तुओं की सृष्टि हुई, स्वर्ग की अथवा पृथ्वी की, दृश्य अथवा अदृश्य' (कुलुस्सियों 1:16)। इसमें स्वर्गदूत भी सम्मिलित हैं। हमारे पास ऐसा विचार करने का कोई कारण नहीं है कि उनकी रचना मूसा वाली सृष्टि की अवधि से पहले हुई थी; और आमतौर पर यह माना जाता है कि उनकी रचना पहले दिन हुई थी।

4. कि संसार, और उसमें की सभी वस्तुएँ, 'छः दिन के अन्तराल में' सृजी गई थीं। यह भी, पवित्रशास्त्र की स्पष्ट भाषा है 'क्योंकि यहोवा ने छः दिन में आकाश और पृथ्वी, समुद्र और जो कुछ उनमें है, सब को बनाया' (निर्गमन 20:11)। छह दिनों की अवधि, जिसे आमतौर पर मूसा वाली सृष्टि के नाम से जाना जाता है, उसकी तुलना में भूवैज्ञानिकों की आधुनिक खोजों ने उन्हें उन पदार्थों की बहुत पहले की उत्पत्ति बताने के लिए प्रेरित किया है, जिनसे हमारी पृथ्वी का निर्माण हुआ है। और भूवैज्ञानिकों एवं मूसा वाले अभिलेखों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए विभिन्न परिकल्पनाओं को अपनाया गया है। कुछ लोगों का मानना है कि पृथ्वी के पदार्थों में जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे या तो मूसा वाली सृष्टि के छह दिनों के दौरान हुए, या उसके बाद हुए हैं; लेकिन यह तर्क दिया जाता है कि जो तथ्य भूविज्ञान द्वारा स्थापित किया जाता है वह इस दृष्टिकोण को पूर्ण रूप से आधारहीन प्रमाणित करता है। कुछ अन्य लोगों का मानना है कि सृष्टि

का एक दिन, चौबीस घंटों वाला कोई स्वाभाविक दिन नहीं था, बल्कि अनिश्चित समय की एक अवधि थी। इस पर आपत्ति की गई है कि पवित्र इतिहासकार, मानों व्याख्या की इस प्रकार की स्वतंत्रता से बचने के लिए, सभी दिनों के विषय में सुस्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि उनमें से प्रत्येक दिन की अपनी 'सांझ और सुबह' थी – इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि, वह स्पष्ट रूप से किसी भी ऐसी व्याख्या को जो प्राकृतिक दिन का संकेत नहीं देती है, व्याख्या की सीमा से बाहर करता है। अन्य लोग मानते हैं कि हमारी पृथ्वी के पदार्थ मनुष्य की सृष्टि से पहले अनिश्चित काल तक अस्तित्व में थे, और वे रचनात्मक शक्तियों के सक्रिय संचालन के अधीन थे; और कि प्रेरणा प्राप्त वचन, हालाँकि हमें पृथ्वी के पूर्व-अस्तित्व वाली अवस्था के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं देता है, फिर भी यदि किसी अन्य स्रोत से मानव अनुसंधान द्वारा इसको पता लगाया जाए तो यह इस मान्यता में पर्याप्त स्थान छोड़ता है कि पृथ्वी पहले से अस्तित्व में थी। उनकी सोच में, उत्पत्ति के पहले अध्याय का पहला पद, मात्र यह दावा करता है कि जिस पदार्थ से ब्रह्माण्ड बना है उसे सर्वशक्तिमान की शक्ति द्वारा कुछ नहीं में से उत्पन्न किया गया था, लेकिन समय को पूरी रीति से अनिश्चित छोड़ दिया गया है। इस अध्याय के आगे के पद उस क्रमिक प्रक्रिया का विवरण देते हैं जिसके द्वारा अनन्त परमेश्वर ने, छह दिनों के अंतराल में पूर्व-अस्तित्व वाले पदार्थ को उसके वर्तमान स्वरूप में परिवर्तित कर दिया, और अब अस्तित्व में पौधों और पशुओं को अस्तित्व प्रदान किया। यह व्याख्या, जो विद्यमान प्रजातियों के निर्माण से पहले भूवैज्ञानिक घटनाओं के एक लम्बे क्रम के लिए स्थान छोड़ता है, अब भूवैज्ञानिक खोजों के साथ सृष्टि के मूसा वाले वर्णन के साथ सामन्जस्य स्थापित करने का सामान्य रूप से स्वीकार्य तरीका प्रतीत होता है।[24]

[24] The geological opinions of M. Agassiz are consistent with this explanation. See also R. S. Candlish on Genesis 1:20, and Dr Duncan's of Ruthwell, *Geological Lecture to Young Men*. Glasgow, 1842.

5. कि सभी वस्तुओं को *बहुत अच्छा* बनाया गया था। सब कुछ अच्छा था; क्योंकि वह उस आदर्श के अनुरूप था जिसे महान वास्तुकार ने अनादि काल से अपने अनन्त मन में गढ़ा था; यह अपनी रचना के उद्देश्य के एकदम अनुरूप था, और जिस उद्देश्य के लिए इसे बनाया गया था, उसके यह अनुकूल था।

6. कि परमेश्वर ने सब वस्तुएँ *अपनी महिमा* के प्रकटीकरण के लिए रची हैं। 'प्रभु ने सब कुछ अपने लिए बनाया है,' अपनी अनन्त सिद्धता के प्रकटीकरण के लिए; और उसके सभी कार्य उसकी सर्व-सामर्थ शक्ति, उसकी असीम भलाई और उसकी अथाह बुद्धि की घोषणा करते हैं। भौतिक ब्रह्माण्ड के हर एक कण में उसकी महिमा चमकती है; किन्तु यह व्यर्थ ही चमकता, यदि कोई ऐसा प्राणी न होता जो बुद्धि की दृष्टि से इसका चिंतन करता, और सर्वशक्तिमान सृष्टिकर्ता की स्तुति को मनाता। अतः मनुष्य को उस निवास में लाया गया जिसे उसके लिए तैयार किया गया था, और उसके सृष्टि के सृजन के विषय में अगले भाग में विवरण दिया गया है।

भाग 2

परमेश्वर ने अन्य सभी प्राणियों को बनाने के पश्चात्, मनुष्य की, नर और नारी करके (उत्पत्ति 1:27), बुद्धिमत्तापूर्ण एवं अनश्वर प्राण के साथ (उत्पत्ति 2:7 के साथ सभोपदेशक 12:7 और मत्ती 10:28 और लूका 23:43), स्वयं अपने स्वरूप के अनुसार, ज्ञान, धार्मिकता, एवं सच्ची पवित्रता के साथ सम्पन्न-युक्त करके (उत्पत्ति 1:26; इफिसियों 4:24; कुलुस्सियों 3:10), उनके हृदयों में परमेश्वर की व्यवस्था को लिख कर (रोमियों 2:14 – 15), और उसका पालन करने की शक्ति के साथ (सभोपदेशक 7:29); और फिर भी उनकी अपनी इच्छा की स्वतंत्रता पर छोड़ दिए जाने पर, जो कि परिवर्तन के अधीन थी, उसका उल्लंघन

करने की सम्भावना के साथ सृष्टि की (उत्पत्ति 3:6; सभोपदेशक 7:29)। उनके हृदयों पर लिखी इस व्यवस्था के अतिरिक्त, उन्होंने भले और बुरे के ज्ञान के वृक्ष का फल न खाने की आज्ञा को प्राप्त किया (उत्पत्ति 2:17; 3:8 – 11, 23); जिसका पालन जब तक उन्होंने किया, वे परमेश्वर के साथ संगति में आनन्दित थे, और प्राणियों के ऊपर अधिकार रखते थे (उत्पत्ति 1:26, 28)।

व्याख्या

परमेश्वर ने मनुष्य को अन्य सभी प्राणियों की रचना के बाद बनाया था; और यह उसके चरित्र की गरिमा और उसके सृष्टिकर्ता की असीम उदारता को स्पष्ट रूप से दिखाता है। मनुष्य को अस्तित्व में लाने से पहले, पृथ्वी, जिसे उसके अस्थायी निवास के लिए रचा गया था, उसके स्वागत के लिए पूर्ण रूप से तैयार एवं सुसज्जित थी। परमेश्वर ने मनुष्य को नर और नारी करके – एक पुरुष और एक स्त्री करके, भूमि की मिट्टी से, और स्त्री को पुरुष की पसली से रचा। ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वर ने बाकी जन्तुओं में कई जोड़े बनाए, परन्तु पुरुष से उसने केवल एक ही बनाया; और इसी बात के कारण यीशु ख्रीष्ट तलाक के विरुद्ध एक तर्क प्रस्तुत करते हैं (मलाकी 2:15; मत्ती 19:4, 5)। मनुष्य एक मिश्रित अस्तित्व है, जो दो महान भागों, आत्मा और शरीर से बना है। यद्यपि उसका शरीर, निम्न पदार्थों से बना है, फिर भी वह उत्कृष्ट कारीगरी का एक नमूना है; परन्तु उसका आत्मा उसकी प्रकृति का एक उत्कृष्ट अंग है। अपनी आत्मा के द्वारा वह परमेश्वर और स्वर्गदूतों से जुड़ा हुआ है; अपने शरीर के द्वारा, वह पशुओं से जुड़ा है, जो उसके पैरों तले की धूल में नष्ट हो जाते है।

मनुष्य की रचना मूल रूप से परमेश्वर के *स्वरूप* में हुई थी। इसमें परमेश्वरीय सत्व में साझेदारी सम्मिलित नहीं हो सकती; क्योंकि यह किसी भी प्राणी के लिए असंचरणीय है। न तो यह मनुष्य के बाहरी स्वरूप में

निहित है; क्योंकि परमेश्वर, जिसका कोई शारीरिक अंग नहीं है, उसे किसी भी सांसारिक समानता के द्वारा दर्शाया नहीं जा सकता। परमेश्वर का स्वरूप आंशिक रूप से मनुष्य की आत्मा की आध्यात्मिकता में निहित है। परमेश्वर आत्मा है – एक अभौतिक और अमर व्यक्ति। मनुष्य की आत्मा भी एक आत्मा है, हालाँकि आत्माओं के पिता से असीमित रूप से निचले स्तर की है। इस प्रकार अभौतिकता और अमरता में मनुष्य की आत्मा परमेश्वर के समान है। मनुष्य में परमेश्वर का स्वरूप प्राणियों पर उसे सौंपे गए प्रभुत्व में भी निहित था, जिसके परिणामस्वरूप वह पृथ्वी पर परमेश्वर का प्रतिनिधि और उपशासक था। केवल परमेश्वर ही धन्य और एकमात्र महाराजा है, और उसने मनुष्य को उससे निचले स्तर के जीवों के ऊपर प्रत्यायोजित सम्प्रभुता प्रदान की। उसे इस निचले लोक का शासक नियुक्त किया गया था, और सभी जीव उसके प्रति सम्मान से प्रेरित थे, और उसके प्रशासन के अधीन थे।

लेकिन मनुष्य में परमेश्वर का स्वरूप मुख्य रूप से परमेश्वर की नैतिक सिद्धताओं के अनुसार उसकी अनुरूपता, या उसके स्वभाव की पूर्ण शुद्धता में निहित है। नए नियम के दो पदों से ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वर का स्वरूप, जिसके अनुसार मनुष्य को सबसे पहले रचा गया था, और जिसमें पवित्र आत्मा के द्वारा उसे पुनः बहाल किया जाता है, वह ज्ञान, धार्मिकता, और पवित्रता में निहित है (इफिसियों 4:25; कुलुस्सियों 3:10)। मनुष्य के पास उसकी समझ में ज्ञान था, उसकी इच्छा में धार्मिकता और उसके भावों में पवित्रता थी। उसकी समझ सभी आवश्यक ज्ञान से प्रकाशित थी। वह परमेश्वर और उसकी इच्छा को जानता था; वह स्वयं को, परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्धों को, उसके प्रति अपने कर्तव्य को, और उस पर अपनी निर्भरता को जानता था।

कि उसके पास प्राकृतिक वस्तुओं के विषय में भी व्यापक एवं सटीक ज्ञान था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जब निचली

श्रेणी के जीव उसके सामने समीक्षा के लिए लाए गए, तो उसने उन्हें उनका विशिष्ट नाम दिया। उसकी इच्छा परमेश्वर की इच्छा के प्रति अनुरूप थी। चूंकि वह अपना कर्तव्य जानता था, इसलिए वह उसे निभाने के लिए पूर्ण रूप से तत्पर था। और उसके भाव पवित्र और शुद्ध थे; वे उचित वस्तुओं पर केंद्रित थे, और नियमित रूप से क्रियान्वित किए जाते थे। उस समय नैतिक व्यवस्था को पत्थर की पट्टियों पर लिखने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यह मनुष्य के हृदय पर स्पष्ट और सुपाठ्य अक्षरों में अंकित थी; उसके पास इसका पालन करने की पर्याप्त क्षमता भी थी; लेकिन उसकी इच्छा पूर्ण रूप से स्वतंत्र थी कि वह अपने मूल प्रकाश एवं पवित्र प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करे, या बुराई की ओर मुड़ जाए।

हमारे प्रथम माता-पिता के हृदयों पर लिखे प्राकृतिक व्यवस्था के अतिरिक्त, उन्हें भले और बुरे के ज्ञान के वृक्ष के फल को न खाने की आज्ञा मिली थी। यह निषेध, साथ में इसके साथ जुड़ा दण्ड, अगले अध्याय में हमारे अध्ययन में आएगा; लेकिन इस समय हम केवल यह टिप्पणी करना चाहते हैं कि जब हमारे प्रथम माता-पिता ने मूल सत्यनिष्ठा को बनाए रखा, और परमेश्वर द्वारा उन पर लागू सकारात्मक आज्ञा का पालन किया, तो वे परम सुखी व प्रसन्न थे। वह वाटिका जहाँ पर उन्हें रखा गया था, उसने उन्हें हर प्रकार की बाहरी सुख-सुविधाएं प्रदान की; उन्हें आसान एवं आनन्दमय कामों को करने के लिए कहा गया था; उन्हें थोड़े से भी आलस्य और पीड़ा से मुक्त रखा गया था; उन्हें कोई अपराधबोध नहीं था; उन्हें कोई शर्मिंदगी नहीं थी; उन्हें किसी बात का डर नहीं था; और कोई भी क्रोधी भावना उनकी आत्मा को विचलित नहीं करती थी। परन्तु उनका आनन्द मुख्य रूप से परमेश्वर के अनुग्रह में, और उसके साथ उस घनिष्ठ सहभागिता में निहित था, जिसमें उन्हें प्रवेश मिला था। जब मनुष्य अपने रचयिता के हाथ से आया था, तब वह कितना विलक्षण प्राणी था! लेकिन

अब वह कितना दुखद रूप से बदल गया है! 'परमेश्वर ने मनुष्य को धर्मी बनाया था; परन्तु उन्होंने कई बुराइयाँ खोज ली हैं।'

अध्याय 5
परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन (Providence)

भाग 1

परमेश्वर, जो सभी वस्तुओं का महान सृष्टिकर्ता है, सबसे बड़े से लेकर सबसे छोटे तक (मत्ती 10:29 – 31), सभी प्राणियों, कार्यों और वस्तुओं को (दानिय्येल 4:34 – 35; भजन संहिता 135:6; प्रेरितों के काम 17:25 – 26, 28; अय्यूब 38 – 41 सभी अध्याय), अपने सबसे बुद्धिमान एवं पवित्र दिव्य प्रबन्धन के द्वारा (नीतिवचन 15:3; भजन संहिता 104:24; 145:17), अपने अचूक पूर्व-ज्ञान (प्रेरितों के काम 15:18; भजन संहिता 94:8 – 11), और अपने स्वयं की इच्छा के स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनीय मत के अनुसार (इफिसियों 1:11; भजन संहिता 33:10 – 11), अपनी बुद्धि, सामर्थ्य, न्याय, भलाई एवं करुणा की महिमा के लिए (यशायाह 63:14; इफिसियों 3:10; रोमियों 9:17; उत्पत्ति 45:7; भजन संहिता 145:7) बनाए रखता है (इब्रानियों 1:3), निर्देशित करता है, व्यवस्थित करता है, और शासित करता है।

व्याख्या

भाग्यवादियों और अन्य लोगों के विरोध में, जो मानते हैं कि, ब्रह्माण्ड के मूल बनावट में, परमेश्वर ने भौतिक सृष्टि को भौतिक, और बुद्धिजीवी सृष्टि को नैतिक नियम दिए, जिनके द्वारा उनको उसके निरन्तर जारी रहने वाले प्रभाव के बिना बनाये रखा एवं शासित किया जाता है; यह भाग सिखाता है कि एक दिव्य प्रबन्धन है, जिसके द्वारा परमेश्वर, जो कि सभी वस्तुओं का महान सृष्टिकर्ता है, उन सभी वस्तुओं को बनाए रखता एवं उन पर

शासन करता है; और उसका यह दिव्य प्रबन्धन सभी प्राणियों, कार्यों एवं वस्तुओं पर, सबसे बड़ी घटना से लेकर सबसे छोटी तक फैला हुआ है।

1. परमेश्वर के स्वभाव एवं सिद्धताओं से; प्राणियों की आश्रित प्रकृति से; ब्रह्माण्ड के सभी भागों में दृश्यमान निरन्तर जारी व्यवस्था एवं सामंजस्य से; दुष्टों पर दिए गए उल्लेखनीय न्याय-दण्डों से, और कलीसिया एवं परमेश्वर के लोगों को दिए गए विशिष्ट छुटकारों से; भविष्य की घटनाओं की भविष्यवाणी और उनके सटीक रूप से पूर्ण होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दिव्य प्रबन्धन कार्यरत है। बाइबल में, परमेश्वर के दिव्य प्रबन्धन का सर्वत्र दावा किया गया है। 'उसका राज्य सारी सृष्टि पर है,' और वह 'अपनी इच्छा के मत के अनुसार सब कुछ करता है' (भजन 103:19; इफिसियों 1:11) ।

दिव्य प्रबन्धन की अवधारणा में दो बातें सम्मिलित हैं – सभी वस्तुओं का संरक्षण और उन पर शासन। परमेश्वर सभी वस्तुओं को अस्तित्व में बनाए रखकर उनका संरक्षण करता है। पवित्रशास्त्र स्पष्टता से दावा करता है कि 'वह सब वस्तुओं को अपनी सामर्थ्य के वचन से सम्भालता है,' और कि 'सब वस्तुएँ उसी में स्थिर हैं' (इब्रानियों 1:3; कुलुस्सियों 1:17)। वह विभिन्न प्रजातियों के प्राणियों का संरक्षण करता है, और विभिन्न प्राणियों को उनके व्यक्तिगत अस्तित्व में बनाए रखता है; इसीलिए उसे 'मनुष्य और पशु का रक्षक' कहा जाता है (अय्यूब 7:20; भजन 36:6)। परमेश्वर सभी वस्तुओं को उस उद्देश्य के लिए निर्देशित एवं व्यवस्थित करने के द्वारा उन पर शासन करता है, जिसके लिए उसने उन्हें रचा है। 'हमारा परमेश्वर तो स्वर्ग में है उसने जो चाहा वही किया है' (भजन 115:3)। 'वह स्वर्ग की सेना और पृथ्वी के रहनेवालों के बीच अपनी ही इच्छा के अनुसार काम करता है: और कोई उसको रोककर उस से नहीं कह सकता, तू ने यह क्या किया है?' (दानिय्येल 4:35)। परमेश्वर के प्रशासन या सरकार को दोहरे दृष्टिकोण से देखा जा सकता है – प्राकृतिक और नैतिक। उसके प्रशासन का यह दोहरा दृष्टिकोण उन दो सामान्य प्रकार के प्राणियों से उत्पन्न होता

है जो इसके विषय हैं। अविवेकी और निर्जीव प्राणी उसके *प्राकृतिक* प्रशासन की प्रजा हैं। सृष्टि का विवेकशील भाग, या वे प्राणी जो नैतिक नियमों के योग्य प्रजा है, जैसे स्वर्गदूत और मनुष्य, उसके *नैतिक* प्रशासन की प्रजा हैं।

2. परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन सभी प्राणियों, कार्यों एवं वस्तुओं पर, सबसे बड़ी घटना से लेकर सबसे छोटी तक फैला हुआ है। डॉ. डिक कहते हैं, 'कुछ लोग केवल सामान्य प्रबन्धन की बात करते हैं, जिसमें कुछ सामान्य नियमों को बनाए रखना सम्मिलित है, और विशिष्ट प्रबन्धन के विचार का विरोध करते हैं, जो व्यक्तियों और उनकी बातों से सम्बन्धित होता है। यह विचित्र बात है कि बाद वाला मत किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा अपनाया जाना चाहिए जो पवित्रशास्त्र के अधिकार के समक्ष झुकने का दावा करता है – जो घोषणा करती है कि हमारे स्वर्गीय पिता के ज्ञान के बिना एक गौरैया भी भूमि पर नहीं गिरती है, और कि हमारे सिर के सभी बाल गिने हुए हैं – या किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा जिसने शांत रहकर बुद्धि की बात सुनी हो। यदि परमेश्वर ने अपने बुद्धिमान प्राणियों के सम्बन्ध में, या उनके माध्यम से, कुछ निश्चित योजनाएँ पूरी करने की सोची है, तो मैं यह जानना चाहूँगा कि उनकी परिस्थितियों, उनकी गतिविधियों, और उनके जीवन की सभी घटनाओं पर विशेष ध्यान दिए बगैर उसका उद्देश्य कैसे पूरा हो सकता है?...किसी पूरे प्राणी के देखभाल उसके भागों की देखभाल के बगैर कैसे की जा सकती है; या किसी प्रजाति को कैसे संरक्षित किया जा सकता है यदि उसके एक-एक प्राणी को उपेक्षा की जाए?'

परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन *अचेतन* सृष्टि के ऊपर भी कार्य करता है। वह जिसने प्रकृति के नियमों को निर्धारित किया है, अपनी इच्छानुसार उनके कार्यान्वयन को बनाए रखता है या स्थगित करता है; वे उसके निरन्तर जारी रहने वाले प्रभाव पर निर्भर हैं, और उसके नियंत्रण के अधीन हैं; और इसके विपरीत दावा करना प्रकृति के नियमों को वह स्वतंत्रता सौंपना होगा जो केवल परमेश्वर का है (भजन 119:91; 104:14; अय्यूब

38:31 – 38)। इसी प्रकार परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन का कार्य *समस्त* प्राणी जगत पर भी है। 'वन के सारे जीव-जन्तु और हज़ारों पहाड़ों के जानवर मेरे ही हैं' (भजन 50:10)। वे उसके जीव हैं, और उसके प्रबन्धन के अधीन हैं (भजन 104:27, 28)। *स्वर्गदूत* भी, परमेश्वर के दिव्य प्रबन्धन के कार्य के अधीन हैं। भले स्वर्गदूत उसकी इच्छा का पालन करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं, और पृथ्वी पर पवित्र लोगों की सेवा के लिए, कई विभिन्न तरीकों से, उसके द्वारा नियुक्त किए जाते हैं (इब्रानियों 1:14)। दुष्ट स्वर्गदूत उसके नियंत्रण में हैं, और उसकी अनुमति के बिना कोई भी बुरा कार्य नहीं कर सकते (अय्यूब 1:12)। परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन वाला कार्य सभी मानवीय कार्यों पर भी है; राष्ट्रों का कामकाज उसके मार्गदर्शन और नियंत्रण तले हैं। 'वह जातियों को बढ़ाता, और उनको नष्ट करता है वह उनको फैलाता, और बँधुआई में ले जाता है। वह हाकिमों को अपमान से लादता, और बलवानों के हाथ ढीले कर देता है' (अय्यूब 12:23, 21)। यह बात बेबीलोन के दीन किए गए राजा को दर्दनाक अनुभव से सिखाई गई थी, और उसे यह स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया था 'कि मनुष्यों के राज्य में परमप्रधान ही प्रभुता करता है, और जिसे चाहे वह उसे दे देता है' (दानिय्येल 4:25)। परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन परिवारों के कार्यों में पहचाना जाना चाहिए। 'परमेश्वर अनाथों का घर बसाता है', 'वह दरिद्रों को दुःख से छुड़ाकर ऊँचे पर रखता है, और उनको भेड़ों के झुण्ड सा परिवार देता है; फिर अन्धेर, विपत्ति और शोक के कारण, वे घटते और दब जाते हैं' (भजन 68:6; 107:41, 39)। इसी रीति से, परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन प्रत्येक व्यक्ति, और उनकी छोटी से छोटी बातों पर भी कार्यरत है। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म, उसकी आयु के दिन, और उसके जीवन की सभी घटनाएँ परमेश्वर के अत्यंत बुद्धिमान एवं पवित्र प्रबन्धन के द्वारा नियंत्रित एवं संचालित होते हैं (प्रेरितों के काम 17:28; अय्यूब 14:5)।

चूंकि पवित्रशास्त्र एवं तर्क दोनों विशिष्ट दिव्य प्रबन्धन के सिद्धांत से सहमत हैं, इसलिए इसके स्पष्ट अभिप्राय के कारण यह मानवजाति की धर्मनिष्ठा एवं सांत्वना को बढ़ावा देने के लिए अनुशंसित है। शायद एक ऐसे ईश्वर के प्रति, जो संसार को केवल सामान्य नियमों द्वारा शासित करता हो, हम श्रद्धा-भाव से उसका आदर करते, लेकिन विश्वास, कृतज्ञता और आशा के साथ ऐसा नहीं करते, जो कि इस विश्वास से उत्पन्न होता है कि वह संसार की छोटी से छोटी बात पर भी शासन करता है। यह विचार कि वह 'हमारे चलने और लेटने की भली-भाँति छानबीन करता है और हमारे पूरे चालचलन का भेद जानता है'; कि वह हमारे मार्ग पर दृष्टि रखता है, और हमारे भविष्य में होने वाली सभी घटनाओं को प्रशासित करता है; वह हमारा मार्गदर्शन करता है और हमारी रक्षा करता है, और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति, मानो अपने हाथों से करता है; यह विचार भक्ति श्रद्धा के लिए बहुत ही अनुकूल भावनाओं एवं संवेदनाओं की श्रृंखला को जागृत करता है और जीवन के मार्ग में उत्साहवर्धक प्रकाश चमकाता है। हम उसे अपने संरक्षक एवं अपने पिता के रूप में मानते हैं; और, उसकी देखभाल पर भरोसा करते हुए, हम आश्वस्त होते हैं कि, यदि हम उस पर भरोसा रखें, तो कोई भी दुष्टता हमारे ऊपर नहीं आएगी, और सभी वास्तविक आशीष हमें दी जाएंगी।[25]

भाग 2

यद्यपि प्रथम कारण, परमेश्वर के पूर्व-ज्ञान और विधान के सम्बन्ध में, सभी बातें अपरिवर्तनीय एवं अचूक रीति से घटित होती हैं (प्रेरितों के काम 2:23), फिर भी उसी दिव्य प्रबन्धन के द्वारा वह उन्हें दूसरे कारणों की प्रकृति के अनुसार, या तो आवश्यक रूप से, स्वतंत्र रूप से या

[25] Dick's *Lectures on Theology*, vol. 2, p. 302.

आकस्मिक रूप से घटित होने का आदेश देता है (उत्पत्ति 8:22; यिर्मयाह 31:35; निर्गमन 21:13; व्यवस्थाविवरण 19:5; 1 राजा 22:28, 34; यशायाह 10:6 – 7)।

व्याख्या

यद्यपि जगत की उत्पत्ति के आरम्भ से ही परमेश्वर को सभी बातें ज्ञात थीं, और सभी बातें उसकी इच्छा के अपरिवर्तनीय मत के अनुसार घटित होती हैं, इसलिए इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वर के पूर्वज्ञान एवं विधान के सम्बन्ध में, सभी बातें अचूक रूप से घटित होती हैं। परन्तु, अपने दिव्य प्रबन्धन के द्वारा, वह द्वितीय कारणों की प्रकृति के अनुसार उनके घटित होने की व्यवस्था करता है। भौतिक जगत का प्रत्येक भाग, हर एक गति और क्रिया के सम्बन्ध में, साथ ही निरन्तर अस्तित्व के सम्बन्ध में, परमेश्वर की इच्छा और सामर्थ्य पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर है; लेकिन वह भौतिक जगत को कुछ भौतिक नियमों द्वारा शासित करता है – जिन्हें सामान्यतः *प्रकृति के नियम* कहा जाता है, और पवित्रशास्त्र में *स्वर्ग के नियम* – और इन नियमों से सहमत, जहाँ तक द्वितीय कारणों का सम्बन्ध है कुछ प्रभाव समान रूप से और अनिवार्य रूप से कुछ कारणों का पालन करते हैं। परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन बौद्धिक प्राणियों की इच्छाओं और कार्यों के विषय में कार्यरत है; लेकिन उसके दिव्य प्रबन्धन का प्रभाव प्राणियों की तार्किक स्वतंत्रता को समाप्त नहीं करता है, क्योंकि वे किसी मजबूरी में नहीं हैं, बल्कि स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं; और बौद्धिक प्राणियों को जो भी स्वतंत्रता मिल सकती है, वह उनकी प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करने की है। यद्यपि परमेश्वर के सम्बन्ध में कोई भी घटना अनिश्चित नहीं है, 'जो अन्त की बात आदि से और प्राचीनकाल से उस बात को बताता आया हूँ जो अब तक नहीं हुई। मैं कहता हूँ, मेरी युक्ति स्थिर रहेगी और मैं अपनी इच्छा को पूरी करूँगा'; फिर भी कई घटनाएँ हमारे

सम्बन्ध में, और द्वितीय कारणों के सम्बन्ध में भी आकस्मिक या अप्रत्याशित हैं।

भाग 3

परमेश्वर अपने सामान्य दिव्य प्रबन्धन के अनुसार साधनों का उपयोग करता है (प्रेरितों के काम 27:31, 44; यशायाह 55:10 – 11; होशे 2:21 – 22), फिर भी वह अपनी इच्छानुसार, उनके बिना (होशे 1:7; मत्ती 4:4; अय्यूब 34:10), उनके ऊपर (रोमियों 4:19 – 21), और उनके विरुद्ध (2 राजा 6:6; दानिय्येल 3:27) कार्य करने के लिए स्वतंत्र है।

व्याख्या

परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन या तो स्वाभाविक है या चमत्कारी। अपने स्वाभाविक प्रबन्धन में, परमेश्वर अपनी बुद्धि द्वारा स्थापित सामान्य नियमों एवं साधनों के अनुसार कार्य करता है: इसलिए, हम उसके द्वारा नियुक्त साधनों का उपयोग करने के लिए बाध्य हैं, और यदि हम इनकी उपेक्षा करते हैं, तो हम लक्ष्य प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते। परन्तु यद्यपि परमेश्वर सामान्यतः स्थापित नियमों के अनुसार कार्य करता है, फिर भी वह अपनी इच्छानुसार इन नियमों को निलंबित या संशोधित कर सकता है। और जब उसकी तात्कालिक सामर्थ्य से, प्रकृति के सामान्य क्रम से परे या बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न होता है, तो हम उसे चमत्कार कहते हैं। चमत्कार की सम्भावना को नास्तिकों के अतिरिक्त कोई भी नकार नहीं सकता। यह मानना कि प्रकृति के नियम इतने निश्चित हैं कि उनसे किसी भी स्थिति में विचलन नहीं किया जा सकता है, परमेश्वर को जगत के प्रशासन से बाहर हटना होगा – अर्थात ब्रह्माण्ड को एक विशाल मशीन के रूप में प्रस्तुत करना, जिसकी गति कुछ नियमों द्वारा नियंत्रित होती है, जिसे कि महान सृष्टिकर्ता भी नियंत्रित नहीं कर सकता।

भाग 4

परमेश्वर की सर्वशक्तिमान सामर्थ्य, अथाह बुद्धि, और असीम भलाई उसके दिव्य प्रबन्धन में स्वयं को इतना अधिक प्रकट करते हैं कि यह मनुष्य के पहले पाप में गिरने, और स्वर्गदूतों एवं मनुष्यों के अन्य सभी पापों तक भी फैल जाती है (रोमियों 11:32 – 34; 2 शमूएल 24:1; 1 इतिहास 21:1; 1 राजा 22:22 – 23; 1 इतिहास 10:4, 13 – 14; 2 शमूएल 16:10; प्रेरितों के काम 2:23; 4:27 – 28;), और यह न केवल अनुमति के द्वारा (प्रेरितों के काम 14:16), परन्तु उसके साथ सबसे बुद्धिमान और शक्तिशाली बंधन के साथ जुड़ गई है (भजन संहिता 126:10; 2 राजा 19:28), और अन्यथा उन्हें अपने स्वयं के पवित्र उद्देश्यों के लिए, अनेक प्रकार से उसने व्यवस्थित एवं शासित किया है (उत्पत्ति 50:20; यशायाह 10:6 – 7, 12); परन्तु फिर भी, पापमयता केवल प्राणियों से ही निकलती है, न कि परमेश्वर से; जो, परम पवित्र और धर्मी होने के कारण, न तो पाप का रचयिता है और न ही अनुमोदक है, और न ही हो सकता है (याकूब 1:13 – 14, 17; 1 यूहन्ना 2:16; भजन संहिता 50:21)।

व्याख्या

इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए कि परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन प्राणियों के पापमय कार्यों के विषय में भी है। यूसुफ के भाइयों ने उसे मिद्यानियों के हाथों बेचकर बहुत ही दुष्ट और अस्वाभाविक कार्य किया; परन्तु यूसुफ ने अपने भाइयों को इस प्रकार सम्बोधित किया: 'अब तुम लोग मत पछताओ, और तुम ने जो मुझे यहाँ बेच डाला, इससे उदास मत हो: क्योंकि परमेश्वर ने तुम्हारे प्राणों को बचाने के लिए मुझे तुम्हारे आगे भेज दिया है' (उत्पत्ति 45:5)। मानव हाथों द्वारा किया गया अब तक का सबसे जघन्य अपराध महिमावान प्रभु को क्रूस पर चढ़ाना था; फिर भी इस

बात की स्पष्ट रूप से पुष्टि की गई है कि परमेश्वर ने उसे उन दुष्ट हाथों में सौंप दिया जो उसके लहू से सने हुए थे: 'उसी यीशु को, जो परमेश्वर की ठहराई हुई योजना और पूर्व ज्ञान के अनुसार पकड़वाया गया, तुम ने अधर्मियों के हाथ से क्रूस पर चढ़वाकर मार डाला' (प्रेरितों के काम 2:23)। साथ में, यह बात निर्विवाद है कि परमेश्वर न तो पाप का कर्ता है और ही अनुमोदक है। इस बिंदु से जुड़ी कठिनाई को हल करने के लिए, ईश्वर-विज्ञानी कार्य और उसके गुण के बीच अंतर करते हैं। अमूर्त रूप से विचार किया जाए, तो कार्य परमेश्वर की ओर से है, क्योंकि परमेश्वर के दिव्य प्रबन्धन की सहमति के बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता; परन्तु कार्य की पापमयता पूर्ण रूप से प्राणी से उत्पन्न होती है। प्राणियों के पापमय कार्य के विषय में, जहाँ तक परमेश्वर के दिव्य प्रबन्धन का प्रश्न है, तो यह सामान्य तौर पर कहा जाता है, कि परमेश्वर अपने पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनकी अनुमति देता है, कि वह उन्हें सीमित करता है तथा उन्हें खारिज करता है। परन्तु इस गूढ़ विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण, ताकि हर सैद्धांतिक कठिनाई से बचा जा सके, मानवीय क्षमताओं से परे है। हमें पूर्ण विश्वास है कि परमेश्वर का प्रभुत्व उसके प्राणियों के सभी कार्यों पर है; साथ ही हमें पूर्ण विश्वास है कि परमेश्वर पाप का कर्ता नहीं हो सकता; और हमें यहीं पर रुक जाना चाहिए।

भाग 5

सबसे बुद्धिमान, धर्मी, और अनुग्रहकारी परमेश्वर प्रायः अपने स्वयं के बच्चों को कुछ समय के लिए अनेक प्रकार की परीक्षाओं और उनके अपने हृदयों की भ्रष्टता के लिए छोड़ देता है, ताकि उनके पिछले पापों के लिए उनकी ताड़ना करे, या उनके हृदयों की भ्रष्टता और छल-कपट की छिपी हुई शक्ति को उनके सामने प्रकट करे, जिससे कि वे नम्र बन जाएं (2 इतिहास 32:25 – 26, 31; 2 शमूएल 24:1); और अपने ऊपर उनका सहारा बनाने के लिए अधिक निकट और निरन्तर निर्भरता की

ओर ले जाए, और उन्हें भविष्य में पाप के सभी अवसरों के विरुद्ध और विभिन्न प्रकार के धर्मी एवं पवित्र उद्देश्यों के लिए अधिक सतर्क बनाए (2 कुरिन्थियों 12:7 – 9; भजन संहिता 73; भजन 77:1 – 10, 12; मरकुस 14:66 – 72; यूहन्ना 21:15 – 17)।

भाग 6

जहाँ तक उन दुष्ट एवं अधर्मी लोगों की बात है जिन्हें परमेश्वर ने, धर्मी न्यायाधीश होने के नाते, पिछले पापों के लिए, अन्धा एवं कठोर कर दिया (रोमियों 1:24, 26, 28; 11:7 – 8), उनसे न केवल वह अपने अनुग्रह को रोके रखता है, जिसके द्वारा वे अपनी समझ में प्रकाशमान एवं उनके हृदय में उसके कार्य हो सकते थे (व्यवस्थाविवरण 29:4), बल्कि कभी-कभी वह उनसे उन वरदानों को भी छीन लेता है जो उन्हें प्राप्त थे (मत्ती 13:12; 25:29), और उनकी भ्रष्टता के रूप में उनके सामने ऐसे उद्देश्यों को उजागर होने देता है जो पाप का कारण बनते हैं (व्यवस्थाविवरण 2:30; 2 राजा 8:12 – 13); और साथ ही, उन्हें उनकी वासनाओं, संसार के प्रलोभनों, एवं शैतान की शक्ति के अधीन छोड़ देता है (भजन संहिता 81:11 – 12; 2 थिस्सलुनीकियों 2:10 – 12); जिसके द्वारा ऐसा होता है कि वे स्वयं को कठोर बना लेते हैं, यहाँ तक कि उन साधनों के प्रयोग में भी, जिनका उपयोग परमेश्वर अन्य लोगों को कोमल बनाने के लिए करता है (निर्गमन 7:3; 8:15; 8:32; 2 कुरिन्थियों 2:15 – 16; यशायाह 8:14; 1 पतरस 2:7 – 8; यशायाह 6:9 – 10; प्रेरितों के काम 28:26 – 27)।

व्याख्या

परमेश्वर किसी भी मनुष्य को पाप करने के लिए उकसा या बहका नहीं सकता; क्योंकि यह उसके स्वभाव की पवित्रता के साथ असंगत है (याकूब 1:13,14)। परन्तु, धर्मी न्याय में, परमेश्वर कभी-कभी लोगों को

किसी अन्य पाप के दण्ड के लिए किसी पाप में पड़ने की अनुमति देता है। इस रीति से वह अपने प्रिय, लेकिन कर्तव्यनिष्ठ बच्चों के साथ भी व्यवहार करता है। कभी-कभी वह उन्हें कुछ समय के लिए परीक्षाओं में, और उनके स्वयं के हृदय की वासनाओं के लिए, उनकी परीक्षा के लिए, या उनके हृदय की छिपी हुई भ्रष्टताओं का उनके द्वारा पता लगाने के लिए, उन्हें विनम्र बनाने के लिए, और उन्हें और अधिक उत्कट प्रार्थना करने और जागते रहने हेतु प्रेरित करने के लिए छोड़ देता है। इसी प्रकार, परमेश्वर ने हिजकिय्याह को परखने के लिए उसे छोड़ दिया, ताकि वह उसके मन की बात जान ले, या प्रकट कर दे (2 इतिहास 32:31)। कभी-कभी परमेश्वर अपने बच्चों के साथ उनके पिछले पापों का दण्ड देने के लिए ऐसा करता है। अतः, 'यहोवा का कोप इस्राएलियों पर फिर भड़का, और उसने दाऊद को उनकी हानि के लिए यह कहकर उभारा, इस्राएल और यहूदा की गिनती ले' (2 शमूएल 24:1)। पवित्रशास्त्र में, परमेश्वर को प्रायः दुष्ट मनुष्यों को उनके पूर्व पापों के कारण कठोर बनाने जैसा कहा गया है। वह ऐसा उनके हृदयों में कोई दुष्टता भरकर या उनकी आत्मा पर प्रत्यक्ष और सकारात्मक प्रभाव डालकर उन्हें हठी बनाकर नहीं करता, बल्कि अपने अनुग्रह को रोककर, जो कि उनके हृदयों को कोमल बनाने के लिए आवश्यक है, और जिसे वह अपनी इच्छानुसार देने या रोकने के लिए स्वतंत्र है; उन्हें उनके स्वयं के हृदय की वासनाओं, संसार की परीक्षाओं, और शैतान की शक्ति में सौंपने के द्वारा; और दिव्य प्रबन्धन द्वारा उन्हें ऐसी परिस्थिति में डालने के द्वारा, या उनके सामने ऐसी वस्तुएँ प्रस्तुत करने के द्वारा, जिससे उनका भ्रष्ट होना उन्हें कठोर बनने का अवसर प्रदान करता है।

भाग 7

जिस प्रकार परमेश्वर का दिव्य प्रबन्धन, सामान्य रूप से, सभी प्राणियों तक पहुँचता है, उसी प्रकार, अत्यन्त विशेष प्रकार से, यह उसकी कलीसिया की देखभाल करता है, और सभी वस्तुओं को उसकी भलाई

के लिए व्यवस्थित करता है (1 तीमुथियुस 4:10; आमोस 9:8 – 9; रोमियों 8:28; यशायाह 43:3 – 5, 14)।

व्याख्या

परमेश्वर के दिव्य प्रबन्धन को *सामान्य* या *विशेष* दोनों रूपों में माना जा सकता है। उसका सामान्य दिव्य प्रबन्धन उसके सभी प्राणियों के विषय में कार्यान्वित होता है; उसका विशेष दिव्य प्रबन्धन, एक विशेष तरीके से, उसकी कलीसिया और उसके लोगों के विषय में कार्यान्वित होता है। 'देख, यहोवा की दृष्टि सारी पृथ्वी पर इसलिए फिरती रहती है कि जिनका मन उसकी ओर निष्कपट रहता है, उनकी सहायता में वह अपनी सामर्थ्य दिखाए' (2 इतिहास 16:9)। परमेश्वर अपने लोगों के हितों को सदैव ध्यान में रखता है; वह जानता है कि उनके सुख के लिए सबसे अधिक अनुकूल क्या है; और वह सभी बातों को, चाहे वे लाभदायक हों या प्रतिकूल हों, उनकी भलाई को बढ़ावा देने में सहयोग करने के लिए तैयार करता है (रोमियों 8:28)। बीते समयों में, परमेश्वर ने अपनी कलीसिया की विशेष और अनवरत देखभाल की है; उसने कभी-कभी उसे बहुत ही निम्न स्थिति में गिरने दिया, लेकिन उसने उसका आश्चर्यजनक छुटकारा भी किया है। जिन साधनों से उसके शत्रुओं ने उसके विनाश और बर्बादी की योजना बनाई थी, वही साधन, एक प्रबल दिव्य प्रबन्धन के द्वारा उसके उत्थान एवं विस्तार के अधीन कर दिए गए (प्रेरितों के काम 8:4)। नरक की धूर्तता और दुर्भावना के विपरीत, तथा सभी घातक गलतियों और खूनी उत्पीड़न के विपरीत, जिसने उसके विनाश की धमकी दी, कलीसिया का संरक्षण, उस परिदृश्य से कम आश्चर्यजनक नहीं है जिसे मूसा ने देखा था – *एक झाड़ी जलती है* लेकिन *भस्म* नहीं होती। और तो आइए हम यीशु ख्रीष्ट की प्रतिज्ञा पर अभी भी भरोसा रखें और आनन्द मनाएं, कि नरक के द्वार कभी भी उसकी कलीसिया के विरुद्ध प्रबल नहीं होंगे।

अध्याय 6

मनुष्य का पाप में गिरना, पाप, और इसके परिणामस्वरूप दण्ड

भाग 1

हमारे प्रथम माता-पिता ने, शैतान की धूर्तता और प्रलोभन से बहकाए जाने कारण, निषिद्ध फल को खाकर पाप किया (उत्पत्ति 3:13; 2 कुरिन्थियों 11:3)। परमेश्वर को भाया कि अपनी बुद्धिमतापूर्ण एवं पवित्र मनसा के अनुसार, उनके इस पाप को, स्वयं अपनी महिमा के लिए व्यवस्थित करने हेतु प्रयोजन कर, इसकी अनुमति दे (रोमियों 11:32)।

व्याख्या

कि मनुष्य अब बहुत ही भ्रष्ट एवं पापमय दशा में है, इस बात की पुष्टि सार्वभौमिक अनुभव एवं अवलोकन करते हैं। कि मनुष्य को मूल रूप से इस भ्रष्ट दशा में नहीं रचा गया था, यह निष्कर्ष उसके रचयिता के स्वभाव से निकाला जा सकता है; और पवित्रशास्त्र स्पष्ट रूप से पुष्टि करता है कि मनुष्य को सबसे पहले परमेश्वर के स्वरूप में रचा गया था – पूर्ण सत्यनिष्ठा की अवस्था में। तो प्रश्न यह उठता है, कि संसार में नैतिक बुराई कैसे आई? इस महत्वपूर्ण प्रश्न का संतोषजनक उत्तर बुद्धि या तर्क नहीं दे सकता। मूर्तिपूजा करने वाले दार्शनिक मानव प्रकृति की भ्रष्टता व पतन पर दृष्टि डालने से बच नहीं सकते थे; दुखदायी अनुभव ने उन्हें सिखाया कि बुराई संसार में आई थी; लेकिन बुराई का स्रोत बताना उनके लिए बहुत ही कठिन ज्ञान था; उनके अनुमान असंख्य थे, और सभी सत्य से

कोसों दूर थे। हालाँकि, परमेश्वर का प्रकाशन इस बात के लिए एक स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान प्रस्तुत करता है; और हमारा विश्वास का अंगीकार-कथन, प्रेरणा प्राप्त अभिलेख के साथ एकमत होकर, पाप के प्रवेश का कारण हमारे प्रथम माता-पिता के प्रलोभन और अनाज्ञाकारिता को बताता है। उन्होंने 'निषिद्ध फल खाकर पाप किया।' यह बात मानती है कि किसी विशेष वृक्ष का फल खाना मना था। मनुष्य की रचना के समय ही उसके हृदय में नैतिक व्यवस्था लिख दी गई थी, और इसके प्रति उसका पूर्ण रूप से पालन करना उसका अनिवार्य कर्तव्य था; लेकिन, इस *प्राकृतिक व्यवस्था* के अतिरिक्त, परमेश्वर ने मनुष्य को एक *सकारात्मक* व्यवस्था भी दी, जो उसे वाटिका के किसी विशेष वृक्ष के फल को खाने से रोकता था। 'यहोवा परमेश्वर ने आदम को .यह आज्ञा दी, "तू वाटिका के सब वृक्षों का फल बिना खटके खा सकता है: पर भले और बुरे के ज्ञान का जो वृक्ष है, उसका फल तू कभी न खाना"' (उत्पत्ति 2:16, 17) । सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था के प्रति आज्ञाकारिता के लिए आदम के दायित्व को कमजोर किए बिना, परमेश्वर ने मनुष्य के कर्तव्य को इस एक सकारात्मक आज्ञा में संक्षेप में प्रस्तुत किया, और एक निश्चित वृक्ष के फल को खाने से मना कर उसकी आज्ञाकारिता की परीक्षा को निर्धारित किया। निषिद्ध की गई वस्तु अपने स्वभाव में एकदम उदासीन थी, न तो भली थी और न ही बुरी थी; निषेध पूर्ण रूप से परमेश्वर की सम्प्रभुत्व इच्छा पर आधारित था; इसलिए, यह परमेश्वर के अधिकार के प्रति मनुष्य की आज्ञाकारिता का सबसे उचित परीक्षण था।

मनुष्य के द्वारा अपने प्रभु की इस स्पष्ट आज्ञा का उल्लंघन करने का कारण, शैतान का प्रलोभन था। उत्पत्ति के तीसरे अध्याय में, प्रेरणा प्राप्त इतिहासकार हमारे प्रथम माता-पिता को बहकाने के सम्बन्ध में केवल सर्प का उल्लेख करता है; लेकिन चूंकि हम शैतान को पाप में पतन में कार्यरत होने के स्पष्ट संकेत के रूप में 'आरम्भ से एक हत्यारा' और 'बड़ा अजगर,

अर्थात पुराना साँप' के रूप में पाते हैं (यूहन्ना 8:44; प्रकाशितवाक्य 12:9; 20:2), हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शैतान ही वह वास्तविक बहकाने वाला था, और उसने प्रलोभन प्रस्तुत करने में साँप को अपने साधन के रूप में उपयोग किया। जिस धोखाधड़ी और धूर्तता के विभिन्न तरीकों का उपयोग, शैतान ने अपने षडयंत्र को अंजाम देने के लिए किया था, वह पवित्र इतिहास में वर्णित है, और कई सुविख्यात लेखकों द्वारा इसे लिखा गया है। साँप ने न तो बलपूर्वक और न ही किसी दबाव में, बल्कि केवल 'अपनी धूर्तता से हव्वा को बहकाया था'। प्रलोभक के बहकावे में आकर, 'हव्वा ने उस फल में से तोड़कर खाया, और अपने पति को भी दिया, और उसने भी खाया' (उत्पत्ति 3:6)। इस प्रकार निषिद्ध फल को खाना, वास्तव में हमारे संसार में मनुष्य द्वारा किया गया पहला पाप था। अतः, इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे प्रथम माता-पिता अपने हाथों से पाप करने से पहले ही अपने मन में पाप के दोषी थे; लेकिन निषिद्ध फल को खाना वह *पहला पाप* था, जो *पूरा* हुआ। 'फिर अभिलाषा गर्भवती होकर पाप को जनती है और पाप जब बढ़ जाता है तो मृत्यु को उत्पन्न करता है' (याकूब 1:15)।

कुछ लोगों को सेब खाना एक बहुत ही मामूली बात लग सकती है, और प्रायः इस गम्भीर विषय को उपहास में बदलने का प्रयास किया गया है; लेकिन, हमारे प्रथम माता-पिता के इस कृत्य पर आलोचना करते समय, हमें स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने सर्वोच्च सम्प्रभु के एक स्पष्ट निषेध का उल्लंघन किया था। ज्ञान के वृक्ष से दूर रहना ही वह कसौटी थी जिसके द्वारा उनकी निष्ठा की परीक्षा की जानी थी, और उस वृक्ष के फल को खाना सम्पूर्ण व्यवस्था का उल्लंघन था; क्योंकि यह व्यवस्था देने वाले के विरुद्ध विद्रोह था, और उसके अधिकार को त्यागना था। एक विवेकशील लेखक कहते हैं, 'यह महा-अपराध है', 'यद्यपि इसके विषय में – अर्थात, यह थोड़ा सा फल खाना है – इसे बहुत ही छोटा और महत्वहीन कृत के रूप में देखा जा सकता है; फिर भी, यदि हम इसे इसके औपचारिक स्वरूप में,

परमेश्वर की एक स्पष्ट आज्ञा की अवज्ञा के रूप में देखें, जिस नियम को विशेष रूप से चुना गया और मनुष्य के शुद्ध प्रेम, न्यायपूर्ण कृतज्ञता और परमेश्वर के प्रति पूर्ण आज्ञाकारिता की परीक्षा के रूप में निर्धारित किया गया था, तो यह निश्चित रूप से एक सबसे जघन्य पाप था। क्योंकि देखिए कितना भयानक विश्वासघात, कृतघ्नता, और शैतानी अभिमान, सब एक साथ इसमें समाहित थे'। [26] एक अन्य लेखक कहते हैं, 'यह पाप और भी अधिक बड़ा हो जाता है, क्योंकि यह उस व्यक्ति के विरुद्ध किया गया था – जो बहुत ही उदारता वाला परोपकारी, और दयालु स्वामी है; उन व्यक्तियों द्वारा जो इसके दोषी है, - ऐसे प्राणियों द्वारा जो परमेश्वर के हाथ से नए रचे गए हैं, पाप से निष्कलंक हैं, और दिव्य लाभों से भरपूर हैं; उल्लंघन किए गए नियम द्वारा – जो इतना स्पष्ट एवं सरल था; उस स्थान के द्वारा जहाँ यह पाप किया गया था – ऐसा स्थान जहाँ प्रत्येक पौधा, प्रत्येक जीव, और प्रत्येक दृश्य, प्रभु परमेश्वर की उदारता को प्रदर्शित करता था, और उसकी भलाई की घोषणा करता था; और इसके परिणामों के द्वारा, जो स्वयं उन तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि उनके वंशजों तक भी फैले थे, जिन्हें, उन्होंने क्षणिक संतुष्टि के लिए सर्वदा के लिए बर्बाद कर दिया।' [27]

क्या यह पूछा जाता है, कि, एक ईमानदार व्यक्ति इतना बड़ा अपराध करने के लिए कैसे बहकाया जा सकता है? इसका उत्तर है, मनुष्य, पूर्णतः पवित्र होते हुए भी परिवर्तनशील था। उसके पास पाप में न गिरने की शक्ति थी, परन्तु वह पाप में गिर भी सकता था। परमेश्वर ने उसे उसकी इच्छा की स्वतंत्रता दी थी, और उसने उस स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि परमेश्वर चाहता तो वह मनुष्य के पतन को रोक सकता था, अपने आत्मा के ऐसे प्रभाव देकर जो मनुष्य को रोकने के लिए पूर्ण रूप से प्रभावशाली होते; परन्तु ऐसा करना उसके लिए बाध्यता नहीं

---

[26] Principal Blackwell's *Sacred Scheme*, p. 199.

[27] Belfrage's *Exposition of the Shorter Catechism*, vol. 1, p. 178.

थी। उसने मनुष्य से उस योग्यता को नहीं छीना जो उसने उसे उसके कर्तव्य निर्वहन के लिए प्रदान की थी, न ही उसने उसके हृदय में कोई दुष्ट प्रवृत्तियाँ डाली – उसने केवल उस अतिरिक्त अनुग्रह को रोक दिया जो निश्चित रूप से मनुष्य के पतन को रोक सकता था। यदि यह पूछा जाए कि, परमेश्वर ने को पाप में गिरने की अनुमति क्यों दी? 'तो सम्भवतः वर्तमान संसार में इस प्रश्न का सबसे अच्छा उत्तर वही है जो ख्रीष्ट यीशु ने मानवजाति के लिए परमेश्वर की व्यवस्थाओं की एक शाखा के सम्बन्ध में दिया था: "हाँ, हे पिता, क्योंकि तुझे यही अच्छा लगा।" यह अनन्त बुद्धि के द्वारा अनुमोदित व्यवस्था थी, और सर्वज्ञ नेत्र द्वारा उस भलाई के लिए आवश्यक मानी गई थी जिसे परमेश्वर ने ब्रह्माण्ड की रचना में प्रस्तावित किया था।'[28]

भाग 2

इस पाप के द्वारा वे अपनी मूल धार्मिकता और परमेश्वर के साथ संगति से गिर गए (उत्पत्ति 3:6 – 8; सभोपदेशक 7:29; रोमियों 3:23), और इस प्रकार पाप में मृतक बन गए (उत्पत्ति 2:17; इफिसियों 2:1), और प्राण एवं शरीर के सभी क्षमताओं एवं भागों में पूर्ण रूप से दूषित हो गए (तीतुस 1:15; उत्पत्ति 6:5; यिर्मयाह 17:9; रोमियों 3:10 – 19)।

व्याख्या

यह भाग स्वयं हमारे प्रथम माता-पिता के सम्बन्ध में उनके पाप के परिणामों की ओर संकेत करता है। वे 'अपनी मूल धार्मिकता से गिर गए', और अपने प्राणों के सभी संकायों और शरीर के सभी अंगों में पूर्ण रूप से भ्रष्ट हो गए। वह समझ, जो कभी प्रकाश का दीपक था, अब अंधकार में डूब गया। इच्छा, जो कभी परमेश्वर के प्रति विश्वासयोग्य और परमेश्वर की इच्छा द्वारा नियंत्रित थी, अब विकृत और विद्रोही हो गई। भावनाएँ जो कभी पवित्र

[28] Dwight's Theology, Serm. 27.

और नियमित थीं, अब दूषित और अनियमित हो गईं। शरीर भी, भ्रष्ट हो गया, और उसके अंग पाप के लिए अधर्म के साधन बन गए। इसी प्रकार हमारे प्रथम माता-पिता ने वह आनन्द भी खो दिया जो पहले उनके पास था। उन्हें उस सुखद और मनोहर निवास से निकाल दिया गया जिसमें परमेश्वर ने उन्हें रखा था, भूमि को उनके कारण बंजर होने का श्राप दिया गया, उन्हें परिश्रम और दुःख का जीवन जीने, और अंततः उसी भूमि पर लौटने के लिए अभिशप्त किया गया, जहाँ से उसे रचा गया था। परन्तु यह तो उस दुःख का सबसे छोटा भाग था, जिसमें वे पतित हुए थे। उन्होंने परमेश्वर के साथ, जो सबसे भला है, संगति को खो दिया; उन्होंने उसके अनुग्रह को खो दिया, और उसका धर्मी क्रोध उन पर आ गया। वे पाप में मर गए – घृणित उस मृत्यु के लिए जो पाप की मजदूरी है, और जिसकी चेतावनी उनकी अवज्ञा के दण्ड के रूप में दी गई थी। परमेश्वर ने कहा, "जिस दिन तू उसका फल खाएगा, उसी दिन अवश्य मर जाएगा।" इस धमकी में लौकिक मृत्यु सम्मिलित थी, जिसमें आत्मा और शरीर के बीच का सम्बन्ध टूटना सम्मिलित था; आत्मिक मृत्यु, जिसमें परमेश्वर कृपा और स्वरूप का समाप्त होना सम्मिलित था; और अनन्त मृत्यु, जिसमें आत्मा और शरीर का परमेश्वर से सदा के लिए अलग हो जाता सम्मिलित है। जिस दिन हमारे प्रथम माता-पिता ने पाप किया, उसी दिन मृत्यु का दण्ड, हालाँकि पूर्ण रूप से तुरन्त लागू नहीं हुआ, लेकिन उन पर हावी होने लगा। वे नश्वर हो गए, और दूषित शरीर के विकारों के सम्पर्क में आ गए; आत्मिक जीवन का बीज उनकी आत्माओं में बुझ गया, और वे अनन्त क्रोध के दास बना दिए गए; और, यदि मध्यस्थ प्रदान नहीं किया गया होता, तो न केवल वे मिट्टी में मिल जाते, बल्कि 'उन्हें प्रभु परमेश्वर की उपस्थिति से, और उसके शक्ति के तेज से दूर कर अनन्त विनाश का दण्ड दिया गया होता'।

भाग 3

क्योंकि वे सभी मानवजाति के मूल हैं, इसलिए, सामान्य प्रजनन से जन्मे उनके सभी वंशजों पर इस पाप का दोष अभ्यारोपित किया गया (उत्पत्ति 1:27 – 28; उत्पत्ति 2:16 – 17; प्रेरितों के काम 17:26; रोमियों 5:12, 15 – 19; 1 कुरिन्थियों 15:21, 22, 45, 49), और पाप में वही मृत्यु और भ्रष्ट स्वभाव उनको दिया गया (भजन संहिता 51:5; उत्पत्ति 5:3; अय्यूब 14:4; 15:14)।

भाग 4

इस मूल भ्रष्टता से, जिसके द्वारा हम पूर्णतः अस्वस्थ, अक्षम, और सभी भलाई के विपरीत बना दिए गए हैं (रोमियों 5:6; 7:18; 8:7; कुलुस्सियों 1:21), और सभी बुराइयों की ओर पूर्ण रूप से प्रवृत्त है (उत्पत्ति 6:5; 8:21; रोमियों 3:10 – 12), सभी वास्तविक पाप उत्पन्न होते हैं (याकूब 1:14 – 15; इफिसियों 2:2 – 3; मत्ती 15:19)।

व्याख्या

ये दोनों भाग हमारे प्रथम माता-पिता के पाप के उन परिणामों की ओर संकेत करते है जो उनके आने वाले वंशजों को प्रभावित करेगा। ये परिणाम केवल उन लोगों तक सीमित हैं जो 'उनसे सामान्य प्रजनन के वंशज हैं'। यह प्रतिबन्ध स्पष्ट रूप से हमारे प्रभु यीशु ख्रीष्ट को बाहर रखने हेतु लगाया गया है, जो मनुष्य के रूप में आदम के *वंशज* थे, परन्तु *सामान्य प्रजनन* से उनके वंशज नहीं थे। ख्रीष्ट की वंशावली आदम तक जाती है (लूका 3:38), परन्तु उसका मानवीय स्वभाव पवित्र आत्मा की सामर्थ्य द्वारा कुंवारी के गर्भ में अलौकिक रूप से निर्मित हुआ था (लूका 1:35)। इसलिए, अपने जन्म में, और अपने जीवन में भी, वह 'पवित्र, निष्कपट, निर्मल और पापियों से अलग' था। लेकिन आदम के पहले अपराध का प्रभाव उसके

समस्त *प्राकृतिक वंशजों* पर पड़ा; और, हमारे अंगीकार-कथन के अनुसार, इस पाप का दोष उन पर अभ्यारोपित किया गया है, और एक भ्रष्ट स्वभाव उन पर आरोपित किया गया है। इसे ही सामान्यतः मूल पाप (original sin) कहा जाता है। यद्यपि यह शब्द प्रायः आदम से हमें मिली प्रकृति के भ्रष्टाचार तक ही सीमित होता है, फिर भी, अपने उचित विस्तार में, इसमें दोष का अभ्यारोपण भी सम्मिलित है।

मूल पाप के सिद्धांत को पाँचवीं सदी के आरम्भ तक परमेश्वर की कलीसिया द्वारा सर्वत्र स्वीकार किया गया था, जब तक कि पेलाजियस (Pelagius) द्वारा इसका खण्डन नहीं किया गया। उनका मानना था 'कि हमारे *प्रथम माता-पिता* के पाप केवल *उन्हीं पर* अभ्यारोपित किए गए थे, न कि उनकी *संतानों* पर; कि हम उनके पाप में पतन से कोई भी *भ्रष्टता* प्राप्त नहीं करते हैं, बल्कि हम उसी रीति से निर्मल और निष्कलंक पैदा होते हैं जैसे आदम अपने सृष्टिकर्ता के हाथों से रचा हुआ निकला था।'[29] इस अवधारणा को को सोसिनस ने सोलहवीं सदी में अपनाया, और अब आधुनिक सोसिनियन लोग भी इसी अवधारणा को मानते हैं। आर्मीनियन लोग, जो अपने नाम को आर्मिनियस के कारण पाते हैं, जो कि सत्रहवीं सदी में धर्म-गुरु थे, आदम के वंशजों की निर्मलता के विषय में इस प्रकार की स्पष्ट भाषा में बात नहीं कर सकते, परन्तु वे यह स्वीकार नहीं करते कि उनका स्वभाव पूर्ण रूप से दूषित हो चुका है, या उन्होंने भलाई करने की अपनी क्षमता को पूर्ण रूप से खो दिया है। ऐसे मतों के विपरीत, हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है कि आदम के सभी वंशजों में एक भ्रष्ट स्वभाव लगा दिया गया है; और कि, इस मूल भ्रष्टता के कारण, 'हम पूरी रीति से अस्वस्थ, अक्षम हो गए हैं, और सभी भलाई के विपरीत बना दिए गए हैं, पूर्ण रूप से सभी बुराइयों की ओर प्रवृत्त हो गए हैं'।

[29] Mosheim's *Church History,* cent.5, p. 2, ch. 5.

यह टिप्पणी करना उचित होगा कि यह न तो पवित्रशास्त्र का सिद्धांत है और न ही हमारे अंगीकार कथन का सिद्धांत है कि जिस प्रकृति की भ्रष्टता की वे बात करते हैं, वह न तो प्राण की कोई विकृति है, न ही कोई अनिवार्य गुण की विकृति है, और न ही किसी सकारात्मक बुराई का समावेश है। मसीही धर्म-सुधारकों के अंगीकार-कथन सिखाते हैं 'कि आदम के पाप के दण्ड के परिणामस्वरूप मूल धार्मिकता खो गई थी, *और इस अभाव के कारण* पाप के लिए प्रवृत्ति, या भ्रष्ट स्वभाव, या प्रकृति की भ्रष्टता उत्पन्न हुई। यद्यपि वे मूल पाप को *प्रथम* नकारात्मक – अर्थात धार्मिकता का खो जाना – और *दूसरा,* सकारात्मक, या स्वभाव की भ्रष्टता कहते हैं, फिर भी, उनका कहना है, बाद वाले से तात्पर्य, अपने आप में किसी पापपूर्ण वस्तु का समावेश नहीं, बल्कि धार्मिकता के खो जाने के परिणामस्वरूप, बुराई की ओर एक वास्तविक झुकाव या प्रवृत्ति है।'[30] मानवजाति की सार्वभौमिक भ्रष्टता की पुष्टि पवित्रशास्त्र द्वारा स्पष्ट रूप से की गई है: 'मनुष्य के मन में बचपन से जो कुछ उत्पन्न होता है वह बुरा ही होता है' (उत्पत्ति 8:21)। 'देख, मैं अधर्म के साथ उत्पन्न हुआ: और पाप के साथ अपनी माता के गर्भ में पड़ा' (भजन संहिता 51:5)। 'दुष्ट लोग जन्मते ही पराए हो जाते हैं, वे पेट से निकलते ही झूठ बोलते हुए भटक जाते हैं' (भजन संहिता 58:3)। 'जो शरीर से जन्मा है वह शरीर है' (यूहन्ना 3:6)। 'क्योंकि शरीर पर मन लगाना तो परमेश्वर से बैर रखना है, क्योंकि न तो वह परमेश्वर की व्यवस्था के अधीन है और न हो सकता है' (रोमियों 8:7)। पवित्रशास्त्र के कई अन्य पदों के साथ, ये पद पूरी रीति से दिखाते हैं कि समस्त मानवजाति भ्रष्ट स्वभाव से ग्रसित है। और पवित्रशास्त्र स्पष्ट रूप से इस भ्रष्टता का कारण आदम द्वारा परमेश्वर का त्यागना बताता है। पहला आदम परमेश्वर के स्वरूप में सृजा गया था, परन्तु उसके पाप में गिरने के बाद 'उसके द्वारा उसकी समानता में उस ही के स्वरूप के अनुसार

[30] Hodge on the *Romans*, p. 158.

एक पुत्र उत्पन्न हुआ' (उत्पत्ति 5:3)। 'जैसा एक मनुष्य के द्वारा पाप जगत में आया, और पाप के द्वारा मृत्यु आई' (रोमियों 5:12)।

मानव स्वभाव की भ्रष्टता, जिसके विषय में पवित्रशास्त्र स्पष्ट रूप से शिक्षा देता है, इस तथ्य से भी साबित किया जा सकता है कि सभी देशों में और सभी प्रकार की परिस्थितियों में, मनुष्य पापी हैं। 'हम प्रभाव या प्रवृत्ति जैसी किसी वस्तु के विचार तक यह देखने के द्वारा तब पहुँचते हैं, कि घटना में क्या स्थिर या सामान्य है, विशेष रूप से बहुत सारी विभिन्न परिस्थितियों में। अब, यह तथ्य है, कि सभी मानवजाति इस संसार में ऐसी स्थिति में आती है, जो बिना किसी चूक के इस विषय पर आती है, अर्थात, पाप का सार्वभौमिक अधिकार; इसलिए हर एक व्यक्ति जो इस संसार में नैतिक अभिकर्ता के रूप में कार्य करने आता है, वह कम या अधिक मात्रा में पाप का दोषी है।' इस बात से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं 'कि मनुष्य के मन में उस घटना के प्रति स्वाभाविक झुकाव या प्रवृत्ति होती है जो सार्वभौमिक और अचूक रूप से घटित होती है और कि यह एक भ्रष्ट और विकृत प्रवृत्ति है।'[31]

पाप की सार्वभौमिक व्यापकता का कारण, जैसा कि पेलाजियस ने बताया, बुरे उदाहरण का प्रभाव नहीं माना जा सकता; क्योंकि, जैसा कि अध्यक्ष एडवर्ड्स ने उचित रूप से तर्क दिया है, 'यह संसार की भ्रष्टता के द्वारा संसार की भ्रष्टता का कारण है। बचपन में बहुत जल्द से ही नैतिक पतन की अभिव्यक्तियाँ दिखने लगती हैं कि दूसरों के उदाहरण को देखने और उनका अनुसरण करने की सभी क्षमता समाप्त हो जाती है। बच्चों में अक्सर उन बुराइयों की ओर झुकाव भी दिखाई देता है जिनका उन्होंने कोई उदाहरण नहीं देखा। इसके अतिरिक्त, संसार में कई उत्कृष्ट सदगुणों

---

[31] Edwards on *Original Sin,* भाग 1, खण्ड 1, 2. यह तर्क, जिसे अध्यक्ष एडवर्ड्स ने बहुत कुशलता से प्रस्तुत किया है, डॉ. चाल्मर्स द्वारा अपनी सामान्य वाक्पटुता के साथ *Lectures on the Romans*, खण्ड 1, pp. 367-370 में चित्रित किया है।

वाले उदाहरण हैं जिनका अनुकरण उतना या सहजता से नहीं किया जाता है जितना कि दुष्ट स्वभाव वाले लोगों का अनुकरण किया जाता है, जो स्पष्ट रूप से बुराई की ओर एक जन्मजात प्रवृत्ति को दर्शाता है।

मूल पाप की एक और शाखा आदम के पहले अपराध का दोषारोपण है। मूल भ्रष्टता को स्वीकार करने वाले कई लोग इस बात को अस्वीकार करते हैं।[32] आदम के पहले पाप का अभ्यारोपित करने का अर्थ यह नहीं है कि उसका व्यक्तिगत अपराध उसके वंशजों का व्यक्तिगत अपराध बन जाता है; बल्कि यह कि उसके अपराध का दोष उनके खाते में गिना जाता है। और यह केवल उसके पहले पाप का दोष है, जो उसने मनुष्य जाति के एक प्रतिनिधि होने के रूप में किया था, जो उसके भावी वंशजों पर अभ्यारोपित किया जाता है, और न कि उसके भविष्य के पापों का दोष, जब उसने इस प्रतिनिधि होने का कार्य समाप्त कर दिया था। इस अभ्यारोपण का आधार यह है कि आदम अपने समस्त वंशजों का स्वाभाविक मूल और संघीय मुखिया या प्रतिनिधि था। अंगीकार-कथन के इस भाग में पहला वाला आधार ही इसलिए उल्लिखित है, संभवतः, क्योंकि कार्यों की वाचा में आदम के प्रतिनिधि वाले चरित्र पर अभी तक विचार नहीं किया गया है; लेकिन अगले अध्याय में इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। और वेस्टमिन्स्टर विस्तृत (प्रश्न 22) एवं संक्षिप्त (प्रश्न 16) दोनों मसीही धर्म-प्रश्नोत्तरी में, आदम के साथ बांधी गई वाचा में उसके प्रतिनिधि वाले चरित्र को, उसके सभी भावी वंशजों पर उसके प्रथम पाप

[32] सत्रहवीं सदी में, डे ला प्लेस ने पुष्टि की, 'कि मूल पाप मानवजाति पर प्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से अभ्यारोपित की गई है' (Mosheim's *Church History,* cent. 17, sect. 2, p. 2, ch. 2). इसका अर्थ यह है कि आदम के व्यक्तिगत अपराध मानवजाति पर अभ्यारोपित नहीं किए गए, बल्कि यह कि वे उससे एक भ्रष्ट स्वभाव प्राप्त करते हैं, और यह भ्रष्टता उन पर अभ्यारोपित की जाती है। हाल के लेखकों में, हम डॉ ड्वाइट का उल्लेख कर सकते हैं, जो आदम के पहले पाप का उसके वंशजों पर अभ्यारोपण का खंडन करते हैं, और उसके पतन के परिणामों को, जहाँ तक उनका सम्बन्ध है, नैतिक पतन के बोध तक सीमित रखते हैं।

के दोष को अभ्यारोपित करने के मुख्य आधार के रूप में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

हम बिना यह स्वीकार किए कि मानवजाति आदम के पहले अपराध के दोष सम्मिलित है, यह नहीं समझ पाते हैं कि मानवजाति की सार्वभौमिक भ्रष्टता का आधार क्या है। यह कोई ऐसा पाप होगा जिसका दण्ड परमेश्वर मूल धार्मिकता के खो जाने के कारण देता है; और यह आदम के पहले पाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। दोष के अभ्यारोपण का सिद्धांत पवित्रशास्त्र में स्पष्ट रूप से सिखाया गया है; विशेष रूप से रोमियों 5 में, यह इतनी स्पष्टता के साथ कहा गया है, इतनी बार दोहराया गया है, और इतनी औपचारिक रीति से प्रमाणित किया गया है, कि इसे प्रेरितीय सिद्धांत मानना ही होगा।

इस सिद्धांत के समर्थन में, हम पाप के प्रभावों की सार्वभौमिकता का सन्दर्भ दे सकते हैं; विशेष रूप से शिशुओं की मृत्यु का। प्रेरित स्पष्ट शब्दों में पुष्टि करता है, कि पाप का परिणाम मृत्यु है (रोमियों 5:12); और अनुभव के साथ-साथ पवित्रशास्त्र भी दर्शाता है कि मृत्यु सभी मनुष्यों पर आती है। यह उन लोगों को भी प्रभावित करती है जो वास्तविक पाप करने में असमर्थ हैं; तौभी आदम से लेकर मूसा तक मृत्यु ने उन लोगों पर भी राज्य किया, जिन्होंने आदम के उस अपराध के समान पाप न किया था (रोमियों 5:14)। इसे सामान्यतः उन शिशुओं के सन्दर्भ में समझा जाता है, जो व्यक्तिगत रूप से और वास्तव में पाप करने में असमर्थ हैं, जैसा कि आदम ने किया था; और चूंकि उन्होंने स्वयं कभी किसी व्यवस्था का उल्लंघन नहीं किया है, इसलिए उनकी मृत्यु का कारण केवल आदम के पाप का उन पर अभ्यारोपण ही माना जा सकता है।

यह सिद्धांत आदम और यीशु ख्रीष्ट के बीच की समरूपता से भी पुष्टिकरण प्राप्त करता है, जैसा कि प्रेरित ने इसी अध्याय में बताया है। पद 14 में, वह पुष्टि करता है कि आदम 'उस आनेवाले का चिह्न है,' और वह

बाद के पदों में, विशेष रूप से पद 18, 19 में इस समरूपता के विषय में बताता है: 'इसलिए जैसा एक अपराध सब मनुष्यों के दण्ड की आज्ञा का कारण हुआ, वैसा ही एक धर्म का काम भी सब मनुष्यों के लिए जीवन के निमित्त धर्मी ठहराए जाने का कारण हुआ। क्योंकि जैसा एक मनुष्य के आज्ञा न मानने से बहुत लोग पापी ठहरे, वैसे ही एक मनुष्य के आज्ञा मानने से बहुत लोग धर्मी ठहरेंगे।' डॉ. चाल्मर्स कहते हैं, 'इन पदों में आदम के पाप के अभ्यारोपण के लिए तर्क का बल है। जैसे आदम का दण्ड हम सब पर आता है, वैसे ही ख्रीष्ट द्वारा धर्मी ठहराए जाना हम पर आता है। अब हम जानते हैं कि उद्धारकर्ता के कार्य-गुण हमारे लिए गिने गए है, अन्यथा भूतकाल के लिए कोई भी प्रायश्चित, और भविष्य के लिए इस संसार में कभी भी प्रदर्शित हृदय या जीवन का कोई नवीनीकरण, परमेश्वर के साथ हमारी स्वीकृति के लिए पर्याप्त नहीं होगा। तो फिर, आदम के कार्य-अवगुण तो हमारे लिए गिने गए होंगे। इन पदों में दी गई समरूपता हमें बेहिचक इसी निष्कर्ष पर ले जाती है। यह न्यायिक निर्णय कि हम दोषी हैं, एक प्रतिनिधि के वास्तविक दोष से हम पर स्थानांतरित होता है, ठीक इसी रीति से जैसे यह न्यायिक निर्णय कि हम धर्मी हैं, एक दूसरे प्रतिनिधि की वास्तविक धार्मिकता से हम पर स्थानांतरित होता है। हम स्वयं अपने व्यक्तिगत पापों से हटकर, एक व्यक्ति की अनाज्ञाकारिता के कारण पापी हैं; और हम स्वयं अपनी व्यक्तिगत योग्यता के हटकर, एक दूसरे व्यक्ति की आज्ञाकारिता के कारण धर्मी हैं। हम यह नहीं कहते हैं, कि आदम के माध्यम से हम व्यक्तिगत रूप से पापी बन जाते हैं – जैसे कि हम उसके भ्रष्ट स्वभाव को विरासत में पाते हैं। न ही हम यह कहते हैं, कि हम ख्रीष्ट के माध्यम से व्यक्तिगत रीति से पवित्र बन जाते हैं – उसके उन ईश्वरीय गुणों की परिपूर्णता प्राप्त करते हैं जो उसके चरित्र को सुशोभित करते हैं। परन्तु, चूंकि मृत्यु के इस पार हमारी पवित्रता इतनी दूषित है, इसलिए परमेश्वर के सामने उपस्थिति होने के लिए हमारे पास इससे भी अधिक

कुछ होना चाहिए; और ख्रीष्ट की धार्मिकता वह योग्यता है, जो हमारे लिए गिनी जाती है और हम में पुरस्कृत की जाती है। आदम में जो कुछ इसके समरूप है, वह उसका दोष है जो हमारे लिए गिना जाता है और हम में दण्डित किया जाता है – जिससे कि, समरूपता को पूरा करने के लिए, जैसा कि उससे हमें भ्रष्टता का संचार मिलता है, वैसे ही उससे हमें उसके अवगुण-कार्य का अभ्यारोपण भी मिलता है।'[33] 'आदम केवल भ्रष्ट संतान का भ्रष्ट माता-पिता ही नहीं है, जो उस भ्रष्टता के कारण पाप करता है जिससे उसने पृथ्वी के सभी परिवारों को दूषित किया है; बल्कि हमारे पुराने धर्म-विज्ञानियों की भाषा में कहें, तो उनके संघीय मुखिया के रूप में, उन्होंने उसमें पाप किया है – उस वाचा के प्रतिनिधि के रूप में जिसे परमेश्वर ने उसके साथ, और उसके माध्यम से उसके सभी वंशजों के साथ बाँधी थी।'[34]

भाग 5

इस जीवन के दौरान, स्वभाव की यह भ्रष्टता, उन लोगों में बनी रहती है जो नया-जन्म पा चुके हैं (1 यूहन्ना 1:8, 10; रोमियों 7:14, 17 – 18, 23; याकूब 3:2; नीतिवचन 20:9; सभोपदेशक 7:20), और यद्यपि यह ख्रीष्ट के माध्यम से क्षमा एवं मृतक कर दिया गया है, फिर भी स्वयं से और इसके कारण से सभी क्रियाकलाप वास्तव में और उचित रीति से पाप हैं (रोमियों 7:5; 7 – 8, 25; गलातियों 5:17)।

व्याख्या

यह भाग हमें सिखाता है कि नया जन्म पाने वालों में भी स्वभाव की भ्रष्टता बनी रहती है, और इस जीवन के साथ अनुरूप रहती है। यह *मसीही जीवन*

[33] Chalmers' *Lectures on the Romans,* vol. 2, pp. 22, 23.

[34] *Ibid*. vol. 1, p. 422.

में सिद्धता के सिद्धांत का खण्डन करती है; और पवित्रशास्त्र की स्पष्ट घोषणाएँ इसका समर्थन करते हैं। 'यदि हम कहें कि हम में कुछ भी पाप नहीं, तो अपने आप को धोखा देते हैं, और हम में सत्य नहीं' (1 यूहन्ना 1:8)। पौलुस स्वयं कहता है, 'पाप मुझ में बसा हुआ है', और पुष्टि करता है कि 'जब भलाई करने की इच्छा करता हूँ, बुराई मेरे पास आती है' (रोमियों 7:17 – 21)। वास्तव में, इस बात पर विवाद रहा है, कि क्या पौलुस इस अध्याय में अपनी स्वयं क भावनाओं का वर्णन करता है, या किसी और के लिए वह ऐसा कह रहा है। हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि पौलुस स्वयं को नया जन्म प्राप्त बताता है, और अपनी दशा का, और फलस्वरूप प्रत्येक नया जीवन प्राप्त व्यक्ति की दशा का वर्णन करता है; परन्तु हम इस सिद्धांत को इस एक पद पर आधारित नहीं करते, क्योंकि यहाँ वर्णित संघर्ष को अन्य स्थानों पर ऐसी भाषा में दिखाया गया है, जिसे आम सहमति से, केवल सच्चे मसीहों पर ही लागू किया जा सकता है। हम केवल गलातियों 5:17 का उल्लेख करेंगे: 'क्योंकि शरीर आत्मा के विरोध में और आत्मा शरीर के विरोध में लालसा करता है, और ये एक दूसरे के विरोधी हैं, इसलिए कि जो तुम करना चाहते हो वह न करने पाओ।'

यह भाग इस बात की पुष्टि करता है कि, नया जन्म प्राप्त लोगों में भी, यह भ्रष्टता और उसके परिणामस्वरूप सभी कार्य, वास्तव में और उचित रूप से पाप हैं। निस्संदेह, इसका दोष ख्रीष्ट के लहू के द्वारा दूर कर दिया जाता है, और इसकी शक्ति उसके आत्मा और अनुग्रह द्वारा वश में कर दी जाती है; परन्तु, अपने आप में, यह पाप का चरित्र बनाए रखता है। रोम के चर्च के एक सिद्धांत के विरोध में इस बात की पुष्टि की गई है। कि पाप के लिए सार्वभौमिक प्रवृत्ति को, जिसे हम प्रकृति की भ्रष्टता कहते हैं, रोमन कैथोलिक लेखक *कामुकता* कहते हैं; और वे मानते हैं कि यह मूल पाप का कोई भाग नहीं है, और स्वयं अपने में पापमयता नहीं है। चूंकि वे मानते हैं कि बपतिस्मा के द्वारा मूल पाप दूर हो जाता है, और फिर भी पाते हैं कि

नया जन्म पाने वालों में यह भ्रष्ट स्वभाव बना रहता है, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह मूल पाप का भाग नहीं है, बल्कि यह वह प्राकृतिक अवस्था है जिसमें आदम को सबसे पहले बनाया गया था; अन्तर केवल इतना है कि हम में यह अलौकिक सहायता द्वारा रोक के बिना है, जिसे आदम को दिया गया था, और जो उसके अपराध के कारण, उससे और उसके वंशजों से वापस ले लिया गया था। इसके उत्तर में, यह तर्क दिया जाता है कि वासना या कामुकता को नए नियम में कई स्थानों पर पाप कहा गया है; विशेष रूप से रोमियों 7:7 में, पौलुस घोषणा करता है कि 'बिना व्यवस्था के मैं पाप को नहीं पहिचानता'; फिर वह इसका एक उदाहरण देता है – 'व्यवस्था यदि न कहती, कि लालच मत कर तो मैं लालच को न जानता'। यहाँ वह स्पष्ट रूप से कहता है *लोभ करना* पाप है।[35]

भाग 6

प्रत्येक पाप, मूल और वास्तविक दोनों, परमेश्वर की धार्मिक व्यवस्था का उल्लंघन होने, और उसके विपरीत होने के कारण (1 यूहन्ना 3:4), अपने स्वयं के स्वभाव में, पापी पर दोष लाते हैं (रोमियों 2:15; 3:9, 19), जिसके कारण मनुष्य परमेश्वर के प्रकोप (इफिसियों 2:3) और व्यवस्था के अभिशाप (गलातियों 3:10) के अधीन हो जाता है, और इस प्रकार सभी आत्मिक (इफिसियों 4:18), लौकिक (विलापगीत 3:39; रोमियों 8:20) एवं अनन्त (मत्ती 25:41; 2 थिस्सलुनीकियों 1:9) दुःखों के साथ मृत्यु के अधीन कर दिया जाता है (रोमियों 6:23)।

व्याख्या

[35] Burnet on *the Thirty-Nine Articles*, Art. 9. Hill's *Lectures in Divinity*, vol. 2, p. 16.

यह भाग पाप के *रेगिस्तान* से सम्बन्धित है। परमेश्वर की व्यवस्था का उल्लंघन होने के नाते, यह, अपने स्वयं के स्वभाव के कारण, पापी को दोषी ठहराता है, या उसे दण्ड भोगने का भागी बनाता है। यह उस पर परमेश्वर के क्रोध को उजागर करता है, क्योंकि 'अनाज्ञाकारिता की संतान' 'क्रोध की संतान' भी हैं, अर्थात वे परमेश्वर के क्रोध के पात्र हैं और उसके लिए घृणित हैं। यह उसे व्यवस्था के अभिशाप के अधीन कर देता है, जिससे हम तोड़ी गई व्यवस्था के प्रति दण्डात्मक सजा समझ सकते हैं, जो दोषी पापी को परमेश्वर के क्रोध के सभी भयानक प्रभावों से जकड़ लेती है। साथ ही यह उसे मृत्यु के अधीन भी कर देती है, या प्राण एवं शरीर के बीच के रहस्यमय मिलन के विघटन का कारण बनती है। पेलाजियन और सोसिनियन लोग मानते हैं कि पाप की मजदूरी मृत्यु नहीं है – कि आदम आरम्भ से ही नश्वर था; और इसी कारण से, जो उससे जन्में हैं, उन्हें भी नश्वर होना चाहिए। अन्य लोगों ने, पहले एवं बाद दोनों ही समयों में, यह माना आदम को केवल सांसारिक मृत्यु का ही दण्ड दिया गया था, और केवल यही एकमात्र मृत्यु है जो उसके पाप का परिणाम है। ये दोनों ही विचार परमेश्वर के वचन की स्पष्ट घोषणाओं के स्पष्ट रूप से इतने विरोधाभासी हैं कि इनका गम्भीर खण्डन करना भी उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त, हमारा अंगीकार-कथन कहता है, कि पाप पापी को अनेक कष्टों में डालता है, इस जीवन में भी और आने वाले जीवन में भी। इस संसार में पापी को जिन *आत्मिक* या आंतरिक दुःख-दर्द का सामना करना पड़ता है, उन्हें हमारे अंगीकार-कथन के लिखने वालों ने अन्य स्थानों में 'मस्तिष्क का अन्धापन, भ्रष्ट चेतना, बहकावा, हृदय की कठोरता, चेतना में भयानकता और बुरी चाहत' कहा है; और जिन *लौकिक* या बाहरी दुःख-दण्ड का उन्होंने उल्लेख किया है, वे हैं 'परमेश्वर का श्राप हमारे कारण प्राणियों पर और हर एक बुराई जो हमारे शरीरों, नामों, सम्बन्धों एवं कार्यों पर आते हैं' (*वेस्टमिन्स्टर विस्तृत मसीही धर्म-प्रश्नोत्तरी प्रश्न 28*)। और

पाप जिन दुःख-दर्द को आने वाले संसार में लाता है, उनका सारांश 'परमेश्वर की आनन्दमयी उपस्थिति से अनन्तकाल के लिए अलग होना, और आत्मा एवं शरीर का नरकीय आग में हमेशा के लिए अति दुखदायी यातना' (*वेस्टमिन्स्टर विस्तृत मसीही धर्म-प्रश्नोत्तरी प्रश्न 29*)।

जब हम उस क्षति पर जिसे आदम ने अपने पतन के कारण उठाई, तथा उस दोषी एवं भ्रष्ट दशा पर जिसमें हम सब परिणामस्वरूप भागी हैं, तथा उन अनेक दुःखों पर विचार करते हैं जिसके लिए हम यहाँ और आने वाले जीवन दोनों में उत्तरदायी हैं, तो आइए हम पाप की भयंकर दुर्भावना और अवगुण की भावना से गहराई से प्रभावित हो जाएं – जो हमारे सभी दुखों का स्रोत है। आइए हम पाप को संसार में प्रवेश की अनुमति देने और आदम के प्रथम अपराध के लिए उत्तरदायी ठहराने के लिए परमेश्वर के विरुद्ध शिकायत करने का, या उसकी भलाई या न्यायसंगतता पर दोष लगाने का साहस न करें; परन्तु हम दूसरे आदम को प्रदान करने में प्रदर्शित परमेश्वर की बुद्धि और अनुग्रह की प्रशंसा करें, जिसकी आज्ञाकारिता से हमें धर्मी बनाया जा सकता है, जिस रीति से हम पहले वाले की अनाज्ञाकारिता से पापी बनाए गए थे। आइए, हम प्रभु यीशु ख्रीष्ट को हृदय से स्वीकार करें, ताकि हम उस में पाए जाएं, हम न केवल पहले आदम के अपराध के दोष से दोषमुक्त किए जा सकें, ताकि 'अनुग्रह की बहुतायत और धार्मिकता के वरदान की बहुतायत के द्वारा, एक मनुष्य के, अर्थात यीशु ख्रीष्ट के द्वारा अवश्य ही अनन्त जीवन में राज्य' लाए जा सके।

अध्याय 7

मनुष्य के साथ परमेश्वर की वाचा

भाग 1

परमेश्वर और प्राणी के बीच की दूरी इतनी बड़ी है कि यद्यपि विवेकशील प्राणी अपने सृष्टिकर्ता के रूप में उसके प्रति आज्ञाकारिता के लिए देनदार हैं, फिर भी परमेश्वर की ओर से कुछ स्वैच्छिक कृपालुता के बगैर, वे कभी भी उससे अपनी परम आशीष एवं वरदान के रूप में कोई फल नहीं प्राप्त कर सकते हैं, जिसे उसने वाचा के माध्यम से व्यक्त करने की कृपा की है (यशायाह 40:13 – 17; अय्यूब 9:32 – 33; 1 शमूएल 2:25; भजन संहिता 113:5 – 6; 100:2 – 3; अय्यूब 22:2 – 3; 35:7 – 8; लूका 17:10; प्रेरितों के काम 17:24 – 25.)।

भाग 2

मनुष्य के साथ बाँधी गई सबसे पहली वाचा, कार्यों की वाचा थी (गलातियों 3:12), जिसमें आदम और उसमें उसके वंशजों को जीवन की प्रतिज्ञा की गई थी (रोमियों 5:12 – 20; 10:5), सिद्ध एवं व्यक्तिगत आज्ञाकारिता की शर्त पर (उत्पत्ति 2:17; गलातियों 3:10)।

व्याख्या

मनुष्य स्वाभाविक रूप से और अनिवार्य रूप से परमेश्वर की व्यवस्था के अधीन है। यह परमेश्वर और मनुष्य के बीच विद्यमान अनिवार्य एवं अपरिवर्तनीय सम्बन्ध के फलस्वरूप है, क्योंकि एक तो सृष्टिकर्ता है और दूसरा उसका प्राणी है। इसलिए, यदि परमेश्वर चाहता, तो, बिना कोई

प्रतिज्ञा किए, वह उसकी आज्ञाकारिता के पुरस्कार के रूप में उसे निर्दोषता और आनन्द की स्थिति में उसके जीवन को सुरक्षित करके, और उसे और भी अधिक सुख की स्थिति में पहुँचा कर, मनुष्य से हर सम्भव आज्ञाकारिता की माँग कर सकता था। और यद्यपि मनुष्य ने, बिना किसी एक चूक के, आज्ञाकारिता के एक लम्बे दौर को पूरा किया था, फिर भी वह अपने सृष्टिकर्ता पर किसी प्रकार का दायित्व नहीं डाल सकता था, या किसी प्रतिफल का हकदार नहीं हो सकता था। परन्तु परमेश्वर ने मनुष्य के साथ अनुग्रहपूर्वक होकर वाचा के माध्यम से व्यवहार किया, और इस प्रकार इस वाचा में अधिकार पाने के द्वारा उसके आनन्द को सुरक्षित करने का एक सौभाग्य दिया – एक ऐसा अधिकार जो शर्त, या प्रतिज्ञा पर आधारित था। प्रसिद्ध विटशियस (Witsius) कहते हैं, 'इस वाचा को स्वीकार करने, और इसकी शर्त को पूरा करने पर, मनुष्य परमेश्वर से प्रतिज्ञा की माँग करने का कुछ अधिकार अवश्य प्राप्त करता है; क्योंकि परमेश्वर ने, अपनी प्रतिज्ञाओं के द्वारा, स्वयं को मनुष्य का ऋणी बना लिया है; या परमेश्वर के अनुरूप में बात करें तो, वह अपनी प्रतिज्ञाओं को पूरा करने के लिए स्वयं के प्रति – उसकी भलाई, न्याय और सत्यता के प्रति – एक ऋणी बनने के लिए प्रसन्न था। और मनुष्य को, इस वाचा में, दृढ़ बने रहते हुए, उन्हें यह अपेक्षा करने और माँग करने का अधिकार दिया कि परमेश्वर प्रतिज्ञाओं को पूरा करने के द्वारा अपनी भलाई, धार्मिकता, न्याय और सत्यता की माँगो को पूरा करेगा।'[36]

एक वाचा को सामान्यतः दो पक्षों के बीच, कुछ शर्तों पर, एक समझौता परिभाषित किया जाता है। प्रत्येक वाचा में दो पक्ष होने चाहिए, - और फलस्वरूप दो भाग – एक सशर्त वाला, और दूसरा प्रतिज्ञात्मक या वचनबद्धता वाला भाग; एक को पहले पक्ष द्वारा पूरा किया जाना है, और

[36] Witsius, on the *Economy of the Covenants,* book 1, ch. 1, sect. 14.

दूसरे को दूसरे पक्ष द्वारा। यदि दोनों में से कोई भी पक्ष चूक जाए, तो प्रायः दण्ड जोड़ा जाता है; लेकिन यह वाचा के लिए अनिवार्य नहीं है।

यहाँ पर दो महत्वपूर्ण सत्य हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान निर्देशित किया गया है। *पहला,* कि परमेश्वर ने आदम के साथ एक वाचा बाँधी, जिसमें उसने पूर्ण और व्यक्तिगत आज्ञाकारिता की शर्त पर उसे जीवन की प्रतिज्ञा दी। *दूसरा,* यह वाचा आदम के साथ न केवल उसके लिए, बल्कि उसके समस्त प्राकृतिक वंशजों के लिए भी बाँधी गई थी।

1. परमेश्वर ने आदम के साथ उसकी निर्दोष अवस्था में वाचा बाँधी, यह उत्पत्ति 2:16, 17 से प्रकट होता है: 'और यहोवा परमेश्वर ने आदम को यह आज्ञा दी, तू वाटिका के सब वृक्षों का फल बिना खटके खा सकता है: पर भले या बुरे के ज्ञान का जो वृक्ष है, उसका फल तू कभी न खाना: क्योंकि जिस दिन तू उसका फल खाएगा उसी दिन अवश्य मर जाएगा।' वास्तव में, यहाँ, किसी वाचा का स्पष्ट उल्लेख नहीं है; परन्तु हम एक उचित वाचा की सभी आवश्यक शर्तों को यहाँ पाते हैं। इस लेन-देन में *दो पक्ष* हैं; एक ओर *प्रभु परमेश्वर,* और दूसरी ओर *मनुष्य* है। भले और बुरे के ज्ञान के वृक्ष के सम्बन्ध में सकारात्मक नियम में, एक *शर्त* स्पष्ट रूप से बताई गई है, जिसे मनुष्य की आज्ञाकारिता की परीक्षा बनाने में परमेश्वर प्रसन्न हुआ था। इनके साथ एक *दण्ड* भी जुड़ा है: 'जिस दिन तू उसका फल खाएगा उसी दिन अवश्य मर जाएगा।' इसमें *एक प्रतिज्ञा* भी है, जिसे स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया गया है, परन्तु वह धमकी में निहित है; क्योंकि, यदि अनाज्ञाकारिता का परिणाम मृत्यु होना था, तो यह स्पष्ट रूप से प्रगट है कि आज्ञाकारिता का पुरस्कार जीवन होना था। कि जीवन की प्रतिज्ञा मनुष्य की आज्ञाकारिता के साथ जोड़ी गई थी, इस बात का निष्कर्ष उस विवरण से भी निकाला जा सकता है जिसे व्यवस्था की धार्मिकता के विषय में मूसा देता है: 'जो मनुष्य उस धार्मिकता पर जो व्यवस्था से है, चलता है, वह उसी से जीवित रहेगा' (रोमियों 10:5); जवान युवा को दिए गए हमारे

प्रभु के उत्तर से जिसने पूछा था कि अनन्त जीवन पाने के लिए उसे क्या करना चाहिए: 'यदि तू जीवन में प्रवेश करना चाहता है, तो आज्ञाओं को माना कर' (मत्ती 19:17); और प्रेरित की इस घोषणा से कि 'वही आज्ञा जो जीवन के लिए थी' (रोमियों 7:10)। इसलिए, हमारे लिए परमेश्वर और आदम के बीच लेन-देन को *एक वाचा* कहना उचित है। हम इस शब्द के प्रयोग के लिए, पवित्रशास्त्र की भाषा का भी तर्क दे सकते हैं। होशे 6:7 में, हम पढ़ते हैं, 'उन लोगों ने, *आदम के समान* वाचा को तोड़ दिया।' इसका अनिवार्य रूप से यह अर्थ निकलता है कि आदम के साथ एक वाचा बाँधी गई थी, और उसने उसका उल्लंघन किया।

2. कि इस वाचा को आदम के साथ, न केवल स्वयं उसके लिए, बल्कि उसके समस्त प्राकृतिक वंशजों के लिए भी बाँधा गया था, यह एक ऐसा सिद्धांत है जिसका बहुत विरोध हुआ है। पेलाजियन और सोसिनियन लोग इस सिद्धांत का खण्डन करते हैं, और यह मानते हैं उसने केवल अपने लिए ही कार्य किया था, और कि उसके पतन के प्रभाव उसी पर समाप्त हुए। आर्मीनियन लोग स्वीकार करते हैं कि पहले पाप के द्वारा सम्पूर्ण मानवजाति दोषित हुई है, परन्तु साथ ही वे इस धारणा का खण्डन भी करते हैं कि आदम उनका वास्तविक प्रतिनिधि था। हालाँकि, इस सत्य को सहजता से स्थापित किया जा सकता है। पवित्रशास्त्र आदम को ख्रीष्ट के एक स्वरूप या प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करता है (रोमियों 5:14); और उनके बीच यह समानता किस बात में निहित है? सिर्फ इस बात में, कि जिस प्रकार ख्रीष्ट एक संघीय मुखिया था, जो अनुग्रह की वाचा में अपने सभी आत्मिक वंशजों का प्रतिनिधित्व करता है, वैसे ही आदम भी एक संघीय मुखिया था, जो कार्यों की वाचा में अपने समस्त प्राकृतिक वंशजों का प्रतिनिधित्व करता है। 1 कुरिन्थियों 15:45, 47 में, एक को *पहला आदम,* और दूसरे को *अन्तिम आदम* कहा गया है; एक को *पहला मनुष्य,* और दूसरे को *दूसरा मनुष्य*। अब, ख्रीष्ट किसी भी अर्थ में *दूसरा* मनुष्य नहीं

था, बल्कि अपने वंशजों के संघीय प्रमुख या प्रतिनिधि होने के रूप में; और, इसलिए, पहले मनुष्य ने ऐसा ही चरित्र रखा होगा, क्योंकि वह अपने सभी प्राकृतिक वंशजों का संघीय प्रमुख या प्रतिनिधि था। आदम के पहले पाप के प्रभाव का उसके सभी वंशजों पर विस्तार, उसके साथ बाँधी गई वाचा में उनका प्रतिनिधित्व करने का एक और दृढ़ प्रमाण है। कि उसने अपने सभी वंशजों के लिए पाप और मृत्यु को प्रेषित किया है, इस बात को रोमियों के पत्र के 5वें अध्याय में स्पष्ट रूप से सिखाया गया है; और जब तक वाचा में एक प्रतिनिधि के रूप में उसके सार्वजनिक चरित्र को स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक कोई भी संतोषजनक कारण नहीं बताया जा सकता है, कि हम पहले पाप से इस रीति से प्रभावित क्यों हुए हैं, जबकि हम उसके बाद के पापों या हमारे और पास वाले पूर्वजों के अपराध से प्रभावित नहीं होते हैं। हम जानते हैं कि पुत्र पिता का अधर्म का भार नहीं उठाएगा (यहेजकेल 18:20); और यदि आदम केवल एक निजी व्यक्ति होता, तो उसका पाप हमें हमारे माता-पिता के पाप के समान ही प्रभावित करता, उससे अधिक नहीं। निष्कर्ष अपरिहार्य है – कि, कार्यों की वाचा में, हमारे प्रथम माता-पिता ने न केवल स्वयं के लिए कार्य किया, बल्कि अपने समस्त प्राकृतिक वंशजों का प्रतिनिधित्व भी किया।

परमेश्वर की प्रक्रिया के इस भाग को अंहकारी मनुष्य द्वारा दोषी ठहराया जाता है। यह अवधारणा कि परमेश्वर ने वाचा में हमारा प्रतिनिधित्व करने के लिए आदम को बुलाया, जिसमें उसने हमारे अस्तित्व से बहुत पहले ही प्रवेश किया था, और जिस वाचा के बाँधने के लिए हम व्यक्तिगत रूप से सहमति नहीं दे सकते थे, इस बात के लिए कहा जाता है, कि यह परमेश्वर की भलाई के साथ असंगत है और परमेश्वर के नैतिक न्याय एवं समता के विपरीत है। इस बात के लिए इतना उत्तर देना पर्याप्त होगा कि चूंकि यह लेन-देन परमेश्वर का प्रस्ताव एवं कार्य है, इसलिए इसे उचित एवं न्यायसंगत होना चाहिए। 'क्या सारी पृथ्वी का न्यायी न्याय न करे?' 'वह

सत्य परमेश्वर है, उसमें कुटिलता नहीं, वह धर्मी और सीधा है।' यद्यपि हमें इस लेन-देन की औचित्यता को स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि यह परमेश्वर की इच्छा थी, फिर भी विभिन्न विचारों से यह सिद्ध हो सकता है कि यह न केवल समता के अनुरूप था, बल्कि परमेश्वर की भलाई को भी प्रकट करता था। यदि आदम ने वाचा की शर्त को पूरा किया होता, और इस प्रकार न केवल स्वयं के लिए, बल्कि अपने समस्त वंशजों के लिए आनन्द को सुनिश्चित किया होता, तो निश्चित रूप से किसी भी व्यक्त ने यह शिकायत नहीं की होती कि आदम को उसका प्रतिनिधि बनाया गया था; और इस लेन-देन को, जो इस रीति से न्यायसंगत मानी जाती है, विपरीत स्थिति में अन्यायपूर्ण क्यों ठहराई जाए? आदम, जिसे परमेश्वर के स्वरूप में बनाया गया था, वाचा को निभाने में उतना ही सक्षम था जितना कि उसके वंशजों में से किसी को भी माना जा सकता था; कि उसे इसे निभाना था यह उतना ही उसके निजी हित में था जितना कि उसके किसी भी वंशज के, उसके वंशजों के सौभाग्य से अधिक उसका अपना सौभाग्य दांव पर लगा था; और वह उन व्यक्तियों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित था जिनका उसने प्रतिनिधित्व किया, और उसके पास अपने असंख्य संतानों के साथ-साथ स्वयं की भी देखभाल करने की प्रबल प्रेरणा थी। चूंकि आदम के पास अपेक्षित आज्ञाकारिता को पूरा करने के लिए ऐसे विशिष्ट लाभ एवं प्रलोभन थे, इसलिए यह उचित रूप से अनुमान लगाया जा सकता है, कि, यदि संघीय वाचा के लेन-देन के समय हमारे लिए उपस्थित होना सम्भव हुआ होता, तो हम सहजता से इस बात पर सहमत हो जाते कि हमारे लिए यह अधिक योग्य और सुरक्षित था कि हमारे अपने प्रथम माता-पिता की आज्ञाकारिता द्वारा, जो वाचा में हमारे प्रमुख है, हमारे चिरस्थायी प्रसन्नता को सुनिश्चित करें, बजाए इसके कि यह हमारे व्यक्तिगत आचरण पर निर्भर हो। और कौन कार्यों की वाचा में आदम द्वारा उसका प्रतिनिधित्व करने पर शिकायत करेगा, क्योंकि परमेश्वर ने उस वाचा के उल्लंघन के परिणामों

से हमारे छुटकारे के लिए एक अन्य एवं अधिक श्रेष्ठ वाचा के द्वारा एक मार्ग खोल दिया है?

भाग 3

मनुष्य ने पाप में स्वयं के गिरने के कारण स्वयं को उस वाचा के द्वारा जीवन के लिए अयोग्य बना लिया, इसलिए प्रभु ने दूसरी वाचा बनाने की कृपा की (गलातियों 3:21; रोमियों 3:20 – 21; 8:3; उत्पत्ति 3:15; यशायाह 42:6), जिसे सामान्य रूप में अनुग्रह की वाचा कहा जाता है: जिसमें वह यीशु ख्रीष्ट के द्वारा पापियों को सेंतमेंत में जीवन और उद्धार देने की पेशकश करता है, उनसे उस पर विश्वास की मांग करता है ताकि वे बचाए जा सकें (मरकुस 16:15 – 16; यूहन्ना 3:16; रोमियों 10:6, 9; गलातियों 3:11), और उन सभी को जो जीवन के लिए नियुक्त किए गए हैं, अपना पवित्र आत्मा देने की प्रतिज्ञा करता है, ताकि उन्हें विश्वास करने के लिए इच्छुक एवं सक्षम बना सके (यहेजकेल 36:26 – 27; यूहन्ना 6:44 – 45)।

व्याख्या

इस भाग की व्याख्या करते हुए, यह टिप्पणी करना उचित है, कि, जब हमारा अंगीकार-कथन तैयार किया गया था, तो सामान्यतः अधिकांश सबसे प्रतिष्ठित धर्म-विज्ञानियों द्वारा माना जाता था, कि मनुष्य के उद्धार से जुड़ी हुई दो वाचा हैं, जिन्हें उन्होंने *छुटकारे* की वाचा, और *अनुग्रह* की वाचा कहा; पहली वाली वाचा ख्रीष्ट के साथ अनन्तकाल से बाँधी गई थी, बाद वाली वाचा समय में पापियों के साथ बाँधी गई थी; पहली वाचा में ख्रीष्ट की धार्मिकता शर्त है, और दूसरी वाचा में विश्वास शर्त है। हमारा मानना है, कि, इस भेद का पवित्रशास्त्र में कोई आधार नहीं है, और सभी सुसमाचारीय धर्म-विज्ञानियों ने इसे बहुत पहले ही त्याग दिया है। कहा

जाता है कि पहला आदम ख्रीष्ट का एक *रूप* था, जिसे *दूसरा* आदम कहा जाता है। अब, ऐसा नहीं है कि आदम के साथ एक वाचा बाँधी गई थी जिसकी शर्त उसे पूरी करनी थी, और उसके वंशजों के साथ दूसरी वाचा बाँधी गई थी, जिसकी शर्त को उन्हें पूरा करना था; बल्कि एक ही वाचा में आदम और उसके वंशज दोनों सम्मिलित थे। यह वाचा आदम के साथ उनके प्रतिनिधि के रूप में बाँधी गई थी, और उनके साथ उसमें और उसके द्वारा प्रतिनिधित्व की गई थी। इसी रीति से, एक वाचा में ख्रीष्ट और उसके आत्मिक वंशज सम्मिलित हैं। इसलिए, पवित्रशास्त्र हर स्थान पर इसे *एक* वाचा कहता है, और ख्रीष्ट के लहू को बार-बार 'वाचा का लहू' कहा गया है, न कि वाचाओं का लहू, जैसा कि हम अनुमान लगा सकते हैं कि इसे कहा जाता, यदि यह छुटकारे की वाचा की शर्त और अनुग्रह की वाचा का आधार होता (इब्रानियों 10:29; 13:20)। उसी एक वाचा के लहू के द्वारा ख्रीष्ट ने परमेश्वर के न्याय को संतुष्ट किया, और हम छुटकारा पाते हैं (जकर्याह 9:11)। इसलिए हम मानते हैं, कि पाप में पतित मनुष्यों के उद्धार के निमित्त केवल एक ही वाचा है, और इस वाचा को ख्रीष्ट के साथ जगत की उत्पत्ति से पहले बाँधा गया था।[37] वस्तुतः पवित्रशास्त्र बार-बार परमेश्वर द्वारा विश्वासियो के साथ वाचा बाँधने की बात कहता है, लेकिन यह भाषा, वाचा की एकता की अनुरूपता में, एक सरल व्याख्या की अनुमति देती है। एक विवेकशील लेखक कहते हैं, 'अनुग्रह की वाचा, ख्रीष्ट के साथ निश्चित एवं उचित अर्थ में बाँधी गई थी, क्योंकि वह इसमें एक अनुबंध-पक्ष था, और उसने इसकी शर्त को पूरा करने का बीड़ा उठाया

[37] ओवेन, चारनॉक, फ्लावेल और कई अन्यों ने छुटकारे की वाचा और अनुग्रह की वाचा के बीच भेद को माना है। उनके द्वारा इसे परमेश्वर की सिद्धताओं और अनुग्रह के साथ संगत के एक अर्थ में समझाया गया था। लेकिन अन्यों के द्वारा, छुटकारे की वाचा को परमेश्वर द्वारा पापियों के साथ एक और वाचा बाँधने के आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसकी शर्त विश्वास, पश्चाताप और सच्ची आज्ञाकारिता हैं। यह कि ख्रीष्ट और विश्वासियों के साथ बाँधी गई एक ही वाचा है, इस बात को बोस्टन, आर, और ई एर्स्किन, एडम, गिब, लंदन के हिल, हैडिंगटन के ब्राउन, डिक, बेलफ्रेज, और वास्तव में, सभी आधुनिक सुसमाचारीय धर्म-विज्ञानियों द्वारा माना गया है।

था। यह विश्वासियों के साथ वाचा-तोड़ने वाले अर्थ में बाँधी गई है, जब उन्हें इसके साथ जुड़ने के लिए लिया जाता है, और वे वास्तव में इसका लाभ उठाने आते हैं। यह उनके साथ कैसे बाँधी गई है, इसे प्रेरित के शब्दों से समझ जा सकता है: "मैं दाऊद की पवित्र और अटल आशीष तुझे दूँगा" (प्रेरितों के काम 13:34), जो यशायाह 55:3 का एक प्रकार की संक्षिप्त व्याख्या है: "मैं दाऊद पर की गई अटल करुणा के अनुसार तुम्हारे साथ सदा की वाचा बाँधूंगा।" परमेश्वर उनके साथ वाचा इसलिए नहीं बाँधता, कि उनसे कुछ माँग कर इसकी आशीषों के लिए उन्हें हकदार बनाए या उनके दावे का आधार तैयार करे, बल्कि जहाँ तक उनकी वर्तमान स्थिति अनुमति देती है, उसके अपने कार्यों के परिणामस्वरूप उनमें विश्वास उत्पन्न करने के द्वारा, उन्हें वह मुफ्त उपहार के रूप में वाचा देता है, तथा उन्हें इनका भागीदार बनाता है।'[38]

पापी मानवजाति के उद्धार के लिए दो वाचाओं की कल्पना में कई कठिनाइयाँ हैं। एक तो बहुत स्पष्ट है। प्रत्येक उचित वाचा में, दो अनिवार्य भाग होते हैं – एक सशर्त और दूसरा प्रतिज्ञात्मक भाग। इसलिए पापियों के साथ यदि कोई वाचा बाँधी जाती है, जो ख्रीष्ट के साथ बाँधी गई वाचा से भिन्न है, तो उसमें अवश्य एक शर्त होनी चाहिए जिसे उन्हें स्वयं पूरा करना होगा। लेकिन हालाँकि हमारे प्राचीन धर्म-विज्ञानियों ने पापियों के साथ बाँधी गई वाचा की शर्त विश्वास बताया था, उन्होंने विश्वास के लिए कोई योग्यता निर्धारित नहीं की, बल्कि इसे केवल प्राथमिकता कहा। जैसा कि डॉ. डिक ने टिप्पणी की है, कि 'सच्चाई यह है जिसे ये धर्म-विज्ञानी अनुग्रह की वाचा कहते हैं, वह केवल उस वाचा का क्रियान्वयन है जिसे वे छुटकारे की वाचा कहते हैं, जिसका उद्देश्य उन लोगों तक इसकी आशीषों को पहुँचाना है जिनके लिए वे बनाई गई थीं; और इसे उचित रूप से वाचा नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह किसी उचित शर्त पर आधारित

[38] Wilson's (of London) Sermons, p. 72.

नहीं है।' वेस्टमिन्स्टर असेंबली, इस भाग में उस बात का वर्णन करती हुई प्रतीत होती है जिसे तब आमतौर पर अनुग्रह की वाचा कहा जाता था, जो छुटकारे की वाचा से भिन्न थी। लेकिन, यद्यपि उन्होंने वाचा को दोहरे दृष्टिकोण से देखा, एक जिसे सनातन काल से जमानतदार के साथ बाँधी गई, और दूसरी समय में पापियों के साथ बाँधी गई, फिर भी उन्होंने निश्चित रूप से इसे एक ही वाचा माना। वे कहते हैं, 'अनुग्रह की वाचा दूसरे आदम के रूप में ख्रीष्ट के साथ, और उसमें उसके वंशजों के रूप में सभी चुने हुए लोगों के साथ बाँधी गई' (*विस्तृत मसीही धर्म-प्रश्नोत्तरी*, प्रश्न 31)। इस अत्यंत रोचक विषय पर हमारे विश्वास-कथनों के सिद्धांत को निम्नलिखित प्रस्तावों में संक्षेपित किया जा सकता है:

1. कि पिता यहोवा और उनके सह-सनातन पुत्र के बीच मानवजाति के पापियों के उद्धार के निमित्त एक वाचा बाँधी गई थी। इस संघीय लेन-देन की वास्तविकता भजन संहिता 89:3 से स्पष्ट होती है: 'मैं ने अपने चुने हुए से वाचा बाँधी है, मैं ने अपने दास दाऊद से शपथ खाई है।' इस पद में वक्ता कोई और नहीं बल्कि *प्रभु* ही हो सकते हैं, जिनका उल्लेख इस भजन के आरम्भ में किया गया है और इस बात पर कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता कि कहे गए शब्दों की निर्णायक एवं मुख्य पूर्ति यीशु ख्रीष्ट में हुई है, और वे उसके साथ बाँधी गई वाचा की पुष्टि करते हैं, जिसके लिए प्रतीकात्मक वाचा इस्राएल के राजा दाऊद के साथ बाँधी गई राजसी वाचा है। हालाँकि, पवित्रशास्त्र के अन्य स्थानों में वाचा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी हमें एक उचित वाचा के सभी अनिवार्य भागों के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। यशायाह 53:10 में, हमें वाचा के दो प्रमुख भाग मिलते हैं – एक सशर्त और दूसरा प्रतिज्ञात्मक; और वाचा बाँधने वाले वे दो महान पक्ष – एक इसकी बहुत कठिन शर्त के क्रियान्वयन के लिए वचनबद्ध है – दूसरा इसकी कीमती प्रतिज्ञाओं को पूरा करने के लिए वचनबद्ध है: 'यदि उसका प्राण प्रायश्चित बलिदान चढ़ाए, तो वह अपना वंश देखेगा जो बहुत

दिनों तक जीवित रहेगा; और उसके हाथ से यहोवा की इच्छा पूरी हो जाएगी' (बिशप लॉथ का अनुवाद)।

2. कि इस वाचा को ख्रीष्ट के साथ, उसके आत्मिक वंशजों के मुखिया, या प्रतिनिधि के रूप में बाँधा गया था। इसकी पुष्टि ख्रीष्ट और आदम के बीच की तुलना से होती है, जिसे प्रेरित द्वारा बताया गया है (रोमियों 5; 1 कुरिन्थियों 15:45, 47); जो इस सत्य को स्पष्ट रूप से स्थापित करता है, कि आदम और ख्रीष्ट ने अपने-अपने वंशजों के संघीय प्रमुखों के रूप में, एक सार्वजनिक चरित्र को बनाए रखा। ख्रीष्ट और उसके आत्मिक वंशजों को एक ही नाम से पुकारा जाता है (यशायाह 49:3) – यह वाचा में उनके प्रतिनिधि के रूप में उसके साथ परमेश्वर के व्यवहार का एक स्पष्ट प्रमाण है। ख्रीष्ट को वाचा का ज़मानतदार भी कहा गया है (इब्रानियों 7:22); और वाचा की प्रतिज्ञाएँ मुख्यतः उसी से की गई थीं (गलातियों 3:16; तीतुस 1:2)।

3. कि यह वाचा परमेश्वर के स्वतंत्र अनुग्रह और सम्प्रभु इच्छा से उत्पन्न हुई। पवित्रशास्त्र इस लेन-देन को उसी की इच्छा के भले अभिप्राय के अनुसार मानता है जो अपनी इच्छा के अनुसार सब कुछ करता है, ... और इसे उसके उस अनुग्रह की महिमा की स्तुति के लिए प्रस्तुत करता है (इफिसियों 1:3 – 6)। इस कारण से इस वाचा को, बड़े औचित्य के साथ, अनुग्रह की वाचा कहा जाता है, क्योंकि यह परमेश्वर के सेतमेंत अनुग्रह से उत्पन्न हुआ है, और पापियों को सबसे मुफ्त तरीके से उद्धार के आशीषों को प्रदान करता है।

4. कि इस वाचा को अनन्तकाल से स्थापित किया गया था। अनुग्रह की वाचा को *दूसरी* वाचा कहा जाता है, जो आदम के साथ बाँधी गई कार्यों की वाचा से भिन्न है; लेकिन यद्यपि अभिव्यक्ति और क्रियान्वयन के सम्बन्ध में यह दूसरी वाचा है, फिर भी, जिस अवधि या क्रम में इसे बनाया गया था, उसके सम्बन्ध में यह पहली वाचा है। इस वाचा के मुखिया का

परिचय यह कहते हुए दिया गया है (नीतिवचन 8:23), 'मैं सदा से वरन् आदि ही से पृथ्वी की सृष्टि से पहले ही से ठहराई गई हूँ'; अर्थात, उसे उसके मध्यस्थ पद और कार्य के लिए अलग कर ठहराया गया था – दूसरे शब्दों में, अनन्तकाल से अनुग्रह की वाचा में अपने आत्मिक वंशजों का मुखिया होने के लिए। हमें ख्रीष्ट में अनन्त जीवन की प्रतिज्ञा 'जगत की उत्पत्ति' (तीतुस 1:2) से पहले दी गई है; और वाचा को प्रायः *अनन्त* वाचा कहा जाता है (इब्रानियों 13:20)।

5. इस वाचा के प्रशासन में, परमेश्वर 'यीशु ख्रीष्ट के द्वारा पापियों को सेंतमेंत में जीवन और उद्धार देने की पेशकश करता है, उनसे उस पर विश्वास की मांग करता है ताकि वे बचाए जा सकें'। यद्यपि ख्रीष्ट, इस वाचा में, मानवजाति के केवल एक निश्चित संख्या का प्रतिनिधित्व करता है, जो 'जगत की उत्पत्ति से पहले उसमें चुने गए' थे, फिर भी वाचा के प्रशासन में, यीशु ख्रीष्ट द्वारा उद्धार का एक सेंतमेंत प्रस्ताव अनिश्चित एवं सार्वभौमिक रूप से मानवजाति के पापियों के लिए सम्बोधित किया गया है (यूहन्ना 6:32; यशायाह 55:1; प्रकाशितवाक्य 22:17)। यह प्रस्ताव केवल विवेकपूर्ण पापियों, या अपने पाप, और उद्धारकर्ता की अपनी आवश्यकता के प्रति कायल लोगों तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि बैक्स्टेरियन (Baxterians) लोग कहते हैं; क्योंकि यह उन लोगों के लिए है जो अपने स्वयं के दुःखों और आवश्यकताओं के प्रति पूर्ण रूप से संवेदनहीन हैं (प्रकाशितवाक्य 3:17, 18)। यह प्रस्ताव वास्तव में उतना ही उन लोगों को दिया जा जाता जो अंततः इसे अस्वीकार करते हैं, जितना कि उन लोगों को जो अन्ततः इसे स्वीकार करते हैं; क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो सुसमाचार सुनने वालों के पहले वाले वर्ग को उनके अविश्वास के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता था (यूहन्ना 3:18, 19)।

इसमें कोई विवाद नहीं है कि परमेश्वर पापियों से ख्रीष्ट पर विश्वास लाने की माँग करता है ताकि वे उद्धार पा सकें। हालाँकि विश्वास की क्या

भूमिका है, इस पर बहुत विवाद हुआ है। कई प्रसिद्ध धर्मविज्ञानी, छुटकारे की वाचा और अनुग्रह की वाचा के बीच अंतर करने के परिणामस्वरूप, विश्वास को बाद वाली वाचा की *शर्त* के रूप में बताने के लिए प्रेरित हुए थे। लेकिन यह शब्द, जैसा कि उनके द्वारा प्रयुक्त हुआ, योग्यता या प्राप्ति का कारण नहीं, बल्कि केवल ऐसी वस्तु को दर्शाता है जो पहले आता है, और जिसके बिना दूसरे को प्राप्त नहीं किया जा सकता। वे विश्वास को केवल *क्रम* या *सम्बन्ध* की एक शर्त के रूप में, जैसा कि इसे कहा गया है, और सुसमाचार में प्रस्तुत उद्धार में रुचि प्राप्त करने के एक साधन के रूप देखते हैं। यह आर्मीनियन और नियोनोमियन (Neonomians अर्थात ऐसे लोग जो व्यवस्था के पालन को उद्धार की शर्त के रूप में देखते हैं), द्वारा विश्वास शब्द को दिए गए अर्थ से एकदम अलग है, जो विश्वास को एक शर्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसके पूरा होने पर प्रतिज्ञा निलम्बित हो जाती है।[39] वेस्टमिन्स्टर असेंबली अन्य स्थान पर इस बात की पुष्टि करती है, कि परमेश्वर पापियों से ख्रीष्ट पर विश्वास लाने की माँग करता है, 'उसमें उन्हें मिलाने की शर्त के रूप में' (*विस्तृत धर्म-प्रश्नोत्तरी,* प्रश्न 32)। लेकिन यह इस बात की पुष्टि से बहुत अलग है कि विश्वास, अनुग्रह की वाचा की शर्त है। कि विश्वास एक साधन के रूप में अनिवार्य रूप से आवश्यक है जिसके द्वारा हमें ख्रीष्ट में उद्धार पाने के लिए सहभागी बनाया जाता है, और व्यक्तिगत रूप से वाचा में स्थापित किया जाता है, यह सबसे महत्वपूर्ण सत्य है, और वेस्टमिन्स्टर धर्म-विज्ञानियों का इससे यही अभिप्राय है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने *शर्त* शब्द का प्रयोग *साधन* के समानार्थी के रूप में किया है; क्योंकि, एक स्थान में वे पापियों को मध्यस्थ

[39] इस महत्वपूर्ण विषय पर विभिन्न लेखकों के विचार डॉ. फ्रेज़र द्वारा व्हिटशियस पर उनके उत्कृष्ट लेख में बताए गए हैं, *Dissertations on the Apostles' Creed,* vol. I, note 44. उनके द्वारा उल्लिखित लेखकों में जोड़ सकते हैं, बौस्टन, *View of the Covenant of Grace, head iii,. Sect. 1;* लंदन के विल्सन, *Sermons,* p. 71); और डॉ. डिक, *Lectures,* vol. ii., p. 434.

में मिलाने के लिए विश्वास की बात करते हैं, वहीं दूसरे स्थान में वे पुष्टि करते हैं कि 'विश्वास धर्मी ठहराए जाने का एकमात्र *साधन* है' (*अंगीकार-कथन*, अध्याय 11, 2.), और सिखाते हैं, कि 'परमेश्वर की दृष्टि में विश्वास पापी को धर्मी ठहराता है, परन्तु केवल इसलिए क्योंकि यह एक साधन है जिसके द्वारा वह ख्रीष्ट और उसकी धार्मिकता को ग्रहण करता है और लागू करता है' (*विस्तृत धर्म-प्रश्नोत्तरी*, प्रश्न 73)। चूंकि *शर्त* शब्द अस्पष्ट है, जिसे गलत समझा जा सकता है, और प्रायः इसे गलत और जोखिमपूर्ण अर्थ में प्रयोग किया जाता है, इसलिए अब सुसमाचारीय धर्म-विज्ञानियों द्वारा इसका प्रयोग बंद कर दिया गया है।

6. कि परमेश्वर अपने चुने हुए लोगों में उस विश्वास को पैदा करने के लिए अपने पवित्र आत्मा की प्रतिज्ञा करता है जिसके द्वारा वे इस वाचा की आशीषों में सहभागिता लेते हैं। इसका अर्थ है, कि एक निश्चित संख्या में लोगों को अनन्त जीवन के लिए नियुक्त किया गया है, और कि ये सभी उचित समय में ख्रीष्ट पर विश्वास करने में लाए जाएंगे (प्रेरितों के काम 13:48)। इसका अर्थ यह भी है, कि वे स्वयं में विश्वास लाने में अनिच्छुक एवं असमर्थ हैं (यूहन्ना 6:44); और परमेश्वर उन्हें इच्छुक एवं सक्षम बनाने के लिए पवित्र आत्मा देने की प्रतिज्ञा करता है (यहेजकेल 36:26)। इसलिए, विश्वास, अनुग्रह की वाचा की शर्त होने के बजाए, वाचा की प्रतिज्ञा-सम्बन्धी भाग का हिस्सा है (रोमियों 15:12)। यह परमेश्वर का वरदान है, जिसने अपनी सुइच्छा निमित्त तुम्हारे मन में इच्छा और काम, दोनों बातों के करने का प्रभाव डाला है (इफिसियों 2:8; फिलिप्पियों 2:13)।

भाग 4

इस अनुग्रह की वाचा को पवित्रशास्त्र में बहुधा वसीयतनामा (Testament) के नाम से प्रस्तुत किया गया है, जो वाचा को बाँधने

वाले यीशु ख्रीष्ट की मृत्यु, और उस अनन्त मीरास के सन्दर्भ में है, जिसमें उससे सम्बन्धित सभी मीरास वाली वस्तुएँ सम्मिलित हैं (इब्रानियों 7:22; 9:15 – 17; लूका 22:20; 1 कुरिन्थियों 11:25)।

व्याख्या

नए नियम के एक अधिकृत संस्करण (Authorized Version) में, अनुग्रह की वाचा को प्रायः वसीयतनामा (Testament) कहा गया है; और सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि मूल शब्द वाचा एवं वसीयनामा दोनों को दर्शाता है। कम से कम एक अंश ऐसा है जिसमें इसे सबसे उचित रूप में वसीयतनामा कहा गया है, अर्थात इब्रानियों 9:16, 17। कुछ विद्वान आलोचकों ने वास्तव में इस अंश में भी उस शब्द के उपयोग के विरुद्ध कठोर तर्क दिया है; लेकिन अधिकांश मानते हैं कि सामान्य अनुवाद अपवाद रहित है।[40]

भाग 5

यह वाचा व्यवस्था के समय पर और सुसमाचार के समय पर भिन्न-भिन्न रीतियों से कार्यान्वित की गई थी (2 कुरिन्थियों 3:6 – 9): व्यवस्था के अधीन यह यहूदी लोगों को दी गई प्रतिज्ञाओं, भविष्यवाणियों, बलिदानों, खतना, फसह का मेमना, और अन्य प्रतीकों एवं अध्यादेशों द्वारा कार्यान्वित की गई थी, जो कि सभी ख्रीष्ट के आने के पूर्व-संकेत थे (सम्पूर्ण इब्रानियों 8; 9; 10; रोमियों 4:11; कुलुस्सियों 2:11 – 12; 1 कुरिन्थियों 5:7), जो उस समय के लिए, पवित्र आत्मा के कार्य के

---

[40] पाठक को इस विषय पर आलोचकों के विचारों का सारांश डॉ. फ्रेज़र द्वारा एक लम्बे व योग्य लेख में मिलेगा, जो व्हिटशियस के *Dissertations on the Apostles' Creed,* vol. I, note 42 पर उनके अनुवाद के साथ जुड़ा है। एंडोवर के विद्वान प्रोफेसर स्टुअर्ट भी (इब्रानियों पर उनकी टीका में) उन टीकाकारों का उल्लेख करते हैं जो संदर्भित अंश में वाचा शब्द को प्राथमिकता देते हैं, और घोषणा करते हैं कि 'इसे स्वीकार करने में उनकी कठिनाइयाँ असाध्य हैं।'

माध्यम से, प्रतिज्ञा किए गए मसीहा में चुने हुओं को विश्वास में शिक्षा देने एवं निर्मित करने के लिए पर्याप्त एवं प्रभावकारी थे (1 कुरिन्थियों 10:1 – 4; इब्रानियों 11:13; यूहन्ना 8:56), जिसके द्वारा उन्हें पापों की पूर्ण क्षमा एवं अनन्त उद्धार मिला था; और इसे पुराना नियम (पुरानी वाचा) कहा जाता है (गलातियों 3:7 – 9, 14)।

भाग 6

सुसमाचार के अधीन, जब ख्रीष्ट को, जो कि वास्तविकता है (कुलुस्सियों 2:17) दिखाया गया, तो वे अध्यादेश जिनमें इस वाचा को दिया जाता है, वे हैं, वचन का प्रचार करना और बपतिस्मा एवं प्रभु भोज के मसीही संस्कारों का प्रशासन करना (मत्ती 28:19 – 20; 1 कुरिन्थियों 11:23 – 25); जो, यद्यपि संख्या में कम हैं, तथा जिनका संचालन अधिक सरलता और कम दिखावटी महिमा के साथ किया जाता है, फिर भी उनमें यह अधिक परिपूर्णता, प्रमाण, एवं आत्मिक प्रभाव के साथ (इब्रानियों 12:22 – 28; यिर्मयाह 31:33 – 34), सभी जातियों को, यहूदियों एवं अन्यजातियों, दोनों के लिए प्रस्तुत किया जाता है (मत्ती 28:19; इफिसियों 2:15 – 19); और इसे नया नियम (नई वाचा) कहा जाता है (लूका 22:20)। इसलिए, अनुग्रह की दो वाचाएँ नहीं हैं जो सार में भिन्न-भिन्न हैं, बल्कि विभिन्न व्यवस्थाओं के अधीन वे एक और समान ही हैं (गलातियों 3:14, 16; प्रेरितों के काम 15:11; रोमियों 3:21 – 23, 30; भजन संहिता 32:1; रोमियों 4:3, 6, 16, 17, 23, 24; इब्रानियों 13:8)।

व्याख्या

इन अनुभागों में बताए गए सिद्धांत निम्नलिखित हैं:

1. कि अनुग्रह की दो वाचाएँ नहीं हैं, जिनका सार अलग-अलग है, बल्कि पुराने और नए नियम की व्यवस्थाएँ एक ही वाचा के दो युग हैं। यहूदी और मसीही युग का अर्थ पहले और दूसरे – पुरानी और नई वाचा – से है (इब्रानियों 8:7, 13)।

2. कि वे विश्वासी लोग जो पुरानी व्यवस्था के अधीन रहते थे, और साथ में वे जो सुसमाचार के अधीन रहते हैं, ख्रीष्ट पर विश्वास के द्वारा बचाए गए थे, और वे एक धन्य अनन्त जीवन की आशा में जीवित रहे और मरे।

3. कि अनुग्रह की वाचा का नया नियम वाला युग, कई मायनों में, उससे बेहतर है जो ख्रीष्ट के देहधारण से पहले था। अपनी अभिव्यक्तियों की श्रेष्ठ स्पष्टता में, - ख्रीष्ट की मृत्यु द्वारा इसकी पर्याप्त पुष्टि में – पवित्र आत्मा के अधिक प्रचुर मात्रा में उँडेले जाने में – आराधना के अधिक आत्मिक रूप के आरम्भ में, और सभी राष्ट्रों तक इसके विस्तार में, वर्तमान युग अतीत से बढ़कर है।[41]

इस अध्याय के अंत में, आइए हम विचार करें कि अनुग्रह की वाचा उन लोगों की स्थिति के लिए कितनी अद्‌भुत रीति से अनुकूल है जो पहली वाचा के उल्लंघन से बर्बाद हो गए हैं। इसकी शर्त को, उस महिमामय जमानती द्वारा पूरा किए जाने के कारण, पापियों में सबसे बड़े को पूर्ण उद्धार सेतमेंत प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु, इस अनुग्रहपूर्ण वाचा के प्रकट होने से हमें तब तक क्या लाभ नहीं होगा, जब तक कि हम इसमें व्यक्तिगत रूप से मिला न दिए गए हों, और इसके बहुमूल्य आशीषों के भागीदार न बना दिए गए हों? इसलिए, आइए हम 'परमेश्वर की वाचा को थामें रहें,'

---

[41] दोनों व्यवस्थाओं के अंतर्गत अनुग्रह की वाचा की समानता, पुराने नियम की आशीषों एवं दोष, और नए नियम के श्रेष्ठ लाभों पर केल्विन द्वारा *Institutes,* book ii, ch. 9 – 11 में, और व्हिटशियस द्वारा *Economy of the Covenants*, book iv., ch. 11, 12, 13, 15 में अच्छी रीति से चर्चा की गई है।

और इस धन्य वाचा में अपने मिलाए जाने के पूर्णतम प्रमाण के लिए परिश्रम करें। तब, जीवन की सभी परेशानियों के बीच, हम 'अपने प्रभु परमेश्वर में स्वयं को प्रोत्साहित' कर सकते हैं; और, जब अन्य सभी बातें हमें ठोकर मारती हों, तब भी हम उस दृढ़ सांत्वना का अनुभव कर सकते हैं जिसका आनन्द दाऊद ने अपनी जटिल परीक्षाओं के दौरान और विघटन की तत्काल सम्भावना में लिया था; और जिनके लिए उसने अभिव्यक्ति इन अंतिम शब्दों में व्यक्त की; 'क्या मेरा घराना परमेश्वर की दृष्टि में ऐसा नहीं है, उसने तो मेरे साथ सदा की एक ऐसी वाचा बाँधी है, जो सब बातों में ठीक की हुई और अटल भी है; क्योंकि चाहे वह उसको प्रगट न करे, तौभी मेरा पूर्ण उद्धार और पूर्ण अभिलाषा का विषय वही है।'

अध्याय 8

मध्यस्थ यीशु ख्रीष्ट

भाग 1

अपने अनन्त अभिप्राय में, परमेश्वर को यह भला लगा, कि अपने इकलौते पुत्र, प्रभु यीशु को, परमेश्वर और मनुष्य के बीच में मध्यस्थ (यशायाह 42:1; 1 पतरस 1:19 – 20; यूहन्ना 3:16; 2 तीमुथियुस 2:5), अर्थात नबी (प्रेरितों के काम 3:22), याजक (इब्रानियों 5:5 – 6), और राजा (भजन संहिता 2:6; लूका 1:33); अपनी कलीसिया का सिर (प्रधान) एवं उद्धारकर्ता (इफिसियों 5:23), सब वस्तुओं का वारिस (इब्रानियों 1:2), और जगत का न्यायी होने के लिए चुने और नियुक्त करे (प्रेरितों के काम 17:31); जिसको उसने अनन्त काल से उसका वंश होने के लिए एक लोग दिए हैं (यूहन्ना 17:6; भजन संहिता 22:30; यशायाह 53:10), और ताकि वे उसके द्वारा समय आने पर छुड़ाए जाएं, बुलाएं जाएं, धर्मी ठहराए जाएं, पवित्र बनाए जाएं, और महिमान्वित किए जाएं (1 तीमुथियुस 2:6; यशायाह 55:4 – 5; 1 कुरिन्थियों 1:30)।

व्याख्या

मध्यस्थ वह व्यक्ति होता है जो दो आपसी विरोध वाले पक्षों के बीच, पुनर्मेल कराने के लिए खड़ा होता है। पाप में पतन से पहले, परमेश्वर और मनुष्य के बीच मध्यस्थ की कोई आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि, यद्यपि दोनों की प्रकृति में अनन्त अंतर था, फिर भी इन पक्षों में कोई विरोध नहीं था। लेकिन पाप में पतन के साथ ही मामला उलट गया; परमेश्वर का अपमान हुआ था, और उसे बहुत अधिक ठेस पहुँचाई गई; मनुष्य को

परमेश्वर से अलग कर दिया गया, और उसके न्यायिक क्रोध के अधीन कर दिया गया; और चूंकि मनुष्य परमेश्वर की उस व्यवस्था के दावों को पूरा करने में अक्षम था, जिसका उसने उल्लंघन किया था, यदि उसे अपने अपमानित सम्प्रभु परमेश्वर के अनुग्रह में पुनः स्थापित करना था, तो उसके दोष के लिए प्रायश्चित करने और शांति की नींव रखने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को बीच में खड़ा होना अनिवार्य था। यही वह पद एवं कार्य है जिसे यीशु ख्रीष्ट को सौंपा गया, जो कि परमेश्वर और मनुष्य के बीच एकमात्र मध्यस्थ है; और यह भाग इस पद के लिए परमेश्वर द्वारा उसकी नियुक्ति, तथा उसके वंशज के रूप में उसे एक लोग दिए जाने से सम्बन्धित है।

1. अनन्तकाल से, परमेश्वर को यह भला लगा, कि अपने इकलौते पुत्र, प्रभु यीशु को, परमेश्वर और मनुष्य के बीच में मध्यस्थ होने के लिए चुने और नियुक्त करे। चूंकि, मनुष्य के पाप के द्वारा आहत पक्ष परमेश्वर है, इसलिए उसके न्यायिक माँगो को संतुष्ट करने के लिए, हर एक पापी के स्थान पर किसी और को स्वीकार करने का अधिकार उसका है। लेकिन उसने न केवल प्रतिस्थापन प्रायश्चित को स्वीकार किया; बल्कि उसने अपने असीम अनुग्रह और अनपेक्षित प्रेम के क्रियान्वयन में, अपने इकलौते पुत्र को उसके मध्यस्थ के पद पर नियुक्त करके, इस कठिन व विकट कार्य के लिए अपने समान ही व्यक्ति प्रदान किया। हमारे प्रभु ने अपनी विशेष बुलाहट और आदेश के बिना मध्यस्थता के कार्य को नहीं किया। अनन्तकाल से ही उसे परमेश्वर और मनुष्य के बीच मध्यस्थ के पद का क्रियान्वयन करने के लिए चुना एवं नियुक्त किया गया था; इसलिए उसे 'सनातन से अर्थात आदि से नियुक्त', और 'सृष्टि की उत्पत्ति से पहले ही जाना गया' कहा गया है (नीतिवचन 8:23; 1 पतरस 1:20)। जब वह पृथ्वी पर था तो उसने प्रायः घोषणा की, कि हमारे छुटकारे के कार्य को पूरा करने में जो कुछ उसने किया, वह उसने पिता से प्राप्त विशेष आदेश द्वारा, और उसकी इच्छा के आज्ञापालन में किया (यूहन्ना 6:38)। ख्रीष्ट की

मध्यस्थता के पद पर उसकी परमेश्वर की नियुक्ति पिता के प्रेम का एक अद्‌भुत प्रमाण प्रस्तुत करती है, जिसने, अपने 'एकलौते पुत्र को ...हमारे पापों के प्रायश्चित के लिए अपने पुत्र को भेजा' (1 यूहन्ना 4:9 – 10), और ख्रीष्ट में हमारे भरोसे के लिए एक दृढ़ नींव को तैयार किया। अपने पिता की नियुक्ति के बिना, उसका कार्य हमारे छुटकारे के लिए व्यवस्था में मान्य नहीं हुआ होता; परन्तु, यह नियुक्ति हमें आश्वस्त करती है, कि उसकी मध्यस्थता का सम्पूर्ण कार्य परमेश्वर को सबसे पूर्ण रूप से स्वीकार्य है, और हमें हमारे अनन्त उद्धार के लिए उसके द्वारा पूरा किए गए कार्य पर भरोसा करने के लिए सर्वोच्च प्रोत्साहन देता है।

2. पिता ने, अनन्तकाल से, ख्रीष्ट को उसका वंश होने के लिए, और जो उसके द्वारा महिमा में पहुँचाए जाने के लिए, एक लोग दिए। कि मानवजाति की एक निश्चित संख्या को, जिन्हें परमेश्वर द्वारा उसके समृद्ध और सम्प्रभुत्व वाले अनुग्रह के क्रियान्वयन में चुना गया, ख्रीष्ट को सौंपा गया, यह उनके और संसार के बीच अंतर से स्पष्ट है। ख्रीष्ट उन्हें सम्बोधित करता है 'उन मनुष्यों पर ... जिन्हें तू ने जगत में से मुझे दिया', और घोषणा करता कि वह 'संसार के लिए विनती नहीं करता, परन्तु उनके लिए जिन्हें तू ने मुझे दिया है' (यूहन्ना 17:6, 9)। इन अंशों में संसार उन लोगों के विरोध में है जिन्हें ख्रीष्ट को दिया गया था, और इस बात से हर निष्पक्ष मन को यह विश्वास हो जाना चाहिए कि ख्रीष्ट को दिए गए लोग एक निश्चित संख्या में हैं, जिन्हें परमेश्वर द्वारा मानवजाति के संसार में से चुना है। उनको ख्रीष्ट का वंश होने के लिए दिया गया था। यह अनिश्चित नहीं था कि ख्रीष्ट को, उसके मध्यस्थता के कार्य के प्रतिफल के रूप में, उसकी सेवा करने के लिए एक लोग होंगे; यह शर्त रखी गई थी कि वह अपना वंश देखेगा, जिनमें वह अपनी मनोव्यथा के परिणामस्वरूप वह उसे देखेगा और संतुष्ट होगा (यशायाह 53:10, 11)। वे उसे इसलिए दिए गए थे कि वह उन्हें छुटकारा दे और उन्हें महिमान्वित करे। उसे न केवल उनके लिए उद्धार की

सम्भावना उपलब्ध करानी थी, बल्कि उनके लिए पूर्ण और अंतिम निर्णायक उद्धार सुनिश्चित करना था; और जो कुछ उसे दिया गया, उनमें से कोई भी नष्ट नहीं होगा। यीशु ख्रीष्ट कहते हैं, 'जिसने मुझे भेजा उसकी इच्छा यह है कि सब कुछ जो उसने मुझे दिया है, उसमें से कुछ भी न खोऊँ, परन्तु अन्तिम दिन में उसे जिला उठाऊँ' (यूहन्ना 6:39)।

भाग 2

परमेश्वर का पुत्र, त्रिएक परमेश्वर में दूसरा व्यक्ति, जो परमेश्वर से परमेश्वर और अनन्त परमेश्वर है, जो पिता के साथ एक ही तत्व का, और पिता के बराबर है, जब समय पूरा हुआ, तो उसने मानवता का स्वभाव (यूहन्ना 1:1, 14; 1 यूहन्ना 5:20; फिलिप्पियों 2:6; गलातियों 4:4), इसके सभी आवश्यक गुणों एवं सामान्य दुर्बलताओं के साथ धारण किया, फिर भी वह पाप रहित था (इब्रानियों 2:14, 16 – 17; 4:15): पवित्र आत्मा की सामर्थ्य से कुंवारी मरियम के गर्भ में, उसके तत्व का गर्भधारण किया (लूका 1:27, 31, 35; गलातियों 4:4)। इस प्रकार दो सम्पूर्ण, सिद्ध, एवं भिन्न स्वभाव, परमेश्वरत्व एवं मनुष्यत्व, एक ही व्यक्ति में अविभाज्य रूप, बिना रूपांतरण, बिना संयोजन, या बिना भ्रम के साथ आपस में जुड़े हुए थे (लूका 1:35; कुलुस्सियों 2:9; रोमियों 9:5; 1 पतरस 3:18; 1 तीमुथियुस 3:16)। वह व्यक्ति पूर्ण रूप से परमेश्वर और पूर्ण रूप से मनुष्य है, फिर भी एक ही ख्रीष्ट है, जो परमेश्वर और मनुष्य के बीच में एकमात्र मध्यस्थ है (रोमियों 1:3 – 4; 1 तीमुथियुस 2:5)।

व्याख्या

यह भाग मध्यस्थ के व्यक्ति के बनावट से सम्बन्धित है। सोसिनियन और एकैश्वरवादी (Unitarian) लोगों के विरोध में, जो मानते हैं कि ख्रीष्ट मात्र एक मनुष्य था, और मरियम से जन्म लेने से पहले उसका कोई अस्तित्व

नहीं था; और एरियन लोगों के विरोध में, जो, यद्यपि ख्रीष्ट के पूर्व-अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, पर यह मानते हैं कि वह एक प्राणी है, और अपने देहधारण से पहले केवल एक महा-स्वर्गदूत वाली आत्मा के रूप में अस्तित्व में था; हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है, कि यीशु ख्रीष्ट न केवल अपने देहधारण से पहले अस्तित्व में था, बल्कि वह अनन्तकाल से परमेश्वर का पुत्र है, जो पिता के साथ एक ही तत्व का, और पिता के बराबर है; और जब समय पूरा हुआ, तब उसने परमेश्वर के स्वभाव के साथ जोड़कर एक पूर्ण मानवीय स्वभाव को धारण किया, जिससे वह पूर्ण रूप से परमेश्वर और पूर्ण रूप से मनुष्य है, दो अलग-अलग स्वभाव होते हुए, फिर भी वह एक व्यक्ति है।

1. यीशु ख्रीष्ट न केवल अपने देहधारण से पहले अस्तित्व में था, बल्कि वह परमेश्वर का सनातन पुत्र है, पिता के साथ एक ही तत्व का और पिता के बराबर है। पवित्रशास्त्र के अनेक साक्ष्यों द्वारा ख्रीष्ट के पूर्व-अस्तित्व की पुष्टि की गई है। कि वह यूहन्ना बपतिस्मा देनेवाले से पहले अस्तित्व में था, इस बात की पुष्टि स्वयं यूहन्ना द्वारा की गई है, 'जिसने उसके विषय में गवाही' यह कहते हुए दी, 'जो मेरे बाद आ रहा है वह मुझ से बढ़कर है क्योंकि वह मुझ से पहले था' (यूहन्ना 1:15)। कि वह अब्राहम से पहले अस्तित्व में था, इसकी पुष्टि स्वयं ख्रीष्ट ने की है, जब उसने यहूदियों से कहा, 'इससे पहले कि अब्राहम उत्पन्न हुआ, मैं हूँ' (यूहन्ना 8:58)। कि वह जल प्रलय से पहले अस्तित्व में था, यह प्रेरित पतरस के शब्दों से स्पष्ट है, जो पुष्टि करता है कि आत्मा के द्वारा ख्रीष्ट ने 'जाकर कैदी आत्माओं को भी प्रचार किया; जिन्होंने बीते समय में आज्ञा न मानी, जब परमेश्वर नूह के दिनों में धीरज धरकर ठहरा रहा, और वह जहाज बन रहा था' (1 पतरस 3:19, 20)। यह बात भी कम स्पष्ट नहीं है कि वह जगत की उत्पत्ति से पहले अस्तित्व में था, क्योंकि पवित्रशास्त्र हमें सिखाता है कि सब वस्तुएँ उसी के द्वारा सृजी गई, और अपने विदाई वाली प्रार्थना में

उसने स्वयं को इस प्रकार व्यक्त किया: अब हे पिता, तू अपने साथ मेरी महिमा उस महिमा से कर जो जगत की सृष्टि से पहले, मेरी तेरे साथ थी (यूहन्ना 17:5)। ख्रीष्ट यह भी घोषणा करता है कि वह, 'स्वर्ग से उतरा' है, और अपने ऊपर जाने की बात करता है जहाँ वह पहले था (यूहन्ना 3:16; 6:62); जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हमारा स्वरूप धारण करने से पहले स्वर्ग में उसका निवास था।[42]

हमें यह अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं है कि वह स्वभाव क्या था जिसमें ख्रीष्ट अपने देहधारण से पहले अस्तित्व में था। हमें विश्वास दिलाया गया है कि 'जिसने परमेश्वर के स्वरूप में होकर भी परमेश्वर के तुल्य होने को अपने वश में रखने की वस्तु न समझा' (फिलिप्पियों 2:6); कि 'आदि में वचन था, और वचन परमेश्वर के साथ था, और वचन परमेश्वर था' (यूहन्ना 1:1)। लेकिन ख्रीष्ट के सर्वोच्च परमेश्वरत्व को पिछले अध्याय में प्रमाणित किया जा चुका है, और अब हम इस विषय पर फिर से चर्चा नहीं करेंगे। हालाँकि, इस स्थान पर ख्रीष्ट के पुत्रत्व से सम्बन्धित कुछ टिप्पणियाँ करना उचित होगा। परमेश्वर के पुत्र वाली उपाधि पवित्रशास्त्र में विभिन्न क्रमों के प्राणियों के लिए प्रयुक्त की गई है, परन्तु ख्रीष्ट को परमेश्वर का पुत्र एक ऐसे मायने में नामित किया गया है जो पूर्ण रूप से उसके अपने लिए अति-विशिष्ट है; इसलिए उसे परमेश्वर का निज पुत्र कहा जाता है – उसका वास्तविक पुत्र – परमेश्वर का एकलौता। उसका पुत्रत्व न तो उनके मिशन-कार्य पर आधारित है, न ही उसके चमत्कारी गर्भाधान पर, न ही उसके पुनरुत्थान पर, जैसा कि कई लोग मानते हैं; परन्तु वह एक सनातन, अनिवार्य और अवर्णनीय जनन द्वारा परमेश्वर का पुत्र है। इस सत्य की पुष्टि पवित्रशास्त्र के अनेक अंशों से होती है, और परमेश्वर के पुत्र

[42] आर्क बिशप मैगी की प्रसिद्ध रचना में यीशु ख्रीष्ट के पूर्व अस्तित्व का बहुत ही योग्य वर्णन किया है *Atonement – Illustrations, No. 1*; Hill's *Lectures*, vol. i. p. 289; Wilson on the *Person of Christ,* ch. 11.)

के सनातन जनन के लिए जिसके अनुप्रयोग को अनेक विद्वान धर्मविज्ञानियों ने प्रमाणित किया है।[43] हम पाठक को केवल भजन 2:7; नीतिवचन 8:24, 25; मीका 5:2; यूहन्ना 1:14 का हवाला दे सकते हैं। हमारे प्रभु के सनातन पुत्रत्व का खण्डन त्रिएकता के सिद्धांत को भ्रष्ट करना है; यह छुटकारे के कार्य की महिमा पर पर्दा डालता है; क्योंकि त्रिएक परमेश्वर के दूसरे व्यक्ति का अनुग्रह उसके देहधारण, आज्ञाकारिता, और दुःख सहने में है – प्रथम व्यक्ति का प्रेम उसे भेजने, और हमारे लिए दुःख उठाने और मृत्यु के हवाले उसे सौंपने में – और उसके प्रायश्चित का असीम मूल्य, ये सभी बातें पवित्रशास्त्र में परमेश्वर के पुत्र के रूप में उसकी वास्तविक गरिमा पर आधारित हैं। हम पुत्र के सनातन जनन के तरीके को समझाने का दिखावा नहीं कर सकते; परन्तु इस आधार पर इसका खण्डन करना कि यह हमारी समझ से बाहर है, मूर्खतापूर्ण होगा; क्योंकि इसी आधार पर, हम एक परमेश्वरत्व में तीन अलग-अलग व्यक्तियों के अस्तित्व का भी खण्डन कर सकते हैं। भले ही पुत्र का सनातन जनन हमारे लिए एक ऐसा रहस्य है जिसे समझा नहीं जा सकता, फिर भी एक बात के विषय में हम निश्चित हैं, कि अनिवार्य रूप से इसका अर्थ है कि पुत्र पिता के साथ बराबर है। पुत्रत्व के लिए हमारे प्रभु के दावे को यहूदियों ने पिता के बराबर होने का दावा समझा, और इसलिए सही मायने में परमेश्वर होने का दावा; और उसने उनके शब्दों के इस अर्थ को यह कहकर सही ठहराया, 'मैं और पिता एक हैं' (यूहन्ना 10:30, 33)।

2. जब समय पूरा हुआ, तो परमेश्वर के पुत्र ने अपने परमेश्वरीय व्यक्ति के साथ मिलकर सम्पूर्ण मानवता का स्वभाव धारण किया। हमारे विश्वास के इस सिद्धांत का अलग-अलग प्रकार के गलत शिक्षकों ने विरोध किया

[43] व्हिटशियस को देखें *Creed,* Diss. 12; गिब्स का लेख *Contemplations,* pp. 207-227.

है, और हमारे अंगीकार-कथन के वक्तव्य विभिन्न समयों में फैलाई गई गलत शिक्षाओं का उत्तर देने के लिए लिखे गए हैं।

क. परमेश्वर के पुत्र ने मनुष्य का स्वभाव धारण किया – वास्तविक और सम्पूर्ण मानवता। मसीही कलीसिया के आरम्भ में इस सिद्धांत को कई सम्प्रदायों ने नकारा, जैसे डोसेटिक (Docetic), जो मानते थे कि ख्रीष्ट का शरीर वास्तविक नहीं, बल्कि मात्र एक परछाई जैसा था; जबकि बाद में, कुछ अन्यों ने कहा कि ख्रीष्ट के पास शरीर तो था, परन्तु मानव आत्मा नहीं थी।[44] लेकिन पवित्रशास्त्र घोषणा करता है 'वचन देहधारी हुआ' (यूहन्ना 1:14) – 'तो परमेश्वर ने अपने पुत्र को भेजा जो स्त्री से जन्मा' (गलातियों 4:4) – और कि, 'इसलिए जब कि लड़के मांस और लहू के भागी हैं, तो वह आप भी उनके समान सहभागी हो गया' (इब्रानियों 2:14)। इस प्रकार की भाषा का मिलना असम्भव है जो ख्रीष्ट के मनुष्य होने की सच्चाई को इससे अधिक स्पष्ट रूप से बता सके। उसके चेले, जो उसके साथ बातचीत करते थे, उन्हें निश्चित विश्वास था कि जिसे वे देख रहे थे, वह मात्र भ्रम नहीं था, और उन्हें उसके शरीर में होने की सच्चाई पर उतना ही भरोसा था जितना उन्हें अपने शरीर पर था। 'उस जीवन के वचन के विषय में ... जिसे अपनी आँखों से देखा, वरन् जिसे हम ने ध्यान से देखा और हाथों से छुआ' (1 यूहन्ना 1:1)। यह भी निर्विवाद है कि ख्रीष्ट की एक मानव आत्मा थी। वह 'बुद्धि और डील-डौल में ... बढ़ता गया' (लूका 2:52); एक उसके शरीर से सम्बन्धित है और दूसरा उसकी आत्मा से सम्बन्धित है। अपने दुःख में, उसने कहा, 'मेरा मन बहुत उदास है, यहाँ तक कि मैं मरने पर हूँ' (मरकुस 14:34); और क्रूस पर, उसने यह कहते

---

[44] एरियन और यूनोमियन लोगों का मानना था कि यीशु ख्रीष्ट में मानवीय स्वभाव का कोई भाग नहीं था, सिवाय शरीर के; बल्कि प्राण का स्थान पर 'वचन' (Word) का वास था। अपोलिनेरियन लोगों ने मानव को तीन भागों में बांटा – शरीर, सचेतन आत्मा और तर्कशील प्राण; उनका मानना था कि ख्रीष्ट में तर्कशील प्राण नहीं था, बल्कि उसके स्थान पर 'वचन' (Word) को स्थानापन्न किया गया था – Newlands, *Analysis of the Thirty-Nine Articles*, p. 57.

हुए इसे अपने पिता को सौंप दिया, 'हे पिता, मैं अपनी आत्मा तेरे हाथों में सौंपता हूँ' (लूका 23:46)।

ख. ख्रीष्ट को हमारे स्वभाव की सामान्य कमजोरियों के अधीन किया गया था, लेकिन वह पूर्ण रूप से पाप रहित था। वह भूख और प्यास, थकान और दर्द, और अन्य स्वाभाविक कमजोरियों के अधीन था। इसी कारण से कहा जाता है कि उसे संसार में 'पापमय शरीर की समानता' में भेजा गया (रोमियों 8:3)। परन्तु यह केवल पापमय शरीर की समानता जैसा था, क्योंकि वास्तव में उसमें कोई भी पाप नहीं था इसलिए उसे 'पवित्र जन,' 'पवित्र बालक यीशु,' और 'निर्दोष और निष्कलंक मेम्ना' कहा जाता है। हमारे प्रभु के मानवीय स्वभाव की पूर्ण पवित्रता उसके मध्यस्थता वाले कार्य के लिए उसे योग्य बनाने हेतु अनिवार्य थी। क्योंकि यदि वह स्वयं पापी होता, तो वह दूसरों के पापों के लिए प्रायश्चित नहीं कर पाता। अतः ऐसा ही महायाजक हमारे योग्य था जो पवित्र, और निष्कपट, और निर्मल, और पापियों से अलग ... हुआ हो (इब्रानियों 7:26)।

ग. ख्रीष्ट का मानवीय स्वभाव पवित्र आत्मा की सामर्थ्य से कुंवारी मरियम के गर्भ में गर्भधारण हुआ था, और मरियम के शरीर के अंश से बना था। ख्रीष्ट का शरीर शून्य में से नहीं बना था, न ही वह स्वर्ग से उतरा था, बल्कि वह पवित्र आत्मा के माध्यम से, कुंवारी के शरीर के अंश से बना था; इसलिए मरियम को यीशु की *माँ* कहा जाता है, और यीशु को उसके 'पेट का फल,' और 'स्त्री का वंश' कहा जाता है (लूका 1:42, 43; उत्पत्ति 3:15)।[45]

घ. परमेश्वर के पुत्र ने मानव स्वभाव को परमेश्वर वाले स्वभाव के साथ मिलन कर धारण किया, जिससे दो अलग-अलग स्वभाव, परमेश्वरत्व

[45] कुछ पुराने विधर्मियों के अतिरिक्त, कुछ एनाबैप्टिस्ट लोग, जो धर्म-सुधार के समय इंग्लैंड में आए थे, उन्होंने दावा किया कि ख्रीष्ट अपने मानवीय स्वभाव को स्वर्ग से लाए थे, और वह केवल मरियम से होकर निकले थे, जैसे सूर्य की किरणें काँच से होकर निकलती हैं।

और मानवीय, एक ही व्यक्ति में अविभाज्य रूप से जुड़े हैं। यह बात पाँचवीं सदी में फैली कुछ गलत शिक्षाओं के विरोध में दृढ़ता-पूर्वक कही गई थी। नेस्टोरियन लोग मानते थे कि ख्रीष्ट में '*दो व्यक्ति* थे, जिनमें से एक *परमेश्वर वाला* था, अर्थात अनन्त वचन; और दूसरा, जो *मानवीय* था, अर्थात मानव यीशु।' इस गलती से बहुत घृणा के परिणामस्वरूप यूटीकिअन्स (Eutychians) लोग विपरीत चरम गलत शिक्षा पर चले गए। उन्होंने सिखाया कि ख्रीष्ट में, 'केवल एक ही स्वभाव था'; उसका मानवीय स्वभाव परमेश्वर वाले स्वभाव द्वारा अवशोषित कर लिया गया था।[46] कि परमेश्वरत्व और मनुष्यत्व ख्रीष्ट के एक व्यक्ति में एक साथ हैं, यह बात पवित्रशास्त्र के उन पदों द्वारा प्रमाणित होती है जो हमारे उद्धारकर्ता के दो स्वभाव के विषय में बात करते हैं (जैसे यशायाह 4:6; रोमियों 4:5; मत्ती 11:8)। ख्रीष्ट के मानवीय स्वभाव का कभी भी अपना अलग से अस्तित्व या व्यक्तित्व नहीं था, बल्कि, अपने बनने के आरम्भ से ही परमेश्वर के पुत्र के व्यक्ति के साथ जुड़ा हुआ था, और उस में अस्तित्व में था। इसको अतिरक्तता सम्बन्धी (Hypostatic Union) या व्यक्तिगत जोड़ कहा जाता है। हालाँकि यह एक घनिष्ठ मिलन है, फिर भी दोनों स्वभाव आपस में मिल नहीं जाते हैं, बल्कि प्रत्येक अपने अनिवार्य गुणों को बनाए रखते हैं। लेकिन, इस जोड़ के कारण, जो गुण और कार्य एक स्वभाव के लिए उचित हैं, उनका श्रेय ख्रीष्ट के व्यक्ति को दिया जाता है। वह केवल मानवीय स्वभाव में आज्ञा मान सकता था और दुःख सह सकता था, परन्तु उसके आज्ञापालन और दुःख सहने को परमेश्वर के पुत्र – महिमा के प्रभु के रूप में उसके लिए सूचित किया जाता है (इब्रानियों 5:8; 1 कुरिन्थियों 2:8)। हमारे उद्धारकर्ता को उनके परमेश्वरत्व से अलग एक मानवीय व्यक्ति के रूप दिखाना, उसकी आज्ञाकारिता और दुःखों के वास्तविक मूल्य को समाप्त करना है, और परिणामस्वरूप, उसके लहू के द्वारा कलीसिया के

[46] Mosheim's *Eccl. Hist. cent v.*, p2. ch. 5.

छुटकारे के महान सिद्धांत को भ्रष्ट करना है। इसलिए, यह हमारे विश्वास का सबसे महत्वपूर्ण अनुच्छेद है, कि हमारा धन्य उद्धारकर्ता, 'पूर्ण रूप से परमेश्वर और पूर्ण रूप से मनुष्य है, फिर भी एक ही ख्रीष्ट है।'[47] इसके साथ यह भी जोड़ा गया है, कि वह परमेश्वर और मनुष्य के बीच में एकमात्र मध्यस्थ है। रोमन कैथोलिक लोग मध्यस्थता के कार्य में संतों और स्वर्गदूतों को भी ख्रीष्ट के साथ जोड़ते हैं। वास्तव में, वे मानते हैं कि ख्रीष्ट ही छुटकारे के एकमात्र मध्यस्थ है, लेकिन वे कहते हैं कि प्रार्थना-बिनती के लिए अन्य मध्यस्थ हैं। परन्तु पवित्रशास्त्र ऐसा कोई अंतर नहीं बनाता है; इसके विपरीत, यह स्पष्ट तौर पर दृढ़ता से कहता है कि केवल एक ही मध्यस्थ है, जिस प्रकार केवल एक ही परमेश्वर है (1 तीमुथियुस 2:5)।

भाग 3

प्रभु यीशु, अपने मानवीय स्वभाव में परमेश्वरत्व से इस प्रकार जुड़कर, पवित्र आत्मा से अत्यधिक रूप से पवित्र एवं अभिषिक्त किया गया था (भजन संहिता 45:7; यूहन्ना 3:34); उसमें बुद्धि एवं ज्ञान का सम्पूर्ण भण्डार था (कुलुस्सियों 2:3), जिसमें पिता की इच्छा यह थी कि सारी परिपूर्णता वास करे (कुलुस्सियों 1:19); इस उद्देश्य के साथ कि, पवित्र, निष्कलंक, निर्मल, और अनुग्रह एवं सच्चाई से परिपूर्ण होने के नाते (यूहन्ना 1:14; इब्रानियों 7:26), वह एक मध्यस्थ और जामिन के पद का कार्य करने के लिए पूर्ण रूप से सुसज्जित हो सके (प्रेरितों के काम 10:38; इब्रानियों 7:22; 12:24)। यह पद उसने स्वयं अपने लिए नहीं लिया, परन्तु इस कार्यभार के लिए उसके पिता के द्वारा उसे बुलाया गया था (इब्रानियों 5:4 – 5), जिसने सारी सामर्थ्य एवं न्याय उसके हाथ में

[47] इस विषय पर पाठक हूरियन के उपदेश Sermons, vol i: और ओवेन के Person of Christ, chap. xviii. से विचार प्राप्त कर सकता है।

सौंपकर, उसे इस कार्य को पूरा करने की आज्ञा दी (मत्ती 28:18; यूहन्ना 5:22, 27; प्रेरितों के काम 2:36)।

व्याख्या

यह भाग ख्रीष्ट के मध्यस्थता वाले कार्य के लिए उसकी योग्यता से सम्बन्धित है। परमेश्वर पिता, जिसने उसे इस कार्य के लिए बुलाया, उसे इसे करने के लिए सभी आवश्यक योग्यताएँ दी। न केवल उसने 'उसके लिए एक शरीर तैयार किया', ताकि वह दुःख उठा सके और मर सके; बल्कि उसने उसके मानवीय स्वभाव पर पवित्र आत्मा के वरदानों और कृपाओं को भी बहुत अधिक मात्रा में दिया, ताकि वह अपने मध्यस्थता वाले कार्य को पूरा करने के लिए पूर्ण रूप से तैयार हो सके। क्योंकि 'परमेश्वर आत्मा नाप नापकर नहीं देता' (यूहन्ना 334)। उसके चमत्कारी गर्भधारण में, उसका मानवीय स्वभाव पवित्र आत्मा द्वारा बनाया गया था, जिसमें वह आरम्भिक कृपा अपने सबसे उच्च सिद्धता के स्तर पर थी; और जब वह हमारे स्वभाव में अपनी सार्वजनिक सेवा आरम्भ करने वाला था, उसके कार्य पर मुहर लगाने के लिए, और उसके कार्य के विषय में उस स्वभाव में उसे योग्य बनाने के लिए, पवित्र आत्मा उसके ऊपर एक देह के समान उतरा (लूका 3:21, 22)।[48]

भाग 4

इस पद (कार्यभार) को प्रभु यीशु ने बहुत ही स्वेच्छापूर्वक लिया (भजन संहिता 40:7 – 8; इब्रानियों 10:5 – 10; यूहन्ना 10:18; फिलिप्पियों 2:8), जिसे, ताकि वह पूरा कर सके, वह व्यवस्था के अधीन किया गया (गलातियों 4:4), और पूरी सिद्धता के साथ उसने इसे पूरा किया (मत्ती 3:15; 5:17); उसने तुरन्त ही अपनी आत्मा में बहुत ही दुखदायक

[48] ओवेन को देखें, Holy Spirit, Book 2, chapter 4

यातना को (मत्ती 26:37 – 38; 27:46; लूका 22:44), और अपने शरीर में सबसे कष्टदायक पीड़ाओं को सहा (सम्पूर्ण मत्ती 26 – 27); वह क्रूस पर चढ़ाया गया, मारा गया (फिलिप्पियों 2:8); गाड़ा गया, और मृत्यु की शक्ति के अधीन रहा, फिर भी उसने कोई सड़न नहीं देखी (प्रेरितों के काम 2:23 – 24, 27; 13:37; रोमियों 6:9)। तीसरे दिन वह मृतकों में से जी उठा (1 कुरिन्थियों 15:3 – 4), उसी शरीर के साथ जिसमें उसने दुःख भोगा था (यूहन्ना 20:25, 27); उसी शरीर के साथ वह स्वर्ग पर चढ़ गया, और वहाँ वह अपने पिता के दाहिने हाथ पर बैठकर (मरकुस 16:19), मध्यस्थ की प्रार्थना करता है (रोमियों 8:34; इब्रानियों 9:24; 7:25); और जगत के अन्त में मनुष्यों और स्वर्गदूतों का न्याय करने के लिए वह वापस आएगा (रोमियों 14:9 – 10; प्रेरितों के काम 1:11; 10:42; मत्ती 13:40 – 42; यहूदा 1:6; 2 पतरस 2:4)।

व्याख्या

यह बात हमारे विशेष ध्यान की माँग करता है, कि ख्रीष्ट ने पापियों के जामिन के रूप में 'परमेश्वर के पास जाने के लिए अपना हृदय लगाया' – वास्तव में, सम्पूर्ण मानवजाति के पापियों के लिए नहीं, बल्कि केवल उन लोगों के लिए जिन्हें पिता ने उसे दिया था, और जिन्हें उसने अपने आत्मिक वंश के रूप में स्वीकार किया था। यह भाग पिछले भाग से बहुत जुड़ा हुआ है, और पुष्टि करता है कि ख्रीष्ट ने न केवल एक मध्यस्थ, बल्कि एक जामिन का भी पद स्वेच्छापूर्वक लिया। जामिन वह व्यक्ति होता है जो किसी दूसरे व्यक्ति के किए हुए कर्ज़ को चुकाने, या दण्ड भोगने के लिए वचनबद्ध होता है। ऐसा ही जामिन हमारा प्रभु यीशु ख्रीष्ट है। सनातन वाचा में, उस असीम कर्ज़ के लिए परमेश्वर की व्यवस्था और न्याय के प्रति जिम्मेदार होने के लिए वह प्रतिबद्ध हुआ, जिसे उसके चुने हुए लोग चुकाने के लिए विवश थे। और अपने पिता की नियुक्ति और स्वयं अपनी

स्वैच्छिक वचनबद्धता के द्वारा, उनका जामिन बनने के कारण, उनका दोष कानूनी रूप से उस पर स्थानांतरित किया गया, और अपने स्वभाव में उसकी सारी आज्ञाकारिता और दुःख जो दूसरों के बदले में थी, या उन लोगों के स्थान में थी, जिनका उसने परमेश्वर के सामने प्रतिनिधित्व किया।

> हमारे प्रभु के जामिन होने को सोसिनियन लोग नहीं मानते, वे मानते हैं कि उसने हमारे स्थान पर दुःख नहीं उठाया और न ही हमारे स्थान पर वह मरा, बल्कि केवल हमारी भलाई के लिए; या अपनी शिक्षा को प्रमाणित करने के लिए, और हमें हमारे दुःखों में परमेश्वर की इच्छा के प्रति धीरज और समर्पण का एक उदाहरण पेश करने के लिए वह मरा। नियोनोमियन लोग (Neonomians) भी उसके उचित जामिन होने को खण्डन करते हैं, वे मानते हैं, कि उसने केवल पापियों के लिए परमेश्वर के न्याय को संतुष्ट किया, जहाँ तक कि यह उनके साथ उद्धार की निचली शर्तों को मानने के लिए परमेश्वर के सम्मान के साथ यह सहमत होने के लिए अनिवार्य था। और यह बात उन सभी लोगों द्वारा नकार दी जाती है जो ख्रीष्ट पर हमारे पापों के अभ्यारोपण के सिद्धांत के विरुद्ध है, और सार्वजनिक एवं अनिश्चित प्रायश्चित के समर्थक हैं। [49]

वे ख्रीष्ट के विषय में पापियों के *स्थानापन्न* के रूप में, और उसके दुःखों को *प्रतिनिधिक* के रूप में बता सकते हैं, परन्तु उसके उचित रूप से जामिन होने का सिद्धांत, जिसमें अनिवार्य रूप से उसके लोगों के पाप का दोष उस पर अभ्यारोपित होने, और उस दण्ड को उसके द्वारा सहना जो उसके लोगों को मिलना था, इस बात का उनके धर्म-विज्ञान में कोई स्थान नहीं है। हालाँकि, पवित्रशास्त्र में जामिन शब्द स्पष्ट रूप से ख्रीष्ट के लिए लागू किया है (इब्रानियों 7:22)। और वह ऐसा जामिन नहीं है, जैसा कि सोसिनियन लोग कहते हैं, कि वह हमारे लिए परमेश्वर की प्रतिज्ञाओं को

[49] Stevenson, *Offices of Christ,* p. 140.

पूरा करने हेतु *परमेश्वर के लिए जामिन* है; बल्कि वह चुने हुए पापियों के हेतु *परमेश्वर को दिया गया जामिन* है; और, इस प्रकार, कार्यों की वाचा के रूप में, व्यवस्था के प्रति आज्ञाकारिता के कर्ज़ को चुकाने, और दण्ड के उस कर्ज को चुकाने के लिए उसने कार्य किया, जिसे उसके लोगों ने पाप द्वारा अनुबंधित किया था। कि उसके लोगों के पाप उस पर अभ्यारोपित किए गए, यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित है: 'और यहोवा ने हम सभों के अधर्म का बोझ उसी पर लाद दिया' (यशायाह 53:6)। यह बताया गया है, कि ख्रीष्ट ने अपने लोगों के पापों के कारण, अधर्मियों के लिए, उनके अपराधों के कारण दुःख उठाया; जिसका अनिवार्य रूप से यह अर्थ है कि उनके पापों के लिए उसे दोषी ठहराया गया (1 पतरस 3:18; यशायाह 53:8)। कानूनी व्यवस्था के तहत, परमेश्वर की आज्ञा द्वारा चढ़ाए जाने वाले सभी बलिदान, ख्रीष्ट की मृत्यु के प्रतीक थे; परन्तु सभी कानूनी बलिदान प्रतिनिधिक थे – अपराधी का दोष पाप-बलि पर स्थानापन्न कर दिया जाता था, जो कि बलि-पशु के सिर पर अपराधी के हाथ रखने द्वारा दिखाया जाता था; और, यह दिखाने के लिए कि यह प्रारूप हमारे प्रभु के अपने लोगों के स्थान में स्थानापन्न होने में पूरा हुआ, उसके लिए कहा गया है कि वह आप ही हमारे पापों को अपनी देह पर लिये हुए क्रूस पर चढ़ गया (1 पतरस 2:24)। ख्रीष्ट के दुःखों और मृत्यु की परमेश्वर की भलाई और न्याय के साथ किसी और तरीके से संगतता बनाना असम्भव है, जब तक कि उसके जामिन होने के सिद्धांत को स्वीकार न कर लिया जाए; क्योंकि उसका अपना कोई पाप नहीं था, और इसलिए, उसे दूसरों के स्थान पर दुःख उठाना पड़ा, ताकि वह उनके पापों के लिए परमेश्वर के न्याय के प्रति उचित प्रायश्चित दे सके। केवल यही वह बात है जो ख्रीष्ट के प्रायश्चित का उसके लोगों पर अभ्यारोपण करने का आधार बनता है। उनके जामिन के रूप में उसने आज्ञा मानी और दुःख उठाया; और इस आधार पर, जो उसने कार्य किया और दुःख उठाया वह उसके लोगों के

लिए गिना गया, और उनके उद्धार के लिए प्रभावकारी बनता है (2 कुरिन्थियों 5:21)। इससे यह स्पष्ट अर्थ निकलता है, कि ख्रीष्ट ने हमारी मानवजाति की एक निश्चित संख्या में लोगों के लिए दुःख उठाया और वह मरा, जिन लोगों को पिता ने उसे सौंपा था, जब तक कि हम सार्वभौमिक उद्धार के सिद्धांत को न अपना लें। यदि ख्रीष्ट मानवजाति के प्रत्येक मनुष्य के लिए जामिन बना, तो इसका निष्कर्ष अपरिहार्य है, या तो सम्पूर्ण मानवजाति को बचाया जाना चाहिए, या फिर ख्रीष्ट उस कार्य को पूरा करने में असफल रहा जिसको उसने पूरा करने का बीड़ा उठाया था।

यह भाग आगे बताता है ख्रीष्ट ने अपने मध्यस्थता वाले पद के क्रियान्वयन में, अर्थात, अपने दीन बनाए जाने और अपने महिमान्वित किए जाने की दशा में क्या किया। पहली दशा में:

1. *उसे व्यवस्था के अधीन किया गया, और उसने पूर्ण रूप से इसका पालन किया*। जिस व्यवस्था के अधीन ख्रीष्ट को किया गया वह नैतिक व्यवस्था थी, जीवन के नियम के रूप में नहीं, बल्कि एक वाचा के प्रारूप के अधीन, जो जीवन की शर्त पर पूर्ण आज्ञाकारिता की माँग, और मनुष्य के अपराध के कारण एक सिद्ध प्रायश्चित की माँग करता था। ख्रीष्ट वास्तव में व्यवस्था के प्रति कर्जदार नहीं था, परन्तु पापियों के जामिन के रूप में, वह इसकी अधीनता की दशा में स्वैच्छिक रूप से आया; और उसने इसके नियमों को पूरा किया और इसके दण्ड को भी भुगता। व्यवस्था के अधीन होने के रूप में, उसकी सभी आज्ञाकारिता और दुःख किसी भी रीति से उसके अपने लिए नहीं थी, बल्कि पूरी रीति से उसके लोगों के बदले में थी; और उसकी सेवा के द्वारा, व्यवस्था न केवल पूरी हुई, बल्कि महिमान्वित हुई एवं सम्मानित बनाई गई (यशायाह 42:21)।

2. *उसने अपनी आत्मा और शरीर दोनों में दुःख भोगा*। उसके दुःख अनेक प्रकार के थे, और चरम सीमा में थे। उसके पूरे जीवन भर, 'वह दुःखी पुरुष था, और रोग से उसकी जान पहिचान थी।' उसे मनुष्यों से

बहुत दुःख मिला, न केवल अपने जानी शत्रुओं से, बल्कि उसके दिखावटी मित्रों से भी, और यहाँ तक कि उसके अपने शिष्यों से भी। शैतान की परीक्षाओं द्वारा भी उस पर आक्रमण किया गया था। लेकिन प्राणियों के माध्यम में सहे गए कष्टों के अतिरिक्त, उसने विधाता न्यायी स्वयं परमेश्वर के तत्काल हाथों से दुःख उठाया। 'तौभी यहोवा को यही भाया कि उसे कुचले, और उसी ने उसे रोगी कर दिया।' क्योंकि सोसिनियन लोग हमारे प्रभु के दुःखों के दण्डात्मक स्वरूप को नकारते हैं, इसलिए वे उसके दुःखों को उन तक ही सीमित रखते हैं जो उसने प्राणियों के माध्यम से भोगा; परन्तु जब तक हम यह स्वीकार नहीं करते है कि उसने, एक क्रोधित न्यायी के रूप में परमेश्वर के तत्काल हाथों से अपनी आत्मा में दुःख उठाया, जो उन लोगों के पापों के लिए प्रायश्चित की माँग उससे कर रहा था, जिनके लिए उसने वह कार्य-भार अपने ऊपर लिया था, तब तक हम गतसमनी के बगीचे में उसकी भयानक पीड़ा, और क्रूस पर उसके कड़वे विलाप का कोई कारण नहीं बता सकते। उसने पाप के बदले कुछ समय के लिए अपने पिता के प्रेम के इंद्रियगम्य प्रकटीकरण के खो जाने को सहा, और परमेश्वर के न्यायिक क्रोध के भयानक दबाव को भी झेला। यही वह था जिसके कारण उसने ये शोक भरी शिकायतें की: 'मेरा जी बहुत उदास है, यहाँ तक कि मेरा प्राण निकला जा रहा है'; 'हे मेरे परमेश्वर, हे मेरे परमेश्वर, तूने मुझे क्यों छोड़ दिया?'

3. *उसे क्रूस पर चढ़ाया गया और वह मरा*। व्यवस्था का दण्ड मृत्यु है, और पाप की एक उचित मजदूरी; इस प्रकार से, पापियों के जामिन द्वारा मृत्यु को सहना ही था। हालाँकि, ख्रीष्ट ने व्यवस्था के नियमों का पालन किया था, और अपने जीवन के सफर में सबसे अधिक दुःखों को सहा था, फिर भी, यदि उसे मृत्यु के अधीन नहीं किया गया होता, तो हमारे उद्धार के लिए सब कुछ व्यर्थ हो जाता। लेकिन, 'वह मृत्यु तक आज्ञाकारी रहा'; और जिस मृत्यु के अधीन उसे किया गया, वह बाकी सभी मृत्यु में सबसे

अधिक लम्बे समय तक चलने वाली, सबसे अधिक दर्दनाक, और सबसे अधिक अपमानजनक थी, 'हाँ, क्रूस की मृत्यु भी सह ली।' यह एक शापित मृत्यु भी थी; क्योंकि यहूदी व्यवस्था में यह लिखा है, 'जो लटकाया गया है वह परमेश्वर की ओर से शापित ठहरता है' (व्यवस्थाविवरण 21:23)। ऐसा लगता इस प्रकार का दण्ड देने के तरीके के साथ एक श्राप जोड़ा गया था, ताकि पहले ही से यह बताया जा सके कि जब ख्रीष्ट इस प्रकार की मृत्यु से मरे तो वह किस श्राप के अधीन मरेगा (गलातियों 3:10)। मनुष्यों के हाथों द्वारा हुई उसकी मृत्यु हिंसक थी, जिन्होंने उसे दुष्ट हाथों से मार डाला; लेकिन उसकी ओर से, यह स्वैच्छिक थी (यूहन्ना 10:18)। और, हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए, कि उसकी मृत्यु दूसरों के बदले में थी; क्योंकि, यदि उसकी मृत्यु में यह विशेषता नहीं होती, तो हमें उसकी मृत्यु से नबियों, प्रेरितों और शहीदों की मृत्यु की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त नहीं होता। 'पवित्रशास्त्र के वचन के अनुसार यीशु मसीह हमारे पापों के लिए मर गया' (1 कुरिन्थियों 15:3)।

4. *वह दफनाया गया, और वह कुछ समय तक मृत्यु के अधीन रहा।* यदि उसे क्रूस से उतारते ही होश आ जाता, तो उसके शत्रु यह बहाना बना सकते थे कि वह सच में मरा नहीं था, और उसके मित्रों के पास इस बात का पक्का प्रमाण नहीं होता कि वह सच में मर चुका था। इसलिए, उसकी मृत्यु की सच्चाई को प्रमाणित करने के लिए, जिस पर उसके लोगों की आशा और आनन्द आधारित थी, उसे कब्र में रखा गया, और वह तीन दिन और तीन रात तक मृत्यु के अधीन रहा। उसे इसलिए भी दफनाया गया था, ताकि उसके अनुयायियों के लिए कब्र को पवित्र बनाया जा सके, ताकि यह उनके लिए आराम करने का स्थान बन जाए, जहाँ उनके शरीर पुनरुत्थान तक आराम कर सकें।

आइए, पाप की भयानक घातकता और उसके डरावने परिणाम पर विचार करें, जो कि हमारे उद्धारकर्ता के दुःखों और मृत्यु का कारण बना।

आइए 'अपने प्रभु यीशु ख्रीष्ट के अनुग्रह को सराहें, कि वह धनी होकर भी हमारे लिए कंगाल बन गया, ताकि उसके कंगाल हो जाने से हम धनी हो जाएं' (2 कुरिन्थियों 8:9)। और हालाँकि यह केवल मानवीय स्वभाव में ही था कि वह दुःख सहने और मरने में सक्षम था, लेकिन हमें कभी भी उसके व्यक्तित्व की गरिमा को नहीं भूलना चाहिए। वह जो कलवरी के क्रूस पर चढ़ाया गया था, वह 'तेजोमय प्रभु' था, और जब वह यूसुफ की कब्र में लेटा था, तब भी वह 'प्रभु' ही था (1 कुरिन्थियों 2:8; मत्ती 28:6)।

पुराने नियम के नबियों में ख्रीष्ट की आत्मा ने पहले से ही ख्रीष्ट के दुःख, और उसके बाद आने वाली महिमा की गवाही दी थी; इसलिए, उसकी दीनता के पश्चात् उसे तेजोमय महिमा मिली, ताकि उसे पृथ्वी पर उसके कार्य के पुरस्कार के रूप में, और साथ ही अपनी कलीसिया की भलाई के लिए अपने सभी मध्यस्थता वाले पदों का क्रियान्वित करते रहने के लिए बहुत अधिक, अकल्पनीय महिमा मिले। उसको महिमान्वित किए जाने के कई चरण नीचे बताए गए हैं, इनमें से प्रत्येक के विषय में हम कुछ संक्षिप्त टिप्पणियाँ प्रस्तुत करेंगे।

क. *वह तीसरे दिन मृतकों में से जी उठा।* ख्रीष्ट का पुनरुत्थान अनिवार्य था, ताकि प्राचीन भविष्यवाणियाँ पूरी हो सके, और प्राचीन प्रतीक सच हो सकें; और इसलिए भी कि हम उस प्रायश्चित और धार्मिकता के विषय में पूर्ण आश्वस्त हो सकें जिसे उसने क्रूस पर पूरा किया था। उसका फिर से जी उठना एक अच्छी रीति से प्रमाणित किया हुआ सत्य है। गवाहों की संख्या बहुत अधिक एवं पर्याप्त है – वे स्वयं धोखा नहीं खा सकते थे, और यह भी मानना कठिन है कि वे दूसरों को धोखा देना चाहते थे – उन्होंने इस बात का सबसे अच्छा प्रमाण दिया कि वे जिस बात की गवाही दे रहे थे, उस पर उन्हें दृढ़ता से विश्वास था; क्योंकि उन्होंने अपनी जान को जोखिम में डालकर इस बात की गवाही दी, और उनमें से कई लोगों ने अपने लहू से इसकी गवाही पर मुहर लगाई। ख्रीष्ट उसी देह के साथ जीवित

हुए जिसे क्रूस पर चढ़ाया गया था और जिस देह को कब्र पर रखा गया था; यह इस बात से प्रमाणित हुआ कि उसकी देह पर ज़ख्मों के निशान थे, जो उसे कीलों और भाले से लगे थे (यूहन्ना 20:20)। जब शिष्यों ने प्रभु को देखा तो वे आनन्दित हुए, और उसका पुनरुत्थान हर युग में उसके अनुयायियों के लिए बहुत अधिक आनन्द का स्रोत है। इस प्रकार उसका सर्वोच्च परमेश्वरत्व होना सही प्रमाणित हुआ – उसका परमेश्वरीय कार्य-भार और जो सिद्धांत उसने सिखाए, उनकी सत्यता की पूर्ण रूप से पुष्टि हुई – जो बलिदान उसने दिया उसकी पर्याप्तता और स्वीकार्यता सत्यापित हुई – मृत्यु और कब्र पर उसकी जीत का निर्विवाद प्रमाण दिया गया – और विश्वासियों के पास अनन्त जीवन के लिए उनके आनन्दमय पुनरुत्थान का एक निश्चित वादा और अचूक आश्वासन है।

ख. *वह स्वर्ग पर चढ़ गया*। अपने पुनरुत्थान के पश्चात्, वह चालीस दिनों तक पृथ्वी पर रहा, ताकि अपने शिष्यों को इस बात का दृढ़ प्रमाण दे सकें कि वह अपनी मृत्यु के बाद भी जीवित है, और ताकि वह उन्हें परमेश्वर के राज्य से सम्बन्धित बातें सिखा सके। फिर वह अपने शिष्यों के सामने, जैतून नामक पहाड़ी से, तेजोमय स्वर्गदूतों के दल द्वारा उसकी सेवा में, वह अपने मानवीय स्वभाव को एक स्थानीय रूपांतरण द्वारा पृथ्वी से स्वर्ग पर चढ़ गया, जहाँ स्वर्ग के रहने वालों ने जय-जयकार सहित और जयघोष के साथ उसका स्वागत किया (भजन 47:5)। वह स्वर्ग पर चढ़ गया, ताकि वह उस महिमा को पा सके जिसके कि वह वास्तव में योग्य था; ताकि वह अपनी कलीसिया और लोगों पर पवित्र आत्मा को उसके चमत्कारी वरदानों और पवित्र करने वाले प्रभावों के साथ भेज सके; ताकि वह अपने लोगों पर महिमान्वित राजा के रूप में राज व शासन कर सके, और उनकी रक्षा कर सके; ताकि वह उनके लिए प्रभावशाली विनती कर सके; और ताकि वह उनके लिए एक स्थान तैयार कर सके, और उनके नाम में स्वर्गीय विरासत को पा सके।

ग. *वह परमेश्वर के दाहिने हाथ पर विराजमान है।* स्पष्ट है कि इस वाक्यांश को लाक्षणिक अर्थ में समझा जाना चाहिए; क्योंकि आत्मा होने के नाते, परमेश्वर का कोई शारीरिक भाग नहीं है। मनुष्य के बीच में, दाहिना हाथ सम्मान एवं आदर का स्थान है, और ख्रीष्ट को परमेश्वर के दाहिने हाथ पर बैठा दर्शाया गया है, उस अकल्पनीय गरिमा एवं महिमा को दिखाने के लिए, जिस पर, परमेश्वर – मनुष्य होने के नाते, अब उसे ऊँचे पर उठाया गया है, और उस सम्प्रभु अधिकार एवं प्रभुत्व को दिखाने के लिए, जो उसे दिया गया है (इफिसियों 1:20, 22)। परमेश्वर के दाहिने हाथ पर उसके बैठने का अर्थ है उसके विश्राम की सिद्धता, सभी शत्रुओं से उसकी पूर्ण निर्भयता, और उसके महिमामय सिंहासन का अनन्तकाल तक बने रहना (इब्रानियों 10:12)।

क्या ख्रीष्ट को इतना अधिक महिमान्वित किया गया? तो फिर ख्रीष्ट के क्रूस से लज्जाने का हमारे पास कोई कारण नहीं है क्योंकि जिसने 'क्रूस का दुःख सहा, और परमेश्वर के सिंहासन की दाहिनी ओर जा बैठा।' पृथ्वी पर उसकी कलीसिया की सुरक्षा के विषय में हमें आश्वासन प्राप्त हो सकता है, और कि ख्रीष्ट और उसकी कलीसिया के शत्रुओं के सभी षडयंत्र बेकार साबित होंगे (भजन 2:1 – 4)। और जबकि ख्रीष्ट अपने लोगों का मुखिया और प्रतिनिधि के रूप में स्वर्ग पर चढ़ गया और पिता परमेश्वर के दाहिने हाथ पर विराजमान है, तो उसके महिमान्वित स्थिति में उसके लोग स्वयं अपनी महिमा की गारंटी और नमूना देख सकते हैं (इफिसियों 2:6)।

घ. *वह अब अपने लोगों के लिए विनती करता है।* उसकी प्रार्थना में अपने लोगों के स्वभाव और नाम में परमेश्वर के सामने प्रगट होना, उनके लिए अपने निवेदनों के आधार के रूप में अपने प्रायश्चित बलिदान के योग्य कार्य को पेश करना, और पिता को अपनी इच्छा बताना सम्मिलित है, जो उसके महिमान्वित स्थिति के उपयुक्त रीति के अनुसार है, ताकि जिन आशीषों को उसने उनके लिए मोल लिया है, उसका वे आनन्द ले सकें।

वह 'संसार के लिए विनती नहीं करता परन्तु उन्हीं के लिए जिन्हें पिता ने उसे दिया है'; और वह उनमें से हर एक के लिए उनकी अलग-अलग परिस्थितियों के अनुसार विनती करता है (यूहन्ना 17:9; लूका 22:32)। उसकी प्रार्थना का विस्तार उतना ही विशाल है जितना कि नई वाचा की प्रतिज्ञाएँ हैं, और वे आशीषें जिन्हें उसने अपनी मृत्यु के द्वारा मोल ली हैं; विशेष रूप से, वह उन लोगों के लिए प्रार्थना करता है जिन लोगों का अभी तक मन फिराव नहीं हुआ है कि वे सत्य के ज्ञान को जान सकें; कि जिन लोगों ने मन फिराया है वे अनुग्रह की स्थिति में बने रहें, और परीक्षा की घड़ी में उनका साथ दिया जाए; कि उनका व्यक्ति और सेवाएँ परमेश्वर को स्वीकृत हो सके; कि वे समय के साथ-साथ पवित्र बनाए जाएं, और उचित समय में, महिमान्वित किए जाएं (यूहन्ना 17)। उसकी विनती सदैव प्रबल एवं सफल होती है (भजन 21:2; यूहन्ना 11:42)। उसकी प्रार्थना की प्रबल प्रभावकारिता का निष्कर्ष उसके व्यक्तित्व की गरिमा और पिता के साथ उसके प्रेममय सम्बन्ध से लगाया जा सकता है। न केवल अधिवक्ता पिता का प्यारा है, बल्कि जिन लोगों के लिए वह विनती करता है, वे भी पिता के विशेष प्रेम के पात्र हैं (यूहन्ना 16:27)। उनकी ओर से की गई ख्रीष्ट की प्रार्थनाएं सदैव उसके पिता की इच्छा के अनुसार होती हैं – वे उस बलिदान पर आधारित हैं जिसे उसने चढ़ाया, जिसके लिए पिता ने स्वयं घोषणा की, कि वह अति प्रसन्न है; पिता ने भी प्रतिज्ञा द्वारा स्वयं को बाँध लिया है कि वह ख्रीष्ट की सभी विनतियों को पूरा करेगा, और उसकी वाचा ख्रीष्ट के साथ पक्की रहेगी, और उसकी विश्वासयोग्यता कभी कम नहीं होगी। इस बात से हमें ख्रीष्ट को सर्वोच्च प्रेम करने के लिए प्रेरित होना चाहिए; इस बात के द्वारा हमारे हृदयों को पृथ्वी पर से स्वर्ग की ओर आकर्षित होना चाहिए, और हमारी भावनाओं एवं इच्छाओं को स्वर्ग की वस्तुओं पर लगना चाहिए; यह बात हमें अनुग्रह के सिंहासन के पास साहस के साथ आने के लिए प्रोत्साहित करनी चाहिए; और यह हमें ख्रीष्ट के लिए जीने,

उसके कारण की वकालत करने और पृथ्वी पर उसके हितों को बढ़ावा देने के लिए बाध्य करनी चाहिए।

ङ. *संसार के अंत में वह मनुष्यों और स्वर्गदूतों का न्याय करने के लिए फिर आएगा।* यह एक ऐसा सत्य है जो स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है, और पवित्र लेखों में पूर्ण रूप से प्रमाणित किया गया है। हनोक ने भी, जो आदम के वंशजों में सातवाँ था, इस बात को गम्भीरतापूर्वक पहले ही बता दिया था (यहूदा 14)। पुराने नियम का पवित्रशास्त्र ख्रीष्ट के पहले आगमन के साथ-साथ दूसरे आगमन की प्रतिज्ञाओं से भरा पड़ा है (भजन 50:3; 96:13; 98:9)। सभी प्रेरित, एक साथ मिलकर, इस सत्य की घोषणा करते हैं (1थिस्सलुनीकियों 4:16; 2 थिस्सलुनीकियों 1:7 – 9)। स्वर्गदूत भी इसी सत्य की गवाही देते हैं (प्रेरितों के काम 1:11)। इसकी पुष्टि स्वयं ख्रीष्ट की अचूक गवाही द्वारा होती है (मत्ती 26:64; प्रकाशितवाक्य 22:7, 12, 20)। वह व्यक्तिगत रीति से और सभी लोगों के देखते हुए – बहुत अधिक सामर्थ्य और महिमा के साथ आएगा। उसके आने का समय, हालाँकि स्वर्ग की सभाओं में तय है, परन्तु हमें प्रगट नहीं किया गया है; परन्तु यह अचानक और अप्रत्याशित होगा, और हमें इसे बहुत करीब ही समझना चाहिए (मत्ती 25:13; याकूब 5:8, 9)। उसके आने का महान उद्देश्य संसार का न्याय करना है, जब वह स्वर्गदूतों और मनुष्यों को अंतिम न्याय सुनाएगा, और अपने लोगों के उद्धार को पूरा करेगा (इब्रानियों 9:28)। हमें अपने प्रभु के आने के विषय में बार-बार और गम्भीरता से विचार करने की आदत डालनी चाहिए; क्योंकि यह एक ऐसी घटना है जिसमें हमारी गहरी दिलचस्पी है, 'क्योंकि अवश्य है कि हम सब ख्रीष्ट के न्याय आसन के सामने खुल जाए, कि हर एक व्यक्ति अपने-अपने भले बुरे कामों का बदला जो उसने देह के द्वारा किए हों पाए' (2 कुरिन्थियों 5:10)। हमें अपनी योग्यताओं को काम में लगाना है जब तक कि हमारा प्रभु न आ जाए, ताकि हम उससे सबसे अच्छी सराहना पा सकें: 'धन्य, हे अच्छे और

विश्वासयोग्य दास, अपने स्वामी के आनन्द में सहभागी हो'। आइए हम जीवित एवं जोशीले कार्यों में मसीही गुणों को बनाए रखने का प्रयास करें, और ख्रीष्ट के आने की तैयारी में निरंतर जागते व बाट जोहते रहें (लूका 12:35, 36)। और, आइए हम 'उसमें बने रहें कि जब वह प्रगट हो तो हमें हियाव हो, और हम उसके आने पर उसके सामने लज्जित न हों' (1 यूहन्ना 2:28)।[50]

भाग 5

प्रभु यीशु ने, अपने सिद्ध आज्ञापालन और बलिदान के द्वारा, जिसे उसने सनातन आत्मा के द्वारा एक ही बार परमेश्वर को अर्पित किया, अपने पिता के न्याय को पूर्ण रूप से संतुष्ट किया है (रोमियों 5:19; इब्रानियों 9:14, 16; 10:14; इफिसियों 5:2; रोमियों 3:25 – 26), और उन सब लोगों के लिए जिन्हें पिता ने उसे सौंपा है, न केवल मेलमिलाप को, वरन् स्वर्ग के राज्य में अनन्त मीरास को भी मोल लिया है (दानिय्येल 9:24, 26; कुलुस्सियों 1:19 – 20; इफिसियों 1:11, 14; यूहन्ना 17:2; इब्रानियों 9:12, 15)।

व्याख्या

यह भाग ख्रीष्ट की आज्ञाकारिता और बलिदान द्वारा मिलने वाले परिणामों, या मिलने वाले प्रभावों से सम्बन्धित है। यह पुष्टि की गई है:

1. *कि उसने अपने पिता के न्याय को पूर्ण रूप से संतुष्ट किया है*। बदला लेने वाला न्याय परमेश्वर के लिए, एक नैतिक शासक होने के नाते अनिवार्य है; पाप के आने पर, इसको क्रियान्वित करना अपरिहार्य रूप से आवश्यक था। जिन लोगों को पिता ने उसे सौंपा था, उनका जामिन होने के नाते ख्रीष्ट ने, उनके स्थान पर वही दण्ड सहकर, जो उनके पापों के

[50] हूरियन (Hurrion's) के उपदेशों को देखें, vol. ii.

लिए था, परमेश्वर के न्याय के प्रति वास्तविक एवं उचित प्रायश्चित किया। 'अपने ही बलिदान के द्वारा उसने पाप को दूर कर दिया' (इब्रानियों 9:26)। 'उसने उनके अन्त तक अपराध का होना बन्द किया, और पापों का अन्त और अधर्म का प्रायश्चित किया' (दानिय्येल 9:24)। 'मसीह ने जो हमारे लिए शापित बना, हमें लेकर व्यवस्था के श्राप से छुड़ाया' (गलातियों 3:13)।

'हमारा जामिन होने के नाते, हमारे प्रभु के दुःख, पाप के लिए वास्तविक एवं उचित प्रायश्चित हेतु आवश्यक सभी गुण रखते थे; उसने परमेश्वर की इच्छा के अनुसार दुःख उठाया, जिसके पास अकेले ही अपराधियों के स्थान पर मृत्यु को स्वीकार करने का अधिकार था; उसने उसी स्वभाव (मानवीय) में दुःख उठाया जिसमें उसके लोगों ने पाप किया गया था; उसके दुःख स्वैच्छिक एवं आज्ञाकारिता वाले थे, और इसलिए उनमें परमेश्वर की व्यवस्था के अपमानित सम्मान की भरपाई करने के लिए नैतिक योग्यता थी; वह अपने जीवन का स्वामी था, और दूसरों के स्थान पर अपनी जान देने का अधिकार उसे था; और उसके दुःख उसके व्यक्तित्व की गरिमा के कारण, हमारे पापों के प्रायश्चित के लिए असीम मूल्यवान थे।'

इस बात पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि ख्रीष्ट का बलिदान परमेश्वर के न्याय के प्रति पूर्ण रूप से संतोषजनक था। प्रेरित गवाही देता है कि जो बलिदान जिसे ख्रीष्ट ने दिया उसने 'हमारे लिए अपने आप को सुखदायक सुगन्ध के लिए परमेश्वर के आगे भेंट करके बलिदान कर दिया' (इफिसियों 5:2)। ख्रीष्ट ने स्वयं यह घोषणा की कि प्रायश्चित पूरा हो चुका था, जब, क्रूस पर, उसने पुकारा, 'पूरा हुआ।' और उसके बलिदान की प्रायश्चित वाली प्रकृति का सबसे निर्णायक प्रमाण, हमें उसके मरे हुओं में से पुनरुत्थान और स्वर्ग में उसके भव्य महिमान्वित होने में मिलता है।

2. *उसने अपने लोगों के लिए मेलमिलाप को मोल लिया*। यह अनिवार्य रूप से पहले वाले से निकलता है; क्योंकि यदि न्याय को पूर्ण

रूप से संतुष्ट किया गया है, तो परमेश्वर के न्यायिक क्रोध को दूर हो जाना चाहिए। यह पाप ही है जो परमेश्वर और पापियों के बीच दूरी बनाता है; और इसलिए, ख्रीष्ट ने पाप के बदले – जो कि अलगाव का कारण था, परमेश्वर के न्याय को पूरा करने के द्वारा मेलमिलाप को प्राप्त किया। ख्रीष्ट की मृत्यु के द्वारा, परमेश्वर न केवल मेलमिलाप करने योग्य बन गया, बल्कि पूर्ण रूप से उसने मेल कर लिया। यदि परमेश्वर मात्र मेलमिलाप करने योग्य वाला बना होता, तो हमारे स्वयं के कुछ कार्य हमारे मेलमिलाप के लिए उचित आधार प्रदान करते। लेकिन ऐसी धारणा सुसमाचार के विरुद्ध है, जो हर स्थान पर घोषित करती है, कि ख्रीष्ट ने अपनी मृत्यु के द्वारा मेलमिलाप को अर्जित किया (रोमियों 5:10)। हालाँकि, इससे, इसका यह अर्थ नहीं निकलता, कि चुने हुए लोग वास्तविक मेलमिलाप की अवस्था में हैं, न तो ख्रीष्ट की मृत्यु के समय से, और न ही अपने अस्तित्व में होने के पहले पल से। पवित्रशास्त्र उन्हें 'दूसरों के ही समान, स्वभाव से क्रोध की सन्तान' के रूप में दिखाता है। ख्रीष्ट की मृत्यु के द्वारा उनके मेलमिलाप की एक पक्की नींव रखी गई थी; लेकिन वास्तव में परमेश्वर के साथ वे तभी मेलमिलाप करते हैं, जब, उस विश्वास के द्वारा जो परमेश्वर के कार्य से है, वे ख्रीष्ट द्वारा प्राप्त, और सुसमाचार में उनके लिए सेतमेंत दिखाई गई क्षमा और मेल को स्वीकार करते हैं। प्रेरित कहता है, 'हम परमेश्वर में अपने प्रभु यीशु के द्वारा आनन्दित होते हैं, जिसके द्वारा अब हमारा मेल हुआ है' (रोमियों 5:11)।

3. *उसने अपने चुने हुए लोगों के लिए स्वर्ग के राज्य में अनन्त मीरास को मोल लिया है*। ख्रीष्ट ने अपने लोगों के लिए दण्ड से छुटकारा पाने के लिए, न केवल व्यवस्था के दण्ड की पूरी मार को सहा, बल्कि उन्हें अनन्त मीरास का अधिकार दिलाने के लिए, इसकी आज्ञा-वचन को भी पूर्ण रूप से पूरा किया। वस्तुतः, उसके दण्ड सहने, और व्यवस्था के आज्ञा-वचन के प्रति उसकी आज्ञाकारिता में, भले ही अन्तर किया जा सकता है, लेकिन

उन्हें अलग नहीं किया जा सकता, और वे उस एक धार्मिकता को बनाते हैं जो उसके लोगों के पूर्ण उद्धार के लिए योग्य है। 'अनुग्रह भी धार्मिकता से अनन्त जीवन के लिए हमारे प्रभु यीशु मसीह के द्वारा राज्य करे' (रोमियों 5:21)। व्हिटशियस सटीकता से कहते हैं, 'ख्रीष्ट के प्रायश्चित के द्वारा, सभी चुने हुए लोगों के लिए पाप से छुटकारा, और उस छुटकारे के सभी आनन्दमय परिणाम एक ही बार में मोल लिए गए थे।'[51]

भाग 6

यद्यपि उद्धार का कार्य वास्तव में ख्रीष्ट द्वारा उसके देहधारण के बाद से पहले नहीं पूरा किया गया था, फिर भी उसके गुण, प्रभावकारिता और लाभ, संसार के आरम्भ से लेकर उसके बाद के सभी युगों में उन प्रतिज्ञाओं, प्रतीकों, और बलिदानों में और उनके द्वारा, चुने हुए लोगों तक पहुँचाए गए थे, जिनमें वह स्त्री का बीज होने के लिए प्रकट एवं प्रदर्शित किया गया था, जो सर्प के सिर को कुचलेगा, और वह मेमना जो जगत की उत्पत्ति से ही वध किया गया है, जो कल, आज और सदा सर्वदा के लिए एक समान है (गलातियों 4:4 – 5; उत्पत्ति 3:15; प्रकाशितवाक्य 13:8; इब्रानियों 13:8)।

व्याख्या

यह भाग ख्रीष्ट की मृत्यु की प्रभावकारिता पर दृढ़ता-पूर्वक जोर देता है, उन पापियों के उद्धार के लिए भी जो उससे पहले थे, और साथ में उनके लिए जो उसके बाद थे, उन सभों के लिए उसने वास्तव में अपनी जान दी। हालाँकि, उसके देहधारण में वास्तव में प्रगट होने, और स्वयं उसके बलिदान के द्वारा पाप को दूर किए जाने से पहले चार हज़ार वर्ष बीत गए,

---

[51] व्हिटशियस, *Economy of the Covenants*, book ii., ch. 7. साथ में टचूरेटिन का उत्कृष्ट *Dissertations*, vol. iv – *De Satisfactione Christi* को भी देखें।

फिर भी उसे प्रतिज्ञाओं, भविष्यवाणियों, और प्रतीकों में संसार की उत्पत्ति से पहले ही दिखाया गया था; और पुराने नियम के तहत विश्वासियों को, साथ में नए नियम के तहत विश्वासियों को उसके बलिदान की योग्यता के आधार पर बचाया गया। 'अब्राहम उसका दिन देख कर आनन्दित हुआ', और उस पर विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराया गया। 'उसकी मृत्यु पहले भी उतनी ही प्रभावशाली थी, जितनी आज है, या अनन्तकाल तक रहेगी; क्योंकि वह गुण के आधार में बीते युगों के कल में वैसा ही है, जैसा वह आज वर्तमान में है, और जैसा वह आने वाले युग में रहेगा' (इब्रानियों 13:8)।[52] आइए हम इस बात पर आनन्द मनाएं कि उसकी मृत्यु अब भी वही योग्यता एवं प्रभावकारिता धारण करती है जितनी वह पहले धारण करती थी; हम पर इसके फलों एवं प्रभावों के क्रियान्वयन के लिए, और कुछ नहीं केवल विश्वास के अनुप्रयोग की आवश्यकता है।

भाग 7

ख्रीष्ट, मध्यस्थता के कार्य में, दोनों स्वभावों के अनुसार कार्य करता है; प्रत्येक स्वभाव के द्वारा वह उस कार्य को करता है जो उस स्वभाव के लिए उचित है (इब्रानियों 9:14; 1 पतरस 3:18); फिर भी, व्यक्ति की एकता के तर्क द्वारा, वह जो कभी-कभी एक स्वभाव के लिए उचित है, पवित्रशास्त्र में, ऐसे व्यक्ति के लिए ठहराई गई है जो दूसरे स्वभाव द्वारा निर्दिष्ट है (प्रेरितों के काम 20:28; यूहन्ना 3:13; 1 यूहन्ना 3:16)।

व्याख्या

रोमन कैथोलिक चर्च के विरोध में, जो यह मानते हैं कि ख्रीष्ट केवल एक मानव के रूप में मध्यस्थ है, यह भाग इस बात पर जोर देता है कि ख्रीष्ट, एक मध्यस्थ के रूप में, दोनों स्वभावों के अनुसार कार्य करता है।

[52] Charnock's *Works*, vol. ii., p. 563.

पवित्रशास्त्र सिखाता है कि अपना मानव स्वभाव धारण करने से पहले उसने मध्यस्थ के रूप में कार्य किया। यह एक मध्यस्थ का कार्य है – नबी का कार्य, परमेश्वर की इच्छा को प्रकट करना; और इस बात पर प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि यीशु ख्रीष्ट पुराने नियम के समय के साथ-साथ नए नियम के समय में प्रकटीकरण का कर्ता था। कलीसिया के लिए प्रार्थना-बिनती करना मध्यस्थता का कार्य है; परन्तु इसे ख्रीष्ट ने अपने देहधारण से बहुत पहले से किया (जकर्याह 1:12)। और अपने देहधारण के समय से मध्यस्थ एक परमेश्वर-मनुष्य के रूप में कार्य करता है, और प्रत्येक स्वभाव के लिए विशिष्ट कार्य का श्रेय यीशु ख्रीष्ट के व्यक्ति को दिए जाता है, जिसमें दोनों स्वभाव जुड़े हैं। केवल मानव स्वभाव ही दुःख सह सकता है और मर करता है; फिर भी कहा गया है, 'महिमा का प्रभु क्रूस पर चढ़ाया गया'; और, 'परमेश्वर ने कलीसिया को अपने ही लहू से खरीदा है' (1 कुरिन्थियों 2:8; प्रेरितों के काम 20:28)। यह हमारे विशेष ध्यान की माँग करता है; क्योंकि यीशु ख्रीष्ट के व्यक्ति में दो स्वभावों के मेल पर, मध्यस्थ के सभी कार्यों में, विशेष रूप से एक जामिन के रूप में, उसके कार्य का अन्तर्निहित मूल्य मुख्य रूप से आधारित है।

भाग 8

उन सभी के लिए जिनके लिए ख्रीष्ट ने छुटकारा मोल लिया है, वह निश्चित रूप से और प्रभावी रूप से इसे लागू करता है और इसे प्रदान करता है (यूहन्ना 6:37, 39; 10:15 – 16); उनके लिए मध्यस्थ की प्रार्थना करता है (1 यूहन्ना 2:1 – 2; रोमियों 8:34), और वचन में और वचन के द्वारा, उद्धार के रहस्यों को उन के लिए प्रकट करता है (यूहन्ना 15:13, 15; इफिसियों 1:7 – 9; यूहन्ना 17:6); अपने आत्मा के द्वारा उन्हें प्रभावशाली रूप से विश्वास एवं आज्ञापालन के लिए मनाता है; और अपने वचन एवं आत्मा के द्वारा उनके हृदयों पर शासन करता है

(यूहन्ना 14:16; इब्रानियों 12:2; 2 कुरिन्थियों 4:13; रोमियों 8:9, 14; 15:18 – 19; 17:17); अपने सर्व-सामर्थ्य शक्ति और बुद्धि के द्वारा उनके सभी शत्रुओं पर, इस रीति से और उन तरीकों से विजय प्राप्त करता है जो अद्‌भुत और अगम्य विधान के साथ सबसे अधिक सुसंगत हैं (भजन संहिता 110:1; 1 कुरिन्थियों 15:25 – 26; मलाकी 4:2 – 3; कुलुस्सियों 2:15)।

व्याख्या

यह भाग अपने पात्रों के सम्बन्ध में ख्रीष्ट की मृत्यु की विस्तार-सीमा से सम्बन्धित है, और आर्मीनियन सिद्धान्त के विरोध में है, कि ख्रीष्ट सभी मनुष्यों के लिए मरा – उनके लिए भी जो अन्ततः नाश हो जाएंगे, साथ में उनके लिए भी जो अन्ततः बचाए जाएंगे; यह पुष्टि करता है कि छुटकारे का मोल और उसका अनुप्रयोग सटीक रूप से एक ही सीमा तक है। पाँचवें भाग में हमें सिखाया गया था कि ख्रीष्ट ने छुटकारा केवल उन लोगों के लिए खरीदा, 'जिन लोगों को पिता ने उसे सौंपा है'; और यहाँ पर दृढ़ता से कहा गया है कि 'उन सभी के लिए जिनके लिए ख्रीष्ट ने छुटकारा मोल लिया है, वह निश्चित रूप से और प्रभावी रूप से इसे लागू करता है और इसे प्रदान करता है।' पहले यह कहा गया था, कि जिस समय इस अंगीकार-कथन को लिखा गया था, उस समय *छुटकारा मोल लेने के लिए* वाक्यांश *पाप के लिए प्रायश्चित करने* वाले वाक्यांश के लगभग समानार्थी था। तो फिर यहाँ प्रयोग की गई भाषा से अधिक स्पष्ट तौर पर कौन सी भाषा यह कह सकती है कि ख्रीष्ट का प्रायश्चित विशिष्ट और सीमित है – कि यह न तो सार्वभौमिक है न ही अनिश्चित है, परन्तु केवल चुने हुए लोगों तक सीमित है, जिन्हें उसके माध्यम से क्रोध में बचाया जाएगा?

ख्रीष्ट का बलिदान उसके व्यक्तित्व की गरिमा से असीमित मूल्य प्राप्त करता है; इसलिए, यदि ऐसा करने का अभिप्राय होता तो यह समस्त मानव

जाति के पापों को क्षमा करने के लिए अपने आप में पर्याप्त होता; परन्तु पिता की नियुक्ति में, और स्वयं ख्रीष्ट के अभिप्राय में, इसे उन लोगों की एक निश्चित संख्या के लिए सीमित किया गया था, जो अन्ततः उद्धार को प्राप्त करेंगे। इस महत्वपूर्ण सत्य की निम्न तर्कों द्वारा पुष्टि की जा सकती है:

1. ख्रीष्ट की मृत्यु के पात्रों को बताने के लिए पवित्रशास्त्र में बहुधा नियामक शब्दों का प्रयोग किया गया है: 'उसने बहुतों के पाप का बोझ स्वयं उठा लिया'; 'बहुतों के छुटकारे के मूल्य में अपना प्राण देने आया' (यशायाह 53:12; मत्ती 20:28)। क्या यह इस बात को नहीं बताता कि ख्रीष्ट सभी लोगों के लिए नहीं, बल्कि केवल बहुतों के लिए मरा?

2. जिनके लिए ख्रीष्ट मरा, वे दूसरों से अलग पहचान वाले गुणों के कारण पहचाने जाते हैं। उन्हें भेड़ (यूहन्ना 10:15); कलीसिया (इफिसियों 5:25); परमेश्वर के चुने हुए (रोमियों 8:33); परमेश्वर की सन्तान (यूहन्ना 11:52) कहा गया है।

3. वे लोग जिन्हें ख्रीष्ट ने अपने लहू के द्वारा मोल लिया है, उन्हें 'मनुष्यों में से मोल लिए गए' (प्रकाशितवाक्य 14:4) कहा गया है, जो कि, यदि ख्रीष्ट ने सभी लोगों को मोल लिया होता, तो एक निरर्थक एवं असंगत वाक्यांश होता; उन्हें 'प्रत्येक कुल, भाषा, लोग और जाति में से परमेश्वर के लिए लोगों को मोल लिया', कहा गया है (प्रकाशितवाक्य 5:9), जिसका अर्थ निश्चित रूप से यह है कि प्रत्येक जाति में से केवल कुछ ही लोगों को मोल लिया गया है।

4. ख्रीष्ट द्वारा किया गया छुटकारा केवल उन्हीं लोगों तक सीमित है जो 'उसमें चुने गए थे', और जिन्हें पिता ने उसकी मृत्यु के द्वारा छुटकारा दिए जाने के लिए उसे सौंपा था (इफिसियों 1:4, 7; यूहन्ना 17:2)।

5. ख्रीष्ट एक जामिन के व्यक्तित्व में मरा, और इसलिए उसने केवल उन लोगों के लिए अपनी जान दी जिनका उसने प्रतिनिधित्व किया, या अपने आत्मिक वंश के लिए (यशायाह 53:10)।

6. अपनी जान देने में ख्रीष्ट का उद्देश्य, न केवल उन लोगों के उद्धार की सम्भावना को प्राप्त करना था, बल्कि उन्हें वास्तव में बचाना था – उन्हें अनन्त उद्धार वास्तव में देना और आनन्द दिलाना था (इफिसियों 5:25, 26; तीतुस 2:14; 1 पतरस 3:18; 1 थिस्सलुनीकियों 5:10)। इससे, यह बात अनिवार्य रूप से निकलती है, कि यीशु ख्रीष्ट केवल उन लोगों के लिए मरा जो अनन्त उद्धार के साथ उसमें बचाए जाएंगे।

7. यीशु ख्रीष्ट की मध्यस्थ वाली प्रार्थना उसके प्रायश्चित वाले बलिदान के आधार पर होती है; इसलिए, अपने पात्रों के सम्बन्ध में उनकी सीमा भी वैसे ही होनी चाहिए; परन्तु वह संसार के लिए प्रार्थना नहीं करता, बल्कि केवल उन लोगों के लिए जिन्हें संसार में से उसे दिया गया था; इस कारण, उसका बलिदान उस सीमित संख्या तक ही प्रतिबंधित है (1 यूहन्ना 2:1, 2; यूहन्ना 17:9)।

8. प्रेरित, पापियों के लिए अपने पुत्र को मृत्यु के लिए देने में परमेश्वर के प्रेम की महानता से यह निष्कर्ष निकालता है, कि वह उनसे उद्धार की आशीषों में से किसी भी आशीष को नहीं रोकेगा; इसलिए, हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि ख्रीष्ट सभी मानवजाति के लिए नहीं मरा (रोमियों 8:32)।

9. यही प्रेरित ख्रीष्ट के जीवन से हमारे उद्धार की निश्चितता का निष्कर्ष निकालता है, अर्थात उसकी मृत्यु के द्वारा परमेश्वर के साथ हमारे मेलमिलाप से; अब, चूंकि सभी उसके जीवन द्वारा नहीं बचाए गए हैं, तो हमें निष्कर्ष निकालना चाहिए कि उसकी मृत्यु के द्वारा सभी का मेलमिलाप नहीं हुआ था (रोमियों 5:10)।

10. ख्रीष्ट ने अपनी मृत्यु के द्वारा, अपने लोगों के लिए न केवल उद्धार को खरीदा, बल्कि उसका आनन्द लेने के सभी साधनों को भी मोल लिया; परिणामस्वरूप, मरने में उसका उद्देश्य उन लोगों तक ही सीमित होना चाहिए जो पश्चाताप करते और विश्वास लाते हैं, और न कि समस्त मानव जाति के लिए।

11. यह सिद्धांत कि ख्रीष्ट सभी लोगों के लिए मरा, अनेक बेतुके परिणामों को जन्म देता है, जैसे: कि ख्रीष्ट ने अपना लहू बहुतों के लिए व्यर्थ ही बहाया, क्योंकि सभी नहीं बचाए गए हैं; कि उसने पूर्ण अनिश्चितता में अपना जीवन बलिदान कर दिया कि क्या मानव जाति में से कोई भी अंततः बचाया जाएगा; कि उसने उन करोड़ों लोगों के लिए अपना लहू बहाया, जो उसकी मृत्यु के समय सर्वदा के लिए विनाश के गड्ढे में डाल दिए गए थे; कि वह उनके लिए मरा जिनके लिए वह मध्यस्थ वाली प्रार्थना नहीं करता; कि वह उन लोगों के लिए मरा जिनके लिए उसने कभी भी उद्धार के साधनों को नहीं भेजा, हाँ, जिनमें से कुछ को यहाँ तक कि उसने अपना सुसमाचार प्रचार करने से भी मना किया (मत्ती 10:5; रोमियों 10:14); और यह कि परमेश्वर मनुष्यों को उन्हीं अपराधों के लिए सर्वदा का दण्ड देकर अन्याय वाला कार्य करता है, जिनके लिए उसे ख्रीष्ट की मृत्यु द्वारा पहले ही पूरा प्रायश्चित प्राप्त हो चुका है। इनमें से किसी एक को भी स्वीकार करना परमेश्वर की सबसे बड़ी निन्दा होगी; और इसलिए, वह सिद्धांत जिसमें ऐसे परिणाम सम्मिलित हैं, वह पवित्रशास्त्र के बाहर से ही होंगे।

कभी-कभी पवित्रशास्त्र में यीशु ख्रीष्ट की मृत्यु के सन्दर्भ में सार्वभौमिक शब्दों का उपयोग किया जाता है; परन्तु तर्क और व्यावहारिक बुद्धि की माँग है कि इन आम शब्दों को इन विशेष शब्दों द्वारा समझाया और परिभाषित किया जाए, जिनकी केवल एक ही व्याख्या हो सकती है। प्रत्येक मामले में अर्थ को आमतौर पर सन्दर्भ से निश्चित किया जा सकता

है; और ख्रीष्ट की मृत्यु के सम्बन्ध में अनिश्चित और सार्वभौमिक शब्दों के उपयोग का एक स्पष्ट कारण यह बताता है कि उसकी मृत्यु के उद्धार देने वाले प्रभाव सभी जातियों में से कुछ तक फैले हुए हैं – गैर-यहूदियों के साथ-साथ यहूदियों के लिए भी – मनुष्यों के सभी वर्गों और प्रकारों के लिए।[53]

[53] इस विषय पर हाल ही में कई लेख आए हैं; पहले के लेखों में, हम Hurrion's *Four Sermons in the Limestreet Lectures*, और विशेष रूप से Dr Owen's Treatise, *Salus Electorum, Sanguis Jesu* का उल्लेख करेंगे, जो वास्तव में इस विषय को पूरी रीति से समझाता है।

अध्याय 9

स्वतंत्र इच्छा

भाग 1

परमेश्वर ने मनुष्य की इच्छा को वह स्वाभाविक स्वतंत्रता प्रदान की है, जिसे न तो जबरदस्ती थोपा गया है और न ही किसी परम अनिवार्यता के द्वारा भले या बुरे के लिए निर्धारित किया गया है (व्यवस्थाविवरण 30:19; मत्ती 17:12; याकूब 1:4)।

व्याख्या

जैसा कि अध्यक्ष एडवर्ड्स ने कहा है, कैल्विनवादी और आर्मीनियन लोगों के बीच विवाद के अधिकतर बिंदुओं का निर्णय इस प्रश्न के निर्धारण पर निर्भर करता है: *नैतिक कारकों के लिए अनिवार्य इच्छा की स्वतंत्रता किस बात में निहित है?* आर्मीनियन लोगों के अनुसार इच्छा की स्वतंत्रता में तीन बातें सम्मिलित हैं:

1. यह कि इच्छा के पास एक *स्वयं-निर्धारण करने वाली शक्ति* होती है, या स्वयं के ऊपर, और स्वयं अपने कार्यों के ऊपर एक विशेष प्रकार का प्रभुत्व होता है, जिससे वह स्वयं अपनी इच्छा निर्धारित करती है।

2. *तटस्थता* की दशा, या वह *संतुलन,* जिसके द्वारा इच्छा बिना किसी पूर्ववर्ती पूर्वधारणा के है, और उसे किसी भी एक ओर या दूसरी ओर पूर्वाग्रही झुकाव के बिना पूरी रीति से स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है।

3. कि इच्छाएँ, या इच्छा के कार्य, न केवल सभी दबाव के विरोध के रूप में, बल्कि सभी *अनिवार्यताओं* के लिए, या उनके अस्तित्व के कुछ

पिछले आधार या कारण के साथ कोई तय और निश्चित सम्बन्ध में *आकस्मिक* होते हैं।

दूसरी ओर, कैल्विनवादी लोग तर्क देते हैं कि स्वयं की अपनी निर्धारणों को निर्धारित करने की इच्छा में शक्ति, या तो अर्थहीन है, या दर्शनशास्त्र के पहले सिद्धांतों के विपरीत है, कुछ ऐसी बात जो बिना कारण के उत्पन्न होती है; यह विचार कि आत्मा चुनाव या पसंद के कार्य को करती है, जबकि, उसी समय, इच्छा पूर्ण संतुलन या तटस्थता की स्थिति में होती है, यह पूर्ण रूप से बेतुका एवं आत्म-विरोधाभासी है; और चूंकि कोई भी बात बिना किसी कारण के नहीं हो सकती, इसलिए इच्छा के कार्य कभी भी आकस्मिक या अनिवार्यता के बिना नहीं होते – *अनिवार्यता* के द्वारा समझना, *परिणाम की अनिवार्यता,* या पहले से अस्तित्व में वस्तु के साथ एक अचूक सम्बन्ध।[54]

कैल्विनवादी लोगों के अनुसार, एक नैतिक अभिकर्ता की स्वतंत्रता उसके चुनाव के अनुसार कार्य करने की शक्ति में निहित है; और वे कार्य स्वतंत्र हैं जो बिना किसी बाहरी दबाव या रुकावट के, स्वयं अपने मन के निर्धारणों के परिणामस्वरूप किए जाते हैं।

> 'अपनी सोच और स्वभाव के अनुसार मनुष्य द्वारा इच्छा करने और कार्य करने की अनिवार्यता, उनकी सोच में, उन सभी स्वतंत्रता के साथ पूर्ण रूप में संगतता में है, जो एक बुद्धिमान स्वभाव से सम्बन्धित हो सकती है। अनन्त व्यक्ति अपने स्वभाव के पूर्ण सिद्धता के अनुसार अनिवार्य रूप से इच्छा करता और कार्य करता है, फिर भी उच्चतम स्वतंत्रता के साथ। स्वर्गदूत भी अपने स्वभावों की सिद्धता के अनुसार इच्छा करते एवं कार्य करते हैं, फिर भी पूर्ण स्वतंत्रता के साथ; क्योंकि इस प्रकार की अनिवार्यता इच्छा की स्वतंत्रता के साथ हस्तक्षेप करने से इतनी दूर है, कि इच्छा की

[54] एड्वर्ड के *Inquiry into Freedom of Will* को देखें।

स्वतंत्रता की सिद्धता इसी प्रकार की अनिवार्यता में होती है। इसकी स्वतंत्रता का वास्तविक सार, किसी बाहरी दबाव या रुकावट के बिना, बल्कि बुद्धिपरक समझदारी और प्राकृतिक स्वभाव के अंदरूनी सिद्धांतों के अनुसार चेतन रूप से कार्य करने में है।'[55]

भाग 2

मनुष्य के पास, उसकी निर्दोषता की अवस्था में, जो अच्छा एवं परमेश्वर को प्रसन्न करने वाला था, उसकी इच्छा करने एवं उसे करने की स्वतंत्रता एवं शक्ति थी (उत्पत्ति 1:26; सभोपदेशक 7:29), लेकिन फिर भी वह परिवर्तनशील थी, जिससे कि वह उस अवस्था से गिर सकता था (उत्पत्ति 2:16 – 17; 3:6)।

भाग 3

मनुष्य ने, पाप की अवस्था में अपने गिरने के द्वारा, उद्धार को प्राप्त करने के लिए किसी भी आत्मिक भलाई की इच्छा करने की क्षमता को पूर्ण रूप से खो दिया है (यूहन्ना 15:5; रोमियों 5:6; 8:7); इस प्रकार एक प्राकृतिक मनुष्य के समान, उस भलाई से पूरी रीति से विमुख (रोमियों 3:10, 12), और पाप में मरा हुआ होकर (इफिसियों 2:1, 5; कुलुस्सियों 2:13), अपनी स्वयं की शक्ति के द्वारा, स्वयं का परिवर्तन करने, या इसके लिए स्वयं को तैयार करने में वह सक्षम नहीं है (यूहन्ना 6:44, 65; 1 कुरिन्थियों 2:14; इफिसियों 2:2 – 5; तीतुस 3:3 – 5)।

भाग 4

जब परमेश्वर किसी पापी मनुष्य का हृदय परिवर्तन करता है, और उसे अनुग्रह की अवस्था में स्थानांतरित करता है, तो वह उसे पाप के अधीन

---

[55] एडम गिब *Liberty and Necessity; Contemplations*, p. 484.

उसके प्राकृतिक दासत्व से मुक्त करता है (कुलुस्सियों 1:13; यूहन्ना 8:34, 36), और केवल अपने अनुग्रह के द्वारा उसे स्वतंत्र रूप से उस बात की इच्छा करने एवं वह करने में सक्षम बनाता है, जो आत्मिक रूप से भला है (रोमियों 6:18, 22; फिलिप्पियों 2:13); फिर भी वह कार्य भी, अपनी शेष बची भ्रष्टता के कारण, वह न तो सिद्धता से करता है, और न ही केवल उसकी इच्छा करता है जो भला है, परन्तु उस बात की भी इच्छा करता है जो बुरा है (गलातियों 5:17; रोमियों 7:15, 18 – 19, 21, 23)।

भाग 5

मनुष्य की इच्छा को सिद्धता से और अपरिवर्तनीय रूप से स्वतंत्र, केवल भलाई करने के लिए, केवल महिमा की अवस्था में ही बनाया जाता है (इफिसियों 4:13; इब्रानियों 12:23; 1 यूहन्ना 3:2; यहूदा 1:24)।

व्याख्या

मानवीय इच्छा एक अलग अभिकर्ता नहीं है, बल्कि केवल बौद्धिक प्राण की शक्ति है। प्राण के लिए एक *नैतिक स्वभाव,* भला या बुरा, या दोनों का मिला-जुला रूप का होना अनिवार्य है; और, प्राण के नैतिक स्वभाव में जो प्रबल है, उसके अनुसार वह इच्छा का नैतिक कार्य होना चाहिए। इसलिए मनुष्य की अलग-अलग अवस्थाओं में इच्छा की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में बहुत बड़ा अन्तर होता है।

निर्दोष होने की अवस्था में, मनुष्य की इच्छा की स्वाभाविक प्रवृत्ति केवल भले के लिए थी; परन्तु प्रलोभन की शक्ति के द्वारा इसमें बदलने की सम्भावना थी, और इसलिए वह बुराई को चुनने के लिए स्वतंत्र थी।

अपने स्वाभाविक भ्रष्ट अवस्था में, उसकी इच्छा पर बिना किसी दबाव या रुकावट के, मनुष्य स्वतंत्र रूप से बुराई का चुनाव करता है; और पाप के बंधन में होने के कारण, वह इसके विपरीत कुछ नहीं कर सकता।

अनुग्रह की अवस्था में, उसके पास आंशिक रूप से भला करने और आंशिक रूप से बुरा करने की स्वतंत्र इच्छा होती है। इस अवस्था में दो विपरीत नैतिक स्वभावों का मिश्रण होता है, और जैसे कि कभी-कभी एक, और कभी-कभी दूसरा प्रबल होता है, वैसे ही इच्छा कभी उस बात को चुनती है जो भली है, और कभी उस बात को जो बुरी है।

महिमा की अवस्था में, धन्य लोग स्वतंत्र रूप से उसे चुनते हैं जो भली है; और, सिद्ध पवित्रता की अवस्था में पुष्टि होने पर, वे केवल उसकी इच्छा कर सकते हैं जो भला है।

तीसरे भाग में मनुष्य की असमर्थता के सम्बन्ध में लिखा गया महत्वपूर्ण सत्य, अर्थात पाप में पतन होने पर उस बात के लिए इच्छा करना या उस बात को करना जो आत्मिक रूप से भली है, हमारे द्वारा और अधिक ध्यान देने की माँग करता है। विभिन्न मसीही सम्प्रदायों ने इसका विरोध किया है। पेलाजियन लोग मानते हैं 'कि मानवजाति अपने प्राकृतिक योग्यताओं एवं शक्तियों के प्रयोग के द्वारा पश्चाताप और प्रायश्चित करने, और धर्मनिष्ठा एवं धर्म-पुण्य के सबसे ऊँचे स्तर तक पहुँच सकते हैं'। अर्ध-पेलाजियन लोग, हालाँकि उन्होंने स्वीकार किया कि किसी व्यक्ति को धार्मिक कर्तव्यों के मार्ग में *बने रहने* के लिए सक्षम बनाने हेतु *सहायक अनुग्रह* की आवश्यकता होती है, फिर भी उन्होंने माना 'कि मन में सच्चे पश्चाताप और प्रायश्चित के *पहले शुरुआत* के लिए *आंतरिक निवारक अनुग्रह* आवश्यक नहीं थी; कि हर एक मनुष्य मात्र अपने प्राकृतिक योग्यताओं के बल के द्वारा इन्हें पैदा करने में सक्षम था; इसी रीति से ख्रीष्ट पर विश्वास करना, और पवित्र एवं सच्ची आज्ञाकारिता के उद्देश्यों का बनाने में भी।'[56]

[56] Mosheim, cent. V., p. 2. Ch. 5.

आर्मीनियन लोग, शब्दों में, पापी के मन-फिराव का श्रेय परमेश्वर के अनुग्रह को देते हैं; फिर भी अन्ततः इसे मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा में बदल देते हैं।

इन विभिन्न प्रकार की त्रुटियों के विरोध में, हमारा अंगीकार-कथन पुष्टि करता है कि मनुष्य ने, अपने प्राकृतिक भ्रष्ट अवस्था में, 'पाप की अवस्था में अपने गिरने के द्वारा, उद्धार को प्राप्त करने के लिए किसी भी आत्मिक भलाई की इच्छा करने की क्षमता को पूर्ण रूप से खो दिया है,' और इस प्रकार 'एक प्राकृतिक मनुष्य अपनी स्वयं की शक्ति के द्वारा, स्वयं का परिवर्तन करने, या इसके लिए स्वयं को तैयार करने में वह सक्षम नहीं है'। इसी पुष्टि की जा सकती है:

1. पवित्रशास्त्र में मानवजाति के पापियों की स्वाभाविक अवस्था के विषय में दिए गए वर्णन के द्वारा। उन्हें कहा गया है 'अपराधों और पाप के कारण मरे हुए' ; न केवल अंधे, बल्कि 'स्वयं अंधकार' थे; 'पाप के दास' होना; 'परमेश्वर के शत्रु' होना, जो न तो उसकी व्यवस्था के अधीन हैं और न ही हो सकते हैं (इफिसियों 2:1; 5:8; रोमियों 6:17; कुलुस्सियों 1:21; रोमियों 8:7)।

2. पवित्रशास्त्र में ख्रीष्ट पर विश्वास लाने, या आत्मिक रूप से कुछ भी भलाई करने में मनुष्य की असमर्थता की स्पष्ट घोषणाएँ हैं (यूहन्ना 6:44; 15:5)।

3. परमेश्वर पापियों के मन-फिराव को स्वयं अपना कार्य होने का दावा करता है, जिसे पूरा करने की वह प्रतिज्ञा करता है (यहेजकेल 11:19, 20; 36:26, 27; यिर्मयाह 31:33)।

4. पापियों का मन-फिराव समान रूप से परमेश्वर के अनुग्रह का प्रभावशील कार्य बताया गया है (प्रेरितों के काम 16:14; 1 थिस्सलुनीकियों 1:5)।

5. पवित्रशास्त्र में मन-फिराव को ऐसे शब्दों में बताया गया है जो बताते हैं कि यह परमेश्वर का कार्य है। इसे सृजे गए (इफिसियों 2:10); मरे

हुओं में से जी उठना (यूहन्ना 5:21); परमेश्वर से उत्पन्न (यूहन्ना 1:13) कहा गया है।

6. यदि पापी स्वयं का मन-फिराव कर सकता, तो उसके पास कुछ ऐसा होता, जिस पर वह घमण्ड कर सकता – कुछ ऐसा जो उसे मिला नहीं था (1 कुरिन्थियों 1:29, 30; 4:7)।

7. मसीही लोगों में विश्वास और पवित्रता की बढ़ोत्तरी को परमेश्वर का कार्य कहा गया है; जो इस बात की और अधिक दृढ़ता से पुष्टि करता है कि इसके *पहले आरम्भ* का श्रेय भी उसे ही दिया जाना चाहिए (फिलिप्पियों 1:6; 2:13; इब्रानियों 13:20, 21)।

हम केवल यह जोड़ते हैं, कि जो बात आत्मिक रूप से भली है उसकी इच्छा करने या उसे करने की मनुष्य की अक्षमता, एक *नैतिक अयोग्यता* होने के कारण, उसकी जिम्मेदारी के साथ असंगत नहीं है।

अध्याय 10

प्रभावशाली बुलाहट

भाग 1

वे सभी लोग जिन्हें परमेश्वर ने जीवन के लिए पूर्व-निर्धारित किया है, और केवल उन्हें ही, उसे अच्छा लगा, कि वह अपने नियुक्त और स्वीकृत समय में, अपने वचन एवं आत्मा के द्वारा (2 कुरिन्थियों 3:3, 6; 2 थिस्सलुनीकियों 2:13 – 14), प्रभावशाली रूप से (रोमियों 8:30; 11:7; इफिसियों 1:10 – 11), पाप और मृत्यु की अवस्था में से बाहर निकालकर जिसमें वे अपने स्वभाव के कारण हैं, यीशु ख्रीष्ट के द्वारा अनुग्रह और उद्धार के लिए बुलाए (रोमियों 8:2; इफिसियों 2:1 – 5; 2 तीमुथियुस 1:9 – 10); परमेश्वर की बातों को समझने के लिए उनकी बुद्धि को आत्मिक रूप से और उद्धारकारी रूप से वह प्रकाशित करता है (प्रेरितों के काम 26:18; 1 कुरिन्थियों 2:10, 12; इफिसियों 1:17 – 18); उनके पत्थर रूपी हृदय को निकालकर और उन्हें मांस का हृदय देकर (यहेजकेल 36:26); उनकी इच्छाओं को नवीनीकृत करता है, और अपनी सर्वशक्तिमान इच्छा के द्वारा उनसे जो भला है उसे करने को निर्धारित करता है (व्यवस्थाविवरण 30:6; यहेजकेल 11:19; 36:27; फिलिप्पियों 2:13), और उन्हें यीशु ख्रीष्ट की ओर प्रभावशाली रीति से आकर्षित करता है (यूहन्ना 6:44 – 45; इफिसियों 1:19); फिर भी जब वे सबसे स्वतंत्र रूप से आते हैं, तो उसके अनुग्रह के द्वारा इच्छुक बनाए जाने से आते हैं (भजन संहिता 110:3; श्रेष्ठगीत 1:4; यूहन्ना 6:37; रोमियों 6:16 – 18)।

भाग 2

यह प्रभावशाली बुलाहट केवल परमेश्वर के स्वतंत्र एवं विशेष अनुग्रह से है, न कि मनुष्य में पहले से देखी गई किसी भी वस्तु से (रोमियों 9:11; इफिसियों 2:4 – 5, 8 – 9; 2 तीमुथियुस 1:9; तीतुस 3:4 – 5); मनुष्य इसमें पूर्ण रूप से निष्क्रिय है, जब तक कि, पवित्र आत्मा के द्वारा उसे जीवित और नया नहीं बनाया जाता है (रोमियों 8:7; 1 कुरिन्थियों 2:14; इफिसियों 2:5), जिसके कारण वह इस बुलाहट का उत्तर देने, और इसमें प्रस्तुत और प्रकट अनुग्रह को स्वीकार करने के लिए सक्षम बनाया जाता है (यहेजकेल 36:27; यूहन्ना 5:25; 6:37)।

व्याख्या

सुसमाचार की एक *बाहरी* बुलाहट है, जिसके द्वारा जो भी इसे सुनते हैं उन्हें ख्रीष्ट की संगति में, बिना पैसे या बिना किसी कीमत के उसमें पूर्ण उद्धार पाने के लिए बुलाया जाता है (यशायाह 55:1)। यह बुलाहट केवल चुने हुए लोगों तक ही सीमित नहीं है, न ही उन लोगों तक सीमित है जो अपने पापों के प्रति सचेत हैं, और एक उद्धारकर्ता की आवश्यकता महसूस करते हैं, या जिनके पास दूसरों से अलग दिखने के लिए कुछ अच्छी योग्यताएँ हैं; लेकिन यह बुलाहट मानवजाति के पापियों के लिए, बिना किसी भेदभाव के, और बिना किसी अपवाद के है। सभी लोग जो आम मनुष्यों के श्रेणी में आते हैं, चाहे उनका कोई भी चरित्र और दशा हो, यह बुलाहट उनके लिए है: 'हे मनुष्यों, मैं तुम को पुकारती हूँ, और मेरी वाणी सब मनुष्यों के लिए हैं' (नीतिवचन 8:4)। 'हे पृथ्वी के छोर-छोर के सब लोगों, मेरी ओर फिरो और उद्धार पाओ' – सभी जाति के, सभी श्रेणी के, और सभी प्रकार के पापियों (यशायाह 45:22)। सुसमाचार की असीमित बुलाहट के साथ विशिष्ट चुनाव और एक सीमित प्रायश्चित के सिद्धांतों का सामंजस्य स्थापित करना, मनुष्य के मस्तिष्क के प्रयासों से कही अधिक

लगता है। लेकिन भले ही हम उस सिद्धांत को नहीं खोज सकते, जो उनमें सामंजस्य बैठाते हैं, फिर भी ये सिद्धांत स्वयं परमेश्वर के वचन में स्पष्ट तौर पर सिखाए गए हैं; और इसलिए, उन्हें बिना किसी हिचकिचाहट के, भरोसे के साथ अपनाना चाहिए। कि सुसमाचार की बुलाहट अनिश्चित एवं सार्वभौमिक है, कि परमेश्वर उन सभी को यह बुलाहट देने में विश्वासयोग्य है जिन तक सुसमाचार पहुँचता है, और कोई भी जो इस बुलाहट को स्वीकार करता है, वह निराश नहीं होगा; ये ऐसे सत्य हैं जिन पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। परन्तु वचन द्वारा बाहरी बुलाहट अपने आप में प्रभावहीन है। हालाँकि सभी लोगों को बिना अपवाद के इस प्रकार बुलाया जाता है, फिर भी बहुत सारे लोग सुनकर इनकार कर देते हैं, और इस सम्बन्ध में 'बुलाए हुए तो बहुत हैं, परन्तु चुने हुए थोड़े हैं'; अर्थात, कुछ ही लोगों को निर्धारित किया गया है कि वे इस बुलाहट को प्रभावशाली रीति से अपनाए।

परन्तु एक *अन्दरूनी* बुलाहट भी है, जिसमें हृदय पर पवित्र आत्मा शक्ति और प्रभाव के साथ बाहरी बुलाहट का साथ देता है; और यह सदैव प्रभावशाली होता है। आत्मा के इस प्रभावशाली कार्य को बुलाहट कहा जाता है, क्योंकि मनुष्य स्वाभाविक रूप से ख्रीष्ट से दूर है, और उस रीति से उन्हें उसके साथ संगति में लाया जाता है। उन्हें 'पाप और मृत्यु की अवस्था में से बाहर निकालकर जिसमें वे अपने स्वभाव के कारण हैं, यीशु ख्रीष्ट के द्वारा अनुग्रह और उद्धार के लिए'– अंधकार में से बाहर अद्‌भुत ज्योति में – दुष्टता में पड़े संसार में से बाहर परमेश्वर के परिवार में – दासत्व की अवस्था से महिमामय स्वतंत्रता में – पाप की अवस्था से पवित्रता में – और क्रोध की अवस्था से अनन्त महिमा की आशा के लिए बुलाया जाता है। इस बुलाहट के सम्बन्ध में हमें यहाँ पर सिखाया गया है:

1. कि केवल *चुने हुए लोग* ही इसके भागीदार है: 'वे सभी लोग जिन्हें परमेश्वर ने जीवन के लिए पूर्व-निर्धारित किया है, और केवल उन्हें ही, उसे अच्छा लगा, कि प्रभावशाली रूप से बुलाए।' इस कार्य के लोगों के विषय में कहा गया है कि वे 'परमेश्वर के अभिप्राय के अनुसार बुलाए गए', और 'जिन्हें उसने पहले से ठहराया है, उन्हें बुलाया भी' (रोमियों 8:28, 30; 2 तीमुथियुस 1:9)। जो लोग वचन बांटते हैं, वे नहीं जानते कि कौन 'अनुग्रह के चुनाव' में सम्मिलित हैं और इसलिए, उन्हें बिना भेदभाव के लोगों को सुसमाचार की बुलाहट और निमंत्रण देना चाहिए। वे सुसमाचार के तीर को चलाते हैं, परन्तु यह प्रभु है 'जो उन्हें जानता है जो उसके हैं', वह तीर को इस प्रकार दिशा देता है, कि वह उन लोगों के हृदयों पर लगे जिन्हें उसने 'संसार की उत्पत्ति से पहले चुना था।'

2. यह बुलाहट अपने समय के सम्बन्ध में परमेश्वर की सम्प्रभुत्व इच्छा और प्रसन्नता के निर्देशन तहत होती है। उसे अच्छा लगा, कि वह 'अपने नियुक्त और स्वीकृत समय में' अपने चुने हुए लोगों को बुलाए। कुछ लोगों को दाख की बारी में तीसरे पहर, कुछ को छठे पहर, कुछ को नौवें पहर, और यहाँ तक कि कुछ को दिन के ग्यारहवें पहर में भी बुलाया जाता है। कुछ लोग, भले ओबद्याह के समान अपनी जवानी से ही प्रभु का भय मानते हैं; अन्य लोग, जैसे कि तरसुस का शाऊल, मानों अधूरे दिनों का जन्मा होकर बुलाए जाते हैं। इस बुलाहट के तरीकों में भी विविधता है। लुदिया के समान, कुछ लोग चुपके से और प्यार से उद्धारकर्ता की ओर आकर्षित हुए हैं, और वे शायद ही उस समय या तरीके बता सकें जिसमें यह आनंददायक मन-फिराव हुआ। फिलिप्पी के बन्दीगृह के दरोगा के समान, कुछ लोग कुछ समय के लिए प्रभु के भय से परेशान होकर, और काँपते हुए और हैरान होकर चिल्लाते हैं, 'उद्धार पाने के लिए मैं क्या करूँ?' (प्रेरितों के काम 16)।

3. कि इस बुलाहट को वचन और आत्मा के द्वारा प्रभावशाली बनाया जाता है। वचन आमतौर पर उपयोग किया गया बाहरी साधन है, और पवित्र आत्मा सदैव लोगों को अनुग्रह के राज्य में बुलाने में प्रभावशाली अभिकर्ता है। यदि, किसी भी मामले में, सुसमाचार की बुलाहट सफल होती है, तो यह सुसमाचार प्रचार करने वाले लोगों की भक्ति या प्रभावपूर्ण बोलने की कला के कारण नहीं होता है (1 कुरिन्थियों 3:7)। न ही यह इसलिए हैं कि कोई व्यक्ति स्वयं अपनी स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग दूसरों से अच्छी तरह करता है (रोमियों 9:16); इसका पूरा श्रेय परमेश्वर की आत्मा की शक्ति को जाता है जो वचन की बाहरी बुलाहट के साथ होती है (1 थिस्सलुनीकियों 1:5)।

व्यवस्था के माध्यम से, पवित्र आत्मा उन्हें उनकी पापमयता के विषय में कायल करता है, उन्हें उस खतरे को दिखाता है जिसका वे सामना कर रहे हैं, और परमेश्वर के समक्ष स्वीकार किए जाने की उनकी आशा और भरोसे के आधार के रूप में धार्मिकता के उनके कार्यों की नितांत अपर्याप्तता को दिखाता है। सुसमाचार के माध्यम से, वह उनके मनों को ख्रीष्ट के ज्ञान से रोशन करता है – उन्हें उसके व्यक्तित्व की महिमा, उसकी धार्मिकता की सिद्धता, उसके पदों की उपयुक्तता, और उसके अनुग्रह की परिपूर्णता दिखाता है; वह उन्हें सम्पूर्ण रीति से बचाने की अपनी योग्यता, उनकी हालत पर अपनी उपयुक्तता, और अपने पास आने वाले सभी लोगों को स्वीकार करने की अपनी इच्छा दिखाता है। वह उनके पत्थर के हृदय को दूर कर देता है, और उन्हें मांस का हृदय देता है – उनकी इच्छाओं को फिर से नया बनाता है, और ख्रीष्ट को अपना उद्धारकर्ता के रूप में अपनाने के लिए उन्हें प्रभावी रीति से निर्धारित एवं सक्षम बनाता है।

4. *कि इस बुलाहट में इच्छा पर कोई दबाव नहीं डाला जाता है*। जबकि पवित्र आत्मा प्रभावशाली रीति से ख्रीष्ट की ओर खींचता है, वह उनके साथ उनके बौद्धिक स्वभाव के अनुसार व्यवहार करता है, 'जब वे

सबसे स्वतंत्र रूप से आते हैं, तो उसके अनुग्रह के द्वारा इच्छुक बनाए जाने से आते हैं।' इच्छा की स्वतंत्रता पर हमला नहीं किया जाता है, क्योंकि इससे उसका स्वभाव ही समाप्त हो जाएगा; परन्तु इसके जिद्दीपन को काबू में लाया जाता है, इसकी विकृति को दूर किया जाता है, और सम्पूर्ण प्राण को शक्तिशाली रीति से, फिर भी प्रेम से, उद्धारकर्ता की ओर आकर्षित किया जाता है। प्राण का आज्ञा मानना स्वैच्छिक होता है, जबकि पवित्र आत्मा की शक्ति प्रभावकारी और सर्वशक्तिमान होती है: 'तेरे पराक्रम के दिन तेरी प्रजा के लोग स्वेच्छाबलि बनेंगे' (भजन 110:3)।

5. कि *इस बुलाहट में पवित्र आत्मा के कार्य अजेय हैं।* जैसा कि आर्मीनियन लोग एवं अन्य लोग मानते हैं कि परमेश्वर सभी मनुष्यों को पर्याप्त अनुग्रह देता है, जिसका सही उपयोग करने पर वे बचाए जा सकते हैं, यदि यह उनकी स्वयं की गलती न हो, तो वे यह भी मानते हैं कि मन फिराव में पवित्र आत्मा का कोई कार्य नहीं होता है, जो पापी मनुष्य को ऐसी स्थिति में नहीं छोड़ता कि वह या तो उनका पालन या न करे। यह स्वाभाविक है कि यह विचार पवित्र आत्मा के कार्य की सफलता को पापी मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर कराता है, जिसके कारण जो लोग वास्तव में सुसमाचार की बुलाहट का पालन करते हैं वे परमेश्वर के प्रति उन लोगों की तुलना में अधिक कृतज्ञ नहीं होते, जो इसे ठुकरा देते हैं, बल्कि अपनी शक्ति का बेहतर उपयोग करने के लिए स्वयं की प्रशंसा ले सकते है, यह पवित्रशास्त्र के एकदम विरोध में है, जो कहता है कि 'यह न तो चाहने वाले पर निर्भर है, परन्तु परमेश्वर पर जो दया करता है'। हम स्वीकार करते हैं कि पवित्र आत्मा के कुछ सामान्य कार्य होते हैं जिनका परिणाम पापी का मन-फिराव नहीं होता है; परन्तु हम दृढ़ता से मानते हैं कि पवित्र आत्मा का *विशेष* कार्य सभी विरोध पर जय प्राप्त करता है, और पापी मनुष्य को प्रभावशाली रीति से यीशु ख्रीष्ट को अपनाने के लिए तैयार करता है, जैसा कि उसे सुसमाचार में प्रस्तुत किया गया है। यदि पवित्र

आत्मा के विशेष कार्य अजेय नहीं होते, परन्तु प्रभावी रूप उनका विरोध किया जा सकता, तब तो यह अनिश्चित ही होता कि कोई विश्वास करेगा या नहीं, और फलस्वरूप यह सम्भव था कि ख्रीष्ट ने उद्धार के कार्य में जो कुछ किया और दुःख उठाया, वह सब व्यर्थ में किया और व्यर्थ में दुःख उठाया होता।

6. *कि यह बुलाहट परमेश्वर के सेंतमेंत अनुग्रह से निकलता है*। अनुग्रह शब्द का उपयोग कभी-कभी हृदय पर पड़ने वाले पवित्र आत्मा के प्रभाव को इंगित करता है, और कभी-कभी परमेश्वर के सेंतमेंत कृपा को इंगित करता है, जो उसके जीवों की किसी भी योग्यता के विपरीत है। इसे इसके दूसरे अर्थ में समझना चाहिए, जब इस प्रभावशाली बुलाहट को 'परमेश्वर के स्वतंत्र एवं विशेष अनुग्रह से है न कि मनुष्य में पहले से देखी गई किसी भी वस्तु से' कहा गया है। अपनी बुलाहट से पहले, मनुष्य ऐसा कोई भी कार्य नहीं कर सकता जो आत्मिक रीति से भला है; और, मन-फिराव के बाद, उनके सबसे अच्छे कार्य दोषपूर्ण हैं, और वे उन्हें किसी पुरस्कार का हकदार नहीं बनाते हैं। इसलिए, परमेश्वर न तो उनके पहले से किए गए अच्छे कार्यों के कारण, और न ही उनके द्वारा बाद में किए जाने वाले किसी कार्य की पूर्व-दृष्टि से उन्हें बुलाने के लिए प्रभावित होता है (2 तीमुथियुस 1:9; तीतुस 3:5)। यह दिखाने के लिए कि यह बुलाहट पूर्ण रूप से परमेश्वर के मुफ्त अनुग्रह के कारण है, और अपने अनुग्रह की असीम धन को दिखाने के लिए, परमेश्वर कभी-कभी सबसे बड़े पापियों को भी बुलाना पसंद करता है।

7. *कि इस बुलाहट में मनुष्य पूर्ण रूप से निष्क्रिय है, जब तक कि, पवित्र आत्मा के द्वारा उसे जीवित और नया नहीं बनाया जाता है*। यहाँ नए-जन्म और मन-फिराव के बीच अंतर करना उचित है; पहले वाले में पापी निष्क्रिय होता है, दूसरे वह सक्रिय होता है, या परमेश्वर के अनुग्रह के साथ सहयोग करता है। नए-जन्म में मनुष्य के मन में अनुग्रह का बीज रोपा जाता

है, और इससे पहले पापी व्यक्ति नैतिक कार्यों को करने में असमर्थ होता है; क्योंकि प्रेरणा प्राप्त भाषा में, वह 'अपराधों और पापों में मरा हुआ है'। मन-फिराव में मन परमेश्वर की ओर मुड़ता है, जिसमें कार्य सम्मिलित है'' परन्तु फिर भी पापी मनुष्य केवल तभी कार्य करता है जब परमेश्वर उसे प्रेरित करता है, 'जिसने अपनी सुइच्छा निमित्त मन में इच्छा और कार्य दोनों बातों के करने का प्रभाव डाला है'।

भाग 3

चुने हुए शिशु, जो बचपन में मर जाते हैं, ख्रीष्ट के द्वारा पवित्र आत्मा के माध्यम से नया जीवन पाते एवं बचाए जाते हैं (लूका 18:15 – 16; प्रेरितों के काम 2:38 – 39; यूहन्ना 3:3, 5; 1 यूहन्ना 5:12; रोमियों 8:9), जो जब, जहाँ, और जिस रीति से वह चाहता है, कार्य करता है (यूहन्ना 3:8)। इसी प्रकार से अन्य वे सभी चुने हुए व्यक्ति भी हैं जो वचन की सेवकाई के द्वारा बाहरी रूप से बुलाए जाने में असमर्थ हैं (प्रेरितों के काम 4:12; 1 यूहन्ना 5:12)।

व्याख्या

बहुधा पवित्र आत्मा साधनों के द्वारा कार्य करता है; और वचन, चाहे पढ़ा जाए या प्रचार किया जाए, वह सामान्य साधन है जिसको वह पापियों के उद्धार के लिए प्रभावशाली बनाता है। परन्तु उसके पास मनुष्यों के हृदय तक तत्काल पहुँच है, और वह सामान्य साधनों के उपयोग के बिना उनमें उद्धार वाला परिवर्तन ला सकता है। 'जब कि शिशु सीखने के लिए उपयुक्त पात्र नहीं होते, इसलिए उनका नया जन्म बिना साधन के, उनके मनों पर पवित्र आत्मा के तत्काल माध्यम से प्रभावकारी होना चाहिए। कुछ वयस्क लोग भी होते हैं, जिन्हें तर्क करने की क्षमता नहीं मिली होती है। यह सोचना बहुत कठोर एवं गलत होगा कि इस कारण से, उन्हें उद्धार से बाहर रखा

गया है; और उनमें से जिन्हें परमेश्वर ने चुना है, उन पर उद्धार को उसी रीति से लागू किया जा सकता है जैसे शिशुओं पर किया जाता है।'[57]

भाग 4

अन्य लोग, जो चुने हुए नहीं हैं, यद्यपि वचन की सेवकाई के द्वारा बुलाए जा सकते हैं (मत्ती 22:14), और उनमें आत्मा के कुछ सामान्य कार्य हो सकते हैं (मत्ती 7:22; 13:20 – 21; इब्रानियों 6:4 – 5), फिर भी वे कभी भी ख्रीष्ट के पास नहीं आते हैं, और इसलिए बचाए नहीं जा सकते (यूहन्ना 6:64 – 66; 8:24); और तो और, जो लोग मसीही विश्वास को नहीं मानते हैं, वे किसी भी अन्य तरीके से बचाए नहीं जा सकते, चाहे वे कभी भी प्रकृति के ज्ञान और उस धर्म के नियमों के अनुसार अपने जीवनों को ढालने में बहुत परिश्रमी क्यों न हों, जिसे वे मानते हैं (प्रेरितों के काम 4:12; यूहन्ना 14:6; इफिसियों 2:12; यूहन्ना 4:22; 17:3); और यह दावा करना और निश्चय-पूर्वक कहना कि वे ऐसा कर सकते हैं बहुत ही हानिकारक है, और इसे ठुकरा दिया जाना चाहिए (2 यूहन्ना 1:9 – 11; 1 कुरिन्थियों 16:22; गलातियों 1:6 – 8)।

व्याख्या

इस भाग में बताए गए सिद्धांत निम्नलिखित हैं:

1. हालाँकि जो लोग चुने नहीं गए हैं, उन्हें भी चुने हुए लोगों के समान ही सुसमाचार की बाहरी बुलाहट मिलती है, फिर भी 'वे कभी भी वास्तव में ख्रीष्ट के पास नहीं आते हैं, और इसलिए बचाए नहीं जा सकते'।

2. कि 'पवित्र आत्मा के सामान्य कार्य' होते हैं, जो अंतःकरण में व्यवस्था के साधन के द्वारा, पाप के प्रति कायल होने; और मनुष्यों के

[57] Dick's *Lectures on Theology*, vol. iii., p. 265.

स्वाभाविक स्थिति में, उनकी भावनाओं में, सुसमाचार के साधन के द्वारा, आनन्दमय भावनाएं पैदा करते हैं; जो मन-फिराव पैदा नहीं करते हैं।

3. कि जो लोग परमेश्वर के प्रकाशन से पूरी रीति से वंचित हैं, उन्हें बचाया नहीं जा सकता। 'भले ही परमेश्वर को खोजने का जो निमंत्रण प्रकृति देती है, यह पर्याप्त है, इसलिए उन लोगों के पास *कोई बहाना नहीं है,* जो इसे नहीं मानते हैं' (रोमियों 1:20), फिर भी, तटस्थ रूप से भी, यह उद्धार के लिए पर्याप्त नहीं है; क्योंकि यह उस जीवित आशा को नहीं देता जो लज्जा को पैदा नहीं करती, क्योंकि यह केवल सुसमाचार के द्वारा ही प्रकट होता है; जबकि कहा जाता है कि अन्यजाति या गैर-यहूदी लोग *संसार में बिना किसी आशा के थे* (इफिसियों 2:12)। यह परमेश्वर का आनन्द पाने के सच्चे मार्ग को नहीं दिखाता, जो कि ख्रीष्ट में विश्वास के सिवाय और कुछ नहीं है। यह हमें इस विषय में पर्याप्त रूप से नहीं सिखाता है कि हमें किस रीति से परमेश्वर की आराधना करनी है और उसे प्रसन्न करना है, और वह कार्य करना है जो उसे *स्वीकार्य* है। संक्षेप में, प्रकृति की यह बुलाहट न तो कभी किसी को परमेश्वर के उद्धारक ज्ञान तक लाई है, और न ही यह सम्भव है कि यह कभी भी ऐसा कर सके; केवल सुसमाचार ही 'प्रत्येक विश्वास करने वाले के लिए, उद्धार के निमित्त परमेश्वर की सामर्थ्य है' (रोमियों 1:16)। हमें दृढ़ विश्वास है कि यीशु ख्रीष्ट के बिना कोई उद्धार नहीं है (प्रेरितों के काम 4:12); वयस्क लोगों का ख्रीष्ट के साथ कोई मेल नहीं, सिवाय उस पर विश्वास करने के द्वारा (इफिसियों 3:17); उसके ज्ञान के बिना ख्रीष्ट में कोई विश्वास नहीं है (यूहन्ना 17:3); बिना सुसमाचार प्रचार के कोई ज्ञान नहीं (रोमियों 10:14); प्रकृति के कार्यों में सुसमाचार का कोई प्रचार नहीं होता; क्योंकि यह *वह भेद है जो संसार के आरम्भ से ही गुप्त रखा गया था* (रोमियों 16:25)।[58]

[58] Witsius' *Economy of the Covenants,* book iii., ch. 5, sect. 13, 14.

आइए हम धन्यवादी बनें कि हमें सुसमाचार में प्रकाशन और ख्रीष्ट को मुफ्त में पेश किया गया है। आइए हम अपनी बुलाहट को पक्का करने के द्वारा, पूरे परिश्रम के साथ अपने चुने जाने को सुनिश्चित करें; और यदि हमें वास्तव में, 'स्वर्गीय बुलाहट में सहभागी बनाया गया है', तो 'आइए हम जिस बुलाहट में बुलाए गए हैं उसके योग्य चाल चले,' और 'परमेश्वर के योग्य चाल चलें, जिसने हमें अपने राज्य और महिमा के लिए बुलाया है'।

अध्याय 11

धर्मी ठहराया जाना (धर्मीकरण)

भाग 1

उन सभी लोगों को जिन्हें परमेश्वर प्रभावशाली रीति से बुलाता है, उन्हें वह सेंतमेंत धर्मी भी ठहराता है (रोमियों 8:30; 3:24); उनमें धार्मिकता को भरकर नहीं, बल्कि उनके पापों को क्षमा करने के द्वारा, और उनके व्यक्ति को धर्मी गिनकर और स्वीकार करने के द्वारा उनमें किए गए किसी भी कार्य या उनके द्वारा किए गए किसी भी कार्य के कारण नहीं, बल्कि केवल ख्रीष्ट के कारण; उनकी धार्मिकता के रूप में न तो स्वयं विश्वास को अभ्यारोपित करने के द्वारा, जो विश्वास करने का कार्य है, और न ही किसी अन्य सुसमाचार से सम्बन्धित आज्ञाकारिता को, उन के लिए अभ्यारोपित करने के द्वारा; परन्तु उन पर ख्रीष्ट की आज्ञाकारिता और प्रायश्चित को अभ्यारोपित करने के द्वारा (रोमियों 4:5 – 8; 2 कुरिन्थियों 5:19, 21; रोमियों 3:22, 24 – 25, 27 – 28; तीतुस 3:5, 7; इफिसियों 1:7; यिर्मयाह 23:6; 1 कुरिन्थियों 1:30 – 31; रोमियों 5:17 – 19), वे विश्वास के द्वारा उसे और उसकी धार्मिकता को प्राप्त करने और उस पर उसकी धार्मिकता पर भरोसा करते हैं; यह विश्वास वे अपनी ओर से नहीं रखते हैं, यह तो परमेश्वर का वरदान है (प्रेरितों के काम 10:44; गलातियों 2:16; फिलिप्पियों 3:9; प्रेरितों के काम 13:38 – 39; इफिसियों 2:7 – 8)।

भाग 2

विश्वास, जो इस रीति से ख्रीष्ट और उसकी धार्मिकता को ग्रहण करता और उस पर भरोसा करता है, धर्मी ठहराए जाने का एकमात्र साधन है (यूहन्ना 1:12; रोमियों 3:28; 5:1); फिर भी यह धर्मी ठहराए गए व्यक्ति में अकेला नहीं है, बल्कि उद्धार वाले अन्य सभी अनुग्रहों के साथ सदैव जुड़ा रहता है, और यह मृत विश्वास नहीं है, बल्कि प्रेम के द्वारा कार्य करता है (याकूब 2:17, 22, 26; गलातियों 5:6)।

व्याख्या

विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराए जाने का सिद्धांत मसीही सिद्धांतों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लूथर ने इसे सही मायने में कलीसिया के खड़े रहने या गिर जाने की कसौटी कहा था – (*articulus stantis vel cadentis ecclesioe*)। रोम के चर्च में इस सिद्धांत को सबसे बुरी रीति से बिगाड़ा गया था; और यह मुख्य रूप से धर्मी ठहराए जाने के पवित्रशास्त्र वाले सिद्धांत के माध्यम से ही हुआ कि पोपशाही से धर्म-सुधार सम्भव हो पाया। हालाँकि, प्रोटेस्टेंट कलीसियाओं में भी, इस विषय के बारे में खतरनाक त्रुटियाँ बड़े पैमाने पर फैलाई गई हैं, और अलग-अलग समयों पर इनसे बहुत तीखे विवाद पैदा हुए हैं। हमारे अंगीकार कथन में, धर्मी ठहराए जाने के पवित्रशास्त्र वाले सिद्धांत को विभिन्न प्रकार की त्रुटियों से सटीक रूप से अलग किया गया है; और व्याख्या के दौरान, हम उन त्रुटियों को इंगित करेंगे जिनका विरोध अंगीकार के कथन करते हैं।

1. *धर्मी ठहराया जाना परमेश्वर का एक न्यायिक कार्य है, और यह स्वभाव का परिवर्तन नहीं है, बल्कि कानून-व्यवस्था के सम्बन्ध में पापी की स्थिति में बदलाव है*। रोम का चर्च धर्मीकरण और पवित्रीकरण में भ्रम पैदा करता है, और धर्मीकरण को एक शारीरिक क्रिया के रूप में दर्शाता है जिसमें मनुष्यों के मनों में धार्मिकता को डाला जाता है, जिससे वे

आंतरिक एवं व्यक्तिगत रीति से धर्मी बन जाते हैं। परन्तु हालाँकि धर्मीकरण और पवित्रीकरण एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, फिर भी वे पूरी रीति अलग-अलग हैं, और उन्हें एक साथ मिलाने से व्यवस्था और सुसमाचार दोनों ही विकृत हो जाते हैं। पवित्रशास्त्र में उपयोग किए गए शब्द के अनुसार, धर्मीकरण को कानून के दृष्टिकोण से समझा जाना चाहिए; यह विधि या कानूनी शब्द है, जिसे मनुष्यों के न्यायालयों से लिया गया है, और इसका अर्थ व्यक्ति को धर्मी बनाना नहीं, बल्कि उसे कानून की दृष्टि में धर्मी ठहराना और घोषित करना है। इस शब्द का कानूनी अर्थ इससे स्पष्ट होता है कि इसे प्रायः दोषी ठहराने के विपरीत अर्थ में उपयोग किया जाता है (जैसे व्यवस्थाविवरण 25:1; नीतिवचन 17:15; रोमियों 5:16; 8:33, 34)। दोषी ठहराना किसी अपराधी में बुराई डालना, या उसे दोषी बनाना नहीं है, बल्कि कानून तोड़ने के अनुसार उस पर कानूनी रूप से दण्ड घोषित करना है; इसी रीति से, धर्मीकरण का अर्थ किसी व्यक्ति में धार्मिकता को डालना नहीं है, बल्कि उसे कानूनी आधार पर धर्मी घोषित करना है; और एक न्यायाधीश के आदेश के समान, यह एक ही बार में पूरा होता है।

सोसिनियन एवं कुछ अन्य लोग, धर्मीकरण को केवल पाप की क्षमा के रूप में बताते है। इसके विरोध में, हमारा अंगीकार-कथन यह घोषणा करता है कि परमेश्वर उन्हें धर्मी ठहराता है जिन्हें वह प्रभावशाली रीति से बुलाता है, न कि केवल 'उनके पापों को क्षमा करने के द्वारा', बल्कि साथ में 'उनके व्यक्ति को धर्मी मानकर और स्वीकार करने के द्वारा भी'। पाप की क्षमा निस्संदेह धर्मी ठहराए जाने का एक महत्वपूर्ण भाग है। इसमें दोष को दूर करने, या पापी को उस दण्ड की जिम्मेदारी से स्वतंत्र करना सम्मिलित है, जिसके तहत वह तोड़ी गई व्यवस्था के दण्ड के कारण था। जो क्षमा परमेश्वर देता है वह पूरी रीति से है और सम्पूर्ण है। इसमें सभी पाप शामिल हैं, चाहे वे कितने भी अधिक क्यों न हों, और वे अपनी विकरालता

में बहुत अधिक हों, चाहे वे कितने भी भयानक क्यों न हों। प्रभु इस प्रकार कहता है, 'मैं उनके सारे अधर्मों को जो उन्होंने मेरे विरुद्ध पाप करके किए हैं, और जिनके द्वारा मेरे विरुद्ध अपराध किया है, क्षमा करूंगा' (यिर्मयाह 33:8)। धर्मी ठहराए जाने में विश्वासी जन के सभी पाप एक ही बार में क्षमा कर दिए जाते हैं; उसके पिछले पापों को औपचारिक रीति से क्षमा कर दिया जाता है, और उसके भविष्य के पाप उस पर अभ्यारोपित नहीं किए जाएंगे, जिसके कारण वह पाप-दण्ड के अधीन नहीं हो सकता (भजन संहिता 32:1, 2; यूहन्ना 5:24)। लेकिन केवल पाप की क्षमा विश्वासी को उसी परीक्षा की दशा में बहाल करेगा जिसमें से आदम पाप में गिरा था; उस पर दोष का कोई वैधानिक आरोप नहीं होगा, परन्तु फिर भी उसके पास अनन्त जीवन के लिए कोई वैधानिक अधिकार नहीं होगा। लेकिन जब परमेश्वर किसी पापी को धर्मी ठहराता है, तो वह उसे न केवल अपराध से, या अनन्त मृत्यु के खतरे से स्वतंत्र करता है; बल्कि वह उसे धर्मी भी घोषित करता है, और, इस प्रकार, उसे अनन्त जीवन के लिए अधिकार देता है। इसीलिए, इसे 'जीवन के लिए धर्मी ठहराया जाना' कहा जाता है; और जो लोग 'धार्मिकता का वरदान पाते है, वे एक ही व्यक्ति, यीशु ख्रीष्ट के द्वारा जीवन में राज्य करेंगे' (रोमियों 5:17, 18)।

2. *कोई भी मनुष्य, पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से, किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत धार्मिकता के आधार पर परमेश्वर के सामने धर्मी नहीं ठहराया जा सकता*। रोमन कैथोलिक, सोसिनियन और पेलाजियन लोग मानते हैं कि हम या तो व्यक्तिगत जन्मजात अंतर्निहित धार्मिकता, या स्वयं अपने कर्मों के द्वारा धर्मी ठहराए जाते हैं।[59] इसके विपरीत, हमारा

[59] रोम का चर्च दोहरे धर्मीकरण की बात करता है। पहला, जिसमें पाप की क्षमा और अंदरूनी मनुष्य को नया बनाना है, इसे एक रीति से विश्वास से होने वाला कहा जाता है, हालाँकि इससे योग्यता और पहले से अंतर्निहित योग्यताएं अलग नहीं है; दूसरा, जिसके द्वारा हमें अनन्त जीवन मिलता है, उसे अंतर्निहित धार्मिकता के द्वारा और उन कर्मों के द्वारा कहा जाता है, जो मनुष्य में पहले भरे गए अनुग्रह की सहायता से होते हैं। Concil. Trident., sess. vi., *de justificatione*.

अंगीकार-कथन सिखाता है कि लोग 'उनमें किए गए किसी भी कार्य या उनके द्वारा किए गए किसी भी कार्य के कारण नहीं, बल्कि केवल यीशु ख्रीष्ट के कारण' धर्मी ठहराए जाते हैं। यह स्पष्ट है कि हम जन्मजात अंतर्निहित धार्मिकता से धर्मी नहीं ठहराए जा सकते:

1. क्योंकि हम केवल सिद्ध धार्मिकता के आधार पर ही धर्मी ठहराए जा सकते हैं, और हमारी जन्मजात अंतर्निहित धार्मिकता दोषपूर्ण है; क्योंकि पवित्रशास्त्र कहता है, निष्पाप तो कोई भी मनुष्य नहीं है (1 राजा 8:46)।

2. क्योंकि जिस धार्मिकता से हमें धर्मी ठहराया जाता है, वह हमारी अपनी नहीं है (फिलिप्पियों 3:9)।

3. क्योंकि धार्मिकता का निर्णय, स्वाभाविकता के क्रम में, हालाँकि समय के क्रम में नहीं, अंतर्निहित पवित्रता के रोपित किए जाने से पहले होना चाहिए।

4. क्योंकि, यदि हमें अंतर्निहित धार्मिकता के द्वारा धर्मी ठहराया जाता, तो यह नहीं कहा जा सकता था कि परमेश्वर 'भक्तिहीन को धर्मी ठहराता है' (रोमियों 4:5)।

यह बात उतनी ही स्पष्ट है कि हम अपने कर्मों से धर्मी नहीं ठहराए जा सकते:

1. क्योंकि हमारी व्यक्तिगत आज्ञाकारिता व्यवस्था की माँगों से बहुत अधिक दूर है। व्यवस्था हर हालत से सिद्ध आज्ञाकारिता की माँग करता है परन्तु 'हम सब कई बातों में चूक जाते हैं' (याकूब 3:2)।

2. क्योंकि हमारी आज्ञाकारिता, भले ही वह व्यवस्था की उच्च मांगों के बराबर हो, फिर भी हमारे पिछले अपराधों के लिए प्रायश्चित नहीं कर सकते। व्यवस्था न केवल उसके नियमों को पूरा करने की मांग करता है, बल्कि उसके दण्ड के भुगतने की भी मांग करता है: 'लहू बहाए बिना क्षमा है ही नहीं' (इब्रानियों 9:22)।

3. क्योंकि हमें अनुग्रह के द्वारा सेतमेंत धर्मी ठहराया गया है, और अनुग्रह एवं कर्म एक-दूसरे के एकदम विपरीत हैं (रोमियों 3:24; 11:6)।

4. क्योंकि कर्मों से धर्मी ठहराया जाना न केवल परमेश्वर के अनुग्रह को व्यर्थ कर देता है, बल्कि ख्रीष्ट की मृत्यु को भी व्यर्थ और निष्प्रभावी बना देता है (गलातियों 2:21)।[60]

5. क्योंकि हमें इस रीति से धर्मी ठहराया गया है कि घमंड करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती (रोमियों 3:27)।

6. क्योंकि कर्मों से धर्मी ठहराया जाना पवित्रशास्त्र की एक समान गवाही के सीधे विरोध में है। प्रेरित पौलुस रोमियों और गलातियों की पत्रियों में धर्मीकरण के विषय पर पूर्ण रीति से चर्चा करता है; और दोनों ही पत्रियों में वह स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि 'परमेश्वर की दृष्टि में कोई प्राणी व्यवस्था के कार्यों से धर्मी नहीं ठहरेगा' (रोमियों 3:20; गलातियों 2:16)।

इस तर्क के उत्तर में, प्रायः यह कहा गया है कि जिन कार्यों को प्रेरित पौलुस परमेश्वर के सामने पापियों के धर्मीकरण के आधार में से अलग करता है, वे *अनुष्ठानिक* वाली व्यवस्था के कार्य हैं, न कि *नैतिक* व्यवस्था के। कैल्विन कहते हैं, कि इस 'मजेदार बदलाव' को उनके समय के 'झगड़ालू विवाद करने वालों' ने ओरिजेन (Origen) और कुछ पुराने लेखकों से लिया था; और वह इसे 'बहुत मूर्खतापूर्ण एवं बेतुका' बताता है, और अपने पाठकों से आह्वान करता है कि वे इसे एक निश्चित सत्य के रूप में माने, कि जब व्यवस्था से धर्मी ठहराए जाने की शक्ति छीन ली जाती है, तो पूरी व्यवस्था की बात की जाती है'।[61]

इसका संदर्भ सभी व्यवस्था से है जिसे परमेश्वर ने मनुष्य को दिया है, चाहे

[60] इस लेख पर रॉबर्ट ट्रेल के उत्कृष्ट संदेशों को देखें।

[61] Calvin's *Institutes*, book iii., ch. 11, sect. 19.

> वह शब्दों में बताए गए हों या हृदय में लिखे गए हों। यही वह व्यवस्था है जिसका उल्लंघन गैर-यहूदियों ने किया है, जो उनके हृदयों में स्वाभाविक रूप से लिखा हुआ है। यही वह व्यवस्था है जिसका उल्लंघन यहूदियों ने किया है, जब उन्होंने चोरी, व्यभिचार, अपवित्र कार्य किए हैं जिसने उन्हें अधर्म, बुराई करने, बदनामी करने, हत्या, या अन्याय का दोषी ठहराया है। एक शब्द में कहें तो, यह वह व्यवस्था है जो सम्पूर्ण संसार का मुंह बंद कर देती है, जैसा कि पिछले पद में कहा गया था, और यह सभी मनुष्यों को परमेश्वर के सामने दोषी ठहराता है।[62]

कुछ अन्य लोगों का कहना है कि जिन कार्यों के लिए प्रेरित कहता है कि उनका हमारे धर्मीकरण में कोई भाग नहीं है, वे ऐसे कार्य हैं जो *विश्वास में नहीं किए गए*। यह आरोप भी बेबुनियाद है; क्योंकि प्रेरित आम तौर पर सभी कार्यों को हमारे धर्मीकरण से बाहर करता है – बिना किसी भेदभाव या अपवाद के हर प्रकार के कार्य (इफिसियों 2:9, 10); और सबसे प्रख्यात संत अपने कार्यों पर किसी भी तरह की निर्भरता से इनकार करते हैं, और अपने सबसे भले कार्यों के अनुसार धर्मी ठहराए जाने से बचते हैं (भजन संहिता 143:2; फिलिप्पियों 3:8, 9)।

आर्मीनियन लोग मानते हैं कि स्वयं विश्वास, या विश्वास करने का कार्य हमारे धर्मी ठहराए जाने वाली धार्मिकता के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके विरोध में हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है, कि परमेश्वर हमें 'हमारी धार्मिकता के रूप में, स्वयं विश्वास को, विश्वास करने के कार्य को अभ्यारोपित करने के द्वारा' धर्मी नहीं ठहराता है। और इसकी पुष्टि में, हम देखते हैं, कि विश्वास, हमारे द्वारा किए गए कार्य के रूप में, किसी भी अन्य कार्य के समान ही व्यवस्था का पालन करने का एक कार्य है; और,

---

[62] Robert Haldane on the *Romans*, vol. i., p. 261. On this point, see also Owen on *Justification*, ch. 14; Jonathan Edwards' *Sermons*, pp. 33-52; Rawlin on *Justification*, p. 39; and Chalmers on the *Romans*, pp. 193–199.

इसलिए, विश्वास के कार्य से धर्मी ठहराया जाना, किसी कार्य से धर्मी ठहराया जाना होगा। परन्तु यह पवित्रशास्त्र की स्पष्ट घोषणाओं के विरुद्ध है, जो धर्मी ठहराए जाने के मामले में सभी प्रकार के कार्यों का बाहर कर देता है (गलातियों 2:16)। इसके अतिरिक्त, विश्वास को उस धार्मिकता से स्पष्ट रूप से अलग रखा गया है जिसके द्वारा हमें धर्मी ठहराया जाता है। हम पवित्रशास्त्र में पढ़ते हैं '*परमेश्वर की धार्मिकता जो यीशु ख्रीष्ट पर विश्वास के द्वारा है*', और '*धार्मिकता जो विश्वास के द्वारा परमेश्वर की ओर से है*' (रोमियों 3:22; फिलिप्पियों 3:9)। कोई भी भाषा इससे अधिक स्पष्ट तौर पर यह नहीं दिखा सकती कि धार्मिकता और विश्वास दो अलग-अलग बाते हैं। श्री हल्डेन कहते हैं, 'सत्य को बिगाड़ने का इससे बड़ा तरीका और कुछ नहीं हो सकता कि स्वयं विश्वास को ही धार्मिकता के स्थान पर स्वीकार किया जाए, या वह धार्मिकता मानी जाए जो पापी को बचाता है। विश्वास धार्मिकता नहीं है। धार्मिकता व्यवस्था को पूरा करना है'।[63]

नियोनोमियन लोग आरोप लगाते हैं, कि हालाँकि हम उस सिद्ध आज्ञाकारिता का पालन नहीं कर सकते हैं जिसकी माँग कर्मों की व्यवस्था करती है, फिर भी परमेश्वर ने, ख्रीष्ट की खातिर, कृपालु होकर हमें नई व्यवस्था दी है; जिसके अनुसार, सच्ची आज्ञाकारिता, या विश्वास, पश्चाताप, और सच्ची आज्ञाकारिता को, हमारे धर्मी ठहराए जाने वाली धार्मिकता के रूप में स्वीकार किया जाता है। यहाँ टिप्पणी की जा सकती है कि पवित्रशास्त्र कहीं भी इस बात का थोड़ा भी संकेत नहीं देता है कि मनुष्य को आरम्भ में दिए गए कर्मों की व्यवस्था के स्थान पर कोई नई और अपेक्षाकृत उदार व्यवस्था दी गई है। ख्रीष्ट व्यवस्था का लोप करने के लिए नहीं, परन्तु पूरा करने के लिए आया। सुसमाचार कभी भी पापियों को यह सिखाने के लिए नहीं लिखा गया था कि परमेश्वर अब *सिद्ध* आज्ञाकारिता के स्थान पर *सच्ची* आज्ञाकारिता को स्वीकार करेगा, बल्कि

[63] Haldane on the *Romans*, vol. i., p. 350.

पापियों को यीशु ख्रीष्ट की ओर निर्देशित करने के लिए लिखा गया था, 'जो हर एक विश्वास करने वाले के लिए धार्मिकता के निमित्त व्यवस्था का अन्त है'। एक *नई व्यवस्था* का विचार, जो मानव की वर्तमान दशा के लिए अनुकूलित किया गया हो, व्यवस्था और व्यवस्था देने वाले दोनों के लिए सबसे बड़ा अनादर है; क्योंकि यह कल्पना करता है कि व्यवस्था देने वाला बदलता है, और कि मनुष्य को पहले दी गई व्यवस्था की माँग बहुत अधिक थी।

3. परमेश्वर के समक्ष पापियों के धर्मी ठहराए जाने का एकमात्र आधार यीशु ख्रीष्ट की धार्मिकता है। हमारा अर्थ परमेश्वर के रूप में उसकी स्वाभाविक धार्मिकता से नहीं है,[64] क्योंकि वह तो असंचारी है; परन्तु उसकी मध्यस्थता वाली या जामिन वाली धार्मिकता से है, जो, हमारे अंगीकार-कथन के अनुसार, उसकी 'आज्ञाकारिता और प्रायश्चित' में है। कि पापी लोग केवल इसी आधार पर धर्मी ठहराए जाते हैं, इसे कई प्रमाणों से साबित किया जा सकता है। बिना सिद्ध धार्मिकता के कोई भी धर्मी नहीं ठहराया जा सकता; क्योंकि व्यवस्था की माँगो को नजरअंदाज या कम नहीं किया जा सकता। पापी को धर्मी घोषित करने में, परमेश्वर का न्याय सत्य के अनुसार नहीं होगा, जब तक कि वह फैसला व्यवस्था की माँगो के हिसाब से सिद्ध धार्मिकता पर आधारित न हो। पुराने नियम में, मसीहा को इस प्यार भरे नाम से लिया उल्लेखित किया गया है, 'यहोवा हमारी धार्मिकता' (यिर्मयाह 23:6) और यह भविष्यवाणी की गई थी कि वह 'युगयुग की धार्मिकता लाएगा' (दानिय्येल 9:24)। नए नियम में कहा गया है कि 'ख्रीष्ट को हमारे लिए धार्मिकता बनाया गया है'; और हमारे लिए कहा गया है कि 'हमें उसी में परमेश्वर की धार्मिकता बनाया गया है' (1

[64] यह ओसिएंडर का विचार था, जो एक विद्वान व्यक्ति थे, वे धर्म-सुधार के आरम्भ में जर्मनी आए थे, और उन्होंने अपने विचारों से लूथर और मेलानक्थॉन को बहुत परेशान किया था। Mosheim को देखें cent. xvi., sect. 3, p. 2, ch. i., c. 35.

कुरिन्थियों 1:30; 2 कुरिन्थियों 5:21)। यह कहा गया है कि 'एक मनुष्य के आज्ञा मानने से बहुत लोग धर्मी ठहरेंगे', और कि 'धर्म का काम भी सब मनुष्यों के लिए जीवन के निमित्त धर्मी ठहराए जाने का कारण हुआ' (रोमियों 5:19, 18)।

4. *परमेश्वर द्वारा अभ्यारोपित करने, और पापी लोगों द्वारा इसे विश्वास के द्वारा स्वीकार करने से, वे, अपने धर्मी ठहराए जाने के लिए, ख्रीष्ट की धार्मिकता में हिस्सा पाते हैं।* ख्रीष्ट की धार्मिकता के अभ्यारोपण का सिद्धांत न केवल रोमन कैथोलिक और सोसिनियन लोग खारिज करते हैं, बल्कि अलग-अलग विचारों वाले कई लेखक भी इसे खारिज करते हैं।[65] यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि हम केवल इसके प्रभावों के लिए नहीं, बल्कि स्वयं ख्रीष्ट की धार्मिकता के अभ्यारोपण को मानने की बात करते हैं। यह कहना कि ख्रीष्ट की धार्मिकता, अर्थात, उसकी आज्ञाकारिता और दुःख, हम पर केवल उनके प्रभावों के रूप में दिए जाते हैं, इसका अर्थ हैं कि हमें उनका लाभ मिलता है, और इससे अधिक कुछ नहीं, तो यह तो स्वयं अभ्यारोपण को ही नकार दिया जाना है। सोसिनियन ऐसा कहते हैं; लेकिन वे भली भांति जानते हैं, और ईमानदारी से मानते हैं, कि इस रीति से वे सभी सच्चे, वास्तविक अभ्यारोपण को समाप्त कर देते हैं।[66] ख्रीष्ट की धार्मिकता के प्रभाव हमें स्वयं उसकी धार्मिकता के अभ्यारोपण के आधार पर मिलते हैं; परन्तु वे वास्तव में हमें दिए जाते हैं, न कि हम पर अभ्यारोपित किए जाते हैं। हमें लगता है कि बहुत से लोग अभ्यारोपण के सिद्धांत का विरोध करते हैं, क्योंकि वे इसके उचित स्वभाव के विषय में गलत समझ रखते हैं। इसका अर्थ पवित्र स्वभाव का भरा जाना नहीं है, या विश्वासियों में ख्रीष्ट की धार्मिकता का वास्तविक हस्तांतरण होना नहीं

[65] यहाँ जिन लेखकों का उल्लेख किया गया है, उनमें Dr. Dwight और प्रोफेसर Stuart का नाम लिया जा सकता है।

[66] Owen on *Justification*, ch. 7.

है, ताकि यह स्वाभाविक और व्यक्तिगत रूप से उनकी हो जाए – वस्तुओं की प्रकृति में, यह असम्भव है; परन्तु इसका अर्थ यह है कि परमेश्वर ख्रीष्ट की धार्मिकता को उसके खाते में गिनता है, और इसके एवज में, वह उनसे ऐसा व्यवहार करता है जैसे कि वे धार्मिक हों। परमेश्वर यह नहीं मानता कि उन्होंने इसके लिए कार्य किया, क्योंकि यह सत्य के अनुसार न्याय नहीं होगा; परन्तु वह इसे उनके धर्मी ठहराए जाने के लिए उनके खाते में गिनता है।

> हाल के समयों में उपयोग किए गए ईश्वरविज्ञान में कुछ ऐसे तकनीकी शब्द है, कि वे सोचने के सिद्धांत पर स्वयं अपना अर्थ बताने में असफल होते हैं। अभ्यारोपण उन शब्दों में से एक है। आपको इसके स्पष्ट भाव का प्रकटीकरण तब समझ आएगा, जब यह बताया जाएगा कि (रोमियों 4 के) 6वे पद में मूल भाषा में वही शब्द है जिसका उपयोग फिलेमोन के उस पद में किया गया है, जहाँ पौलुस कहता है, यदि उसने किसी भी प्रकार से तुम्हारी कोई हानि की है या उस पर तुम्हारा कोई कर्ज़ है, तो उसे मेरे नाम लिख देना। बिना कर्मों के किसी मनुष्य के लिए धार्मिकता को अभ्यारोपित करने का सीधा सा अर्थ है कि धार्मिकता को उसके नाम या खाते में लिख देना, भले ही उसने धार्मिकता के कार्य न किए हों।[67]

ख्रीष्ट की धार्मिकता के अभ्यारोपण का सिद्धांत पवित्रशास्त्र में स्पष्ट रीति से सिखाया गया है। हमें यीशु ख्रीष्ट की आज्ञाकारिता के द्वारा धर्मी होने के रूप में बनाया गया, उसी रीति से दिखाया गया है, जैसे आदम के आज्ञा न मानने से हमें पापी बनाया गया है; और यह केवल अभ्यारोपण से ही हो सकता है (रोमियों 5:19)। हमारे लिए यह भी कहा गया है कि हमें यीशु ख्रीष्ट में परमेश्वर की धार्मिकता बनाया गया है, जिस प्रकार उसे हमारे लिए पाप बनाया गया था; और यह भी, केवल अभ्यारोपण से ही हो सकता था

[67] Chalmer, Lectures on the *Romans*, vol. i., p. 208.

(2 कुरिन्थियों 5:21)। हमें स्पष्ट रूप से बताया गया है परमेश्वर बिना कार्यों के धार्मिकता को अभ्यारोपित करता है (रोमियों 4:6)। यह अभ्यारोपण, अनन्त काल से विश्वासी का ख्रीष्ट के साथ *संघीय वाचा* वाले मेल, और समय में उसके साथ विश्वासी के जीवंत मेल पर आधारित है। ख्रीष्ट ने, अपने आत्मिक वंशजों के जामिन के रूप में, अनन्तकाल से उनके लिए धार्मिकता को पूरा करने हेतु कार्य किया; उसने इसे उनके स्वभाव में, और उनके स्थान पर पूरा किया; और जब वे पवित्र आत्मा और विश्वास के द्वारा उसके साथ जीवित रूप से जुड़ जाते हैं, तो परमेश्वर कृपा करके उनके धर्मी ठहराए जाने के लिए ख्रीष्ट की धार्मिकता को उनके नाम में गिनता है।

5. *पापी के धर्मी ठहराए जाने का एकमात्र साधन विश्वास है*। कि हम लोग विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराए जाते हैं, इस बात को पवित्रशास्त्र में इतनी बार और इतने स्पष्ट रूप से बताया गया है, कि ऐसा कोई भी व्यक्ति जो परमेश्वर के वचन को अपने विश्वास का नियम मानता है, वह इसे नकारने का साहस नहीं कर सकता। हालाँकि, किसी पापी के धर्मी ठहराए जाने में विश्वास की भूमिका के विषय में बहुत अलग-अलग विचार हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि पापी को विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराया जाता है, क्योंकि यह उसके द्वारा किया गया कार्य है; जैसे कि विश्वास, व्यवस्था द्वारा माँगी गई, सिद्ध आज्ञाकारिता का स्थान ले लेता है। इसे हम पहले ही त्रुटिपूर्ण प्रमाणित कर चुके हैं; और व्हिटशियस कहते हैं, 'यह सभी भली रीति से जानते हैं कि रिफॉर्म्ड कलीसियाओं ने आर्मिनियस और उसके अनुयायियों की इस बात के लिए निंदा की थी कि धर्मीकरण के मामले में, विश्वास को हमारे कार्य के रूप में माना जाता है।'[68]

कुछ लोगों ने कहा है, कि विश्वास को हमारे धर्मीकरण की *शर्त* के रूप में माना जाना चाहिए। किसी भी बात की शर्त बहुधा उस बात को दर्शाती है, जिसे करने पर हमें उस बात पर अधिकार और हक मिलता है, क्योंकि

[68] Witsius, *Economy of the Covenants*, book, viii., ch. 3, sec. 51.

उसमें या तो स्वाभाविक या पारम्परिक विशेषता होती है। इस अर्थ में, विश्वास को हमारे धर्मीकरण की शर्त कहना, परमेश्वर के अनुग्रह का अपमान करते हुए, उसमें मानवीय योग्यता को जोड़ना होगा, और यह सुसमाचार को पूरी रीति से भ्रष्ट कर देगा। कुछ प्रतिष्ठित धर्मगुरुओं ने विश्वास को एक शर्त कहा है, जो इस विचार से बहुत अलग विचार रखते थे कि यह सच में एक शर्त है, जिसे पूरा करने पर लोगों को, परमेश्वर के कृपालु वाचा के अनुसार, उनके पुरस्कार के रूप में धर्मी ठहराए जाने का अधिकार मिलेगा। उनका अर्थ केवल यह था कि बिना विश्वास के हम धर्मी नहीं ठहराए जा सकते – कि विश्वास को समय या प्रकृति के क्रम में धर्मीकरण से पहले आना चाहिए। परन्तु, क्योंकि 'शर्त' एक बहुत ही संदिग्ध शब्द है, और नासमझ लोगों को गुमराह कर सकता है, इसलिए इससे बचना चाहिए।

अन्य लोगों ने कहा है कि विश्वास धर्मी ठहराता है, क्योंकि यह धर्म-पुण्य से प्रेरित और जीवंत होता है। यह रोमन कैथोलिक कलीसिया की भाषा है; और यहाँ हम धर्म-सुधार के वीर नायक के शब्दों का उचित उपयोग कर सकते हैं। गलातियों 2:16 पर टिप्पणी करते हुए, वह कहते हैं

> यह मसीही बनने का वास्तविक अर्थ है, अर्थात, यीशु ख्रीष्ट में विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराया जाना, न कि व्यवस्था के कार्य के द्वारा। यहाँ हमें रोमन कैथोलिक विद्वानों की दुष्ट व्याख्या को नहीं मानना चाहिए, जो कहते हैं कि विश्वास तभी धर्मी ठहराता है जब उसके साथ धर्म-पुण्य और भले कार्य जोड़ दिए जाते हैं। इस विनाशक व्याख्या से, चालाक लोगों ने पौलुस के इस और ऐसे ही अन्य वाक्यों को धुंधला और भ्रष्ट कर दिया है, जिनमें वह ख्रीष्ट में धर्मी ठहराए जाने का श्रेय स्पष्ट रीति से विश्वास को देता है। लेकिन जब कोई मनुष्य सुनता कि उसे ख्रीष्ट पर विश्वास करना चाहिए, और फिर भी, इसके बावजूद, विश्वास तब तक धर्मी नहीं ठहराता जब तक उसके साथ धर्म-पुण्य न हो, तो वह तुरन्त ही विश्वास से गिर

> जाता है, और इस प्रकार सोचता है यदि बिना धर्म-पुण्य के अकेले विश्वास धर्मी नहीं ठहराता है, तो फिर विश्वास व्यर्थ और अलाभकारी है, और अकेले धर्म-पुण्य ही धर्मी ठहरता है; क्योंकि जब तक विश्वास धर्म-पुण्य के साथ न हो, तो वह कुछ भी नहीं है।[69]

धर्मीकरण के साथ विश्वास के सम्बन्ध के विषय में इन अलग-अलग विचारों के विपरीत, हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है कि 'विश्वास, जो इस रीति से ख्रीष्ट और उसकी धार्मिकता को ग्रहण करता और उस पर भरोसा करता है, धर्मी ठहराए जाने का *एकमात्र साधन* है'। कुछ लोगों ने इस वक्तव्य की गलत रूप से व्याख्या की है, जैसे कि इसका अर्थ यह है कि विश्वास वह साधन है जिसके द्वारा परमेश्वर हमें धर्मी ठहराता है। परन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं था कि विश्वास परमेश्वर की ओर से कोई साधन है, बल्कि यह हमारी ओर से है। कुछ लोगों ने गलत रीति से विश्वास को उस साधन के रूप में भी बताया है जिसके द्वारा हमें धर्मीकरण प्राप्त होता है। वास्तव में, विश्वास वह साधन है जिससे हमें ख्रीष्ट और उसकी धार्मिकता प्राप्त होती है।[70] श्री ट्रेल के अनुसार, 'यह स्पष्ट प्राचीन प्रोटेस्टेंट सिद्धांत है, कि विश्वास का स्थान केवल उस हाथ या साधन के समान है जो ख्रीष्ट की धार्मिकता को प्राप्त करता है, जिसके कारण ही हमें धर्मी ठहराया जाता है।'[71]

आधुनिक सुसमाचारीय धर्म-विद्वानों की भाषा पूरी रीति से इस 'पुराने प्रोटेस्टेंट सिद्धांत' से मेल खाती है। श्री हल्डेन कहते हैं, 'विश्वास धार्मिकता के कार्य को धर्मी नहीं ठहराता है, बल्कि उस साधन के रूप में जिसके

---

[69] Luther's *Commentary on the Galatians*. श्री ट्रेल कहते हैं, 'यह एक ऐसी पुस्तक है जिसमें दूसरे धर्मगुरुओं की कई पुस्तकों की तुलना में अधिक स्पष्ट और सही सुसमाचार है।

[70] Edward's *Sermon*, p. 13 को देखें

[71] Traill's *Works*, vol. i., p. 298.

द्वारा हम ख्रीष्ट और उसकी धार्मिकता को प्राप्त करते हैं।'[72] डॉ. चाल्मर्स कहते हैं, 'जब हम पढ़ते हैं कि हम विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराए गए हैं, तो हमें समझना चाहिए कि विश्वास केवल वह साधन है जिसके द्वारा हम इस महान अधिकार को पाते हैं।'[73] डॉ. कोलक्यूहॉन कहते हैं, 'जिस प्रकार हाथ को पोषण देने वाला कहा जाता है, क्योंकि यह शरीर को भोजन देने का साधन है; वैसे ही विश्वास धर्मी ठहराता है, एक हाथ या साधन के रूप में जो उद्धारकर्ता की धार्मिकता को हमारे प्राणों के लिए लागू करता है।'[74]

यह ध्यान से देखने वाली बात है कि हमारा अंगीकार-कथन न केवल विश्वास को एक साधन के रूप में, बल्कि धर्मीकरण के एकमात्र साधन के रूप में बताता है। यह रोमन कैथोलिक लोगों की एक त्रुटि के विरुद्ध है, जो मानते हैं कि धर्मी ठहराने में आशा, और प्रेम, और पश्चाताप विश्वास में सम्मिलित हैं, और सही मायने में विश्वास के साथ मिलकर धर्मी ठहराए जाने का कार्य करते हैं। कि हम *केवल विश्वास* के द्वारा धर्मी ठहराए जाते हैं, यह इन तर्कों से प्रमाणित होता है: हम कर्मों के बजाए विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराए जाते हैं (रोमियों 4:2, 3) – केवल विश्वास ही ख्रीष्ट की धार्मिकता को ग्रहण करता और लागू करता है; हम अनुग्रह से सेंतमेंत धर्मी ठहराए गए हैं, और इसलिए केवल विश्वास के द्वारा – क्योंकि केवल यही अनुग्रह की रीति से होने के साथ मेल खाता है (रोमियों 3:24; 4:16); अब्राहम ने विश्वास से धर्मी ठहराए जाने की आशीष पाई, और उसे उस तरीके के लिए एक उदाहरण के रूप में चुना गया, जिसमें आने वाली पीढ़ियों में बाकी लोगों को भी धर्मी ठहराया जाएगा (गलातियों 3:6 – 9)।

केवल विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराए जाने के सिद्धांत के समर्थकों पर बहुत गलत आरोप लगाए गए, जैसे कि उन्होंने भले कार्यों की आवश्यकता

---

[72] Haldane on the *Romans*, vol. i., p. 333.

[73] Chalmers on *Romans*, vol. i., p. 272.

[74] Colquhoun's *Sermons*, p. 147.

को नकार दिया हो। इस विनाशकारी गलत बात से बचने के लिए, हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है कि हालाँकि 'विश्वास ही धर्मीकरण का एकमात्र साधन है, फिर भी यह धर्मी ठहराए गए व्यक्ति में अकेला नहीं होता'। जो विश्वास हमें धर्मी ठहराता है वह एक जीवित और सक्रिय अवयव है, जो प्रेम से कार्य करता है, हृदय को शुद्ध करता है, और सभी को आज्ञा मानने के लिए प्रेरित करता है। यह हर एक मसीही कृपा से जुड़ा होता है, और भले कार्यों को जन्म देता है। लूथर कहते हैं, 'जब धर्मी ठहराए जाने की बात आती है, तो कार्यों पर विचार नहीं किया जाता। परन्तु सच्चा विश्वास उसी रीति से भले कार्यों को जन्म देने में असफल नहीं होगा, जैसे सूर्य रोशनी देना बन्द नहीं कर सकता।' यह एक अन्तर को बताता है, जो हमें प्रेरित पौलुस और याकूब के बीच स्पष्ट दिखने वाले मतभेद को दूर करने में सक्षम बनाता है; लेकिन हम उस विषय पर अभी बात नहीं करेंगे।[75]

भाग 3

ख्रीष्ट ने अपनी आज्ञाकारिता और मृत्यु के द्वारा, उन सभी लोगों के ऋण को पूरी रीति से चुका दिया है जो इस प्रकार धर्मी ठहराए गए हैं, और उनके लिए अपने पिता के न्याय के निमित्त उचित, वास्तविक एवं पूर्ण प्रायश्चित को प्रदान किया है (रोमियों 5:8 – 10, 19; 1 तीमुथियुस 2:5 – 6; इब्रानियों 10:10, 14; दानिय्येल 9:24, 26; यशायाह 53:4 – 6, 10 – 12)। फिर भी जितना कि उनके लिए पिता द्वारा उसे दिया गया था (रोमियों 8:32), और उनकी ओर से उसकी आज्ञाकारिता और प्रायश्चित को स्वीकार किया गया (2 कुरिन्थियों 5:21; मत्ती 3:17; इफिसियों 5:2), और दोनों ही सेंतमेंत रीति से, न कि उनमें किसी वस्तु के होने के

---

[75] See Owen on *Justification*, ch. xx.; Dick's *Lectures*, vol. iii., pp 380-385; Hill's *Lectures*, vol. ii., pp. 284, 285; Turretin's *Inst. Theo.*, L. 16, Q. 8; also Turretin's *Exerc. Theol*. text – *De Concord. Paul et Jac*.

कारण है, उनका धर्मी ठहराया जाना केवल सेंतमेंत अनुग्रह से है (रोमियों 3:24; इफिसियों 1:7); ताकि पापियों के धर्मी ठहराए जाने में परमेश्वर का सच्चा न्याय और भरपूर अनुग्रह महिमान्वित हो सके (रोमियों 3:26; इफिसियों 2:7)।

व्याख्या

सोसिनियन लोग इस बात से इनकार करते हैं कि यीशु ख्रीष्ट ने अपने लोगों की ओर से परमेश्वर के न्याय को संतुष्ट करने के लिए कोई वास्तविक एवं उचित प्रायश्चित किया; और इस सिद्धांत के लिए उनकी सबसे बड़ी आपत्ति यह है, कि यह पापियों के उद्धार में अनुग्रह के कार्य के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता है। विभिन्न वर्गों के कई आधुनिक लेखक, इस बात से इनकार करते हैं कि ख्रीष्ट ने *प्रतिशोध वाले* न्याय को संतुष्ट किया, और जोर देकर कहते हैं कि उसने केवल *सार्वजनिक* न्याय को संतुष्ट किया; इस कारण उन्हें यह मानना होगा कि उसने न तो उन लोगों का ऋण चुकाया जो धर्मी ठहराए गए हैं, और न ही उनकी ओर से उचित प्रायश्चित किया। वास्तव में, उनका मानना है कि आज्ञाकारिता का ऋण और सज़ा का ऋण, अपने स्वभाव में स्थानांतरित नहीं किया जा सकता; और निस्संदेह, यह न तो ख्रीष्ट के लिए स्थानांतरित किया गया, और न ही उसके द्वारा चुकाया गया। आज्ञाकारिता और प्रायश्चित दोनों के मामलों में, व्यवस्था की माँगो को यहोवा द्वारा माँगे जाने और ख्रीष्ट द्वारा पूरे किए जाने के बजाए, परमेश्वर के सम्प्रभुत्व वाले एक कार्य द्वारा 'निलंबित, रद्द, या खारिज कर दिए गए हैं'। और परमेश्वर के न्याय के लिए एक उचित, वास्तविक और पूर्ण प्रायश्चित के सिद्धांत के विरुद्ध वे जो मुख्य तर्क देते हैं, वह यह है कि यह सिवाय जामिन की मूल नियुक्ति के, पापी के उद्धार की प्रक्रिया के प्रत्येक भाग से अनुग्रह जैसी किसी भी वस्तु को बाहर कर देता है।'

इस भाग में, हमारे अंगीकार का कथन इन विचारों के एकदम उलट है; और इसकी पुष्टि में, हमें केवल पवित्रशास्त्र की स्पष्ट गवाही का हवाला देने की आवश्यकता है। 'एक मनुष्य के आज्ञा मानने से बहुत लोग धर्मी ठहरेंगे' (रोमियों 5:19)। इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि ख्रीष्ट ने उन लोगों के लिए आज्ञा मानने के ऋण को चुका दिया है जो धर्मी ठहराए गए हैं? 'अपने ज्ञान के द्वारा मेरा धर्मी दास बहुतेरों को धर्मी ठहराएगा; और उनके अधर्म के कामों का बोझ आप उठा लेगा' (यशायाह 53:11)। 'मसीह ने जो हमारे लिए शापित बना, हमें मोल लेकर व्यवस्था के श्राप से छुड़ाया' (गलातियों 3:13)। ऐसे और कौन से शब्द हैं जो इस बात को इनसे अधिक स्पष्टता से बता सकते हैं, कि ख्रीष्ट ने तोड़ी गई व्यवस्था के दण्ड को स्वयं सहा, और इस प्रकार उन सभी लोगों की ओर से, जिनका उसने प्रतिनिधित्व किया, पिता परमेश्वर के न्याय के लिए एक उचित, वास्तविक और पूर्ण प्रायश्चित किया? लेकिन पापियों का धर्मीकरण जो ख्रीष्ट यीशु में छुटकारे के माध्यम से है, उसे बाहर करने या छिपाने के बजाए, उसमें दिखाई देने वाले *अनुग्रह* की महिमा को सचित्र बयान करने का कार्य करता है। जामिन की धार्मिकता को स्वीकार करने के लिए परमेश्वर के कृपालु बनने में *अनुग्रह* प्रकाशित होता है; उसके द्वारा जामिन को प्रदान करने में और भी अधिक; सबसे बढ़कर, हमारे पापों के लिए प्रायश्चित बनने के लिए अपने एकलौते पुत्र को देने में। इसके अतिरिक्त, वह विश्वास जिसके द्वारा हम ख्रीष्ट की धार्मिकता को प्राप्त करते हैं, वह परमेश्वर का वरदान है (इफिसियों 2:8)।

> सुसमाचार की महिमा यह है, कि अनुग्रह धार्मिकता के माध्यम से राज करता है। उद्धार अनुग्रह से है; लेकिन यह अनुग्रह हमारे पास धार्मिकता के माध्यम से आता है। हमारे लिए यह अनुग्रह है; परन्तु इसे इस रीति से पूरा किया गया कि हमारा सारा ऋण पूरी रीति से चुका दिया गया है। यह परमेश्वर को धर्मी के साथ-साथ दयालु दोनों दिखाता है। धर्मी, न्याय की

पूर्ण क्षतिपूर्ति की माँग करने में; और दयालु, क्योंकि यह वही था, न कि पापी मनुष्य, जिसने छुड़ौती उपलब्ध कराई।[76]

भाग 4

परमेश्वर ने अनन्तकाल से, सभी चुने हुए लोगों को धर्मी ठहराने के लिए विधान दिया (गलातियों 3:8; 1 पतरस 1:2, 19 – 20; रोमियों 8:30), और ख्रीष्ट ने, जब समय पूरा हुआ, तो उनके पापों के लिए अपनी जान दी, और उनके धर्मी ठहराए जाने के लिए फिर से जी उठा (गलातियों 4:4; 1 तीमुथियुस 2:6; रोमियों 4:25): फिर भी, वे तब तक धर्मी नहीं ठहराए जाते हैं जब तक कि पवित्र आत्मा उचित समय पर, वास्तव में ख्रीष्ट को उन पर लागू नहीं करता है (कुलुस्सियों 1:21 – 22; गलातियों 2:16; तीतुस 3:4 – 7)।

व्याख्या

यह भाग ऐंटीनोमियन (व्यवस्था-विरोधी) की गलत शिक्षा के विरोध में है, कि चुने हुए लोग अनन्तकाल से धर्मी ठहराए गए थे, या जब ख्रीष्ट के द्वारा उनके छुटकारे का दाम चुकाया गया। यह निःसंकोच स्वीकार किया जाता है, कि परमेश्वर ने अनन्तकाल से चुने हुओं को धर्मी ठहरे के लिए विधान दिया; परन्तु प्रभावशाली बुलाहट के समय तक वे क्रोध और दण्ड की स्थिति में हैं (इफिसियों 2:3; यूहन्ना 3:18)। जिस धार्मिकता से उन्हें धर्मी ठहराया गया, वह ख्रीष्ट की मौत में सिद्ध हुई, और उसकी सिद्धता ख्रीष्ट के पुनरुत्थान द्वारा घोषित हुई, और उनके लिए यह कहा जा सकता है कि जब ख्रीष्ट को उनके सिर या प्रधान और प्रतिनिधि के रूप में निर्दोष ठहराया गया, तो उन्हें *वास्तविक रूप से* धर्मी ठहराया गया था; फिर भी, जब तक

[76] Haldane on *Romans*, vol. i., p. 320.

वे विश्वास के द्वारा ख्रीष्ट से जीवंत रूप से जुड़ नहीं जाते, तब तक वे *वास्तविक* और *औपचारिक रूप से* धर्मी नहीं ठहराए जाते हैं।

भाग 5

परमेश्वर उन लोगों के पापों को क्षमा करना जारी रखता है जो धर्मी ठहराए गए हैं (मत्ती 6:12; 1 यूहन्ना 1:7, 9; 2:1 – 2); और यद्यपि वे कभी भी धर्मी ठहराए जाने की स्थिति से हट नहीं सकते हैं (लूका 22:32; यूहन्ना 10:28; इब्रानियों 10:14), फिर भी वे अपने पापों के कारण परमेश्वर के पिता वाले क्रोध के अधीन आ सकते हैं, और परमेश्वर के मुख का प्रकाश उन पर तब तक बहाल नहीं होता है, जब तक वे स्वयं को नम्र नहीं करते, अपने पापों को स्वीकार नहीं करते, क्षमा नहीं माँगते, और अपने विश्वास एवं पश्चाताप को नवीनीकृत नहीं करते हैं (भजन संहिता 89:31 – 33; 51:7 – 12; 32:5; मत्ती 26:75; 1 कुरिन्थियों 11:30, 32; लूका 1:20)।

व्याख्या

क्योंकि धर्मी ठहराया जाना एक ही बार में पूरा होने वाला कार्य है, इसलिए जिन्हें धर्मी ठहराया गया है वे न्याय-दण्ड के अधीन नहीं आ सकते: 'अतः अब जो मसीह यीशु में हैं, उन पर दण्ड की आज्ञा नहीं' (रोमियों 8:1)। जो पाप वे बाद में करते हैं, वे उस क्षमा को रद्द नहीं कर सकते जो परमेश्वर ने उन्हें अपने अनुग्रह में प्रदान की है; लेकिन उन्हें उसके पिता वाले क्रोध, और कुछ समय के अनुशासनात्मक दण्ड के अधीन लाया जा सकता है (भजन संहिता 89:30 – 33)। यहाँ हमें न्यायिक क्षमा और पिता वाली क्षमा के बीच जाने-माने अन्तर पर ध्यान देना चाहिए। हालाँकि, विश्वासियों के धर्मी ठहराए जाने वाले दिन, परमेश्वर एक न्यायाधीश के रूप में, विश्वासियों के सभी पापों को सबसे स्वतंत्र और बिना किसी शर्त के क्षमा करता है,

फिर भी, वह क्षमा जो एक पिता के रूप में, अपने धर्मी ठहराए गए और लेपालक बनाए गए बच्चों को देता है, सामान्यतः उन्हें तब तक नहीं मिलती जब तक वे इस विशेषाधिकार को पाने और इसका लाभ उठाने के लिए स्वयं को उचित रीति से तैयार न कर लें। इसलिए, उन्हें परमेश्वर के सामने स्वयं को दीन बनाना चाहिए, अपने अपराधों को सच्चे हृदय से अंगीकार करना चाहिए, अपने विश्वास और पश्चाताप को फिर से जगाना चाहिए, और पिता वाले क्रोध को दूर करने, और उसकी पिता जैसी मुस्कुराहट को फिर से बहाल करने के लिए पूरी ईमानदारी से प्रार्थना करनी चाहिए।

भाग 6

पुराने नियम के अन्तर्गत विश्वासियों का धर्मी ठहराया जाना, इन सभी मायनों में, नए नियम के अन्तर्गत विश्वासियों के धर्मी ठहराए जाने के जैसा और एक समान ही था (गलातियों 3:9, 13 – 14; रोमियों 4:22 – 24; इब्रानियों 13:8)।

व्याख्या

इसके विपरीत बात को सोसिनियन लोगों द्वारा माना जाता है। हम केवल इतना कहेंगे, कि भले ही सुसमाचार के द्वारा 'परमेश्वर की धार्मिकता', अब और अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट की गई है, फिर भी 'इसकी गवाही व्यवस्था और नबियों द्वारा दी गई थी' (रोमियों 3:21)। और वे लोग, जिन्होंने पुराने नियम के तहत, विश्वास के द्वारा उस धार्मिकता को अपनाया, वे भी नए नियम के तहत विश्वास करने वालों के समान ही उतने ही वास्तविक और पूर्ण रीति से धर्मी ठहराए गए थे। इसलिए पौलुस अब्राहम के धर्मी ठहराए जाने को एक ऐसे उदाहरण के रूप में पेश करता है जिसमें सभी युगों के विश्वासियों को धर्मी ठहराया जाना चाहिए (रोमियों 4:3)। हालाँकि अनन्तकाल की धार्मिकता को वास्तव में तब तक नहीं

लाया गया था जब तक कि यीशु ख्रीष्ट 'मृत्यु तक आज्ञाकारी' नहीं बन गया था, फिर भी उसकी मृत्यु का प्रभाव पुराने एवं नए दोनों ही समयों के विश्वासियों के लिए था।

धर्मी ठहराया जाना कितना अनमोल और अत्यंत महिमामय सौभाग्य है! वह मनुष्य कितना धन्य है जिस पर परमेश्वर कर्मों के बिना धार्मिकता अभ्यारोपित करता है। तोड़ी गई व्यवस्था के भयंकर अभिशाप से छुड़ाया जाकर, और परमेश्वर के साथ स्वीकृति और अनुग्रह की स्थिति में लाया जाकर, उसके दुःख के प्याले से सारी दण्डात्मक बुराई निकाल ली जाती है, स्वयं मृत्यु का डंक समाप्त कर दिया जाता है, और उसके लिए सभी बातें उसकी भलाई के लिए ही कार्य करती हैं। उद्धारकर्ता की धार्मिकता के महिमामय वस्त्र को पहनाकर, वह बिना किसी डर के न्याय-सिंहासन के सामने खड़ा होगा, जबकि महिमान्वित उद्धारकर्ता और न्यायाधीश उस अंतिम और अनन्तकाल की धन्यता की स्थिति में उसका स्वागत करेगा जिसे परमेश्वर ने उसके लिए तैयार किया है, और कहेगा, 'हे मेरे पिता के धन्य लोगों, आओ, उस राज्य के अधिकारी बनो जो जगत की उत्पत्ति से तुम्हारे लिए तैयार किया गया है।'

परन्तु उस दिन पापी और दुष्ट लोग कहाँ दिखाई देंगे जब मनुष्य का पुत्र अपनी महिमा के सिंहासन पर बैठेगा, और उन्हें अपने महिमामय दरबार में बुलाकर उनका अंतिम न्याय सुनाएगा? तो वे जो पश्चाताप न करने वाले और अविश्वासी है – वे सभी जिन्होंने परमेश्वर की धार्मिकता पर विश्वास एवं समर्पण नहीं किया – 'वे पर्वतों तथा चट्टानों से कहेंगे, हम पर गिर पड़ो और हमें उसकी दृष्टि से जो सिंहासन पर बैठा है, तथा मेमने के प्रकोप से छिपा लो'।

जो लोग अब तक अपनी स्वयं की धार्मिकता को साबित करने का प्रयास कर रहे हैं, वे इस बेकार प्रयास को छोड़ दें – वे धार्मिकता के उस वरदान को स्वीकार कर लें जो सुसमाचार की पेशकश में उनकी स्वीकृति

के लिए प्रस्तुत किया गया है – और उन्हें चाहिए कि वे सिद्ध और महिमान्वित धार्मिकता के लिए निवेदन करें, और समय में या अनन्तकाल में अनुग्रह के परमेश्वर से अपनी सभी आशाओं के एकमात्र आधार के रूप में, विश्वास के द्वारा इसे अपनाएं। अपने स्वयं के धार्मिक कार्यों पर सभी निर्भरता को त्यागकर, उन्हें, पौलुस के समान यह इच्छा करनी चाहिए कि 'वे मसीह को प्राप्त करें, और उस में पाए जाएं, यह अपनी उस धार्मिकता से नहीं जो व्यवस्था से उत्पन्न होती है, परन्तु उस धार्मिकता से है जो मसीह पर विश्वास करने से मिलती है, अर्थात उस धार्मिकता से जो केवल विश्वास के आधार पर परमेश्वर से प्राप्त होती है।'

अध्याय 12

लेपालकपन

सभी धर्मी ठहराए गए लोगों को परमेश्वर, अपने इकलौते पुत्र यीशु ख्रीष्ट में और उसी के लिए, लेपालकपन के अनुग्रह में भागीदार बनाने के लिए कृपापूर्वक उत्तरदायित्व लेता है (गलातियों 4:4 – 5; इफिसियों 1:5); जिसके द्वारा, वे परमेश्वर की सन्तानों की संख्या में जोड़े जाते हैं, और परमेश्वर की सन्तानों के सभी लाभों एवं विशेषाधिकारों का आनन्द लेते हैं (यूहन्ना 1:12; रोमियों 8:17); उन पर उसका नाम लिखा जाता है (यिर्मयाह 14:9; 2 कुरिन्थियों 6:18; प्रकाशितवाक्य 3:12); लेपालकपन की आत्मा को प्राप्त करते हैं (रोमियों 8:15); साहस के साथ अनुग्रह के सिंहासन तक पहुँच बनाते हैं (रोमियों 5:2; इफिसियों 3:12); हे अब्बा, हे पिता पुकारने के लिए समर्थ बनाए जाते हैं (गलातियों 4:6); दया के पात्र बनते हैं (भजन संहिता 103:13), सुरक्षा दी जाती है (नीतिवचन 14:26), उनकी देखभाल की जाती है (मत्ती 6:30, 32; 1 पतरस 5:7), और एक पिता के समान उसके द्वारा ताड़ना की जाती है (इब्रानियों 12:6); फिर भी, कभी भी त्यागे नहीं जाते हैं (विलापगीत 3:31), परन्तु छुटकारे के दिन के लिए उन पर छाप लगाई जाती है (इफिसियों 4:30), और अनन्त उद्धार की मीरास के रूप में (इब्रानियों 1:14; 1 पतरस 1:3 – 4), वे प्रतिज्ञाओं के वारिस बनते हैं (इब्रानियों 6:12)।

व्याख्या

अपनी रचना के सम्बन्ध में सभी मनुष्य परमेश्वर की संतान हैं; क्योंकि 'हम सब उसकी संतान हैं'। 'क्या हम सभों का एक ही पिता नहीं? क्या एक ही परमेश्वर ने हम को उत्पन्न नहीं किया?' (मलाकी 2:10)। दृश्यमान कलीसिया के सदस्य बाहरी संघीय रिश्ते के सम्बन्ध में परमेश्वर की संतान हैं। वे पृथ्वी पर परमेश्वर का दृश्यमान वाला परिवार है, और वे विशिष्ट सौभाग्यों का आनन्द लेते हैं। बहुत प्राचीन समय में, सच्चे धर्म के मानने वालों को 'परमेश्वर के पुत्र' कहा जाता था (उत्पत्ति 6:2)। परमेश्वर ने इस्राएल को अपनी विशेष जाति के रूप में चुनकर और उन्हें कई विशेषाधिकार दिए जो उसने दूसरे देशों को नहीं दिए थे, और उनके बीच सच्चे परमेश्वर के ज्ञान एवं आराधना को बनाए रखा, जबकि बाकी सभी देश अज्ञानता और मूर्तिपूजा में डूबी रही, और इसलिए उन्हें 'परमेश्वर के पुत्र' कहा जाता था। प्रभु ने इस्राएल के सम्बन्ध में फ़िरौन को यह बताने की आज्ञा दी, 'वह मेरा पुत्र है, मेरा पहिलौठा' (निर्गमन 4:22।)। यह एक बहुत बड़ी आशीष है; लेकिन बहुत से लोग जो इसका आनन्द लेते हैं, वे वास्तव में परमेश्वर की सन्तान नहीं है, और अन्त में उन्हें घोर अन्धकार में डाल दिया जाएगा (यूहन्ना 8:44; मत्ती 8:12)।

कहीं अधिक उच्च अर्थ में, वे सभी लोग जो धर्मी ठहराए गए हैं, परमेश्वर की सन्तान हैं। उन्हें लेपालकपन के अनुग्रह में भागीदार बनाया गया है। मनुष्यों में, लेपालकपन का अर्थ वह कार्य है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति किसी दूसरे के बच्चे को अपनाता है, और उसे अपने पुत्र के समान, विशेषाधिकार देता है। आत्मिक लेपालकपन वह कार्य है जिसके द्वारा परमेश्वर पापियों को अपने परिवार में अपनाता है, और उन्हें अपने बच्चों के सभी अधिकारों का वारिस बनाता है। पापी लोग स्वाभाविक रीति से 'शैतान के बच्चे' हैं, परमेश्वर के परिवार से दूर, और क्रोध के वारिस होते हैं; लेपालकपन के द्वारा उन्हें शैतान के परिवार से स्वर्ग के परिवार में लाया

जाता है, और इस प्रकार उनके बड़े भाई के रूप में, परमेश्वर के एकलौते पुत्र, यीशु ख्रीष्ट के साथ, सभी पवित्र स्वर्गदूतों, और सभी संतों के साथ – उनके साथ जो पृथ्वी पर हैं और उनके साथ जो स्वर्ग में हैं, संगति में स्वीकार किया जाता है।

इस रीति से नागरिक और आत्मिक लेपालकपन में समानता है; लेकिन कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु भी हैं जिनमें वे अलग हैं। मनुष्य किसी कमी को दूर करने के लिए एक अजनबी को लेपालक बनाता है, परन्तु परमेश्वर के पास आदम की सन्तान को लेपालक बनाने का ऐसा कोई कारण नहीं था; क्योंकि वह तो स्वयं में असीम रूप से धन्य है, और उसका एक 'बहुत ही प्रिय पुत्र' था, जो उसके अवर्णनीय आनन्द का कारण था। सामान्य तौर पर मनुष्य केवल एक को ही अपना पुत्र और वारिस बनाते हैं, लेकिन परमेश्वर तो अपने परिवार में अनगिनत लोगों को अपनाता है, और 'बहुत से पुत्रों को महिमा में लाता' है। मनुष्य सदैव उस व्यक्ति में किसी वास्तविक या कल्पना की गई अच्छाई से प्रभावित होते हैं जिनके लिए वे इस दया को दिखाते हैं; परन्तु जिन लोगों को परमेश्वर लेपालक बनाता है, उनमें ऐसी कोई अच्छी खूबी नहीं होती है जो उन्हें परमेश्वर के अनुग्रह का पात्र बना सके।

लेपालकपन, जो एक स्थिति का बदलाव है, वह तुरन्त ही पूरा हो जाता है, और उन सभी का यह समान विशेषाधिकार है जो सच में ख्रीष्ट पर विश्वास करते हैं (गलातियों 3:26, 28)। परमेश्वर की कुछ सन्तान वरदानों और अनुग्रहकारी योग्यताओं में दूसरों से बेहतर हो सकते हैं; लेकिन परमेश्वर की सन्तान होने के रिश्ते में सभी समान हैं। यह बड़ा विशेषाधिकार पूर्ण रूप से परमेश्वर के सेंतमेंत और सम्प्रभु वाले अनुग्रह से मिलता है। इस आशीष के देने में प्रेम और अनुग्रह का ऐसा प्रदर्शन होता है जो शब्दों से परे है, और उन सब से प्रशंसा कराता है जो भी इसका भाग बनते हैं। 'देखो,

पिता ने हमें कैसा महान प्रेम प्रदान किया है कि हम परमेश्वर की सन्तान कहलाएं' (1 यूहन्ना 3:1)।

परन्तु दोषी व्यक्ति को, परमेश्वर का अनुग्रह केवल न्याय के नियमों और व्यवस्था की आचार संहिता के अनुरूप ही मिल सकता है। यदि परमेश्वर ऐसे विद्रोहियों को उनके अपराधों के लिए प्रायश्चित को माँगे बिना अपने अनुग्रह और परिवार में अपना लेता तो इससे उसकी सिद्धताओं की महिमा दूषित हो जाती, और जिस व्यवस्था को उन्होंने तोड़ा था उसका अपमान होता। इसलिए, यह विशेषाधिकार ख्रीष्ट की आज्ञाकारिता और प्रायश्चित के आधार पर दिया जाता है, जो इसका मुख्य कारण है। 'परन्तु जब समय पूरा हुआ तो परमेश्वर ने अपने पुत्र को भेजा जो स्त्री से उत्पन्न हुआ और व्यवस्था के अधीन उत्पन्न हुआ, कि जो लोग व्यवस्था के अधीन हैं उन्हें मूल्य देकर छुड़ा ले, और हम को लेपालक पुत्र होने का अधिकार प्राप्त हो' (गलातियों 4:4, 5)। हमारे प्रभु यीशु ख्रीष्ट की दया और अनुग्रह कितनी अद्‌भुत है, जिन्होंने व्यवस्था के श्राप का दुःख भोगा, ताकि हमारे पुत्र होने का अधिकार वापस मिल सके! जिस प्रकार उसने इस विशेषाधिकार को हमारे लिए एक अनमोल मूल्य पर प्राप्त किया है, उसी रीति से जब हम विश्वास से उसके साथ जुड़ते हैं, तो हम वास्तव में इसमें भागीदार बनते हैं। 'परन्तु जितनों ने उसे ग्रहण किया, उसने उन्हें परमेश्वर की सन्तान होने का अधिकार दिया, अर्थात उन्हें जो उसके नाम पर विश्वास करते हैं' (यूहन्ना 1:12)।

हम अब परमेश्वर की सन्तानों को मिलने वाले अनमोल विशेषाधिकारों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे।

(1) *वे एक नया नाम पाते हैं।* जब किसी अजनबी को किसी दूसरे के परिवार में अपनाया जाता है, तो उसे लेपालक लेने वाले का नाम मिलता है, और जिन लोगों को परमेश्वर ने लेपालक लिया है उन्हें एक नए नाम से पुकार जाता है जो प्रभु के मुख ने दिया है; यानी 'सर्वशक्तिमान प्रभु के बेटों

और बेटियों' जैसे सम्मानजनक और प्रिय नाम से पुकारा जाता है (यशायाह 62:2; 2 कुरिन्थियों 6:18)।

(2) *उन्हें लेपालकपन का आत्मा मिलता है* (रोमियों 8:15; गलातियों 4:6)। पवित्र आत्मा उनमें परमेश्वर के बच्चों जैसा स्वभाव डालता है, और उन्हें परमेश्वर के प्रिय पुत्र से स्वरूप में बदल देता है; वह उनके आत्मा के साथ मिलकर साक्षी देता है कि वे परमेश्वर की सन्तान हैं; वह उन पर छुटकारे के दिन के लिए मुहर लगाता है, और उनकी विरासत का बयाना है कि परमेश्वर के मोल लिए हुओं का छुटकारा हो (रोमियों 8:16; इफिसियों 1:13, 14)।

(3) *उनके पास साहस के साथ अनुग्रह के सिंहासन तक पहुँच होती है*। परमेश्वर अपने बच्चों को स्वतंत्रता से अपने पास आने की अनुमति देता है, उसके सम्मुख अपना हृदय खोलने, और अपनी सभी प्रार्थनाओं को उसे बताने की अनुमति देता है; और वे इस भरोसे को बनाए रख सकते हैं, कि यदि वे उसकी इच्छा के अनुसार कुछ भी माँगेंगे, तो वह उनकी सुनेगा (1 यूहन्ना 5:14)।

(4) *वे परमेश्वर के पिता वाली सहानुभूति एवं दया के पात्र हैं*। वह उनकी रचना को जानता है, और उसे स्मरण रहता है कि वे मिट्टी मात्र हैं; और जब वह उन्हें सुधारना आवश्यक समझता है, तो वह माता-पिता वाली करुणा को उनके लिए महसूस करता है (भजन संहिता 103:13)।

(5) *वे अपने स्वर्गीय पिता की सुरक्षा का आनन्द लेते हैं*। उनके आत्मिक शत्रु अनगिनत हैं, और वे कई खतरों का सामना करते हैं; लेकिन जो न तो सोता है और न ही ऊँघता है, वह बिना थके उनकी देखभाल करता है। वह अपने स्वर्गदूतों को उनके विषय में आज्ञा देता है, जो उनके चारों ओर डेरा डाले रहते हैं, और, जिन तरीकों को हम नहीं जानते हैं, उन तरीकों से उनके लिए कई भले कार्य करते हैं (भजन संहिता 34:7; इब्रानियों 1:14)।

(6) *उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति उनके स्वर्गीय पिता द्वारा की जाती है*। वह जानता है कि उन्हें इस संसार में उसके दिव्य देखभाल वाले अनुग्रह की आवश्यकता है, और वह उन्हें यह देने से मना नहीं करता (मत्ती 6:30 – 32; भजन संहिता 34:9, 10)। उनके प्राणों के लिए उसने अपने वचन में उचित प्रबन्ध किया है, और वह उनकी अलग-अलग परिस्थितियों के अनुसार उनके लिए अनुग्रह प्रदान करता है (फिलिप्पियों 4:19)।

(7) *आवश्यकता पड़ने पर पिता वाले अनुशासन को रोका नहीं जाता है* (इब्रानियों 12:6)। वास्तव में, इसे वे एक सौभाग्य के स्थान पर दण्ड मानते हैं; परन्तु यह पिता के प्रेम का फल है, यह उनके लाभ के लिए है, और एक आशीष के रूप में इसकी प्रतिज्ञा की गई है (भजन संहिता 89:30 – 34)। ये अनुशासनात्मक सुधार, हालाँकि आनन्द देने वाले नहीं, बल्कि दुःख देने वाले हैं, लेकिन ये उनके आत्मिक लाभ की उन्नति करते हैं; और परमेश्वर के कई सन्तानों ने अपने सुखद अनुभव से यह स्वीकार किया है, कि उनके लिए दुख उठाना अच्छा था (भजन संहिता 94:12; 119:67, 71; अय्यूब 5:17)।

(8) *पुत्र होने की स्थिति और इस स्थिति से जुड़े सभी विशेषाधिकारों में पक्के रीति से बने रहना*। जबकि उनका स्वर्गीय पिता उन्हें कभी नहीं छोड़ेगा, वैसे ही वह निश्चित करता है कि वे पूर्ण रीति से और अंततः उससे दूर नहीं होंगे (यिर्मयाह 32:40)।

(9) *वे सभी प्रतिज्ञाओं के वारिस हैं*। ये बहुत ही महान एवं बेशकीमती हैं; वे उस हर स्थिति के लिए अनुकूलित हैं, जिनमें परमेश्वर के बच्चों को डाला जा सकता है; और जिसने प्रतिज्ञा की है वह विश्वासयोग्य है (इब्रानियों 6:12, 17)।

(10) *वे एक समृद्ध और महिमामय विरासत के वारिस हैं, जो उनके लिए स्वर्ग में सुरक्षित है* (1 पतरस 1:4)। उन्हें 'उद्धार पाने वाले' (इब्रानियों

1:14); 'जीवन के वरदान के वारिस' (1 पतरस 3:7); 'राज्य के अधिकारी' (याकूब 2:5); और 'परमेश्वर के वारिस' (रोमियों 8;17) कहा गया है।

सभी सच्चे विश्वासी कितने गरिमापूर्ण हैं! परमेश्वर के बेटों जैसी सम्माननीय उपाधि से बड़ा क्या हो सकता है! सच है, जिस गरिमा तक वे पहुँचते हैं, वह संसार को दिखाई नहीं देती है, न ही वे स्वयं इसको सदैव पहचान पाते हैं; परन्तु यीशु ख्रीष्ट के प्रकट होने वाले दिन 'परमेश्वर के पुत्रों के प्रकट होने का दिन होगा' (रोमियों 8:19)। तब ख्रीष्ट उन्हें पूरे संसार के सामने अपने भाई-बहन के रूप में मानेगा, और उन्हें उस विरासत का पूरा अधिकार देगा जिसे तैयार करने के लिए वह गया है। इसलिए, उन्हें उसके महिमामय आगमन की बाट जोहनी चाहिए; और, इस बीच में, उन्हें अपने उच्च चरित्र और महिमामय आशा के अनुसार कार्य करना चाहिए – निर्दोष और बिना किसी ताड़ना के, और संसार में ज्योति के समान चमकते हुए उन्हें परमेश्वर की सन्तानों के समान रहना चाहिए।

अध्याय 13

पवित्रीकरण

भाग 1

वे लोग जो प्रभावशाली रीति से बुलाए जाते एवं नया जन्म प्रदान किए जाते हैं, उनमें एक नया हृदय और एक नई आत्मा सृजित होने के कारण, वे ख्रीष्ट की मृत्यु और पुनरुत्थान के आधार पर (1 कुरिन्थियों 6:11; प्रेरितों के काम 20:32; फिलिप्पियों 3:10; रोमियों 6:5 – 6), उनमें वास करने वाले उसके वचन एवं आत्मा द्वारा (यूहन्ना 17:17; इफिसियों 5:26; 2 थिस्सलुनीकियों 2:13), वास्तविक एवं व्यक्तिगत रूप से, आगे अधिक पवित्र बनाए जाते हैं; उनमें पाप की सम्पूर्ण देह के प्रभुत्व को नष्ट किया जाता है (रोमियों 6:6, 14), और उसकी कई वासनाओं को अधिक से अधिक कमजोर एवं वश में किया जाता है (गलातियों 5:24; रोमियों 8:13), और उन्हें उद्धार वाले सभी अनुग्रहों में, अधिक से अधिक जीवित एवं दृढ़ किया जाता है (कुलुस्सियों 1:11; इफिसियों 3:16 – 19), ताकि वे सच्ची पवित्रता का जीवन जीएं, जिसके बिना कोई भी मनुष्य प्रभु परमेश्वर को देख नहीं पाएगा (2 कुरिन्थियों 7:1; इब्रानियों 12:14)।

भाग 2

यह पवित्रीकरण सम्पूर्ण मनुष्य में पूरे जीवन भर होता है (1 थिस्सलुनीकियों 5:23), फिर भी इस जीवन में यह सिद्ध नहीं है; प्रत्येक भागों में भ्रष्टता के कुछ अवशेष फिर भी विद्यमान रहते हैं (रोमियों 7:18,

23; फिलिप्पियों 3:12; 1 यूहन्ना 1:10), जिसके कारण एक निरन्तर चलने वाला और परस्पर विरोधी युद्ध चलता रहता है, जिसमें शरीर आत्मा के विरुद्ध कामुकता करता है, तथा आत्मा शरीर के विरुद्ध युद्ध करता है (गलातियों 5:17; 1 पतरस 2:11)।

भाग 3

इस युद्ध में, यद्यपि बची हुई भ्रष्टता कुछ समय के लिए बहुत प्रबल हो सकती है (रोमियों 7:23), फिर भी, ख्रीष्ट के पवित्र करने वाले आत्मा से निरन्तर शक्ति की आपूर्ति के माध्यम से, नया जन्म प्राप्त भाग विजयी अवश्य होता है (रोमियों 6:14; इफिसियों 4:15 – 16; 1 यूहन्ना 5:4); और इस प्रकार संत लोग अनुग्रह में बढ़ते हैं (2 कुरिन्थियों 3:18; 2 पतरस 3:18), एवं परमेश्वर के भय में पवित्रता को सिद्ध बनाते हैं (2 कुरिन्थियों 7:1)।

व्याख्या

पवित्रशास्त्र में, पवित्रीकरण शब्द के कई अर्थ हैं। इसका अर्थ है किसी वस्तु को सामान्य उपयोग से पवित्र उपयोग के लिए अलग करना, या परमेश्वर की सेवा के लिए समर्पित करना। इस प्रकार से वेदी, मन्दिर, याजक, और सभी पवित्र बर्तनों को पवित्र किया गया था। इसका अर्थ धार्मिक अशुद्धता से *शुद्धिकरण* भी है (इब्रानियों 9:13)। परन्तु विश्वासियों के पवित्रीकरण के विषय में, जिस पर यह अध्याय बात करेगा, वह उनके पाप के प्रदूषण से शुद्धिकरण में, और परमेश्वर के स्वरूप के अनुसार उनके स्वभाव को फिर से नया बनाने में सम्मिलित है।

ऐंटीनोमियन (व्यवस्था-विरोधी) लोग मानते हैं कि विश्वासी लोग केवल ख्रीष्ट की पवित्रता का उन पर अभ्यारोपित होने के कारण ही पवित्र किए जाते हैं, और कि उनमें कोई भी अंतर्निहित पवित्रता नहीं डाली जाती, और

न ही उनसे इसकी अपेक्षा की जाती है। यह एक बड़ी और खतरनाक त्रुटि है; और इसके विरोध में, हमारा अंगीकार-कथन दृढ़ता से कहता है, कि विश्वासियों को *वास्तविक* और *व्यक्तिगत* रीति से पवित्र किया जाता है। उनके पवित्रीकरण में 'उनके शारीरिक अंगों में पाप को समाप्त करना' सम्मिलित है। इसमें 'पवित्र आत्मा के फल जैसे प्रेम, आनन्द, शान्ति, धीरज, कृपा, भलाई, विश्वास, नम्रता, और संयम' भी सम्मिलित हैं (गलातियों 5:22)। ये व्यक्तिगत बाते हैं; ये विश्वासियों के हृदय में पैदा किए जाते हैं, और उनके स्वभाव एवं जीवन में दिखाई देते हैं। यह कहना बेतुका है कि वे ख्रीष्ट में हैं, और विश्वासियों के लिए अभ्यारोपित किए गए हैं; वे पवित्र आत्मा के प्रभाव हैं जो हमें दिए गए हैं, जिसके कार्यों की तुलना स्वयं ख्रीष्ट ने 'जल के एक सोते से की है, जो अनन्त जीवन के लिए उमड़ता रहेगा'।

जैसा कि हमने पहले ध्यान किया था, रोमन कैथोलिक लोग धर्मीकरण को पवित्रीकरण के साथ मिला देते हैं; और, क्योंकि यह कई खतरनाक गलतफहमियों को जन्म देता है, इसलिए हम कुछ ऐसे बिन्दुओं का उल्लेख करेंगे जिनमें वे अन्तर करते हैं। वे अपने स्वभाव में अलग हैं: धर्मीकरण स्थिति में एक सापेक्षिक बदलाव है; पवित्रीकरण सम्पूर्ण मनुष्य, प्राण एवं शरीर में वास्तविक बदलाव है। वे अपने *क्रम* में अलग हैं: धर्मीकरण प्रकृति के क्रम में, हालाँकि समय में नहीं, पवित्रीकरण से पहले आता है; क्योंकि अभ्यारोपित धार्मिकता, प्रकृति के क्रम में, आरोपित एवं अंतर्निहित पवित्रता से पहले आती है। वे अपने *विषय-वस्तु* में अलग हैं: धर्मीकरण की विषयवस्तु अभ्यारोपित ख्रीष्ट की धार्मिकता है; पवित्रीकरण की विषयवस्तु प्रदान की गई आंतरिक धार्मिकता है। वे अपने *रूप* में अलग हैं: धर्मीकरण एक न्यायिक कार्य है जिसके द्वारा पापी को धर्मी घोषित किया जाता है; पवित्रीकरण एक शारीरिक या नैतिक कार्य है, या कहें तो कार्यों की एक श्रृंखला है, जिसके द्वारा प्राण के गुणों में बदलाव लाया जाता

है। वे अपने *गुणों* में अलग हैं; धर्मीकरण एक ही बार में पूरा होता है, और सभी विश्वासियों में एक समान होता है; पवित्रीकरण आरम्भ में अधूरा होता है, और अलग-अलग व्यक्तियों में यह अलग-अलग स्तरों पर होता है; इसलिए पहले वाले को एक घोषणा, और दूसरे को कार्य कहा जाता है। अन्तर के और भी बिन्दुओं को बताया जा सकता है, लेकिन हम केवल इतना कहेंगे, कि धर्मीकरण में हमें स्वर्ग का *अधिकार* मिलता है; पवित्रीकरण हमें उसका *पूरा* आनन्द लेने की योग्यता और क्षमता देता है।

पवित्रीकरण एक *सौभाग्य* एवं एक *कर्तव्य* दोनों है। एक दृष्टिकोण से यह परमेश्वर का कार्य है, और दूसरे दृष्टिकोण में यह मनुष्य का कार्य है, जिसमें अलौकिक अनुग्रह मिलता है। सौभाग्य के रूप में, इसकी प्रतिज्ञा कृपापूर्वक सुसमाचार में की गई है (यहेजकेल 36:27)। एक कर्तव्य के रूप में, इसकी माँग व्यवस्था द्वारा की गई है इसलिए हमें स्वयं के लिए 'एक नया हृदय बनाने', और 'स्वयं को शरीर और आत्मा की सारी गंदगी से साफ करने और परमेश्वर के भय में पवित्रता में सिद्ध बनने' की बुलाहट दी गई है (यहेजकेल 18:31; 2 कुरिन्थियों 7:1)।

पवित्रीकरण को *आरम्भ* के रूप में और *निरन्तर आगे चलते रहने* के रूप में माना जा सकता है। आरम्भिक पवित्रीकरण नए जन्म के समान ही है, जहाँ हम 'नई रचना' बनते हैं – 'पुरानी बातें बीत गई, देखो सब बातें नई हो गई हैं'। निरन्तर आगे बढ़ने वाले पवित्रीकरण में, पुराने स्वभाव की कई वासनाएँ धीरे-धीरे कमजोर होती जाती हैं और समाप्त हो जाती है। आरम्भिक पवित्रीकरण में, ख्रीष्ट का आत्मा अपने सभी कृपाओं के साथ हृदय में प्रवेश करता है, और उन्हें वहाँ पर रोपित करता है। निरन्तर आगे बढ़ने वाले पवित्रीकरण में, ये कृपाएँ अधिक से अधिक सचेतन और दृढ़ की जाती हैं। आरम्भिक पवित्रीकरण में आत्मिक जीवन का बीज रोपित किया जाता है, और परमेश्वर के स्वरूप की रूपरेखा को आत्मा पर हल्के से अंकित किया जाता है। निरन्तर आगे बढ़ने वाले पवित्रीकरण में,

आत्मिक जीवन बढ़ता है, और परमेश्वर के स्वरूप की रूपरेखा धीरे-धीरे करके भरी जाती है। संक्षेप में, वही कार्य जो नए जन्म में आरम्भ हुआ है, उसे पवित्रीकरण में आगे जारी रखा जाता है, जब तक कि नया प्राणी ख्रीष्ट में एक सिद्ध मनुष्य के पूर्ण आकार को न पा ले (फिलिप्पियों 1:6)।

पवित्रीकरण का विस्तार *सम्पूर्ण मनुष्य* के लिए है, जिसमें प्राण की सभी क्षमताएँ, और शरीर के सभी अंग सम्मिलित हैं (1 थिस्सलुनीकियों 5:23)। हमारा पूरा स्वभाव वास्तव में परमेश्वर के स्वरूप में रचा गया था; पाप के प्रवेश के साथ यह स्वरूप पूरी रीति से विकृत हो गया और खो गया है; इसलिए भ्रष्ट और विकृत स्वभाव को 'पुराना मनुष्य' कहा जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण मनुष्य को संक्रमित करता है, और प्राण एवं शरीर दोनों को अशुद्ध करता है। अब, जैसे मूल भ्रष्टाचार सम्पूर्ण मनुष्य में फैला हुआ है, वैसे ही पवित्र करने वाला अनुग्रह सभी भागों तक फैल हुआ है; इसलिए हमारा स्वभाव, जो परमेश्वर के स्वरूप में नया बनाया जाता है, उसे 'नया मनुष्य' कहा जाता है, क्योंकि जो पवित्रता पवित्रीकरण में दी जाती है वह सम्पूर्ण मनुष्य को अपना लेती है और उसे संत बनाती है।

इस जीवन में पवित्रीकरण *अधूरा* रहता है। ऐसे कुछ मनुष्य रहे हैं, और कुछ अभी भी है, जो दावा करते हैं, कि इस जीवन में पापरहित सिद्धता को हासिल किया जा सकता है। इस बात को ऐंटीनोमियन लोग मानते हैं, जो विश्वास करते हैं कि ख्रीष्ट की सिद्ध पवित्रता विश्वासियों को अभ्यारोपित की जाती है। रोमन कैथोलिक, सोसिनियन, और अन्य लोग भी यही मानते हैं, जो पुष्टि करते हैं कि विश्वासियों में, एक सिद्ध पवित्रता अंतर्निहित है, या वे इसे पा सकते हैं।[77] पापरहित सिद्धता के सिद्धांत को मेथोडिस्ट के संस्थापक भी मानते थे; और यही विचार आज भी उनके अनुयायी भी मानते हैं।[78] इन विचारों के विरोध में, हमारा अंगीकार-कथन

[77] इन विचारों की पूरी जानकारी के लिए, देखें Hill's *Lectures*, p. 303.

[78] Richard Watson's *Theol. Institutes*, vol. iv., p. 140.

पक्के तौर पर पुष्टि करता है कि 'पवित्रता इस जीवन में अधूरी है'। हालाँकि इसका विस्तार सम्पूर्ण मनुष्य के लिए है, 'फिर भी भ्रष्टता के कुछ अंश हर एक भाग में बचे रहते हैं'। पवित्रशास्त्र में पापरहित सिद्धता के विरोध में कई सबसे स्पष्ट प्रमाण भरे पड़े हैं (सभोपदेशक 7:20; याकूब 3:2; नीतिवचन 20:9; 1 यूहन्ना 1:8)। *सिद्ध होने* की उपाधि को वास्तव में कई संतों के लिए प्रयोग किया गया है, परन्तु इसे तुलनात्मक रूप में समझा जाता चाहिए, जिस अर्थ में 'नूह अपनी पीढ़ी में सिद्ध था'; या, विश्वासयोग्यता या सच्चाई के पर्यायवाची के रूप में, जिस अर्थ में परमेश्वर ने अब्राहम से कहा, 'मेरी उपस्थिति में चल और सिद्ध होता जा।' यह बात स्पष्ट है कि पवित्रशास्त्र में बताए गए सबसे महान संत भी पाप में मुक्त नहीं थे, यह बात उनके व्यवहार में पाई जाने वाली कमियों और दोष से पता चलता है। वे यह सोच भी नहीं सकते थे कि उन्होंने पापरहित सिद्धता को पा लिया है (अय्यूब 9:20; भजन संहिता 19:12; फिलिप्पियों 3:12)। हर एक सच्चा मसीही व्यक्ति निश्चित रूप से सिद्धता पाने की इच्छा रखेगा; लेकिन कोई भी इस जीवन में पूर्ण सिद्धता प्राप्त नहीं कर सकता।

क्योंकि हर एक संत में अनुग्रह और भ्रष्टता के अवशेष दोनों होते हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि इन दो विपरीत बीजों के बीच 'एक निरन्तर और कभी समाप्त न होने वाली लड़ाई' होती रहेगी। इस संघर्ष को बहुत ही स्पष्ट रीति से बताया गया है (रोमियों 7; गलातियों 5:17)। कभी एक बीज हावी होता है, और कभी दूसरा; परन्तु अंत में अनुग्रह ही की जीत होगी।

पवित्रीकरण का *प्रेरक* या गतिशील कारण परमेश्वर का सेंतमेंत अनुग्रह है (तीतुस 3:5)। पवित्रीकरण को *योग्यवान* बनाने वाले कारण ख्रीष्ट का लहू और उसकी धार्मिकता है (तीतुस 2:14)। इसका *कार्यसाधक* कारण पवित्र आत्मा है (1 पतरस 1:2; 2 थिस्सलुनीकियों 2:13; 1 कुरिन्थियों 6:11)। इसका *निमित कारण* ख्रीष्ट पर विश्वास है (प्रेरितों के काम 15:9; 26:18)। इसके बाहरी *साधन* वचन का पढ़ा और प्रचार किया जाना,

मसीही संस्कार, और प्रार्थना है (यूहन्ना 17:17; 1 पतरस 2:2)। परमेश्वर के विधान, विशेषकर दुःख-दर्द वाले समयों को भी विश्वासियों के पवित्रीकरण को बढ़ावा देने के लिए आशीषित किया जाता है (रोमियों 8:28; 5:4 – 5)।

पवित्रता, हालाँकि हमें स्वर्ग का अधिकार नहीं दिला सकती, फिर भी यह अत्यंत आवश्यक है। यह एक दिव्य और अटल नियम के द्वारा आवश्यक है; क्योंकि 'पवित्रता के बिना कोई प्रभु को कदापि न देखेगा' (इब्रानियों 12:14)। परमेश्वर ने एक अटल व्यवस्था बनाई है, कि कोई भी अपवित्र करने वाली वस्तु स्वर्गीय नगर में प्रवेश नहीं करेगी (प्रकाशितवाक्य 21:27)। यह स्वर्ग की तैयारी के लिए भी आवश्यक है। यह हमारे अधिकार का प्रमाण है, और हमें स्वर्गीय लोक के कार्य में सुखों का आनन्द लेने और वहाँ कार्य में भाग लेने के योग्य बनाता है। 'धन्य हैं वे जिनके मन शुद्ध हैं, क्योंकि वे परमेश्वर को देखेंगे' (मत्ती 5:8)।

तो, इसलिए आइए, ठहराए गए साधनों का परिश्रम-शील उपयोग करते हुए पूरी विश्वासयोग्यता से 'पवित्रता का पालन करें'। 'यही परमेश्वर की इच्छा है, अर्थात हमारा पवित्रीकरण'। यह उसकी स्पष्ट आज्ञा है: 'पवित्र बनो क्योंकि मैं पवित्र हूँ'। जिन चुने हुए लोगों के लिए लक्ष्य के रूप में महिमा को उसने ठहराया है, उसने पवित्रता को साधन के रूप में उनके लिए चुना है, जिसके बिना कोई भी उस लक्ष्य को नहीं पा सकता (इफिसियों 1:4)। यह यीशु ख्रीष्ट के द्वारा भी हमारे उद्धार का लक्ष्य है (इफिसियों 5:25, 26)। वह न केवल क्रोध से हमें बचाने के लिए मरा, बल्कि हमें हमारे पापों से बचाने के लिए भी मरा। पवित्रता हमारे स्वभाव की आदिम महिमा थी, और क्या हम उस महिमा को पुनः प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेंगे – उसके स्वरूप में फिर से बहाली का जिसने हमें रचा है? पवित्रता उत्कृष्ट रूप से परमेश्वर की महिमा है; और क्या हमें पवित्रता में उसके समान बनने का प्रयास नहीं करना चाहिए? पवित्रता आवश्यक है ताकि 'हमें इस योग्य बनाया जाए कि ज्योति में पवित्र लोगों के साथ

मीरास में सहभागी हों'। ख्रीष्ट को यहाँ के बाद जीवन में देखने की वह आशा घमंड भरी और धोखे वाली है, जो यहाँ पर उसके जैसा बनने की तीव्र इच्छा और सच्चा प्रयास पैदा न करे। और जो कोई उस पर यह आशा रखता है, वह अपने आप को वैसा ही पवित्र करता है जैसा वह पवित्र है (1 यूहन्ना 3:3)।

अध्याय 14

उद्धार वाला विश्वास

भाग 1

विश्वास का अनुग्रह, जिसके द्वारा चुने हुए लोगों को उनके प्राणों के उद्धार के निमित्त विश्वास करने के लिए सक्षम बनाया जाता है (इब्रानियों 10:39), उनके हृदयों में ख्रीष्ट के आत्मा का कार्य है (2 कुरिन्थियों 4:13; इफिसियों 1:17 – 19; 2:8), और यह सामान्यतः वचन की सेवकाई के द्वारा कार्यान्वित किया जाता है (रोमियों 10:14, 17); जिसके द्वारा, तथा मसीही संस्कारों एवं प्रार्थना के क्रियान्वयन द्वारा, इसे बढ़ाया एवं दृढ़ किया जाता है (1 पतरस 2:2; प्रेरितों के काम 20:32; रोमियों 4:11; लूका 17:5; रोमियों 1:16 – 17)।

व्याख्या

'जो विश्वास करे और बपतिस्मा ले उसी का उद्धार होगा, परन्तु जो विश्वास न करेगा वह दोषी ठहराया जाएगा', यह स्वयं उद्धारकर्ता की गम्भीर घोषणा है। उद्धार के मामले में विश्वास को जो स्थान दिया गया है, वह यह दिखाता है कि इस अध्याय का विषय बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। यदि खोए हुए पापियों को बचाने के लिए एक उद्धारकर्ता आवश्यक था, तो उस उद्धारकर्ता पर विश्वास भी उद्धार का वास्तविक आनन्द पाने के लिए उतना ही आवश्यक है। इसलिए, उद्धारक विश्वास की प्रकृति के विषय में पवित्रशास्त्र के अनुसार विचार रखना कितना अधिक आवश्यक है, यह स्पष्ट होना चाहिए। यह भाग हमें सिखाता है:

(1) इस विश्वास के मानने वाले *चुने हुए पापी लोग* हैं। जिन सभी लोगों को परमेश्वर ने अनन्तकाल से अनन्त जीवन के लिए चुना है, उन्हें समय आने पर उनके प्राणों के उद्धार के निमित्त उन्हें विश्वास करने में लाया जाता है। प्रेरित इस बात की पुष्टि करता है: 'जितने अनन्त जीवन के लिए ठहराए गए थे, उन्होंने विश्वास किया'; और ख्रीष्ट स्वयं घोषणा करते हैं: 'जो कुछ पिता मुझे देता है वह सब मेरे पास आएगा' (प्रेरितों के काम 13:48; यूहन्ना 6:37)। उद्धार देने वाला विश्वास अलौकिक है – प्राण को फिर से नया बनाने का कार्य – एक जीवित बीज है, जो हृदय को पवित्र बनाता है, प्रेम के द्वारा कार्य करता है, और संसार पर विजय प्राप्त करता है; इसलिए, यह एक प्राकृतिक, एक मृत या एक आम विश्वास से बहुत अलग है। इसे 'बहुमूल्य विश्वास', 'सच्चा विश्वास', 'परमेश्वर के कार्य वाला विश्वास' कहा जाता है; और वह विश्वास जिसके लिए पवित्रशास्त्र इतने अधिक विशेषणों का उपयोग करता है, अपने में निश्चित रूप से कुछ विशेषता रखता होगा। तदनुसार, हम पवित्रशास्त्र में कई ऐसे लोगों के विषय में पढ़ते हैं जिन्होंने विश्वास किया, फिर भी उद्धार देने वाला विश्वास उनमें नहीं था। जादूगर शिमौन ने विश्वास किया; अग्रिप्पा ने विश्वास किया; पथरीली भूमि से तुलना किए गए सुनने वालों ने विश्वास किया; और कई लोगों ने यीशु के नाम पर विश्वास किया, जब उन्होंने उसके द्वारा किए गए चमत्कारों को देखा; 'परन्तु उसने स्वयं को उनके भरोसे पर नहीं छोड़ा, क्योंकि वह सब को जानता था'। यह तो फिर स्पष्ट है, कि 'वे लोग सही से, सावधानी से या सुरक्षित रीति से बात नहीं करते, जो सभी प्रकार के विश्वासों को एक ही जैसी प्रकृति का बताते हैं; क्योंकि वे सब किसी मामूली साधारण कार्य या मन की धारणा पर सहमत हो सकते हैं। यह सोचना एक बहुत बड़ी और खतरनाक त्रुटि होगी कि मानवीय गवाही पर किसी आम बात पर विश्वास करना, और मनुष्यों द्वारा, या शैतानों द्वारा पवित्रशास्त्र में लिखित किसी भी सिद्धांत या तथ्यों के लिए दिए गए प्रत्येक सहमति, उसी प्रकार का है जो उद्धार दिलाने वाला है, भले ही उसमें बाद वाले के लिए अनिवार्य कई सारी

बातें न हो, जिसके विषय में बहुत कुछ बोला गया है, और जिसकी परमेश्वर की पुस्तक में बहुत अधिक प्रशंसा की गई है।'[79]

(2) कि इस विश्वास को चुने हुओं के हृदयों में *पवित्र आत्मा* के द्वारा पैदा किया जाता है। कुछ लोग स्पष्ट रीति से पुष्टि करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के पास पवित्र आत्मा के प्रभावों के बिना सुसमाचार पर विश्वास करने के लिए पूर्ण शक्ति है; और अन्य लोग, जो परमेश्वर के प्रभाव की आवश्यकता को मानते हुए प्रतीत होते हैं, फिर भी इस बात से इनकार करते हैं कि किसी प्रत्यक्ष विशेष प्रभाव की आवश्यकता है या वह दिया जाता है; और इसलिए अंततः किसी एक में दूसरे व्यक्ति के बजाए विश्वास के अस्तित्व का श्रेय मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा को देते हैं। कि मनुष्य ने, पाप में अपने गिरने के कारण, 'उद्धार के साथ किसी भी आत्मिक भलाई के लिए इच्छा करने की सभी योग्यता को खो दिया है', इस बात को हमने पहले ही साबित करने का प्रयास किया है,[80] और अब हम केवल पवित्रशास्त्र की स्पष्ट गवाही का हवाला देंगे। विश्वास को 'परमेश्वर का वरदान' – 'परमेश्वर का कार्य होना' – और महान शक्ति के परिश्रम की आवश्यकता होने के रूप में कहा गया है, वैसी ही शक्ति जो ख्रीष्ट में पैदा हुई जब परमेश्वर ने उसे

---

[79] The late Professor Bruce's (of Whitburn) *Evangelical Discourses*, p. 106. इस बात पर प्रेसिडेंट एडवर्ड्स की 'Miscellaneous Observations' (विविध टिप्पणियों) में कुछ बहुत अच्छी टिप्पणियाँ हैं। यह साबित करने के लिए कई तर्क देने के बाद कि 'उद्धार देने वाला विश्वास (the saving faith) आम विश्वास से अपनी प्रकृति और मूल तत्व में अलग होता है', वे कहते हैं: 'सावधान रहें कि आप ऐसी किसी धारणा को न मानें कि आम विश्वास और उद्धारक विश्वास में कोई बुनियादी अंतर नहीं है; और यह कि दोनों ही धर्म की शिक्षाओं को केवल समझ से स्वीकार करने तक सीमित हैं। कि यह सिद्धांत गलत है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है; और यदि यह गलत है, तो यह निश्चित रूप से बहुत खतरनाक होगा।' विश्वास की धारणा को सरल बनाने की इच्छा के कारण कुछ हाल के लेखकों ने उद्धार देने वाले विश्वास को सच्चाई में एक साधारण विश्वास के रूप में पेश किया है – जो किसी आम ऐतिहासिक तथ्य पर विश्वास करने से किसी भी तरह अलग नहीं है। जो लोग विश्वास के इस दृष्टिकोण को अपनाना चाहते हैं, उनके लिए बेहतर होगा कि वे तीक्ष्ण बुद्धि वाले एडवर्ड्स के तर्कों पर गंभीरता से विचार करें।

[80] पृष्ठ 158-159 देखें।

मृतकों में से जीवित किया (इफिसियों 1:19; 2:18; कुलुस्सियों 2:12)। पवित्र आत्मा को 'विश्वास का आत्मा' कहा जाता है (2 कुरिन्थियों 4:13); और विश्वास का उल्लेख आत्मा के फलों में किया गया है (गलातियों 5:22); क्योंकि, ख्रीष्ट द्वारा मोल लिए गए छुटकारे को लागू करने वाले के रूप में, चुने हुए लोगों के हृदयों में विश्वास पैदा करना विशेष रूप से उसी का कार्य है।

(3) यह विश्वास सामान्य तौर पर चुने हुए लोगों के हृदयों में *वचन की सेवकाई के द्वारा* पैदा किया जाता है। 'विश्वास सुनने से और सुनना मसीह के वचन से होता है' (रोमियों 10:17)। कुछ लोग इस मामले में बाहरी साधनों के अलावा किसी और प्रभाव को नहीं मानते। उनकी व्याख्या के अनुसार, ख्रीष्ट की वह सशक्त घोषणा, 'कोई मेरे पास नहीं आ सकता जब तक पिता, जिसने मुझे भेजा है, उसे *खींच* न ले', का सरल अर्थ यह है कि पिता उन्हें पवित्रशास्त्र देता है। यदि सक्षम अभिकर्ता का स्थान साधन को देना; और यदि कार्य केवल बाहरी साधनों से कार्यान्वित होता है, तो पवित्र आत्मा का विश्वास पैदा करने में कोई हाथ न होने की बात कहना, सही नहीं होगा। परन्तु हमारा अंगीकार-कथन पवित्र आत्मा के कार्य और वचन की सेवकाई के बीच स्पष्ट अन्तर करता है। पवित्र आत्मा का हृदय पर एक सुस्पष्ट और सीधा प्रभाव होता है; लेकिन पवित्र आत्मा आमतौर पर साधनों के द्वारा कार्य करता है, और पढ़ा गया या प्रचार किया गया वचन परमेश्वर के द्वारा ठहराया गया वह साधन है जिसके द्वारा वह बहुधा अपने प्रभाव को पहुँचाता है। लुदिया ने भी दूसरों के समान ही पौलुस का प्रचार सुना: लेकिन 'प्रभु ने उसका मन खोला'। प्रेरित सुसमाचार और उसे सफल बनाने वाले शक्ति के बीच स्पष्ट अन्तर करता है 'क्योंकि हमारा सुसमाचार तुम्हारे पास न केवल शब्द मात्र ही में वरन् सामर्थ्य और पवित्र आत्मा में ... पहुँचा है... ' (1 थिस्सलुनीकियों 1:5)।

भाग 2

इस विश्वास के द्वारा मसीही व्यक्ति विश्वास करता है कि वे सभी बातें जिन्हें वचन में प्रकट किया गया है, वे सत्य हैं, क्योंकि स्वयं परमेश्वर का अधिकार उसमें बात करता है (यूहन्ना 4:42; 1 थिस्सलुनीकियों 2:13; 1 यूहन्ना 5:10; प्रेरितों के काम 24:14); और प्रत्येक अंश में जो कुछ पाया जाता है, उसके अनुसार अलग-अलग रीति से कार्य करता है; आज्ञाओं का पालन करने (रोमियों 16:26), चेतावनियों पर काँपने (यशायाह 66:2), और इस जीवन एवं आने वाले जीवन के लिए परमेश्वर की प्रतिज्ञाओं को अपनाने (इब्रानियों 11:13; 1 तीमुथियुस 4:8) के लिए मसीही व्यक्ति इच्छुक बनता है। परन्तु उद्धार वाले विश्वास के प्रमुख कार्य अनुग्रह की वाचा के आधार पर धर्मी ठहराया जाने, पवित्रीकरण, और अनन्त जीवन के लिए केवल ख्रीष्ट को स्वीकार करना, ग्रहण करना और उस पर भरोसा करना है (यूहन्ना 1:12; प्रेरितों के काम 16:31; गलातियों 2:20; प्रेरितों के काम 15:11) ।

व्याख्या

(1) *दिव्य विश्वास की सामान्य विषय-वस्तु परमेश्वर का सम्पूर्ण वचन है।* जैसा कि विश्वास, सामान्य तौर पर गवाही पर आधारित सत्य को मानना है, वैसे ही दिव्य विश्वास भी परमेश्वर की साक्षी पर आधारित दिव्य सत्य को मानना है। इस रीति से, उद्धारक विश्वास में परमेश्वर के वचन में प्रकट किए गए सभी सत्यों को हृदय में स्वीकार करना सम्मिलित है, चाहे वे व्यवस्था से सम्बन्धित हों या सुसमाचार से; और कि यह, किसी मनुष्य या चर्च की गवाही पर आधारित नहीं है, और न ही क्योंकि वे स्वाभाविक बुद्धि के हिसाब से सही प्रतीत होते हैं, परन्तु स्वयं परमेश्वर के सत्य और

अधिकार के आधार पर, जो पवित्रशास्त्र में बोलता है, और जो स्वयं बुद्धि के लिए, अपनी विशिष्ट ज्योति और शक्ति के द्वारा गवाही देता है।[81]

(2) *उद्धार वाले विश्वास का विशेष एवं व्यक्तिगत विषय-वस्तु प्रभु यीशु ख्रीष्ट है*। ख्रीष्ट को जानना, और उसमें प्रकट परमेश्वर को जानना, सभी उद्धार वाले ज्ञान के लिए अति महत्वपूर्ण है – ऐसा शब्द जिसके द्वारा विश्वास को कभी-कभी प्रकट किया जाता है (यूहन्ना 17:3)। इसलिए, इस विश्वास को 'यीशु ख्रीष्ट का विश्वास' कहा जाता है, और प्रेरितों के सिद्धांत का विस्तार इस प्रकार बताया गया है: 'यहूदी और यूनानी दोनों को ही दृढ़तापूर्वक साक्षी देता रहा कि परमेश्वर की ओर मन फिराओ और यीशु मसीह पर विश्वास करो'।

> इस विश्वास में, अपने पुत्र के निमित्त परमेश्वर की गवाही पर, और उसमें मनुष्यों के लिए जीवन पर विश्वास करना सम्मिलित है। यह उसके व्यक्ति और सम्पूर्ण चरित्र से सम्बन्धित है, उसके लिए लिखे गए प्रकाशन के अनुसार, और इस रीति से प्रकट उस ज्ञान की सीमा के अनुसार जो किसी व्यक्ति के पास उसके विषय में होता है, विशेष रीति से जो अब प्रकट हुआ, और अधिक स्पष्ट रीति पर दिखाया गया है, और सुसमाचार में सेंतमेंत पेश किया गया है। यह उसे 'इम्मानूएल, परमेश्वर हमारे साथ' के रूप में, उसके सर्वोच्च परमेश्वरत्व में देखता है; जिसमें उद्धार देने वाले के सभी पद अधिकारयुक्त दिए गए हैं, ताकि वे उच्चतम अर्थों में यीशु या उद्धारकर्ता, प्रभु या राजा, महान महायाजक, मसीहा, या ख्रीष्ट नाम धारण करे; और मानवजाति के पापियों के लाभ के लिए अपने सभी पदों को क्रियान्वित करते हुए, जिनके साथ उसने उनका स्वभाव अपनाकर करीबी सम्बन्ध बनाया, ताकि वह उनके लिए आज्ञा मानने, मरने, योग्यता प्राप्त करने, और मध्यस्थता करने में जामिन की भूमिका निभाने में सक्षम हो सके।[82]

---

[81] Owen, *Treatise on the Reason of Faith*, and Halyburton, *Essay on Faith*.

[82] Professor Bruce, *Evangelical Discourses*, p. 108.

उद्धार वाले विश्वास की विषय-वस्तु को किसी एक सैद्धांतिक प्रस्ताव में तक सीमित रखना ठीक नहीं होगा – जैसे कि यीशु परमेश्वर का पुत्र है, या यीशु ख्रीष्ट शरीर में हो कर आया, या पवित्रशास्त्र के अनुसार ख्रीष्ट हमारे पापों के लिए मरा। अधिक से अधिक, यह केवल एक विशेष *सिद्धांत* को श्रेय देना होगा; लेकिन उद्धार वाला विश्वास ख्रीष्ट के *व्यक्ति* पर विश्वास करना है, या स्वयं ख्रीष्ट को उसमें सम्मिलित सभी लाभों और आशीषों के साथ अपनाना है।[83]

(3) *उद्धार वाले विश्वास के प्रमुख कार्य हैं, ख्रीष्ट को मानना, स्वीकार करना, और उस पर भरोसा करना*। रोमन कैथोलिक लोग विश्वास को 'वचन में प्रगट सत्य के लिए केवल स्वीकृति मात्र देना मानते हैं'। हमारे सुधारकों ने इस विचार का पुरजोर विरोध किया था, और स्कॉटलैंड के नेशनल कवनेन्ट में इसे 'सामान्य एवं संदिग्ध विश्वास' के नाम से नकार दिया गया था; फिर भी, आधुनिक समय में, कई प्रोटेस्टेंट लोग, उद्धार वाले विश्वास को पवित्रशास्त्र में लिखे गए सैद्धांतिक सत्यों के लिए एक सामान्य स्वीकृति से अधिक कुछ और नहीं मानते, और इसे पूरी रीति से बुद्धि का एक कार्य मानते हैं। लेकिन, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कि हालाँकि उद्धारक विश्वास परमेश्वर के सम्पूर्ण वचन को, और विशेषकर अपने पुत्र के सम्बन्ध में परमेश्वर की गवाही को पूरा श्रेय देता है, फिर भी, इसके प्रमुख कार्य 'ख्रीष्ट को मानना, स्वीकार करना और उस पर भरोसा करना है'। सच्चा विश्वास गवाही पर विश्वास है; लेकिन इसे विश्वास की गई गवाही की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए। यदि सुसमाचार मात्र कल्पना किए गए सत्यों के कथन होते, या ऐसे तथ्यों के अभिलेख होते जिनमें हमें कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं होती, तो इन सत्यों के लिए बुद्धि का सरल

---

[83] Curworth, *Aphorisms on the Assurance of Faith*. इसका एक संस्करण 1829 में प्रकाशित हुआ था। जिसमें स्वर्गीय रेव. जॉन ब्राउन की सिफारिश और अमेरिका के धर्म-विज्ञानियों द्वारा लिखे दो निबंध थे; और हाल ही में, इन्हें अमेरिका के ◌ E. Erskine और Dr. Anderson द्वारा *Treatises on Faith* के साथ प्रकाशित किया गया है।

स्वीकरण, इन तथ्यों पर मात्र विश्वास कर लेना ही सुसमाचार का विश्वास कहलाता। परन्तु सुसमाचार उद्धारकर्ता के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्यों या अमूर्त सिद्धांतों का कथन मात्र नहीं है; इसमें हर एक पापी के लिए जो इसे अपने स्वीकार करने के वास्ते सुनता हैं, ख्रीष्ट का और उसके द्वारा उद्धार का मुफ्त वरदान है। इसलिए, उद्धार देने वाला विश्वास, ताकि यह विश्वास की गई गवाही के अनुरूप हो, उसमें ख्रीष्ट को हृदय से स्वीकार करना या अपनाना सम्मिलित होना चाहिए, जैसा कि वह हमें सुसमाचार में पेश किया गया है।

जिस रीति से ख्रीष्ट को पवित्रशास्त्र में विभिन्न रूपों और समानताओं में दिखाया गया है, वैसे ही उस पर विश्वास को भी विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। इसे उसके पास *आने,* उस पर *आशा-दृष्टि करने,* शरण पाने के लिए उसके पास *भागने,* उसके मांस को *खाने* और उसका लहू *पीने,* उसे *स्वीकार* करने, और उस पर *भरोसा करने* के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। यह ध्यान देने वाली बात है कि हमारे अंगीकार-कथन में प्रयोग किए गए शब्द विश्वास के अलग-अलग कार्यों को नहीं बताते, बल्कि वे एक ही कार्य की अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ हैं। ख्रीष्ट पर विश्वास करने को उसे स्वीकार करना कहा गया है, क्योंकि उसे दीन पापियों के लिए परमेश्वर के वरदान के रूप में पेश किया गया है; और इसे उस पर भरोसा करना कहा गया है, क्योंकि उसे सुसमाचार में एक पक्के आधार के रूप में प्रकट किया गया है, जिस पर एक पापी अपने अनन्त उद्धार के भार को पूरे आश्वासन के साथ रख सकता है। यह स्पष्ट है कि पवित्रशास्त्र में उद्धारक विश्वास के सभी लाक्षणिक वर्णन का अर्थ है, मन के द्वारा ख्रीष्ट को विशेष रूप से अपनाना, या विशेष तौर पर अपने स्वयं के उद्धार के लिए ख्रीष्ट पर भरोसा करना; और इसी बात को कुछ लोगों ने विश्वास की सत्यता कहा है। यह भी स्पष्ट है कि पवित्रशास्त्र की भाषा में, विश्वास केवल बुद्धि की सहमति नहीं है, बल्कि इसमें इच्छाशक्ति का एक कार्य निहित है, जिसमें उद्धारकर्ता को स्वीकार करना और उद्धार के लिए उस पर भरोसा करना सम्मिलित

है। यह उस किसी भी पिछले ज्ञान से नहीं निकलता जो पापी को अपने चुनाव के विषय में होता है; और न नहीं इस प्रबोधन पर कि ख्रीष्ट उसके लिए दूसरों से अधिक जानबूझकर मरा, क्योंकि विश्वास करने से पहले इन बातों का ज्ञान होना असम्भव है; और न ही यह इस प्रबोधन से निकलता है कि ख्रीष्ट सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से मरा, और इसलिए विशेष तौर पर उसके लिए भी; और न ही स्वयं में किसी ऐसी भली योग्यता को पहचानने पर जो उसे दूसरों से अलग करती हो; परन्तु यह पूरी रीति से सबसे बड़े पापियों के लिए सुसमाचार के मुफ्त, असीमित पेशकश और प्रतिज्ञा से निकलता है।

(4) *कि एक सच्चा विश्वासी उद्धार के लिए केवल ख्रीष्ट को ग्रहण करता है और उस पर भरोसा रखता है*। यह बात सच्चे विश्वासी को उन लोगों से अलग करती है, जो बिना ख्रीष्ट की मध्यस्थता के, या तो अपने अच्छे कामों पर, या ख्रीष्ट की धार्मिकता और अपने कार्यों को मिलाकर, अपने उद्धार की आशा परमेश्वर की आम दया पर रखते हैं।

(5) कि सच्चा विश्वासी *पूर्ण उद्धार* के लिए ख्रीष्ट को स्वीकार करता है और उस पर भरोसा रखता है। वह न केवल क्रोध से, बल्कि पाप से भी उद्धार के लिए– न केवल पाप के दोष से, बल्कि उसके प्रदूषण और शक्ति से भी उद्धार के लिए,– न केवल भविष्य में आनन्द के लिए, बल्कि यहाँ पवित्रता के लिए भी ख्रीष्ट पर भरोसा करता है। अंगीकार-कथन की भाषा में, वह 'धर्मी ठहराए जाने, पवित्रीकरण और अनंत जीवन' के लिए मसीह पर भरोसा रखता है'; और यह 'अनुग्रह की वाचा के कारण' है; अर्थात, क्योंकि ये आशीषें उस वाचा में दिखाई गई हैं और सुरक्षित की गई हैं।

भाग 3

यह विश्वास स्तरों में अलग-अलग, कमजोर या दृढ़ होता है (इब्रानियों 5:13 – 14; रोमियों 4:19 – 20; मत्ती 6:30; 8:10); प्रायः और कई तरीकों से इस पर आक्रमण किया और कमजोर किया जा सकता है,

परन्तु यह विजय प्राप्त करता है (लूका 22:31 – 32; इफिसियों 6:16; 1 यूहन्ना 5:4 – 5); कई लोगों में ख्रीष्ट के माध्यम से पूर्ण आश्वासन की प्राप्ति के लिए बढ़ता है (इब्रानियों 6:11 – 12; 10:22; कुलुस्सियों 2:2), जो हमारे विश्वास का कर्ता और सिद्ध करने वाला दोनों है (इब्रानियों 12:2)।

व्याख्या

इस भाग पर अलग-अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। कुछ लोगों ने माना है, कि 'आश्वासन यहाँ पर स्पष्ट रीति से उद्धार देने वाले विश्वास का फल और परिणाम माना गया है, न कि कोई अनिवार्य कार्य'।[84] दूसरे लोगों ने माना है कि यहाँ पर आश्वासन को उद्धार देने वाले विश्वास के लिए अनिवार्य माना गया है, और कुछ स्तर तक यह हर एक विश्वासी के लिए है, चाहे वह दृढ़ हो या कमजोर, लेकिन यह सदैव व्यक्ति के विश्वास की मात्रा के अनुरूप होता है। प्रसिद्ध बोस्टन कहते हैं, 'मैं इस बात को नहीं समझ सकता हूँ कि किसी व्यक्ति में विश्वास कैसे पूर्ण आश्वासन तक बढ़ सकता है, यदि उसकी प्रकृति में कोई आश्वासन न हो'। और एक अन्य इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं: 'यदि विश्वास की प्रकृति में कुछ स्तर तक आश्वासन न हो, तो यह कभी भी पूर्ण आश्वासन तक नहीं बढ़ सकता। कोई वस्तु चाहे कितनी भी क्यों न बढ़ जाए वह अपने विकास के द्वारा, एक अलग प्रकृति धारण नहीं कर सकती। वह उसी प्रकार में उच्च स्तर तक बढ़ सकती है, परन्तु दूसरे प्रकार में नहीं'।[85]

सम्भवतः विचारों का यह मतभेद *आश्वासन* शब्द के लिए एक अलग अर्थ जोड़ने से उत्पन्न हुआ है। जो लोग इस बात से इनकार करते हैं कि आश्वासन विश्वास की प्रकृति का भाग है, वे आश्वासन शब्द से यह समझते

---

[84] Principal Hadow's *Sermon on 1 John 5:11, 12*, preached before the Synod of Fife, 1719, p. 33.

[85] Colquhoun's *View of Saving Faith*, p. 247.

हैं कि व्यक्ति पहले ही से उद्धार की स्थिति में है; लेकिन इस शब्द के इस अर्थ को वे लोग नहीं मानते जो दावा करते हैं कि विश्वास के लिए आश्वासन अनिवार्य है। इस बाद वाले अर्थ के लिए एक धर्मगुरु ऐसा कहते हैं:

> यदि *विश्वास* के आश्वासन और *विवेक* के आश्वासन के बीच के अन्तर को ठीक रीति से समझा और सिखाया जाए, तो इस विषय पर स्पष्ट दृष्टिकोणों को बनाने में बहुत सहायता मिलेगी। जब हम विश्वास के लिए आश्वासन को अनिवार्य बताते हैं, तो कई लोग सोचते हैं कि हम सिखाते हैं कि जो लोग यह महसूस नहीं करते कि वे मृत्यु से जीवन में प्रवेश पा चुके हैं, और जिन्हें ख्रीष्ट में अपने हित के विषय में स्पष्ट और विजयी दृष्टिकोण नहीं है, ताकि वे उसके प्रेम के प्रदर्शन में आनन्दित हो सकें, वे सच्चे मसीही नहीं हो सकते। मेरा प्रेमी मेरा है, और मैं उसका हूँ। परन्तु परमेश्वर ऐसा न करे कि हम उसके सन्तानों की पीढ़ी के विरुद्ध ऐसा कोई भी अपराध करें। इसमें कोई शक नहीं कि उनमें से कई लोग ऐसा ही आश्वासन चाहते हैं। लेकिन, यह आश्वासन, विश्वास का नहीं, बल्कि विवेक का है; और ये दोनों बहुत अलग है। पहले का उद्देश्य वचन में प्रकट यीशु ख्रीष्ट है; दूसरे का उद्देश्य, हृदय में प्रकट यीशु ख्रीष्ट है। पहले वाले का आधार हमारे बिना परमेश्वर की गवाही है; दूसरे का आधार, हमारे भीतर पवित्र आत्मा का कार्य है। एक प्रतिज्ञा को स्वीकार करता है, और प्रतिज्ञा करने वाले की सच्चाई के अलावा और कुछ नहीं देखता; दूसरा, प्रतिज्ञा का वास्तविक रूप से पूरा होने की मिठास में उसका आनन्द लेता है। विश्वास क्षमा के लिए ख्रीष्ट के लहू पर भरोसा करता है; विवेक आत्मा को मिलने वाले सुकून भरे संकेतों से क्षमा का दावा करता है। विश्वास के द्वारा, हम उद्धार के लिए यीशु ख्रीष्ट को अपनाते हैं; पवित्र आत्मा द्वारा हमारे हृदयों में अपने स्वयं के अनुग्रहकारी कार्य पर प्रकाश डालने से, विवेक के द्वारा, हम महसूस करते हैं कि हम बचाए गए है।[86]

[86] *Essay on Saving Faith*, by the Rev. Dr. Mason, New York; published along with Cudworth's *Aphorisms*, pp. 105, 106.

इन दोनों प्रकार के आश्वासन के बीच अन्तर को डॉ. मैक्री ने ठीक रीति से समझाया है, और दोनों ओर की अतिवादी बातों को समझदारी से दिखाया है।

> आश्वासन दो प्रकार के होते हैं, जिन्हें विश्वास का आश्वासन और विवेक का आश्वासन कहा जाता है। पहला वाला प्रत्यक्ष है, दूसरा अप्रत्यक्ष। पहला परमेश्वर की गवाही पर आधारित है; दूसरा, अनुभव पर। पहले का उद्देश्य पूरी रीति से हमारे बाहर है; दूसरे का उद्देश्य मुख्य रूप से हमारे भीतर है। 'परमेश्वर ने पवित्रता के साथ बोला है, मैं प्रफुल्लित होऊँगा', पहले वाले की भाषा है; 'हम उसके बनाए हुए हैं, और मसीह यीशु में ... सृजे गए हैं', यह दूसरे की भाषा है। जब कोई मनुष्य मुझे अपना प्रतिज्ञा पत्र देता है, तो मेरे पास विश्वास का आश्वासन है; जब वह मुझे कोई गिरवी वस्तु देता है, या ब्याज नियमित रूप से अदा करता है, तो मेरे पास विवेक का आश्वासन है। ये दोनों एक-दूसरे के साथ पूरी रीति से मेल खाते हैं, एक ही समय में मन में मौजूद हो सकते हैं, और उनका संयोजन आश्वासन को सबसे उच्च स्तर तक ले जाता है।
>
> जो लोग विश्वास के आश्वासन से इनकार करते हैं, वे सुसमाचार के लिए और विश्वास करने के लिए, दोनों के विषय में गलती करते हुए प्रतीत होते हैं। सुसमाचार में केवल सामान्य सिद्धांत ही सम्मिलित नहीं हैं; बल्कि उन सभी लोगों से अनिश्चित काल के लिए की गई प्रतिज्ञाएँ भी है, जो इस सुनते हैं; जिनका आनन्द विश्वास करने की शर्त पर नहीं, बल्कि विश्वास करने के तरीके से लिया जाता है। 'मैं वही हूँ जो अपने नाम के निमित्त तेरे अपराधों को मिटा देता हूँ, और तेरे पापों को स्मरण न करूँगा।' 'मैं तुम पर शुद्ध जल छिड़कूँगा, और तुम शुद्ध हो जाओगे।' 'मैं अपनी व्यवस्था उनके मन में समवाऊँगा, और उसे उनके हृदय पर लिखूँगा।' 'देखो, मैं तुम्हें बड़े आनन्द का सुसमाचार सुनाता हूँ जो सब लोगों के लिए होगा।' क्या कोई व्यक्ति इन प्रतिज्ञाओं पर, सच में और समझदारी से, इन आशीषों की प्रतिज्ञाओं का कुछ आश्वासन रखे बिना, विश्वास कर सकता

है? ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वास की प्रकृति, और उद्धार के अनुप्रयोग में उसके स्थान के विषय में भी एक गलती है। यह ख्रीष्ट में भरोसा रखना है, उद्धार के लिए उस पर निर्भर होना है जो उसके विषय में परमेश्वर की गवाही पर आधारित है; और क्या यह सदैव कुछ हद कर आश्वासन या निश्चितता को सूचित नहीं करता?

कुछ अन्य लोग इसके एकदम विपरीत सोचते हैं। उनका मानना है, कि प्रत्येक सच्चा मसीही व्यक्ति सदैव अपने अंतिम आनन्दमय स्थिति के विषय में पूरी रीति से और दृढ़ निश्चितता से आनन्द लेता है – कि वह एक सच्चा विश्वासी है, और उद्धार की स्थिति में है; और वे विश्वास के आश्वासन पर ध्यान देते हैं, और मसीही अनुभव एवं पवित्रता में उन्नति से उत्पन्न होने वाले प्रमाणों को नज़रअंदाज करते हैं। यह एक ओर तो घमंड की भावना को बढ़ावा दे सकता है, और दूसरी ओर लोगों को निराशा की स्थिति में डाल सकता है। आश्वासन के कई स्तर होते हैं, और कुछ सच्चे विश्वासियों में यह बहुत कम महसूस होता है। वह जो हमारे विश्वास का कर्ता और सिद्ध करने वाला है, इस बात को ध्यान में रखता है कि वह कुचले हुए नरकट को न तोड़ेगा और न टिमटिमाती बत्ती को बुझाएगा। हालाँकि उसने अपने शिष्यों के अविश्वास और बेकार शंका पर उन्हें डांट लगाई, लेकिन उसने कभी भी उनके विश्वास की सच्चाई पर प्रश्न नहीं उठाया। उसने उस व्यक्ति को स्वीकार किया जिसने कहा, 'प्रभु मैं विश्वास करता हूँ मेरे अविश्वास का उपाय कर।' जब उसने पतरस से कहा, 'हे अल्पविश्वासी, तूने संदेह क्यों किया?' तब उसने अपना हाथ बढ़ाकर पतरस को पानी में से खींच लिया। मान लीजिए कि संदेह करना पाप है; क्या पृथ्वी पर कोई ऐसा धर्मी मनुष्य है जो भला करता है और पाप न करता हो? क्या एक मसीही व्यक्ति के प्रेम, धीरज और अन्य कृपालु गुण पापमय रूप से दोषपूर्ण नहीं होते यह चेतावनी दी गई है, 'अविश्वासी न बनो, परन्तु विश्वास करो।' परन्तु इस चेतावनी को भी न भूलो, 'पवित्र बनो, क्योंकि मैं पवित्र हूँ।' 'सिद्ध बनो जैसा कि तुम्हारा स्वर्गीय पिता भी सिद्ध है।' क्या यह पवित्रता के लिए खतरनाक, और धर्म के लिए शर्मनाक नहीं होगा, यदि कोई व्यक्ति सिद्ध आश्वासन रखने वाला माना जाए, जबकि

अन्य सभी बातों में वह दोषपूर्ण हो? क्या आत्मिक मनुष्य के सभी अंगों में विकास आनुपातिक नहीं होता है? क्या वह अन्यथा भयानक प्राणी न होगा? या क्या इस जीवन में पाप रहित सिद्धता का पुराना सिद्धांत हमारे मध्य में फिर से जीवित किया जाना है? वह जिसका विश्वास दोषरहित है, और उसका आश्वासन सिद्ध और अटल है, वह ख्रीष्ट को वैसे ही देखता है जैसा वह है, और वह पहले ही से पूरी रीति से उसके समान है। वह इस पृथ्वी पर रहने के योग्य नहीं होगा; और वह जिस एकमात्र प्रार्थना को कर सकेगा, वह है, 'अब तू अपने दास को शान्ति से जाने दे।'[87]

[87] M'Crie's *Sermons*, pp. 281–283.

अध्याय 15

जीवन के लिए पश्चाताप

भाग 1

जीवन के लिए पश्चाताप सुसमाचार सम्बन्धित अनुग्रह है (जकर्याह 12:10; प्रेरितों के काम 11:18), जिसका सिद्धांत, ख्रीष्ट में विश्वास के सिद्धांत के साथ-साथ, सुसमाचार के प्रत्येक प्रचारक व सेवक द्वारा प्रचार किया जाना चाहिए (लूका 24:47; मरकुस 1:15; प्रेरितों के काम 20:21)।

भाग 2

इसके द्वारा पापी मनुष्य, न केवल खतरे की दृष्टि और बोध के कारण, बल्कि अपने पापों की गंदगी और घिनौनेपन के कारण भी, जो कि परमेश्वर के पवित्र स्वभाव एवं धर्मी व्यवस्था के विपरीत है, और पश्चाताप करने वालों के लिए ख्रीष्ट में परमेश्वर की दया की अनुभूति होने पर, वह अपने पापों के लिए इतना शोकित होता है और अपने पापों से घृणा करता है, कि वह उन सब से विमुख होकर परमेश्वर की ओर मुड़ता है (यहेजकेल 18:30 – 31; 36:31; यशायाह 30:22; भजन संहिता 51:4; यिर्मयाह 31:18 – 19; योएल 2:12 – 13; आमोस 5:15; भजन संहिता 119:128; 2 कुरिन्थियों 7:11), और उसकी आज्ञाओं के सभी मार्गों में उसके साथ चलने का उद्देश्य बनाता एवं प्रयास करता है (भजन संहिता 119:6, 59, 106; लूका 1:6; 2 राजा 23:25)।

व्याख्या

इस अध्याय में वर्णित पश्चाताप को *जीवन के लिए पश्चाताप* कहा जाता है, क्योंकि यह अनन्त जीवन के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है, और इसे संसार के उस दुःख से अलग करने के लिए ऐसा कहा जाता है, जो मृत्यु को लाता है। इसे *अनुग्रह* कहा जाता है, क्योंकि यह परमेश्वर का *सेंतमेंत वरदान* है, और पवित्र आत्मा के कार्य के द्वारा हृदय में पैदा किया जाता है। 'तब तो परमेश्वर ने गैरयहूदियों को भी जीवन के लिए मन-फिराव का वरदान *दिया* है' (प्रेरितों के काम 11:18)। मुझे फेर ला कि मैं लौट आऊं; भटक जाने के पश्चात् मैं पछताया (यिर्मयाह 31:18, 19)। इस पश्चाताप को *सुसमाचार वाला* अनुग्रह कहते हैं, जो *कानूनी* पश्चाताप से अलग है। बाद वाला परमेश्वर के क्रोध के भय से उत्पन्न होता है; पहले वाला परमेश्वर की दया में विश्वास से उत्पन्न होता है। बाद वाले में, पापी मुख्य रूप से उस दण्ड से प्रभावित होता है जिसका सामना उसे अपने पाप के कारण करना पड़ता है; पहले वाले में, वह अपने पाप के लिए दुःखी होता है जो कि परमेश्वर का अपमान करता है और उसका अनादर करता है। कैन और यहूदा ने पछतावा किया, परन्तु यह पाप के कारण स्वयं पर आने वाले परिणाम के कारण से था; जबकि सच्चा पश्चाताप करने वाला मनुष्य धर्मी रीति से, धार्मिक दुःख के साथ शोक करता है, ऐसा दुःख जो सीधे परमेश्वर के इच्छानुसार होता है (2 कुरिन्थियों 7:9, 10)।

यह कि पश्चाताप के सिद्धांत के साथ-साथ ख्रीष्ट पर विश्वास के सिद्धांत को सुसमाचार के प्रत्येक प्रचारक द्वारा प्रचारित किया जाना चाहिए, यह बात ऐंटीनोमिनियन लोगों की एक बड़ी गलत शिक्षा के विरोध में कही गई है, जो मानते हैं कि पश्चाताप का प्रचार सुसमाचार के किसी भी प्रचारक द्वारा नहीं किया जाना चाहिए; उनका आरोप है कि यह ख्रीष्ट से दूर ले जाता है, और बहुत नुकसानदायक और खतरनाक साबित होता है। यह भावना स्वयं ख्रीष्ट के उदाहरण और आज्ञा से कितनी अलग है! उसने उन लोगों

को पश्चाताप का सिद्धांत प्रचार किया जिन्होंने उसकी सार्वजनिक सेवकाई में भाग लिया। उसने कहा, 'पश्चाताप करो और सुसमाचार पर विश्वास करो' (मरकुस 1:15)। और जब उसने प्रेरितों को सुसमाचार प्रचार करने लिए नियुक्त किया तो उस समय दी गई शिक्षा में यह स्पष्ट रूप से जोड़ा गया था कि सब जातियों में उसके नाम से पापों की क्षमा के लिए मन फिराव का प्रचार किया जाएगा (लूका 24:47)। इसलिए, प्रेरितों ने यहूदियों और गैर-यहूदियों दोनों को पश्चाताप की आवश्यकता का पाठ सिखाया (प्रेरितों के काम 2:38; 3:19; 14:15)। प्रेरित पौलुस 'मरे हुए कार्यों से पश्चाताप' को ख्रीष्ट के सिद्धांत के पहले नियमों में से एक बताता है (इब्रानियों 6:1); और, जब वह इफिसियों के प्राचीनों के सामने अपने सिद्धांत का सारांश देता है, तो वह अपनी पूरी बात को पश्चाताप और विश्वास के दो महान सिद्धांतों के तहत समाविष्ट करता है: 'यहूदी और यूनानी दोनों को ही दृढ़तापूर्वक साक्षी देता रहा कि परमेश्वर की ओर मन फिराओ और प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास करो' (प्रेरितों के काम 20:21)।

एक *पापी* ही पश्चाताप करने में सक्षम होता है। ख्रीष्ट 'धर्मियों को नहीं, बल्कि पापियों को पश्चाताप करने के लिए बुलाने आया'; और उसने संकेत दिया कि 'धर्मी मनुष्यों को पश्चाताप की आवश्यकता नहीं है'। परन्तु 'सब ने पाप किया है, और परमेश्वर की महिमा से रहित हैं'। इसलिए, पश्चाताप सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक होना चाहिए। 'परमेश्वर अब हर जगह के सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि पश्चाताप करें' (प्रेरितों के काम 17:30)। और यीशु ख्रीष्ट, जो विश्वासयोग्य एवं सच्चा गवाह है, उसने पूरी गम्भीरता से कहा है, 'जब तक तुम मन न फिराओ तुम सब भी इसी प्रकार नाश हो जाओगे' (लूका 13:3)।

(1) सच्चा पश्चाताप पाप को *देखने और एहसास करने* से उत्पन्न होता है। आमतौर पर, सभी लोग यह स्वीकार करेंगे कि वे पापी हैं; परन्तु जब तक पवित्र आत्मा किसी मनुष्य का अध्यापक न बने, तब तक कोई भी मनुष्य अपने पापों को स्पष्ट दृष्टि से देख नहीं सकता और महसूस नहीं कर

सकता। पाप के विषय में कायल करने का कार्य उसका है (यूहन्ना 16:8)। वह यह कार्य व्यवस्था के माध्यम से करता है; क्योंकि व्यवस्था के द्वारा पाप का बोध होता है (रोमियों 3:20)। जब पवित्र आत्मा पापी के मन को प्रकाशित करता है ताकि वह परमेश्वर की व्यवस्था की पवित्रता, आत्मिकता और विशालता को समझ सके, तो उसे पाप 'बहुत अधिक पापमय' दिखाई देता है। वह इसे न केवल खतरनाक, बल्कि परमेश्वर के पवित्र स्वभाव एवं धर्मी व्यवस्था के विरुद्ध होने के कारण, अपने आप में घिनौना मानता है।

(2) *जो लोग पश्चातापी होते हैं,* उनके लिए सच्चा पश्चाताप *ख्रीष्ट में परमेश्वर की दया की समझ से उत्पन्न होता है*। यदि हमारे पास परमेश्वर को एक कठोर न्यायी मानने का कारण होता, तो हम आदम के समान उसकी उपस्थिति से भागने का प्रयास करे, और उसके बदले के न्याय की तलवार से बचने का प्रयास करते; लेकिन हम कभी भी सच्चे पश्चाताप करने वालों के समान उसके पास वापस नहीं लौटेंगे। परमेश्वर धन्य हो हमारे पास उसकी क्षमा करने वाली दया पर अपने विश्वास को टिकाने के लिए सबसे दृढ़ आधार है। उसने अपने नाम की घोषणा इस रूप में की है, 'यहोवा, यहोवा परमेश्वर, दयालु और अनुग्रहकारी, ... अधर्म, अपराध और पाप क्षमा करनेवाला' (निर्गमन 34:6, 7)। दुष्ट को 'उसकी चाल-चलन को छोड़ने, और यहोवा की ओर फिरने' के लिए आमंत्रित किया गया है, और इस आश्वासन द्वारा प्रोत्साहित किया गया है कि 'वह उस पर दया करेगा और पूरी रीति से क्षमा करेगा' (यशायाह 55:7)। 'यीशु ख्रीष्ट को परमेश्वर ने उसके लहू में विश्वास के द्वारा प्रायश्चित ठहराया' (रोमियों 3:25); 'उसी के नाम के द्वारा पापों की क्षमा का समाचार हमें सुनाया जाता है' (प्रेरितों के काम 13:38); और हमें आश्वस्त किया गया है, 'कि प्रत्येक जो उस पर विश्वास करता है उसके नाम के द्वारा पापों की क्षमा पाता है' (प्रेरितों के काम 10:43)। अब, यह विश्वास के द्वारा, ख्रीष्ट में परमेश्वर की दया का एहसास है, जो हृदय को पाप के पश्चातापी दुःख में पिघला देता है।

सुसमाचार वाले पश्चाताप का स्वभाव इतना उदार होता है कि पश्चातापी मन पाप के लिए इतनी गहराई से विनम्र और दुखी नहीं होता जितना तब होता है जब उसके पास आशा करने के लिए कारण होता है कि अनुग्रहकारी परमेश्वर ने उसे सेंतमेंत क्षमा कर दिया है। यह उदार स्वभाव पवित्रशास्त्र में सच्चे पश्चातापी को दिया गया है: 'जिससे तू स्मरण करके लज्जित हो और अपमान के कारण कभी अपना मुंह न खोले। यह तब होगा जब मैं वह सब जो तू ने किया है क्षमा कर दूंगा। प्रभु यहोवा की यही वाणी है' (यहेजकेल 16:63)।

विश्वास और पश्चाताप के *क्रम* के विषय में यह कहा जा सकता है, कि हम समय के ऐसे किसी पल की कल्पना नहीं कर सकते जब मन में एक बात दूसरी से अलग अस्तित्व में हो। *समय* के किसी भी पल पर, विश्वास और पश्चाताप एक-दूसरे के साथ-साथ चलते हैं; लेकिन *प्रकृति* के क्रम में, विश्वास को पश्चाताप से पहले आना चाहिए। सुसमाचार वाला पश्चाताप पाप से फिर कर परमेश्वर की ओर मुड़ना है; परन्तु ख्रीष्ट के बिना परमेश्वर की ओर मुड़ना असम्भव है; और ख्रीष्ट पर विश्वास किए बिना, उस तक आना असम्भव है (यूहन्ना 14:6; 6:35)। इसके अतिरिक्त, सुसमाचार वाला पश्चाताप परमेश्वर के लिए प्रेम से उत्पन्न होता है; लेकिन उसके प्रति सच्चे प्रेम का अभ्यास सच्चे विश्वास के अभ्यास से उत्पन्न होता है (1 तीमुथियुस 1:5)। इसमें जोड़ दीजिए, कि जिसे हमने छेदा है, उसे देखकर ही हम उस उल्लेखनीय प्रतिज्ञा के अनुसार, ईश्वरीय रीति से शोक मना सकते हैं: 'तब वे मुझे ताकेंगे अर्थात जिसे उन्होंने बेधा है, और उसके लिए रोएँगे' (जकर्याह 12:10)। वास्तव में, मनुष्य के अपने दोष और दुर्दशा के प्रति कायलता के साथ पाप के लिए एक प्रकार का दुःख , और उसे छोड़ने का इरादा जुड़ा हुआ है, क्योंकि यह उसे अनन्त दण्ड के लिए उसकी कलई खोल देता है,

जिसे कि, वस्तुओं की प्रकृति में, ख्रीष्ट पर विश्वास के अभ्यास से पहले आना चाहिए; परन्तु यह सुसमाचार वाले पश्चाताप से बहुत अलग है।[88]

(3) सच्चे पश्चाताप में पाप के लिए *दुःख,* या गहन अनुताप और ईश्वरीय दुःख सम्मिलित है। एक झूठा दुःख भी है, जिसको कई लोग वास्तविक पश्चाताप समझकर गलती कर बैठते हैं। कई लोग अपने पाप के लिए केवल उस दण्ड के कारण दुखित होते हैं, जो यह पाप उन पर डालेगा; और जो लोग इस प्रकार के दुःख के साथ सबसे गहन रूप से प्रभावित होते हैं, यदि वे अपने डर को दूर करने में सफल हो जाते हैं, तो प्रायः वे पहले से अधिक स्वतंत्रता और तेजी से पाप करने के मार्ग में लौट जाते हैं। लेकिन एक सच्चा पश्चाताप करने वाले का दुःख उस पाप के लिए होता है जो परमेश्वर के विरुद्ध किए गए के रूप में, – उसके आधिकारिक अधिकार के विरुद्ध विद्रोह के रूप में – उसकी पवित्र व्यवस्था के उल्लंघन के रूप में, और सबसे घिनोने रूप में, उसकी भलाई के बदले कृतज्ञ-हीनता के रूप में होता है (भजन 51:4)।

(4) सच्चे पश्चाताप में पाप के लिए *घृणा* सम्मिलित है, न केवल उस रूप में कि यह हमें पाप के प्रति अनावृत करता है, परन्तु स्वयं में घृणित होने के रूप में, ऐसे घृणित वस्तु के रूप में जिससे परमेश्वर घृणा करता है, और जो हमें उसकी दृष्टि में निकम्मा और घिनौना बनाता है। पाप के प्रति यह घृणा वास्तविक है, तो यह हमें स्वयं से घृणा करने की ओर ले जाएगी, और यह हमारे और दूसरों के सभी पापों के लिए होगा (अय्यूब 42:6; यहेजकेल 36; यिर्मयाह 31:19; भजन 119:128, 136)।

(5) सच्चे पश्चाताप में *एक सच्चे उद्देश्य के साथ पाप से फिरकर परमेश्वर की ओर मुड़ना, और उसकी सभी आज्ञाओं के मार्गों में उसके साथ चलने का प्रयास करना* सम्मिलित है। यह सच्चे पश्चाताप का सर्वोत्तम कार्य और

---

[88] Boston, *Miscellany Questions*, Quest. 3; Colquhoun, *View of Saving Faith,* p. 303; Wilson (of London) *Sermons*, p. 390; Anderson (of America) *Precious Truth*, p. 180; Black's *Sermons*, p. 87.

सबसे बड़ी परीक्षा है। प्रेरित पौलुस ने यहूदियों एवं गैर-यहूदियों को यह प्रचार किया कि 'मन फिराओ और परमेश्वर की ओर फिर कर मन फिराव के योग्य काम करो' (प्रेरितों के काम 26:20)। सच्चा पश्चाताप करने वाले लोग पक्के संकल्प के साथ कि मूर्तियों से उनका कोई लेना-देना नहीं रहेगा, अपने पाप को छोड़ देते हैं। पाप से प्रेम करने के साथ-साथ पाप का अभ्यास करने से भी उनका मन-फिराव किया जाता है। वे विशेष रूप से उन पापों से बचाव करते हैं जिनके वे पहले सबसे अधिक आदी थे, और जिनके प्रभाव के आगे वे उसमें गिरने के लिए सबसे अधिक तत्पर रहते हैं (भजन संहिता 18:23)। वे पाप के सभी मौकों के विरुद्ध पूरी लगन से निगरानी रखते हैं, और उससे पूर्ण रूप से छुटकारा पाने के लिए हृदय से तरसते हैं। वे परमेश्वर के पास अपने वास्तविक प्रभु और मालिक के रूप में लौटते हैं, और उसके अनुग्रह पर निर्भर होकर, 'अपने जीवन के सभी दिनों में पवित्रता और धार्मिकता से उसकी सेवा करने का संकल्प लेते हैं'। वे अपने हृदय में एक पक्का और अडिग संकल्प बनाते हैं, और पूरी लगन और परिश्रम से, सभी साधनों का निरन्तर उपयोग करके, सभी पापों से बचने, और सार्वभौमिक पवित्रता का अभ्यास करने के लिए प्रयास करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि सच्चा पश्चाताप करने वालों ने पापरहित सिद्धता को प्राप्त कर लिया है; क्योंकि 'ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जो जीवित हो और पाप न करे'। इसलिए, उन्हें हर दिन नए सिरे से पश्चाताप का अभ्यास करने का मौका मिलेगा। उनकी आँखों से सभी आँसुओं को तब तक पोछा नहीं जाएगा, जब तक कि उनके मनों से सभी पाप पूर्णतः दूर नहीं किए जाते हैं।

भाग 3

यद्यपि पश्चाताप को पाप के लिए किसी भी प्रकार का प्रायश्चित या क्षमा का कोई कारण नहीं माना जाना चाहिए (यहेजकेल 16:61 – 63; 36:31 – 32), जो कि ख्रीष्ट में परमेश्वर के सेंतमेंत अनुग्रह का कार्य है (होशे

14:2, 4; रोमियों 3:24; इफिसियों 1:7); फिर भी यह सभी पापियों के लिए इतना आवश्यक है कि इसके बिना कोई भी व्यक्ति क्षमा की अपेक्षा नहीं कर सकता है (लूका 13:3, 5; प्रेरितों के काम 17:30 – 31)।

व्याख्या

(1) रोमन कैथोलिक लोगों के विरोध में, जो संतुष्टि को पश्चाताप का एक अभिन्न अंग मानते हैं, और समझते हैं कि दोषी द्वारा किए गए कुछ कार्य या काया-क्लेश वाले कार्य, उसके उन अपराधों के लिए मुआवजा बनते हैं, जिनके कारण से उसे क्षमा किया जाता है। और सोसिनियन लोगों के विरोध में भी, जो ख्रीष्ट की मृत्यु के द्वारा पाप के लिए प्रायश्चित को नकारते हैं, और दृढ़ता से मानते हैं कि पश्चाताप ही एकमात्र आवश्यक प्रायश्चित है; हमारा अंगीकार-कथन दावा करता है, कि पश्चाताप पाप के लिए किसी भी संतुष्टि पर निर्भर नहीं है, और न ही उसके लिए क्षमा का कारण है। यह पहले ही दिखाया जा चुका है, कि यह सभी पापियों का कर्तव्य है कि वे पश्चाताप करें; अब वर्तमान में कर्तव्य का निभाया जाना कभी भी पिछले अपराधों के लिए प्रायश्चित नहीं हो सकता। पश्चाताप कभी भी नागरिक राज्य के विरुद्ध किए गए अपराधों के लिए दण्ड-क्षमा का कानूनी आधार नहीं माना जा सकता। तो फिर, यह सोचना कितना अतार्किक है कि यह परमेश्वर के विरुद्ध किए गए पाप की क्षमा के लिए पर्याप्त आधार बन सकता है! ख्रीष्ट ने स्वयं के बलिदान से परमेश्वर के न्याय को पूरी रीति से संतुष्ट कर दिया है, और केवल उसका लहू हमें सब पापों से शुद्ध करता है (1 यूहन्ना 1:7)। हमारे लिए पाप की क्षमा पूर्ण रूप से सेतमेंत है – ख्रीष्ट में परमेश्वर के सेतमेंत अनुग्रह का कार्य – और यदि यह अनुग्रह से है, तो यह कार्यों से नहीं है; और, इसलिए, पाप के लिए संतुष्टि के रूप में, पश्चाताप से नहीं है।

(2) *सच्चा पश्चाताप और क्षमा एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं*। हालाँकि किसी को भी उसके पश्चाताप के लिए क्षमा नहीं किया जा है, फिर भी पश्चाताप इतना आवश्यक है कि पश्चाताप नहीं करने वाले पापी, क्षमा प्राप्त पापी नहीं हो सकता।

> 'वे उद्धार की योजना में जुड़े हुए है, कारण एवं प्रभाव के रूप में नहीं, बल्कि पवित्रता के सम्बन्ध में सेंतमेंत क्षमा की स्थिरता को दिखाने के लिए। किसी भी सरकार के लिए एक अपराधी को बरी करना, और उसके व्यवहार में परिवर्तन के कुछ प्रमाणों के बिना समाज में उसे बहाल करना, उसे बिना किसी दण्ड के अपराध करने का लाइसेंस देने के अलावा और कुछ नहीं होगा। परन्तु यदि यह किसी मनुष्य के लिए अयोग्य होगा, तो फिर परमेश्वर की सरकार के लिए तो और भी अधिक अयोग्य होगा! परमेश्वर ने दया की योजना के सम्मान को सही प्रमाणित करने के लिए, क्षमा को पश्चाताप और अंगीकार के साथ ऐसा जोड़ा है – पश्चाताप की अभिव्यक्ति – कि वे ही एकमात्र पक्के प्रमाण हैं कि हम क्षमा प्राप्त की दशा में हैं; जबकि क्षमा और पश्चाताप दोनों ही हमारे प्रभु यीशु ख्रीष्ट के माध्यम से परमेश्वर के वरदान हैं।'[89]

भाग 4

जिस प्रकार कोई पाप इतना छोटा नहीं होता है परन्तु वह दण्ड के योग्य है (मत्ती 12:36; रोमियों 5:12; 6:23), वैसे ही कोई पाप इतना बड़ा नहीं होता कि वह उन लोगों को दण्ड के योग्य बना दे जो सच्चे मन से पश्चाताप करते हैं (यशायाह 1:16, 18; 55:7; रोमियों 8:1)।

व्याख्या

एक ओर, रोमन कैथोलिक चर्च के विरोध में, जो मानते हैं कि कुछ पापों

[89] Stevenson, *Offices of Christ*, p. 244.

का फल मृत्यु है, और अन्य पाप क्षमा के योग्य है – अर्थात स्वभाव से इतने हल्के पाप हैं, कि उन्हें कुछ अस्थायी दण्ड देकर क्षमा किया जा सकता है – हमारा अंगीकार-कथन दृढ़ता से कहता है कि 'कोई भी पाप इसका छोटा नहीं है कि वह दण्ड के योग्य न हो'; और दूसरी ओर, कुछ एनाबैपटिस्ट, और कुछ अन्य लोगों के विरोध में, जिन्होंने यह माना है कि यदि लोग बपतिस्मा और अनुग्रह प्राप्त करने के बाद, गम्भीर पाप में गिरते हैं, तो उनके लिए कोई भी क्षमा नहीं बचती है, भले ही वे पश्चाताप करना चाहें। इनके विरोध में हमारा अंगीकार-कथन दृढ़तापूर्वक कहता है कि 'कोई भी पाप इतना बड़ा नहीं होता कि वह उन लोगों को दण्ड के योग्य बना दे जो सच्चे मन से पश्चाताप करते हैं'। हम स्वीकार करते हैं कि अलग-अलग पापों के दोष के स्तर में बहुत अन्तर होता है; लेकिन हम मानते हैं कि प्रत्येक पाप का दण्ड मृत्यु है। सबसे स्पष्ट प्रेरित की घोषणाएँ हैं: क्योंकि पाप की मजदूरी तो मृत्यु है (रोमियों 6:23)। 'जो कोई व्यवस्था की पुस्तक में लिखी हुई सब बातों के करने में स्थिर नहीं रहता, वह शापित है' (गलातियों 3:10)। ये दोनों पद बिना किसी संदेह के हर प्रकार के पाप पर लागू होते हैं। परन्तु, सबसे बड़े पापी को दया प्राप्त हो सकती है; और जो लोग अनुग्रह प्राप्त करने के बाद भी गम्भीर पाप करते हैं, वे सच्चे हृदय से पश्चाताप कर सकते हैं, और क्षमा पा सकते हैं। दाऊद ने अपने 'बड़े अपराध' के बाद और पतरस ने 'अपने स्वामी का इनकार करने' के बाद पश्चाताप किया और उन्हें क्षमा कर दिया गया (2 शमूएल 12:13; यूहन्ना 21:19)।

भाग 5

मनुष्य को सामान्य पश्चाताप से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, बल्कि प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने एक-एक पापों के लिए विशेष

रूप से पश्चाताप करने का प्रयास करे (भजन संहिता 19:13; लूका 19:8; 1 तीमुथियुस 1:13, 15)।

व्याख्या

कोई भी व्यक्ति अपने सभी पापों का क्रम से हिसाब नहीं लगा सकता; क्योंकि 'अपनी भूलचूक को कौन समझ सकता है?' लेकिन सामान्य रूप से यह स्वीकार करना कि हम पापी हैं, पर्याप्त नहीं है; हमें अपने हृदयों और मार्गों की कड़ी और बिना किसी भेदभाव के जाँच करने के द्वारा, उन विशेष पापों का पता लगाने का प्रयास करना चाहिए जिनमें हमने परमेश्वर को दुःख पहुँचाया है और उसका अपमान किया है और हमें 'अपने अधर्म के लिए दुःख मनाना चाहिए'। इस रीति से, जब दाऊद को सच्चे हृदय से पछतावा हुआ, तो उसने न केवल सामान्य रूप से माना कि उसने पाप किया है, बल्कि उसकी दृष्टि उस विशेष पाप पर भी थी, जिसके द्वारा उसने विशेष रीति से परमेश्वर का अपमान किया था: 'मेरा पाप निरन्तर मेरी दृष्टि में रहता है, मैं ने केवल तेरे ही विरुद्ध पाप किया, और *जो* तेरी दृष्टि बुरा है, वही किया है' (भजन संहिता 51:3, 4)। 'मैं तो *अपने* अधर्म को प्रगट करूँगा, और *अपने* पाप के कारण खेदित रहूँगा' (भजन संहिता 38:18)।

भाग 6

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य परमेश्वर समक्ष अपने पापों के विषय में निजी अंगीकार करने, तथा उसके लिए क्षमा की प्रार्थना करने के लिए बाध्य है (भजन संहिता 51:4 – 5, 7, 9, 14; 32:5 – 6), जिसके पश्चात, उन्हें त्यागने पर, उसे दया प्राप्त होगी (नीतिवचन 28:13; 1 यूहन्ना 1:9); वैसे ही जो व्यक्ति अपने भाई, या ख्रीष्ट की कलीसिया को अपमानित करता है, उसे भी चाहिए कि वह निजी एवं सार्वजनिक अंगीकार और अपने पाप के लिए शोक के द्वारा, उन लोगों के समक्ष अपने पश्चाताप की

घोषणा करे जो आहत हुए हैं (याकूब 5:16; लूका 17:3 – 4; यहोशू 7:19; सम्पूर्ण भजन संहिता 51), तथा इसके पश्चात उन लोगों को उससे मेलमिलाप करना, और प्रेम में उसे ग्रहण करना चाहिए (2 कुरिन्थियों 2:8)।

व्याख्या

इस भाग में हमें सिखाया गया है:

(1) *कि प्रत्येक मनुष्य को परमेश्वर के समक्ष अपने पापों के विषय में निजी अंगीकार करना चाहिए*। हम परमेश्वर को कुछ भी ऐसा नहीं दिखा सकते जो पहले से उसके सर्वज्ञानी आँखों से छिपा हुआ था; लेकिन अपने पापों का अंगीकार कर हम परमेश्वर को महिमा देते हैं, और साथ में स्वयं शर्मिंदगी लेते हैं। इसीलिए यहोशू ने आकान से कहा, 'हे मेरे बेटे, इस्राएल के परमेश्वर यहोवा का आदर कर, और उसके आगे अंगीकार कर' (यहोशू 7:19) अपने पापों को छिपाने का तात्पर्य है परमेश्वर का अपमान करना, जैसे कि या तो उसने देखा नहीं या वह उन्हें दण्ड नहीं दे सकता; जबकि, अपने पापों का अंगीकार करने का तात्पर्य हैं परमेश्वर की पवित्र व्यवस्था का आदर करना, जिसका हमने उल्लंघन किया है – उसकी सर्वज्ञता का सम्मान करना, जिसके सामने हमारे सभी अपराध खुले रहते हैं – उसके न्याय का सम्मान करना, जो उनसे बदला ले सकता था – और उसके धीरज एवं सहनशीलता का सम्मान करना जिसने उसे उचित दण्ड देने से रोक रखा है।

(2) जो लोग अकेले में परमेश्वर के सामने अपने पापों का अंगीकार करते हैं, और उन्हें छोड़ देते हैं, वे दया पाते है, *भले ही उन्होंने किसी पादरी या पुरोहित के सामने अपने पापों को न माना हो*। इस बात की पूर्ण पुष्टि इस प्रेरणा प्राप्त घोषणा द्वारा होती है: 'जो अपने अपराध छिपा रखता है, उसका कार्य सफल नहीं होता; परन्तु जो उनको मान लेता और छोड़ भी

देता है, उस पर दया की जायेगी' (नीतिवचन 28:13)। दाऊद का अनुभव इस घोषणा से मेल खाता है (भजन संहिता 32:4)। लेकिन रोमन चर्च मानता है कि पादरी के सामने अपने पापों का अंगीकार करना, और उसके बाद उसके द्वारा क्षमा प्राप्त करना, बपतिस्मा के बाद किए गए मृत्यु की ओर ले जाने वाले सभी पापों की क्षमा पाने के लिए परमेश्वर का ठहराया हुआ एकमात्र साधन है।[90] इस प्रकार के अंगीकार के लिए पवित्रशास्त्र में न तो कोई उदाहरण है और न ही कोई आज्ञा है। जिस पद पर रोमन कैथोलिक लोग मुख्य रूप से निर्भर होते हैं वह है (यूहन्ना 20:23), जो कि पादरी के कानों में पापों के अंगीकार के विषय में कुछ नहीं कहता है; और मसीही धर्म के सेवक पापों की क्षमा की केवल *घोषणा कर* सकते हैं, परन्तु *आधिकारिक रूप से* पाप क्षमा नहीं कर सकते। वे चर्च के निन्दा-प्रस्ताव से दोषमुक्त कर सकते हैं, परन्तु परमेश्वर के विरुद्ध किए गए पाप के दोष से मुक्त नहीं कर सकते। एक स्थान पर हमें 'एक दूसरे के सामने अपने-अपने पापों को मानने' के लिए कहा गया है (याकूब 5:16); परन्तु यह अंगीकार पारस्परिक है, न कि पादरी के समाने लोगों द्वारा अंगीकार। मसीही लोगों को उन लोगों के सामने अपनी गलतियों को स्वीकार करना चाहिए जिन्हें उन्होंने दुःख पहुँचाया है; परन्तु रोम के चर्च द्वारा अपेक्षित अपने सभी पापों को अकेले में पादरी के सामने अंगीकार करना पवित्रशास्त्र के अनुसार पूर्ण रूप से गलत है, और यह घोर कुरीति का मौका प्रदान करने जैसा रहा है।

> 'न केवल कानों को सुनाया जाने वाले पाप के अंगीकार ने समाज के लिए बहुत असुविधा को जन्म दिया है, बल्कि इसने धर्म के सेवकों को लोगों के सबसे गुप्त मामलों में उनके मनों पर अनुचित और खतरनाक प्रभाव

[90] रोमन कैथोलिक चर्च में सबसे अधिक भ्रष्टता पश्चाताप के सिद्धांत से सम्बन्धित हैं। उस चर्च के नियमों में बनाए गए सिद्धांतों के अनुसार पश्चाताप में तीन कार्य सम्मिलित हैं – पादरी के सामने पापों को मानना, पछतावा या अपराध का बोध, और प्रायश्चित करना।

डालने का भी अवसर प्रदान किया है; लेकिन यह पापी के धर्मी ठहराए जाने के विषय में उनकी सोच को भी बिगाड़ता है, और यह उनके विवेक को चुप करने का एक तरीका देता है, जो इतना आसान है कि यह उन्हें बिना किसी डर के पाप करने के लिए बढ़ावा देता है।'[91]

(3) हालाँकि, मसीही लोगों से अपेक्षा की गई है कि वे केवल गुप्त में देखने वाले परमेश्वर के सामने अपने गुप्त पापों का अंगीकार करें, फिर भी यदि उन्होंने किसी मसीही भाई के साथ, उसकी सम्पत्ति या भले नाम के विरुद्ध अपराध किया है, तो वे उसके सामने अपने अपराध का अंगीकार करने के लिए बाध्य है, और उन्होंने जो भी हानि उसके विरुद्ध की है, उसके लिए अपनी पूरी शक्ति से क्षतिपूर्ति करनी है, और उसके पश्चाताप पर मसीही भाई उन्हें क्षमा करने के लिए बाध्य है (मत्ती 5:23, 24; लूका 17:3, 4)। जब मसीही लोग किसी सार्वजनिक कलंक-पूर्ण कृत्य में पड़ जाते हैं, तो उन्हें अपने अपराध के लिए और अधिक सार्वजनिक रूप से अंगीकार करने के लिए तत्पर रहना चाहिए, ताकि वे अपने पाप अंगीकार से उस परमेश्वर को सार्वजनिक रूप से सम्मानित कर सकें, जिसका उन्होंने अपने आचरण के द्वारा सार्वजनिक रूप से अपमान किया है; और उनके पश्चाताप पर, कलीसिया को चाहिए कि प्रेम में उन्हें स्वीकार करे, और उनके सभी मसीही अधिकारों के लिए उन्हें बहाल करें। नोवाशियन (Novatian) लोग मानते थे कि जो लोग गम्भीर पाप में पड़ गए हैं, विशेषकर जिन्होंने सताव के समय विश्वास को त्याग दिया है, उन्हें फिर से कलीसिया में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।[92] परन्तु यह विचार पवित्रशास्त्र के नियमों और उदाहरणों, दोनों के विरुद्ध है। 'यदि कोई मनुष्य किसी अपराध में पकड़ा भी जाए, तो तुम जो आत्मिक हो, नम्रता के साथ ऐसे को संभालो, और अपनी भी चौकसी रखो कि तुम भी परीक्षा में न

[91] Hill's *Lectures in Divinity*, pp. 292, 293.

[92] Mosheim's *Eccl. Hist., cent.* Iii., ch. 5, p. 2, c. 17, 18.

पड़ो' (गलातियों 6:1)। कुरिन्थियों की कलीसिया से एक कौटुंबिक व्यभिचारी व्यक्ति को, उसके पश्चाताप के बाद क्षमा करने, और उसे संगति में फिर से स्वीकार करने की अपेक्षा की गई थी, कि कहीं ऐसा न हो कि वह बहुत अधिक दुख में डूब जाए (2 कुरिन्थियों 2:7, 8)।

अध्याय 16

भले कार्य

भाग 1

भले कार्य केवल वहीं हैं जिनको करने की आज्ञा परमेश्वर ने अपने पवित्र वचन में दिए है (मीका 6:8; रोमियों 12:2; इब्रानियों 13:21), और न कि वे, जो वचन द्वारा बिना किसी अनुमोदन के, अंधे उत्साह से, या किसी भले अभिप्राय के दिखावे के आधार पर मनुष्य द्वारा बनाए जाते हैं (मत्ती 15:9; यशायाह 29:13; 1 पतरस 1:18; रोमियों 10:2; यूहन्ना 16:2; 1 शमूएल 15:21 – 23)।

व्याख्या

यह भाग बताता है कि किसी कार्य को, उसे स्वयं में विचार करने के रूप में, भला कार्य होने के लिए क्या आवश्यक है। उसे वैसा ही होना चाहिए *जैसा कि परमेश्वर ने अपने पवित्र वचन में आज्ञा दी है*। केवल परमेश्वर का वचन मनुष्य द्वारा आज्ञा मानने का एकमात्र नियम है, और किसी भी कार्य को, चाहे वह दिखने में कितना भी दिखावटी क्यों न हो, उसे उचित रूप से भला नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह कानून बनाने वाले सर्वोच्च प्राधिकार के द्वारा अपेक्षित न हो। मनुष्य की कोई भी आज्ञा भले कार्य को जन्म नहीं दे सकती, जब तक कि वह, उसी समय में, वास्तविक रूप से या स्पष्ट रूप से परमेश्वर की आज्ञा न हो। ऐसे सभी कार्य जो परमेश्वर के वचन द्वारा वांछित न हो, परन्तु मनुष्यों द्वारा अंधभक्ति में बनाए गए हों, उन्हें भला कार्य नहीं माना जा सकता। इस आधार पर ख्रीष्ट ने यह कहते हुए फरीसियों की उन सेवाओं को नकार दिया, जिनका बुज़ुर्गों की

परम्पराओं, या स्वयं उनके कानून होने के अतिरिक्त कोई और अधिकार नहीं था: 'इन कार्यों को कौन चाहता है।' और इसी आधार पर, रोम के चर्च में अंधविश्वास और इच्छा-आराधना के उन कार्यों को, जो केवल मनुष्यों की आज्ञाओं से जोड़े गए हैं, उन्हें नकार दिया जाना चाहिए। हमारे उद्धारकर्ता ने कहा, 'ये व्यर्थ मेरी उपासना करते हैं, क्योंकि मनुष्यों की विधियों को धर्मोपदेश करके सिखाते हैं' (मत्ती 15:9)।

जिन कार्यों की आज्ञा परमेश्वर ने नहीं दी है उन्हें अभिकर्ता के भले अभिप्राय से भले कार्यों में बदला नहीं जा सकता (जैसा कि रोम का चर्च विश्वास करता है)। कई लोगों ने भले अभिप्राय से कार्य करने का दिखावा किया है, जबकि वे परमेश्वर की प्रकट इच्छा के प्रत्यक्ष विरोध में कार्य कर रहे थे (1 शमूएल 13:13; 15:17 – 23)। लोगों ने सोचा कि वे परमेश्वर के लिए भली सेवा कर रहे है, जबकि वे सबसे भयानक अपराध कर रहे थे (यूहन्ना 16:2; प्रेरितों के काम 26:9)।

जिस कार्य की आज्ञा परमेश्वर द्वारा दी गई है, वह स्वयं में सोचने पर भला है; लेकिन हमारे द्वारा किए गए कार्य को भला बनाने के लिए कुछ और की भी आवश्यकता है। और कोई भी कार्य परमेश्वर की दृष्टि में भला कार्य नहीं है, जब तक कि वह *औपचारिक* रूप के साथ-साथ *भौतिक* रूप से भला न हो। किसी कार्य को *औपचारिक रूप से* भला बनाने के लिए किस बात की आवश्यकता है, यह इस अध्याय के बाद वाले भागों से सीखा जा सकता है; लेकिन हम उन बातों को यहाँ पर संक्षिप्त रूप से बताने को उचित समझते हैं।

(1) इन्हें ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाना चाहिए जिसे कि ख्रीष्ट की धार्मिकता द्वारा धर्मी ठहराया गया हो, और उसके पवित्र आत्मा द्वारा नया बनाया गया हो।

(2) उन्हें एक उचित सिद्धांत से किया जाना चाहिए – ऐसा विश्वास जो प्रेम से कार्य करता है। हमें विश्वास या पूर्ण भरोसा होना चाहिए कि जो हम कर रहे हैं उसकी आज्ञा परमेश्वर ने दी है; और हमें उन कार्यों को उसके

अधिकार का सम्मान करते हुए करना चाहिए (रोमियों 14:23)। हमारे कार्यों की स्वीकारता का आधार केवल यीशु ख्रीष्ट की मध्यस्थता पर विश्वास को होना चाहिए। हमारी आज्ञाकारिता को परमेश्वर के लिए प्रेम से निकलना चाहिए (1 यूहन्ना 5:3)।

(3) इन कार्यों को उचित तरीके से किया जाना चाहिए। प्रतिज्ञा किए गए अनुग्रह की सामर्थ्य से, और स्वीकारता के लिए ख्रीष्ट की धार्मिकता पर भरोसा करने में – परमेश्वर की सभी आशीषों के लिए उसके प्रति आभार प्रकट करते हुए, और हमारी स्वयं की अयोग्यता के गहन भाव के साथ हमें उन कार्यों को करना चहिए।

(4) वे उचित उद्देश्य की ओर निर्देशित होने चाहिए। हमारे कार्य तब तक भले नहीं गिने जाएंगे, जब तक उनको करने में हमारा मुख्य और अंतिम उद्देश्य परमेश्वर की महिमा नहीं है (1 कुरिन्थियों 10:31)।

भाग 2

ये भले कार्य, जो परमेश्वर की आज्ञाओं के पालन में किए जाते हैं, सच्चे एवं जीवित विश्वास के फल एवं प्रमाण हैं (याकूब 2:18, 22); और इनके द्वारा विश्वासी लोग अपनी कृतज्ञता को दिखाते हैं (भजन संहिता 116:12 – 13; 1 पतरस 2:9), अपने आश्वासन को दृढ़ करते हैं (2 पतरस 1:5 – 10; 1 यूहन्ना 2:3, 5), अपने भाइयों की आत्मिक उन्नति करते हैं (मत्ती 5:16; 2 कुरिन्थियों 9:2), सुसमाचार के कार्य को सुशोभित करते हैं (1 तीमुथियुस 6:1; तीतुस 2:5, 9 – 12), विरोधियों का मुंह बन्द करते हैं (1 पतरस 2:15), और परमेश्वर की महिमा करते हैं (यूहन्ना 15:8; फिलिप्पियों 1:11; 1 पतरस 2:12), इन कार्यों के लिए यीशु ख्रीष्ट में सृजे गए वे उसकी कारीगरी हैं (इफिसियों 2:10), ताकि, पवित्रता के निमित्त अपने फल लाकर, वे इसके लक्ष्य अर्थात अनन्त जीवन को पा सके (रोमियों 6:22)।

व्याख्या

हमारे भले कार्य परमेश्वर के लिए लाभ वाले नहीं हो सकते; क्योंकि वह स्वयं में असीम रूप से परिपूर्ण और सर्व-सम्पन्न है, और उसकी अनिवार्य महिमा या आनन्द में कोई भी बढ़ोत्तरी नहीं की जा सकती (अय्यूब 22:2; 35:7)। न ही हमारे भले कार्य परमेश्वर के समक्ष हमारे धर्मी ठहराए जाने पर कोई भी प्रभाव डालते हैं; 'क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई प्राणी व्यवस्था के कार्यों से धर्मी नहीं ठहरेगा' (रोमियों 3:20)। और न ही हमारे भले कार्य स्वर्ग के लिए, या अनन्त जीवन पाने के लिए कोई आधार हो सकते हैं; क्योंकि 'परमेश्वर का वरदान हमारे प्रभु मसीह यीशु में अनन्त जीवन है' (रोमियों 6:23)। फिर भी, सभी मसीही लोगों को भले कार्य करने की आदत निरन्तर डालनी चाहिए और इसके लिए ईमानदारी से जोर दिया जाना चाहिए; और इससे कई बहुमूल्य उद्देश्य पूरे होते हैं। इसलिए पौलुस ने तीतुस और उसके माध्यम से सुसमाचार के सभी सेवकों को यह गम्भीर आज्ञा दी: 'यह विश्वासयोग्य कथन है, और मैं चाहता हूँ कि तू इन बातों के विषय में दृढ़ता से बोले कि जिन्होंने परमेश्वर पर विश्वास किया है, वे भले कार्यों में लग जाने का ध्यान रखें। ये बातें लोगों के लिए भली और लाभदायक हैं' (तीतुस 3:8)। भले कार्यों के कई आवश्यक उपयोग यहाँ पर बताए गए हैं।

(1) वे *एक सच्चे एवं जीवित विश्वास के फल एवं प्रमाण हैं*। कार्य न करने वाला विश्वास, जो धार्मिकता के फल उत्पन्न नहीं करता, उसे प्रेरित याकूब ने मरा हुआ विश्वास बताया है (याकूब 2:2, 6)। जीवित विश्वास के भले कार्य उसके वास्तविक फल हैं, और वे इस बात के सही प्रमाण हैं कि विश्वास सच्चा है। यही प्रेरित कहते हैं, 'तुम मुझे अपना विश्वास बिना कार्य के दिखाओ, और मैं अपना विश्वास तुम्हें अपने कार्यों द्वारा दिखाऊँगा' (याकूब 2:18)।

(2) भले कार्य परमेश्वर के प्रति *आभार के उचित वक्तव्य हैं*। कोई भी मनुष्य परमेश्वर को उसकी अनगिनत आशीषों के लिए उचित भरपाई नहीं

दे सकता; लेकिन सभी मसीही लोग अनिवार्य रूप से उसकी आज्ञाओं के प्रति सार्वभौमिक एवं आनन्दमय आज्ञाकारिता के द्वारा उसकी महिमा करने के लिए बाध्य हैं; और उनके भले कार्य, मानो, उनको दिए गए परमेश्वर के लाभों के लिए उसको दिए गए धन्यवाद-बलि हैं।

(3) भले कार्य विश्वासियों के *भरोसे को दृढ़ करते हैं*। वे उसके विश्वास के आश्वासन को पक्का करते हैं, और ख्रीष्ट एवं उसके महान उद्धार में उनकी निजी रुचि के आश्वासन को बढ़ाते हैं। प्रिय शिष्य कहते हैं, 'यदि हम उसकी आज्ञाओं को पालन करते हैं, तो इसी से हमें ज्ञात होता कि हम उसे जान गए हैं' (1 यूहन्ना 2:3)।

(4) विश्वासियों के भले कार्य *उनके साथी मसीही लोगों की आत्मिक उन्नति करते हैं*। जो लोग भले कार्यों को जारी रखने में सावधान रहते हैं वे दूसरों के लिए एक नमूना बनते हैं, और उन्हें पवित्र नमूना बनने के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए प्रेरित पौलुस कुरिन्थियों में विश्वासियों को बताते हैं, कि यरूशलेम के गरीब संतों के लिए उनके योगदान में उनके उत्साह ने, 'बहुतों को उभारा है' (2 कुरिन्थियों 9:2)।

(5) वे *सुसमाचार के व्यवसाय की शोभा बढ़ाते हैं*। व्यावहारिक भक्ति वाला जीवन मसीही धर्म का सबसे उज्ज्वल श्रृंगार है। इसलिए मसीही लोगों को उनके पद और सम्बन्धों की जिम्मेदारियों को ईमानदारी से निभाने के लिए उत्साहित किया जाता है, कि 'वे हर प्रकार से हमारे उद्धारकर्ता परमेश्वर के उपदेश की शोभा बढ़ाएं' (तीतुस 2:10)।

(6) वे *विरोधियों का मुंह बंद करते हैं*। जब मसीही कहलाने वाले लोग 'सुसमाचार बनने वाला संवाद' करते हैं, और 'हर एक भले कार्य के तैयार' रहते हैं, तो वे दूसरे लोगों के लिए मसीही धर्म को आकर्षक बनाते हैं, और सत्य के विरोधियों का मुंह बंद करते हैं, और उन्हें उन गलत बातों की निरर्थकता के विषय में कायल करते हैं जो सुसमाचार के विरोध में बोली जाती हैं, क्योंकि उन गलत बातों में दुराचार की भावना होती है। 'क्योंकि

परमेश्वर की इच्छा यही है कि तुम भले काम करके अज्ञानता की बातें बोलने वाले मूर्ख मनुष्यों का मुंह बंद कर दो' (1 पतरस 2:15)।

(7) वे *परमेश्वर को महिमा देते हैं*। विश्वासी लोग भले कार्यों में जितना अधिक फलवन्त होते हैं, उतना ही अधिक परमेश्वर की महिमा होती है; हमारा प्रभु कहता है, 'मेरे पिता की महिमा इसी से होती है कि तुम बहुत फल लाओ' (यूहन्ना 15:8)। अपने भले कार्यों से मसीही लोग न केवल स्वयं परमेश्वर को महिमा देते हैं, बल्कि दूसरे लोगों को भी परमेश्वर की महिमा करने के लिए प्रेरित करते हैं। 'तुम्हारा प्रकाश मनुष्यों के सम्मुख इस प्रकार चमके कि वे तुम्हारे भले कामों को देखकर तुम्हारे पिता की जो स्वर्ग में है, महिमा करें' (मत्ती 5:16)।

(8) भले कार्य *स्वर्ग में स्वीकार किए जाने के लिए एक आवश्यक शर्त हैं*। हालाँकि वे अनन्त जीवन को नहीं कमाते हैं, फिर भी उन सभी लोगों के लिए बेहद आवश्यक हैं जो 'अनुग्रह के जीवन के वारिस' हैं। विश्वासी लोग 'पाप से स्वतंत्र होकर और परमेश्वर के दास बनकर तुम्हें यह फल मिला जिसका परिणाम पवित्रता और जिसका अंत अनन्त जीवन है' (रोमियों 6:22)।

भाग 3

भले कार्य करने की उनकी क्षमता उनके अपने आप से नहीं है, बल्कि पूर्ण रूप से ख्रीष्ट के आत्मा से है (यूहन्ना 15:4 – 6; यहेजकेल 36:26 – 27)। और उन्हें भले कार्य करने में सक्षम बनाने हेतु, उन्हें पहले से प्राप्त अनुग्रहों के अतिरिक्त, उनमें इच्छा उत्पन्न करने और परमेश्वर की सुइच्छा निमित्त कार्य करने के लिए उसी पवित्र आत्मा के वास्तविक प्रभाव की आवश्यकता पड़ती है (फिलिप्पियों 2:13; 4:13; 2 कुरिन्थियों 3:5); फिर भी उन्हें भले कार्य करने में लापरवाह नहीं बनना है, जैसे कि जब तक आत्मा की विशेष प्रेरणा उन्हें न मिले तब तक वे किसी भी कर्तव्य को करने के लिए बाध्य नहीं हैं; परन्तु उन्हें अपने

भीतर विद्यमान परमेश्वर के अनुग्रह को जगाने में परिश्रमी होना चाहिए (फिलिप्पियों 2:12; इब्रानियों 6:11 – 12; 2 पतरस 1:3, 5, 10 – 11; यशायाह 64:7; 2 तीमुथियुस 1:6; प्रेरितों के काम 26:6 – 7; यहूदा 1:20 – 21)।

व्याख्या

पेलाजियन, रोमन कैथोलिक एवं आर्मीनियन लोगों के विरोध में, हमारा अंगीकार-कथन दृढ़ता से कहता है, कि भले कार्यों को करने की विश्वासियों की योग्यता स्वयं उनसे नहीं है, बल्कि यह पूरी रीति से ख्रीष्ट के पवित्र आत्मा से है। इस बात पर सावधानीपूर्वक ध्यान देना चाहिए, कि सभी सच्चे विश्वासियों के मनों में, उनके नए जन्म के दिन में, एक अलौकिक आदत, या अनुग्रह का एक जीवित सिद्धांत भरा जाता या प्रत्यारोपित किया जाता है, जिसके कारण वे पवित्र आज्ञाकारिता के कार्यों को करने के लिए तैयार एवं योग्य बनाए जाते है (यहेजकेल 36:26, 27)। लेकिन, इस शक्ति या योग्यता के बावजूद, जो विश्वासियों को स्वाभाविक अनुग्रह के द्वारा मिली है, उनके हर एक अनुग्रहकारी पवित्र कार्य को करने के लिए पवित्र आत्मा के वास्तविक प्रभाव की आवश्यकता होती है। उन्हें स्वाभाविक अनुग्रह का जो भी अंश मिला हो, लेकिन उनमें आज्ञाकारिता के प्रत्येक कर्तव्य को वास्तविक अनुग्रहकारी रीति से करने के लिए पवित्र आत्मा के वास्तविक कार्य की आवश्यकता पड़ती है। यह बात पक्की है:

(1) हमारे उद्धारकर्ता की स्पष्ट घोषणा के द्वारा: 'मुझसे अलग होकर तुम कुछ भी नहीं कर सकते' (यूहन्ना 15:5)। यहाँ पर हमारे उद्धारकर्ता ने स्पष्ट रूप से पुष्टि की है कि विश्वासी लोग, जो स्वाभाविक अनुग्रह में साझेदार है, स्वयं अपने से, पहले से प्राप्त किसी भी अनुग्रह के आधार पर, या उससे प्राप्त नए अनुग्रह के बिना, ऐसा कुछ भी नहीं कर सकते जो आत्मिक रूप से भला है या परमेश्वर को स्वीकृत है।

(2) पौलुस की बात को मानते हुए, जब वह विश्वासियों के नाम में बोलता है: 'यह नहीं कि हम अपने आप से इस योग्य हैं कि अपनी ओर से किसी बात का विचार कर सकें, पर हमारी योग्यता परमेश्वर की ओर से है' (2 कुरिन्थियों 3:5)।

(3) संतों की प्रार्थनाओं के द्वारा अनुग्रह की नई आपूर्ति मिलती है, जिससे परमेश्वर की इच्छा को पूरा करने हेतु उन्हें सक्षम बनाया जाता है। पौलुस इब्रानियों की कलीसिया की ओर से प्रार्थना करता है: 'अब शान्तिदाता परमेश्वर, ... तुम्हें हर एक भली बात में सिद्ध करे, जिससे तुम उसकी इच्छा पूरी करो, और जो कुछ उसको भाता है उसे यीशु मसीह के द्वारा हम में उत्पन्न करे' (इब्रानियों 13:20, 21)। पवित्र आज्ञाकारिता के हर स्वीकार्य कार्य के लिए वास्तविक अनुग्रह की आवश्यकता और कार्य-क्षमता को इससे अधिक स्पष्ट रीति से नहीं बताया जा सकता।[93]

दूसरी ओर, कुछ उत्साही लोगों के विरोध में, जो मानते हैं कि विश्वासियों को मसीही धर्म में कोई भी कार्य तब तक नहीं करना चाहिए, जब तक कि हृदय में पवित्र आत्मा उन्हें इन कार्यों के लिए प्रेरित एवं उत्साहित न करे, हमारा अंगीकार-कथन दृढ़ता से दावा करता है, कि विश्वासियों को 'भले कार्य करने में लापरवाह नहीं बनना है, जैसे कि जब तक आत्मा की विशेष प्रेरणा उन्हें न मिले तब तक वे किसी भी कर्तव्य को करने के लिए बाध्य नहीं हैं; परन्तु उन्हें अपने भीतर विद्यमान परमेश्वर के अनुग्रह को जगाने में परिश्रमी होना चाहिए।' यह बात पवित्रशास्त्र के उन पदों से अच्छी रीति से प्रमाणित होती है, जिनका सन्दर्भ हमारे अंगीकार-कथन के लिखने वालों ने दिया है, कि हमें लगता है कि इस पर अधिक विचार करना बिल्कुल भी आवश्यक नहीं है।

[93] Owen's *Discourse concerning the Holy Spirit*, Book 4, chapters 6, 7.

भाग 4

वे लोग जो इस जीवन में सम्भव अपने आज्ञापालन में उच्चतम ऊँचाई को प्राप्त करते हैं, वे परमेश्वर की अपेक्षा से अधिक करने और आवश्यकता से अधिक करने के लिए योग्य बनने से उन्हीं लोगों के समान इतने दूर होते हैं, जो बहुत सारे उन कार्यों को करने से चूक जाते हैं जिन्हें करने के कर्तव्य में वे बाध्य होते हैं (लूका 17:10; नहेम्याह 13:22; अय्यूब 9:2 – 3; गलातियों 5:17)।

व्याख्या

यह भाग कर्तव्य से अधिक कार्यों के सम्बन्ध में, रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धांत के विरोध में कहा गया है। रोम का चर्च सिखाता है, कि उन निर्देशों के अतिरिक्त जो सब पर बाध्य है, और जिनकी अवज्ञा कोई भी बिना पाप किए नहीं कर सकता, नए नियम में 'सिद्धता के नियम' दिए गए है, जिन्हें मनुष्य यदि चाहे तो वह उनकी उपेक्षा करने के लिए स्वतंत्र है; और इसलिए, जो लोग इन नियमों का पालन करते हैं, कर्तव्य से अधिक उन कार्यों को करते हैं, और परिणामस्वरूप, उनके पास आवश्यकता से अधिक पुण्य-फल हो जाते हैं, जिसे दूसरों के लाभ के लिए हस्तांतरित किया जा सकता है। उस चर्च की भ्रष्टताओं की बढ़ोत्तरी में, यह सिखाया और विश्वास किया जाता था, कि सिद्धता के नियम को मानने वाले लोगों के भले कार्यों में से आने वाले कर्तव्य से अधिक कार्यों का पूरा भंडार, पोप के प्रबंधन में समर्पित होता है, उसकी इच्छा के अनुसार बांटा जाता है, और जैसा उसे अच्छा लगता है, चर्च के अन्य सदस्यों के पापों एवं कमजोरियों के हिसाब से इनका वितरण किया या क्षमा दी जा सकती है। पोप में निवेशित की गई इस मनमर्जी वाली शक्ति के बहुत अधिक दुरुपयोग ही, धर्म-सुधार या रिफॉर्मेशन के तत्काल कारण थे।[94]

[94] Hill's *Lectures in Divinity*, vol. ii., p. 302.

ईश्वर-निन्दा के इस सिद्धांत के विरोध में, प्रोटेस्टेंट लोगों ने माना कि पवित्रशास्त्र में इस बात का थोड़ा भी आधार नहीं है जिसे रोमन कैथोलिक चर्च ने 'सिद्धता के नियम' कहा। यह उन आज्ञाओं की प्रकृति से स्पष्ट है जो सभी मनुष्यों पर लागू होते हैं। हमसे अपेक्षा की गई है कि हम 'प्रभु अपने परमेश्वर से अपने सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण प्राण, सम्पूर्ण शक्ति तथा सम्पूर्ण बुद्धि से प्रेम करें; तथा अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम करें' (लूका 10:27)। इन दो आज्ञाओं में जो कहा गया है, उससे अधिक और क्या विचार किया जा सकता है? अज्ञानी एवं स्वयं को धर्मी मानने वालों के व्यर्थ विचारों के अतिरिक्त, कर्तव्यों से अधिक कार्यों का कोई अस्तित्व नहीं है। सबसे उत्तम संत लोग भी अपने कर्तव्य के माप से इतने दूर होते हैं, कि वे उस कार्य को करने में बहुत पीछे रह जाते हैं जिसे करने के लिए वे बाध्य हैं। 'हम सब कई बातों में चूक जाते हैं।' 'यदि हम कहें कि हम में पाप नहीं, तो अपने आप को धोखा देते हैं, और हम में सत्य नहीं है' (याकूब 3:2; 1 यूहन्ना 1:8)। हमारे उद्धारकर्ता ने हमें प्रतिदिन यह प्रार्थना करनी सिखाई है कि हमारे अपराध क्षमा हो सके; जो अनिवार्य रूप से यह बताता है कि हम हर दिन चूक जाते हैं।

भाग 5

हम अपने सबसे भले कार्यों के द्वारा, परमेश्वर के हाथों से पापों की क्षमा, या अनन्त जीवन को कमा नहीं सकते हैं, क्योंकि उनके और आने वाली महिमा के बीच बहुत बड़ा अंतर है, और उस असीम दूरी के कारण जो हमारे एवं परमेश्वर के बीच में है, जिनसे उनके द्वारा हम न तो लाभ पा सकते हैं, और न ही अपने पिछले पापों के ऋण के लिए प्रायश्चित कर सकते हैं (रोमियों 3:20; 4:2, 4, 6; इफिसियों 2:8 – 9; तीतुस 3:5 – 7; रोमियों 8:18; भजन संहिता 16:2; अय्यूब 22:2 – 3; 35:7 – 8); परन्तु जब हम उन सभी कार्यों को जिन्हें हम कर सकते हैं पूरा कर लेते हैं, तो

हम केवल अपना कर्तव्य पूरा करते हैं, और हम निकम्मे दास हैं (लूका 17:10); और क्योंकि वे भले कार्य हैं, वे उसके आत्मा से निकलते हैं (गलातियों 5:22 – 23); और जब वे हमारे द्वारा पूरे किए जाते हैं, तो वे दुर्बलता और दोष से इतने अधिक दूषित एवं मिश्रित होते हैं कि वे परमेश्वर के न्याय की गम्भीरता के समक्ष ठहर नहीं सकते हैं (यशायाह 64:6; गलातियों 5:17; रोमियों 7:15, 18; भजन संहिता 143:2; 130:3)।

व्याख्या

यह भाग भी रोमन कैथोलिक चर्च की गलत शिक्षा के विरोध में है, जो यह सिखाता है कि संतों के भले कार्य अनन्त जीवन के लिए पुण्य-वान हैं।[95] कि हम, अपने सबसे भले कार्यों के द्वारा, परमेश्वर के हाथों से पापों की क्षमा, या अनन्त जीवन को नहीं कमा सकते हैं, यह निम्न विचारों से प्रगट होता है:

(1) हमारे उद्धारकर्ता ने कहा है (लूका 17:10), कि जब हम वे सब कार्य कर लेते हैं जिनकी आज्ञा हमें दी गई है, तो हम अयोग्य दास है, हमने तो केवल वही किया है जो हमारा कर्तव्य था।

---

[95] रोमन कैथोलिक धर्म-विज्ञानियों ने मेरिटम डे कॉनग्रुओ (*meritum de congruo*) – अर्थात उपयुक्तता का गुण, और मेरिटम डे कॉनडिग्नो (*meritum de condigno*) – अर्थात योग्यता का गुण, के विषय में बात की। पहले वाले से उनका अर्थ था धर्मी ठहराए जाने से पहले किए गए भले कामों का मूल्य; जिसके लिए परमेश्वर का अपने अनुग्रह को उनमें उड़ेल कर इनाम देना उचित या उपयुक्त माना जाता था। दूसरे वाले से उनका अर्थ था धर्मी ठहराए जाने के बाद, उँडेले गए अनुग्रह के कारण किए गए भले कामों का मूल्य। हालाँकि ये काम परमेश्वर के अनुग्रह से किए जाते थे, फिर भी माना जाता था कि उनमें ऐसा आंतरिक मूल्य है जिसके लिए इनाम मिलना चाहिए; और जिसके बदले अनन्त जीवन उनको मिलना ही चाहिए, जितना किसी नौकर को उसके द्वारा कमाए गए वेतन के रूप में मिलता है – Hill's *Lectures,* vol. ii., p. 301.

(2) हमारे सबसे भले कार्य परमेश्वर के लिए कोई लाभकारी नहीं हो सकते, और इसलिए उसके हाथ से हम कोई भी लाभ नहीं पा सकते (भजन 16:2)।

(3) हमारे सभी कार्य, जब वे भले हैं, तो अनुग्रह की आत्मा के सर्वशक्तिमान परमेश्वर से निकलते हैं (फिलिप्पियों 2:13) ; और चूंकि वे स्वयं हमारे *सामर्थ्य* से नहीं किए जाते हैं, इसलिए वे कोई पुरस्कार नहीं कमा सकते।

(4) हमारे सबसे भले कार्य, जब वे हमारे द्वारा किए जाते हैं, उनमें पाप का ऐसा मिश्रण होता है, कि, वे परमेश्वर के हाथ से कुछ प्राप्त के बजाए, परमेश्वर के दण्ड की गम्भीरता को नहीं सह सकते (भजन संहिता 143:2)।

(5) हमारे सबसे भले कार्य अनन्त जीवन के अनमोल वरदान के आगे कुछ भी नहीं हैं (2 कुरिन्थियों 4:17); इसलिए, पुरस्कार को 'कर्ज के रूप में नहीं, बल्कि अनुग्रह के रूप में' दिखाया गया है; और हमें 'अनन्त जीवन के लिए प्रभु यीशु मसीह की *दया* की बाट जोहते रहने' (यहूदा 21) के लिए निर्देशित किया गया है।

भाग 6

फिर भी, ख्रीष्ट के द्वारा विश्वासियों के व्यक्ति को स्वीकार किए जाने पर, उनके भले कार्य भी उसमें स्वीकार किए जाते हैं (उत्पत्ति 4:4 के साथ इब्रानियों 11:4; निर्गमन 28:38; इफिसियों 1:6; 1 पतरस 2:5), इसलिए नहीं कि वे इस जीवन में परमेश्वर की दृष्टि में पूर्ण रूप से निष्कलंक एवं ताड़ना योग्य नहीं हैं (अय्यूब 9:20; भजन संहिता 143:2); परन्तु यह कि वह, अपने पुत्र में उन पर दृष्टि करने के द्वारा, जो कुछ सच्चे हृदय में से है, उसे स्वीकार करने और पुरस्कृत करने में प्रसन्न होता है, यद्यपि वे कई दुर्बलताएँ एवं दोष के साथ होते हैं (मत्ती 25:21, 23; 2 कुरिन्थियों 8:12; इब्रानियों 6:10; 13:20 – 21)।

व्याख्या

यह भाग हमें सिखाता है कि विश्वासियों के भले कार्य, भले ही पुण्य-योग्य न हों, फिर भी ख्रीष्ट के माध्यम से, परमेश्वर उन्हें स्वीकार करता है। यहाँ पर केवल दो टिप्पणियाँ को पेश करना आवश्यक है।

पहला, इससे पहले कि आज्ञाकारिता के हमारे कार्य परमेश्वर को स्वीकार हो सकें, हम एक व्यक्ति के रूप में उसे स्वीकृत होने चाहिए। 'यहोवा ने हाबिल और उसकी भेंट को तो ग्रहण किया' (उत्पत्ति 4:4)। उसकी भेंट स्वीकार करने में, परमेश्वर ने गवाही दी कि वह उसे एक व्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है; अर्थात, परमेश्वर उसे धर्मी मानता और ठहराता है (इब्रानियों 11:4)।

दूसरा, कि हमारे सबसे भले कार्यों को वैसे ही स्वीकार नहीं किया जाता जैसे कि वे हमारे हैं, बल्कि केवल ख्रीष्ट की योग्यता और मध्यस्थता के कारण ही स्वीकार किया जाता है। जैसे हमारे व्यक्ति 'प्रिय पुत्र में स्वीकार' किए जाते हैं, वैसे ही हमारे कार्य भी 'यीशु मसीह के द्वारा परमेश्वर ग्राह्य हैं' (1 पतरस 2:5)।

भाग 7

नया जन्म रहित मनुष्यों के द्वारा किए गए कार्य, यद्यपि उनका सार ऐसे कार्य हो सकते हैं जिनकी आज्ञा परमेश्वर देता है, और स्वयं उनके और दूसरों के लिए वे लाभदायक हो सकते हैं (2 राजा 10:30 – 31; 1 राजा 21:27, 29; फिलिप्पियों 1:15 – 16, 18); फिर भी क्योंकि वे विश्वास के द्वारा पवित्र किए गए हृदय से नहीं निकलते हैं (उत्पत्ति 4:5; इब्रानियों 11:4, 6), और न ही परमेश्वर के वचन के अनुसार, वे सही रीति से किए जाते हैं (यशायाह 1:12; 1 कुरिन्थियों 13:3), और न ही सही उद्देश्य से, अर्थात परमेश्वर की महिमा के लिए किए जाते हैं (मत्ती 6:2, 5, 16); इसलिए वे पापमय हैं, और परमेश्वर को प्रसन्न नहीं कर सकते हैं, और न ही वे मनुष्य को परमेश्वर से अनुग्रह प्राप्त करने के लिए योग्य बनाते हैं

(आमोस 5:21 – 22; होशे 1:4; हाग्गै 2:14; रोमियों 9:16; तीतुस 1:15; 3:5)। और फिर भी उन कार्यों के प्रति उनकी उपेक्षा अधिक पापपूर्ण है तथा परमेश्वर को अप्रसन्न करती है (भजन संहिता 14:4; 36:3; अय्यूब 21:14 – 15; मत्ती 25:41 – 45; 23:23)।

व्याख्या

यह भाग फिर से रोमन कैथोलिक चर्च की गलत शिक्षाओं के विरुद्ध लिखा गया है। उस चर्च के लेखक मानते हैं कि बिना मन फिराए हुई स्थिति में मनुष्यों के कार्य इतने पवित्र हो सकते हैं कि वे सभी पापों से मुक्त हों, और परमेश्वर के हाथ से वह पुण्य कमाए जिसे वे समरूपता के पुण्य-कार्य (merit of congruity) कहते हैं। हमने पहले भले कार्यों के सम्बन्ध में एक अंतर बताया है, जिस पर यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है। कोई कार्य *भौतिक रूप से* भला हो सकता है, और फिर भी *औपचारिक रूप से* नहीं। प्रार्थना करना, परमेश्वर के वचन को पढ़ना और सुनना, गरीबों को दान देना, भौतिक रूप से भले कार्य हैं; परन्तु जब तक ये कार्य उन मनुष्यों द्वारा नहीं किए जाते जिन्हें 'प्रिय पुत्र में स्वीकार किया गया है', और 'ख्रीष्ट यीशु में नया बनाया गया है' - जब तक वे उचित सिद्धांत से नहीं निकलते, उचित रीति से नहीं किए जाते, और उचित उद्देश्य के लिए निर्देशित नहीं होते हैं, वे औपचारिक रीति से भले कार्य नहीं हैं। अब, बिना नया जन्म पाए मनुष्य बहुत से ऐसे कार्य कर सकते हैं जो अपने आप में भले हों, क्योंकि वे ऐसे कार्य हैं जिनकी आज्ञा परमेश्वर देता है, और जो उनके लिए और दूसरों के लिए अच्छे लाभ की हों; परन्तु, जैसे कि ये कार्य उनके द्वारा किए गए हैं, वे उन सभी बातों से रहित है जो किसी कार्य को परमेश्वर की दृष्टि में भला और ग्रहण-योग्य बनाते हैं। प्रेरित पौलुस की घोषणा स्पष्ट है: जो शारीरिक हैं, वे परमेश्वर को प्रसन्न नहीं कर सकते (रोमियों 8:8)। *शरीर में होने* का अर्थ है, प्राकृतिक, भ्रष्ट, बिगड़ी हुई दशा में होना; और, जैसा कि एक प्रदूषित सोता स्वच्छ जल नहीं दे सकता, और न ही एक बुरा पेड़ अच्छा

फल लाता है, उसी रीति से जो शरीर में हैं कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकते जो आत्मिक रीति से भला एवं परमेश्वर को ग्रहण-योग्य हो। परमेश्वर को प्रसन्न करने, और उससे अनुग्रह प्राप्त करने के लिए इन कार्य को संतोषजनक बनाने के बजाए, बिना नया जन्म प्राप्त मनुष्यों के सभी कार्य पापमय होते हैं, और इसलिए परमेश्वर के क्रोध और अभिशाप के लायक होते हैं।

> 'सभी मन न फिराये मनुष्यों को पवित्रशास्त्र में पापी, या अपराध के करने वाले कहा गया है (भजन 53:4); और उनके कार्य, उनके स्वयं के लिए या दूसरों के लिए चाहे कितने भी लाभकारी क्यों न हों, फिर भी, वे सभी कार्य असीम रूप से पवित्र परमेश्वर के खाते में, पापों के रूप में दिखाए जाते हैं (नीतिवचन 21:4); क्योंकि यद्यपि उनमें से कई *भौतिक रूप से* भले हो सकते हैं, फिर भी वे *सभी औपचारिक रूप से* बुरे हैं, और इसलिए वे उसकी दृष्टि में घृणित हैं' (नीतिवचन 15:8)।[96]

फिर भी, इसका यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए, कि बिना नया जन्म पाए मनुष्य परमेश्वर द्वारा दिए गए किसी भी कर्तव्य को नजरअंदाज करते हुए जी सकते हैं। उदाहरण के लिए, हालाँकि उनकी प्रार्थनाएं परमेश्वर को स्वीकार्य नहीं हो सकती, फिर भी उनके द्वारा प्रार्थना को नजरअंदाज करना परमेश्वर को अधिक पापपूर्ण और क्रोधित करने वाला होगा। इस लापरवाही को पवित्रशास्त्र में हमेशा ही बहुत ही आपराधिक माना गया है: 'दुष्ट अपने अभिमान के कारण परमेश्वर की खोज नहीं करता' (भजन संहिता 10:4)। और चूंकि यह उनका पाप है, इसलिए परमेश्वर का क्रोध उन पर बरसता है: 'उन जातियों पर अपना कोप उण्डेल जो तुझे नहीं जानती; और उन परिवारों पर जो तुझ से प्रार्थना नहीं करते' (यिर्मयाह 10:25)।

---

[96] Colquhoun's *Treatise on the Law and the Gospel*, p. 333.

इस अध्याय के अंत में, हम अपने पाठकों को समझाना चाहेंगे, कि सुसमाचार 'परमेश्वर-भक्ति हेतु एक सिद्धांत है'। 'क्योंकि परमेश्वर का अनुग्रह तो सब मनुष्यों के उद्धार के लिए प्रकट हुआ है; वह हमें सिखाता है कि, हम अभक्ति और सांसारिक अभिलाषाओं का इनकार कर के इस युग में संयम, धार्मिकता और भक्ति से जीवन बिताएं।' केवल सबसे निंदनीय अज्ञानता, या सत्य के विरुद्ध सबसे पक्की शत्रुता ही लोगों को सुसमाचार और नैतिकता को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने, या यह आरोप लगाने के लिए उकसा सकती है कि अनुग्रह का सिद्धांत अनैतिकता की ओर ले जाता है। ऐसे मनुष्य नहीं जानते हैं कि वे क्या कहते हैं, और न ही वे किस बात को मानते हैं। सुसमाचार के सिद्धांतों पर नैतिकता को सिखाकर ही हम इसे सबसे दृढ़ आधार पर स्थापित करते हैं। 'तो क्या हम विश्वास के द्वारा व्यवस्था को विफल करते हैं? परमेश्वर ऐसा न करे: इसके विपरीत, हम व्यवस्था को दृढ़ करते हैं।' हालाँकि भले कार्यों को उद्धार के मामले में कोई भी पुण्य-कार्य का प्रभाव डालने से बाहर रखा गया है, फिर भी जैसा कि हमने देखा है, वे बेहद आवश्यक हैं, और कई मूल्यवान उद्देश्यों को पूरा करते हैं। इसलिए, जो लोग 'ख्रीष्ट का नाम लेते हैं', उन सभी को 'भले कार्यों में फलदायी' होना चाहिए, ताकि वे सत्य के विरोधियों का चुप करा सकें, अपने प्रभाव के क्षेत्र में सभी को धर्म का परामर्श दे सकें, अपने पिता की जो स्वर्ग में महिमा कर सकें, और अपने सांत्वना और आनन्द को बढ़ा सके।

अध्याय 17

संतों का अंत तक दृढ़ बने रहना

(Perseverance of the Saints)

भाग 1

वे लोग जिन्हें परमेश्वर ने अपने प्रिय पुत्र में स्वीकार किया है, उसके आत्मा के द्वारा प्रभावशाली रीति से बुलाए गए एवं पवित्र किए गए हैं, वे न तो पूर्ण रूप से और न अंततः अनुग्रह की अवस्था से हटाए जाएंगे परन्तु निश्चित रूप से अंत तक उसमें दृढ़ता से बने रहेंगे, और सदा के लिए बचा लिए जाएंगे (फिलिप्पियों 1:6; 2 पतरस 1:10; यूहन्ना 10:28 – 29; 1 यूहन्ना 3:9; 1 पतरस 1:5, 9)।

भाग 2

संतों का अंत तक दृढ़ता से बने रहना उनकी स्वयं की स्वतंत्र इच्छा पर नहीं, परन्तु चुनाव के परमेश्वर के विधान की अपरिवर्तनीयता पर निर्भर करता है, जो परमेश्वर पिता के स्वतंत्र एवं अपरिवर्तनीय प्रेम से प्रवाहित होता है (2 तीमुथियुस 2:18 – 19; यिर्मयाह 31:3); यीशु ख्रीष्ट की योग्यता और मध्यस्थता की प्रभावकारिता पर (इब्रानियों 10:10, 14; 13:20 – 21; 9:12 – 15; रोमियों 8:33 – 39; यूहन्ना 17:11, 24; लूका 22:32; इब्रानियों 7:25); उनमें आत्मा और परमेश्वर के बीज का वास होने पर (यूहन्ना 14:16 – 17; 1 यूहन्ना 2:27; 3:9); और अनुग्रह की वाचा की प्रकृति पर निर्भर होता है (यिर्मयाह 32:40); इन सबसे उसकी

निश्चितता और अचूकता भी उत्पन्न होती है (यूहन्ना 10:28; 2 थिस्सलुनीकियों 3:3; 1 यूहन्ना 2:19)।

भाग 3

फिर भी वे, शैतान एवं संसार की परीक्षाओं के कारण, उनमें बची हुई व्याप्त भ्रष्टता के कारण, और अपने बचाव के साधनों की उपेक्षा के कारण, भयंकर पापों में पड़ सकते हैं (मत्ती 26:70, 72, 74); और कुछ समय के लिए उसमें बने रह सकते हैं (भजन संहिता 51:14): जिसके कारण वे परमेश्वर की अप्रसन्नता को अपने ऊपर लाते हैं (यशायाह 64:5, 7, 9; 2 शमूएल 11:27), और उसके पवित्र आत्मा को दुःखी करते हैं (इफिसियों 4:30); कुछ हद तक अपने अनुग्रहों एवं शांति से वंचित हो सकते हैं (भजन संहिता 51:8, 10, 12; प्रकाशितवाक्य 2:4; श्रेष्ठगीत 5:2 – 4, 6); अपने हृदय को कठोर बना सकते हैं (यशायाह 63:17; मरकुस 6:52; 16:14), और उनका विवेक घायल हो सकता है (भजन संहिता 32:3 – 4; 51:8); दूसरों को चोट पहुँचा एवं उन्हें बदनाम कर सकते हैं (शमूएल 12:14), और स्वयं के ऊपर सांसारिक दण्ड ला सकते हैं (भजन संहिता 89:31 – 32; 1 कुरिन्थियों 11:32)।

व्याख्या

संतों का अंत तक दृढ़ता से बने रहना उन सिद्धांतों में से एक है, जिसके आधार पर केल्विन (Calvin) के अनुयायियों का विश्वास-कथन आर्मिनियस (Arminius) के अनुयायियों के विश्वास-कथन से अलग है। आर्मीनियन लोग मानते हैं कि सच्चे विश्वासी ऐसे पापों में गिर सकते हैं जो कि अनुग्रह की स्थिति के विरुद्ध है, और जीवन के अंत तक विश्वास से विमुख बने रह सकते हैं, और परिणामस्वरूप अंततः नरक में नाश हो सकते हैं। रोम का चर्च भी खुले तौर पर इसी सिद्धांत का समर्थन करता है;

क्योंकि ट्रेंट की धर्म-सभा ने यह आज्ञा दी है, कि 'यदि कोई व्यक्ति यह कहता है, कि जो मनुष्य धर्मी ठहराया जा चुका है वह अपने अनुग्रह को नहीं खो सकता, और इसलिए, जो व्यक्ति गिरता है और पाप करता है वह कभी वास्तव में धर्मी नहीं ठहराया गया था, - तो यह कहने वाला व्यक्ति शापित होगा।'[97] इस सिद्धांत के विरोध में, हमारा अंगीकार-कथन यह पुष्टि करता है, कि सच्चे विश्वासी 'न तो पूर्ण रूप से और न अंततः अनुग्रह की अवस्था से हटाए जाएंगे परन्तु निश्चित रूप से अंत तक उसमें दृढ़ता से बने रहेंगे, और सदा के लिए बचा लिए जाएंगे'। इस कथन में भाषा की पुनरावृत्ति प्रतीत हो सकती है; क्योंकि, यदि विश्वासी पूरी रीति से नहीं गिर सकते, तो इसका सीध अर्थ है कि वे अंततः भी नहीं गिर सकते। हालाँकि, दोनों शब्दों का प्रयोग पूरे औचित्य के साथ किया गया है।

> 'इनका उद्देश्य आर्मीनियन लोगों के सिद्धांत का विरोध करना है, जो दावा करते हैं, कि यद्यपि संत लोग अनुग्रह से पूरी रीति से गिर सकते हैं, फिर भी पश्चाताप के द्वारा उसे बहाल किया जा सकता है। परन्तु चूंकि यह अनिश्चित है, और सदैव नहीं होता है, इसलिए हो सकता है कि वह अन्ततः भी गिर जाए, और अपने पापों में ही मर जाए। अब हम दृढ़तापूर्वक दावा करते हैं, कि विश्वासियों का धर्म-त्याग करना असम्भव है, - यह वस्तुओं की प्रकृति के कारण नहीं, बल्कि परमेश्वर के विधान के कारण है; और, परिणामस्वरूप, कि कोई भी मनुष्य जिसने एक बार परमेश्वर के अनुग्रह को पा लिया है, वह अन्ततः उद्धार से वंचित नहीं किया जा सकता।'[98]

संतों का अन्त तक विश्वास में दृढ़ता से बने रहने के सिद्धांत को स्पष्ट करने और इसके विरोध में उठाई गई आपत्तियों का निवारण करने के उद्देश्य से,

---

[97] *Decret. Of Justificatione*, canon xxiii.

[98] Dick's *Lectures on Theology*, vol. iii. P. 516.

हम निम्न टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते हैं, जो हमारे अंगीकार-कथन के कई प्रस्तावों में समाहित मिलेंगे:

(1) *अंत तक दृढ़ता से विश्वास में बने रहने का विशेषाधिकार केवल सच्चे विश्वासियों को ही प्राप्त है।* हमारे अंगीकार-कथन में यह विशेषाधिकार केवल उन लोगों तक सीमित है 'जिन्हें परमेश्वर ने अपने प्रिय पुत्र में स्वीकार किया है, उसके आत्मा के द्वारा प्रभावशाली रीति से बुलाए गए एवं पवित्र किए गए हैं।' दृश्यमान कलीसिया में ऐसे अनेक लोग हैं जो केवल नाममात्र के मसीही हैं। वे केवल बाहरी रीति से मसीही धर्म को स्वीकार करने के आधार पर कलीसिया से जुड़े हुए हैं; परन्तु वे अनुग्रह के आत्मा और एक जीवित विश्वास के द्वारा कलीसिया के सिर या प्रमुख से जुड़े हुए नहीं हैं। वे भक्ति का रूप तो धारण करते हैं, परन्तु इसकी सामर्थ्य से अनजान हैं। उनके पास जीने के लिए एक नाम हो सकता है, परन्तु वे आत्मिक रूप से मृत हैं। अब, यह बात सहज है कि ऐसे नाममात्र के मसीही लोग अंततः विश्वास से हट सकते हैं। उन्होंने वास्तव में परमेश्वर के अनुग्रह को नहीं जाना था, और किसी कठिन परीक्षा के समय, वे खुलेआम विश्वास से मुकर कर अपने वास्तविक चरित्र को उजागर कर सकते हैं। उनके पास मसीही धर्म का बहुत शानदार अंगीकार हो सकता है, और उनमें असाधारण वरदान भी हों, और इस रीति से वे स्वयं को धोखा देते हों और दूसरों को भ्रम में भी डालते हों; लेकिन उनके भीतर हृदय में 'सच्चे विश्वास की जड़' नहीं थी। और हम निश्चित रूप से उन लोगों के विषय में जो पूरी रीति से और अंततः विश्वास से मुकर गए हैं, यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि वे वास्तव में कभी भी 'ख्रीष्ट में जड़ जमाए और स्थापित' नहीं थे। ऐसे मनुष्यों के विषय में प्रेरणा प्राप्त प्रेरित यह घोषणा करता है: 'वे निकले तो हम ही में से, परन्तु वास्तव में हम में से नहीं थे: क्योंकि यदि वे हम में से होते तो हमारे साथ रहते; परन्तु वे निकल इसलिए गए कि यह प्रकट हो जाए कि वे सब हम में से नहीं हैं' (1 यूहन्ना 2:19)।

यह बात हमें पवित्रशास्त्र में वर्णित विश्वास को त्यागने के अनेक उदाहरणों की व्याख्या करने में समर्थ बनाती है, जो संतों के अंत तक दृढ़ बने रहने के साथ पूर्णतः मेल खाती है। वचन को सुनने वाले जो पथरीली भूमि जैसे हैं, जो वचन को आनन्द से ग्रहण करते हैं, और बाद में विश्वास से मुकर जाते हैं – उनके विषय में स्पष्टता से कहा गया है कि उनमें कोई जड़ नहीं होती और इसलिए वे कुछ समय के लिए ही विश्वास में बने रहते हैं (मत्ती 13:21)। इब्रानियों 6:4 – 6 में, कुछ लोगों के विषय में कहा गया है कि वे ज्योति पा चुके हैं, और स्वर्गिक वरदान का स्वाद चख चुके हैं, तथा पवित्र आत्मा के भागी बनाए गए हैं, और परमेश्वर के उत्तम वचन का तथा आने वाले युग की सामर्थ्य का स्वाद चख चुके हैं, और फिर भी सम्भावना व्यक्त की गई है कि वे विश्वास से भटक सकते हैं और फिर कभी भी उन्हें पुनःस्थापित नहीं किया जा सकेगा। परन्तु यह स्पष्ट है, कि उनके विषय में कही गई बड़ी-बड़ी बातों के बावजूद, उनमें अनुग्रह की सच्चाई कभी नहीं थी; क्योंकि इस से भी उत्तम बातें, अर्थात उद्धार से सम्बन्धित बातों का निश्चय है (पद 9) जो उनके द्वारा प्राप्त की गई बातों के विपरीत हैं। उन लोगों का उल्लेख दूसरे प्रेरित ने किया है (2 पतरस 2:20), ऐसे लोग जो संसार की अशुद्धताओं से बच निकले थे, और फिर उन में फंस कर हार गए, स्पष्ट है कि उनके अशुद्ध स्वभाव में कभी कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं हुआ था, भले ही बाहरी रूप से उनमें सुधार था। ऐसे उदाहरण, या विश्वास का केवल मुंह से अंगीकार करने वाले जैसे कि हिरमुगिनेस, फुगिलुस और दिमास, सच्चे संतों के अंत तक दृढ़ बने रहने के सिद्धांत को थोड़ा भी अमान्य नहीं ठहराते हैं।

यहाँ यह टिप्पणी की जा सकती है, कि जिस प्रकार अंत तक दृढ़ बने रहने का विशेषाधिकार केवल सच्चे विश्वासियों तक ही सीमित है, उसी प्रकार यह उनमें से प्रत्येक पर लागू होना चाहिए। यदि उनमें से कोई एक भी खो जाए, तो इससे पूरी कलीसिया के सुख की नींव ही हिल जाएगी; क्योंकि तब सभी विश्वासियों की स्थिति असुरक्षित हो जाएगी। न केवल

उन लोगों की जिनमें अनुग्रह का उच्च स्तर है, बल्कि उन सब का जिनमें सच्चा अनुग्रह है, भले ही वह राई के दाने के समान हो – न केवल शक्तिशाली एवं समृद्ध, बल्कि ऐसे भी जो 'कुचले हुए नरकट और टिमटिमाती हुई बत्ती' के समान हैं, वे भी 'अपने विश्वास के मार्ग में डटे रहने' के लिए समर्थ किए जाएंगे, और अधिक से अधिक बलशाली होते जाएंगे। यही कारण सभी विश्वासियों के अंत तक दृढ़ बने का आधार है, उन सभी के लिए जिन्होंने 'समान अनमोल विश्वास को प्राप्त किया है'; और या तो हमें इस बात को विश्वासियों के विशेषाधिकार की सूची में से पूरी रीति से मिटा देना चाहिए, या फिर यह मानना चाहिए कि यह उनमें से हर एक पर लागू होता है।

(2) संतों का अंत तक दृढ़ बने रहना *उनकी अपनी अंतर्निहित शक्ति, या उन्हें पहले से प्राप्त अनुग्रह की किसी भी मात्रा के कारण नहीं होता, परन्तु पूर्णतः परमेश्वर के अनुग्रह के कारण होता है*। हम सहर्ष स्वीकार करते हैं, कि वे अपने आप में अत्यंत दुर्बल हैं, और उन असंख्य एवं भयानक शत्रुओं का सामना करने में पूर्णतः असमर्थ हैं, जो उनके विरुद्ध एकजुट हो गए हैं; जैसे कि शैतान, संसार और उनके अपने हृदयों की भ्रष्टताएं। यदि उन्हें उनकी ही शक्ति पर उनके आत्मिक शत्रुओं से जूझने के लिए छोड़ दिया जाए, तो वे आसानी से हार जाएंगे। यदि उनका अंत तक दृढ़ बने रहना उनके अपने संकल्प पर निर्भर होता, तो उनका विश्वास शीघ्र ही डगमगा जाता। पतरस के मामले में यह विनम्र कर देने वाला सत्य कितनी स्पष्टता से सामने आता है! उसने पूरे विश्वास के साथ कहा: 'चाहे सब के सब तेरे कारण ठोकर खाएं, पर मैं कभी नहीं खाऊँगा' ... 'चाहे मुझे तेरे साथ मरना भी पड़े, मैं तेरा इनकार नहीं करूँगा' (मत्ती 26:33, 35)। लेकिन कितनी जल्दी उसका साहस डगमगा गया! कितनी जल्दी उसका भला संकल्प भुला दिया गया, और हव्वा में उड़ा दिया गया! उसने अपनी ही शक्ति पर बहुत अधिक भरोसा किया, और अंत में उसे अपनी कमजोरी का एहसास हुआ। उसे परीक्षा के लिए लाया गया, और उसका कथित सामर्थ्य पूरी रीति से समाप्त हो गया। वह एक नौकरानी का स्वर सुनकर

घबरा गया, और उसने भयंकर अपशब्द एवं हृदयहीन अभिशाप के साथ अपने प्रभु का इनकार कर दिया। दिव्य उद्धारकर्ता की प्रबल प्रार्थना, और सम्भालने वाले अनुग्रह के अतिरिक्त और क्या था, जिसने उसे – यहूदा के समान – विश्वास से मुकरने वाले एक विश्वासघाती बनने से रोक दिया! परन्तु यदि विचार किया जाए, तो संतों में सर्वश्रेष्ठ लोग ऐसे ही होते हैं। जैसे कि हमारा अंगीकार-कथन कहता है, उनका विश्वास में अंत तक दृढ़ बने रहना 'उनकी स्वयं की स्वतंत्र इच्छा पर नहीं होता'। उनमें उनके विरुद्ध एकजुट हुए शक्तिशाली शत्रुओं का सामना करने और उन पर विजय पाने की अपनी कोई शक्ति नहीं है; और वे तब सबसे अधिक सुरक्षित होते हैं, जब वे अपनी दुर्बलता के प्रति सबसे अधिक सचेत होते हैं और परमेश्वर के अनुग्रह पर पूर्ण रूप से निर्भर होते हैं – क्योंकि 'जब वे निर्बल होते हैं, तभी वे बलवन्त होते हैं'।

(3) संतों का अंत तक दृढ़ बने रहना *उन्हें आंशिक रूप से पाप में गिरने से सुरक्षित नहीं करता, परन्तु पूर्णतः और अंततः विश्वास से मुकर जाने से सुरक्षित रखता है*। हमारा अंगीकार-कथन स्वीकार करता है, कि विश्वासी लोग 'शैतान एवं संसार की परीक्षाओं के कारण, उनमें बची हुई व्याप्त भ्रष्टता के कारण, और अपने बचाव के साधनों की उपेक्षा के कारण, भयंकर पापों में पड़ सकते हैं; और कुछ समय के लिए उसमें बने रह सकते हैं'। यह चेतावनी जो उस मनुष्य को दी गई है जो 'यह सोचता है कि वह स्थिर खड़ा है, कि वह सावधान रहे, कहीं ऐसा न हो कि वह गिर जाए,' और संतों की वे उत्कट प्रार्थनाएँ कि परमेश्वर 'उन्हें गुप्त दोषों से शुद्ध करेगा, और उन्हें ढिठाई वाले पापों से बचाए रखेगा,' यह दिखाती है कि यद्यपि संतों में से कोई भी जन परमेश्वर के अनुग्रह की स्थिति से गिर नहीं सकता, फिर भी वे बहुत बड़े पापों में पड़ सकते हैं। और पवित्रशास्त्र सबसे श्रेष्ठ संतों में आंशिक पतन के कई उदाहरणों को पेश करता है।

धैर्यवान अय्यूब ने अपने जन्म के दिन को धिक्कारा। मूसा जो कि 'पृथ्वी भर के रहने वाले सब मनुष्यों से बहुत अधिक नम्र स्वभाव का था' – उसने

भी अपने होंठों से बिना सोचे-समझी बातें कहीं। दाऊद, ऐसा व्यक्ति जो परमेश्वर के मन के अनुसार था, वह एक अत्यन्त जघन्य और जटिल पाप का दोषी था। सुलैमान, भले ही मनुष्यों में सबसे अधिक बुद्धिमान था, 'उसने वह किया जो यहोवा की दृष्टि में बुरा था, और अपने पिता दाऊद के समान पूरे मन से यहोवा के पीछे नहीं चला।' पतरस, जो एक साहसी और उत्साही शिष्य था, उसने अपने प्रभु का सबसे घोर रीति से इनकार किया। परन्तु, भले ही सच्चा संत कितना भी नीचे क्यों न गिरे, इतना नीचे कि स्वयं उन्हें और दूसरों को उनके फिर से सम्भलने की बहुत कम आशा हो, फिर भी वे पूरी रीति से छोड़े नहीं जाएंगे; क्योंकि प्रभु का हाथ उन्हें अब भी कुछ हद तक थामें रहता है। 'जब भला मनुष्य गिरे तो सिर के बल पछाड़ नहीं खाएगा, क्योंकि यहोवा स्वयं ही उसका हाथ थामे रहता है' (भजन संहिता 37:24)। 'धर्मी चाहे सात बार गिरे, फिर भी उठ खड़ा होगा' (नीतिवचन 24:16)। यद्यपि दाऊद बहुत ही गम्भीर पापों में गिर गया था, और ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक नातान नबी ने उसे नहीं जगाया तब तक वह घोर असंवेदनशील अवस्था में पड़ा हुआ था, फिर भी यह स्पष्ट है कि परमेश्वर के आत्मा द्वारा उसके हृदय में जो कार्य किया गया था, उसे उसने पूरी रीति से नहीं खोया था। क्योंकि बाद में हम उसे यह प्रार्थना करते हुए सुनते हैं: 'मुझे अपने सामने से निकाल न दे, और अपने पवित्र आत्मा को मुझ से अलग न कर' (भजन 51:11)। जिसका अर्थ यह है कि उस समय उसे परमेश्वर की उपस्थिति का कुछ अनुभव था, और कि पवित्र आत्मा ने उसे कभी भी पूरी रीति से नहीं छोड़ा था। जब सुलैमान के विषय में यह कहा जाता है, कि 'जैसे उसका पिता दाऊद पूरी रीति से यहोवा के पीछे चलता था वैसे वह न चला' (1 राजा 11:6), तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके भटकने को उसके पहले उत्साह में आई कमी के रूप में समझा जाना चाहिए, और न कि पूर्णतः एवं अंततः विश्वास त्यागने के रूप में। परमेश्वर, जो अब भी उसका पिता था, उसने उसे 'मनुष्यों के योग्य दण्ड से और मनुष्यों की मार से ताड़ना दी'; परन्तु उसने कभी भी 'अपनी करुणा

को उस पर से न हटाया' (2 शमूएल 7:14, 15)। पतरस को भी उसके दुखद पतन से उबारा गया। जब 'ख्रीष्ट ने मुड़कर पतरस को देखा, वह बाहर जाकर फूट-फूटकर रोया' (लूका 22:61, 62)। जब बाद में उसके प्रभु ने उसके प्रेम के विषय में उससे प्रश्न किया, तो वह प्रभु को हृदय के जानने वाले के रूप में याचना कर सका, कि वह सचमुच उससे प्रेम करता था। और ख्रीष्ट द्वारा उसके कार्यभार को पुनः सौंपे जाने पर, उसने अपने स्वामी की सेवा बड़े उत्साह और निष्ठा के साथ की।

तो फिर, यह तथ्य कि सच्चे संत गम्भीर पाप में गिर सकते हैं किसी भी रीति से उनके अंत तक दृढ़ बने रहने के साथ असंगत नहीं है। प्रभु 'उनके भटक जाने की आदत को दूर करने की प्रतिज्ञा करता है' (होशे 14:4); और यद्यपि यह प्रतिज्ञा इस बात का संकेत देती है कि वे आंशिक रूप से गिर सकते हैं, फिर भी यह इस बात की गारंटी देता है कि वे पूर्णतः और अंततः पतित नहीं होंगे।

(4) संतों का अंत तक दृढ़ बने रहना *उनके प्राणों में अनुग्रह के सिद्धांत के संरक्षण को सुनिश्चित करता है, भले ही इसके कार्यान्वयन में यह बहुत अधिक बिगड़ सकता है*। अनुग्रह के कार्यान्वयन के सम्बन्ध में, विश्वासी कभी-कभी बहुत ही शिथिल अवस्था में हो सकता है; लेकिन अनुग्रह का तत्व कभी भी पूरी रीति से समाप्त नहीं किया जाएगा। वह ऐसे वृक्ष के समान दिखाई दे सकता है जो एक लम्बे और कठिन शरद ऋतु के कारण लगभग मृत जैसे हो गया हो। वह फल रहित, हरियाली रहित, यहाँ तक कि जीवन रहित दिखाई दे सकता है। परन्तु, विश्वासी के हर किसी रीति से मुरझाने के बावजूद, 'परमेश्वर का बीज उसमें बना रहता है'; अन्यथा वह प्रतिज्ञा टूट जाएगी, जिसमें यह कहा गया है कि 'धर्मियों की जड़ उखड़ने की नहीं' (नीतिवचन 12:3)।

इसका उदाहरण हम पतरस के मामले में देखते हैं। ख्रीष्ट ने उससे कहा: मैं ने तेरे लिए विनती की कि तेरा विश्वास जाता न रहे (लूका 22:32)। हम इस बात पर संदेह नहीं कर सकते कि पतरस का विश्वास – जहाँ तक

उसके कार्यान्वयन का प्रश्न है – वास्तव में डगमगा गया था, और वह भी अत्यंत खेदजनक रूप से। परन्तु यह मान लेना कि उसका विश्वास अपने मूल सिद्धांत या आदत के मामले में डगमगा गया था, ख्रीष्ट की प्रार्थना की सफलता के एकदम विपरीत होगा, जिसके विषय में हमें पूरा भरोसा है कि वे सदैव प्रबल होती है। जिस प्रकार सर्दियों में पेड़ की डालियाँ भले ही मुरझा जाती है, और देखने में मृत प्रतीत होती हैं, फिर भी उसकी जड़ों में जीवन शेष रहता है; ठीक इसी प्रकार से, एक विश्वासी, अपने अत्यंत क्षीण और शिथिल अवस्था में भी, अपने भीतर परमेश्वर के अनुग्रह का जीवंत तत्व धारण किए रहता है। जिस प्रकार वसंत के आते ही वृक्ष फिर से जीवित होकर फलने – फूलने लगता है, ठीक उसी प्रकार, जब 'धर्म का सूर्य' अपनी ताज़गी भरी किरणों के साथ लौटता है, तो विश्वासी में अनुग्रह का तत्व भी पुनर्जीवित हो उठता है और नई ऊर्जा के साथ सक्रिय होकर कार्य करने लग जाता है। अनुग्रह का क्रियान्वयन भले ही बाधित हो सकता है, परन्तु अनुग्रह का तत्व – एक बार स्थापित हो जाने पर – कभी भी पूरी रीति से मिटाया नहीं जा सकता। विश्वासी भले ही बहुत ही शिथिल अवस्था में गिर सकता है, परन्तु वह कभी भी अनुग्रह की स्थिति से नहीं गिर सकेगा। उसे तब तक दृढ़ बने रहने में सक्षम किया जाएगा जब तक कि अनुग्रह महिमा में परिपूर्ण न हो जाए।

संतों का अंत तक दृढ़ बने रहने के सिद्धांत की व्याख्या करने के बाद – जैसा कि हमारे अंगीकार-कथन में प्रस्तुत है – अब उन तर्कों को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनके द्वारा इस सिद्धांत का समर्थन किया जाता है। दूसरे भाग में, इन्हें निम्नलिखित क्रम में व्यवस्थित किया गया है:

(क) संतों का अंत तक दृढ़ बने रहना, परमेश्वर के *चुनाव के विधान की अपरिवर्तनशीलता* द्वारा सुनिश्चित होता है। कि परमेश्वर द्वारा पापी मानवजाति की एक निश्चित संख्या को, उसकी सम्प्रभुता वाली दया में, जगत की उत्पत्ति से पहले, महिमा के लिए नियुक्त किया गया है – यह एक ऐसा सत्य है जिसकी पुष्टि पवित्रशास्त्र के अनेक स्पष्ट कथनों द्वारा होती है

(इफिसियों 1:4; 2 थिस्सलुनीकियों 2:13; प्रेरितों के काम 13:48)। परमेश्वर का यह उद्देश्य अपने चुने हुए लोगों को अंततः उद्धार या अनन्त जीवन प्रदान करना है, इसमें अनिवार्य रूप से यह संकल्प सम्मिलित है कि परमेश्वर वह सब कुछ करेगा जो उन्हें इस आनन्द का पात्र बनाने के लिए आवश्यक है, और उन्हें सभी परीक्षाओं और फंदों के बीच सुरक्षित रखते हुए, इसके पूर्ण अधिकार तक पहुँचाएगा। अब, यदि अनुग्रह के चुनाव में कोई व्यक्ति, अंततः नाश हो जाए, तो उस स्थिति में और हर ऐसी स्थिति में जहाँ ऐसा होता है, परमेश्वर का उद्देश्य विफल हो जाएगा। परन्तु उसका उद्देश्य, जो उससे उत्पन्न हुआ है, और उसके प्राणियों से पूर्णतः स्वतंत्र है, तो उसके उद्देश्य को उसके स्वभाव के समान ही अपरिवर्तनीय होना चाहिए। इसलिए वह दिव्य महिमा के साथ घोषणा करता है: 'मैं यहोवा बदलता नहीं'। 'मेरी युक्ति स्थिर रहेगी और मैं अपनी इच्छा को पूरी करूँगा'। हमारा उद्धारकर्ता स्वयं विश्वासियों के चुनाव के आधार पर, इस बात का निष्कर्ष निकालता है कि उनका बहकावे में आकर विनाशकारी स्थिति में पड़ना असम्भव है। 'क्योंकि झूठे मसीह और झूठे नबी उठ खड़े होंगे, और बड़े चिह्न, और अद्‌भुत काम दिखाएंगे कि (यदि हो सके) तो चुने हुओं को भी भरमा दें' (मत्ती 24:24)। यह स्पष्ट है कि, इस पद में, हमारा प्रभु उन चुने हुए लोगों की बात करता है जिन्हें सत्य का ज्ञान प्राप्त हो चुका है, और वह किसी भी बहकावे की बात नहीं कर रहा है, बल्कि उस बहकावे की बात कर रहा जो पूर्ण और निर्णायक है। अब ये शब्द, 'यदि हो सके', उनके बहकावे में आने की वास्तविक असम्भवता का संकेत देता है।

(ख) यह *ख्रीष्ट के दुःखों और मृत्यु के योग्यता के आधार पर* सुरक्षित है। ख्रीष्ट ने 'स्वयं अपने लहू से कलीसिया को मोल लिया है'। उसके सभी लोगों का 'अधर्म का बोझ उसी पर लाद दिया गया', और उनके जामिन के रूप में, 'वह आप ही हमारे पापों को अपनी देह पर लिए हुए क्रूस पर चढ़ गया'। उसने उस अभिशाप का पूरा दण्ड सहा, जो उन्हें मिलना था,

और 'उनके लिए अनन्त उद्धार को प्राप्त किया'। अब, जैसे कि एक जामिन उस व्यक्ति का स्थान लेता जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, तो वह व्यक्ति उन समस्त लाभों को पाता है जिन्हें जामिन ने उसके नाम पर किया था। ताकि, यदि उसका ऋण जामिन द्वारा चुका दिया गया हो, तो लेनदार उससे ऋण के भुगतान की माँग नहीं कर सकता। यदि ख्रीष्ट ने क्रूस पर अपने लोगों के पापों के बदले प्रायश्चित किया है – न केवल उनमें से कुछ के लिए, बल्कि उन सभी के लिए, जैसा कि हमें स्पष्ट रूप से आश्वासन दिया गया है – तो उन्हें भी दंडित करना न्याय के विरुद्ध होगा। परन्तु, यदि संत लोग अनुग्रह की अवस्था से गिर जाएं, और अपने पापों में नाश हो जाएं, तो प्रायश्चित की दो बार माँग की जाएगी – पहला, जामिन की ओर से; और दूसरा, स्वयं उनकी ओर से। या तो ख्रीष्ट ने अपने लोगों के पापों का प्रायश्चित किया, या नहीं किया था। यदि उसने उनके लिए प्रायश्चित नहीं किया था, तो उन्हें स्वयं ही अपने लिए प्रायश्चित करना होगा; यदि उसने उनके स्थान पर न्याय की माँगो को पूरा किया है, तो स्वर्ग की न्यायपूर्ण धर्मी शासन के तहत, यह असम्भव है, कि वे किसी भी कारण से, या किसी भी कारण के लिए, दण्ड के भागी बनें। तदनुसार, नई वाचा विश्वासियों के लिए पूर्ण एवं अटल क्षमा की प्रतिज्ञा करती है। 'मैं उनके अधर्म के विषय में दयावन्त हूँगा, और उनके पापों को फिर स्मरण न करूँगा' (इब्रानियों 8:12)। परन्तु यदि संतों के पतनशील होने का सिद्धांत सत्य है, तो यह प्रतिज्ञा झूठी है; क्योंकि उनके पापों को फिर से स्मरण किया जा सकता है। बल्कि, यदि यह सिद्धांत सत्य है, तो ख्रीष्ट का बलिदान व्यर्थ हो सकता है; क्योंकि, जिस प्रकार एक संत अनुग्रह की अवस्था से गिर सकता है, ठीक वैसे ही दूसरा भी गिर सकता है; ऐसे में यह भी हो सकता है कि उसके लहू के द्वारा एक भी पापी वास्तव में अनन्त विनाश से नहीं बचाया जा सकेगा।[99]

(ग) यह *ख्रीष्ट की मध्यस्थता की निरन्तरता और प्रबलता* के द्वारा सुरक्षित है। जिस प्रकार ख्रीष्ट ने अपने लहू की योग्यता के आधार पर अपने लोगों को मोल लिया, उसी प्रकार वह उनके लिए विनती करने को सर्वदा जीवित है। और उनकी ओर से विनती करने का क्या अर्थ है? वह उनमें

[99] Dick's *Lectures on Theology*, vol. iii, p. 521.

से प्रत्येक के लिए प्रार्थना करता है, जैसा कि उसने पतरस के लिए की थी, 'कि उनका विश्वास जाता न रहे'। उन प्रार्थनाओं में, जिन्हें उसने पृथ्वी पर रहते हुए अपने अनुयायियों के लिए की थीं, सिंहासन के समक्ष उसकी विनतियों का एक नमूना हमारे पास है। अब, उसने उनके बचाव के लिए बार-बार प्रार्थना की: 'हे पवित्र पिता, अपने उस नाम से जो तू ने मुझे दिया है उनकी रक्षा कर'; 'मैं तुझ से यह विनती नहीं करता कि तू उन्हें संसार में से उठा ले, परन्तु यह कि तू उन्हें उस दुष्ट से बचाए रख' (यूहन्ना 17:11, 15)। कहीं कोई इन प्रार्थनाओं को केवल उसके निकटतम शिष्यों तक, या उन लोगों तक ही सीमित न मान ले जो पहले से उस पर विश्वास करते थे, इसलिए वह आगे कहता है (पद 20): 'मैं केवल इन्हीं के लिए विनती नहीं करता, परन्तु उनके लिए भी जो इनके वचन के द्वारा मुझ पर विश्वास करेंगे।' तो फिर यदि ख्रीष्ट की मध्यस्थता प्रभावशाली है, तो उस पर विश्वास करने वाले सभी लोगों का अंत तक दृढ़ बने रहना अचूक रूप से सुरक्षित है। लेकिन उसकी मध्यस्थता को, जो कि उसके प्रायश्चित वाली मृत्यु और योग्य धार्मिकता पर आधारित होने के कारण, अपने लोगों के लिए वह सब कुछ प्राप्त करने हेतु प्रबल और प्रभावशाली होना चाहिए, जो वह उनकी ओर से याचना करता है। पिता सदैव उसकी सुनता है (यूहन्ना 11:42)।

(घ) यह *पवित्र आत्मा के निरन्तर हृदय में वास करने के द्वारा* सुरक्षित है। जब हमारा प्रभु इस संसार से कूच करने वाला था, तब उसने पवित्र आत्मा के प्रतिज्ञा द्वारा अपने शिष्यों के हृदयों को सांत्वना दी। 'मैं पिता से विनती करूँगा, और वह तुम्हें एक और सहायक देगा कि वह सदा तुम्हारे साथ रहे' (यूहन्ना 14:16)। यह कि पवित्र आत्मा का वरदान केवल प्रेरितों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि यह प्रत्येक सच्चे मसीही व्यक्ति का एक सुखद सौभाग्य है – यह इस प्रेरणा प्राप्त घोषणा से स्पष्ट है: 'यदि किसी में मसीह का आत्मा न हो तो वह उसका नहीं' (रोमियों 8:9)। अब, पवित्र आत्मा विश्वासियों के हृदय में केवल एक क्षणिक अतिथि के रूप में प्रवेश

नहीं करता, बल्कि, 'उनमें अपना निवास बनाने के लिए आता है'। इसलिए उन्हें 'परमेश्वर का मंदिर' कहा जाता है, 'क्योंकि परमेश्वर का आत्मा उनमें वास करता है।' और पवित्र आत्मा का निरन्तर निवास उनके अंत तक दृढ़ बने रहने को प्रभावशाली रीति से सुनिश्चित करता है। क्योंकि उनमें वास करने का उसका अनुग्रहकारी उद्देश्य यह है कि वह उन्हें ज्योति में रहने वाले संतों की विरासत के योग्य बनाएँ, जीवन भर उनकी रक्षा करे, और उन्हें महिमा तक पहुँचाए। उसके द्वारा उन पर छुटकारे के दिन तक मुहर लगा दी गई है, और वह उनके भविष्य की विरासत का बयाना है (2 कुरिन्थियों 1:22; इफिसियों 1:13, 14)। बयाना वह भाग है जो भविष्य के पूरे अधिकार की सुरक्षा के लिए दिया जाता है; और जिस प्रकार पवित्र आत्मा विश्वासियों के लिए स्वर्गीय विरासत का बयाना है, तो इसका अर्थ उनके भविष्य के परम आनन्द की पूर्ण निश्चितता ही होना चाहिए। यदि किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसने पवित्र आत्मा प्राप्त किया है, अनुग्रह की स्थिति से पूरी रीति से और हमेशा के लिए दूर कर दिया जाए, और स्वर्गीय विरासत से वह वंचित रह जाए, तो यह एक बहुत ही चकित करने वाला विचार होगा! सत्य का आत्मा एक अनिश्चित एवं भ्रामक बयाना होगा।

(ङ) यह *अनुग्रह की वाचा के अपरिवर्तनीय स्वरूप द्वारा सुरक्षित है*। चूंकि यह वाचा, परमेश्वर के अनुग्रह पर आधारित है, और न कि हमारी आज्ञाकारिता पर, इसलिए यह 'सभी बातों में सुव्यवस्थित और सुनिश्चित' है। इस वाचा का भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है: 'मैं उनके साथ अनन्तकाल की यह वाचा बान्धूंगा कि उनकी भलाई करने से कभी न फिरूँगा और मैं अपना भय उनके हृदयों में डालूँगा जिससे वे मुझ से कभी विमुख न हों' (यिर्मयाह 32:40)। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने लोगों के प्रति यहाँ न केवल परमेश्वर के निरन्तर प्रेम की प्रतिज्ञा है, कि वह उनका भला करने के लिए उनसे कभी मुंह न मोड़ेगा, बल्कि यह प्रतिज्ञा भी है कि वह उनके हृदय में अपना भय उत्पन्न करेगा, जिससे वे उससे कभी विमुख नहीं होंगे। परमेश्वर न केवल यह प्रतिज्ञा करता है कि यदि वे

उसका भय मानते रहेंगे, तो वह उन पर अपनी कृपा बनाए रखेगा बल्कि वह स्वयं यह वचन भी देता है कि वह उनके हृदयों में अपना भय स्थापित करेगा, या उन्हें अपने अनुग्रह का ऐसा अनुभव प्रदान करेगा, जो उन्हें उसके मार्ग से भटकने से बचाए रखेगा। संतों के दृढ़ बने रहने की निश्चितता को इससे अधिक सशक्त शब्दों में व्यक्त करना शायद सम्भव नहीं है।

इन तर्कों के अतिरिक्त, जिनका उल्लेख अंगीकार-कथन में किया गया है, हम यह भी कह सकता हैं, कि संतों की दृढ़ता स्पष्ट भी है:

1. परमेश्वर की अनेक प्रतिज्ञाओं से (यशायाह 54:10; यूहन्ना 10:27 – 30; इब्रानियों 13:5)।
2. परमेश्वर के विभिन्न सिद्धताओं से।
3. विश्वासियों के प्रभावशाली बुलाहट और महिमामय किए जाने के बीच के सम्बन्ध से (रोमियों 8:30)।
4. परमेश्वर की सभी कार्यों की सिद्धता के चरित्र से (फिलिप्पियों 1:6)।
5. ख्रीष्ट और विश्वासियों के बीच विद्यमान घनिष्ठ और अटूट मिलन से (यूहन्ना 15:5; 1 कुरिन्थियों 12:12; यूहन्ना 14:19, 20)।[100]

संतों के दृढ़ बने रहने के सिद्धांत को कभी-कभी पवित्रता के हितों के प्रतिकूल बताया गया है। परन्तु इसका ऐसा प्रभाव कैसे पड़ सकता है, यह समझना आसान नहीं है। यद्यपि विश्वासी लोग 'निश्चित रूप से अंत तक अनुग्रह में बने रहेंगे, और अनन्त तक बचाए जाएंगे'; फिर भी, यदि वे गम्भीर पाप में पड़ जाते हैं, तो वे इसके द्वारा 'परमेश्वर की अप्रसन्नता को

[100] इस विषय पर व्यवस्थित ईश्वर-विज्ञान के सभी लेखकों ने चर्चा की है। निम्न लेखों में भी इस पर विस्तार से चर्चा की गई है: Lime Street Lectures, Ser. 9; Berry Street *Sermons*, Ser. 24; Elisha Coles on *God's Sovereignty*; Sam. Wilson's *Sermons*, Ser. 11-15; and President Edwards' *Remarks on Important Theological Controversies*, chap. v.

अपने ऊपर लेते हैं, और उसके पवित्र आत्मा को दुःखी करते हैं – अपने कृपाओं और सांत्वनाओं के कुछ अंश से वंचित हो जाते हैं – उनके हृदय कठोर हो जाते हैं और उनके विवेक घायल हो जाते हैं – दूसरों को चोट पहुँचाते हैं और पाप की ओर दूसरों को प्रेरित करते हैं, और अपने ऊपर सांसारिक दंड को लाते हैं'। तो फिर, यदि संतों को अपने स्वर्गीय पिता की महिमा, दूसरे लोगों की आत्मिक उन्नति, और स्वयं अपनी सांत्वना की थोड़ी भी चिंता है, तो उनके पास 'बुराई के हर रूप से दूर रहने', और 'प्रभु की समस्त आज्ञाओं और विधियों का पालन करते हुए निर्दोष जीवन जीने का प्रयास करने' के सबसे प्रबल कारण मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त, संतों के जिस दृढ़ता की हम बात करते हैं, वह अंत तक *पवित्रता* में बने रहने वाली दृढ़ता है; और इस सिद्धांत में ऐसा कोई भी झुकाव कैसे हो सकता है कि वह मनुष्यों को पाप करने के प्रति लापरवाह बना दे? इसमें जोड़ दीजिए, कि कोई भी विश्वासी जितना अधिक दृढ़ता से यह मानता है कि कोई भी वस्तु उसे परमेश्वर के प्रेम से अलग नहीं कर सकती, और जितना अधिक वह अपने हृदय में परमेश्वर के प्रेम को उमड़ता हुआ महसूस करता है, उतना ही अधिक वह परमेश्वर की महिमा को बढ़ाने वाला जीवन जीने के लिए शक्तिशाली रूप से *प्रेरित* होगा (2 कुरिन्थियों 5:14, 15)।

संतों के दृढ़ बने रहने की निश्चितता किसी को भी उन साधनों की उपेक्षा करने का प्रोत्साहन नहीं देती, जिन्हें परमेश्वर ने उनके संरक्षण के लिए नियुक्त किए हैं। हमारे उद्धारकर्ता ने कहा, 'जागते रहो और प्रार्थना करो, कि तुम परीक्षा में न पड़ो'। प्रेरित ने कहा है, 'सचेत रहो, जिस से अपनी स्थिरता से विचलित न हो जाओ'। 'अपने प्रति सावधान रहो, ऐसा न हो कि जो कुछ हमने कमाया उसे गंवा दो'। पवित्रशास्त्र ऐसे प्रोत्साहनों एवं चेतावनियों से भरा पड़ा है; और वे लोग बड़ी भूल में हैं जो इनसे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संत लोग परमेश्वर के अनुग्रह से पूरी रीति से और सर्वदा के लिए वंचित हो सकते हैं। परमेश्वर अपने लोगों के साथ बौद्धिक प्राणियों जैसा व्यवहार करता है, और ये प्रोत्साहन एवं चेतावनियाँ ही वे साधन हैं

जिनका वह उपयोग करता है, और उनके विश्वास-त्याग को रोकने एवं उनके अंततः अंत तक दृढ़ बने रहने को बढ़ावा देने के लिए वह इन्हें प्रभावी बनाता है। परमेश्वर अपनी सुइच्छा के लिए विश्वासियों की इच्छा और कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिए विश्वासियों के हृदयों में कार्य करता है; परन्तु वह उनसे अपेक्षा करता है कि जब वह अपना कार्य कर रहा है, तब वे भी अपना दायित्व निभाएँ। इसलिए, प्रत्येक मसीही को, 'दृढ़ और अटल बने रहना और प्रभु के कार्य में सर्वदा बढ़ते रहना चाहिए, क्योंकि वे जानते हैं कि प्रभु में उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं है'।

अध्याय 18

अनुग्रह एवं उद्धार का आश्वासन

भाग 1

यद्यपि पाखंडी, एवं अन्य नया जन्म रहित लोग, परमेश्वर की कृपा और उद्धार की अवस्था में होने के विषय में झूठी आशाओं और सांसारिक कल्पनाओं के साथ स्वयं को धोखा दे सकते हैं (अय्यूब 8:13 – 14; मीका 3:11; व्यवस्थाविवरण 29:19; यूहन्ना 8:41), परन्तु उनकी यह आशा नष्ट हो जाएगी (मत्ती 7:22 – 23): फिर भी जो लोग प्रभु यीशु पर वास्तव में विश्वास करते हैं और विश्वासयोग्यता के साथ उससे प्रेम करते हैं, उसके समक्ष सभी भले विवेक में चलने का प्रयास करते हैं, वे इस जीवन में निश्चित रूप से आश्वस्त हो सकते हैं कि वे अनुग्रह की अवस्था में हैं (1 यूहन्ना 2:3; 3:14, 18 – 19, 21, 24; 5:13), और परमेश्वर की महिमा की आशा में आनन्दित हो सकते हैं, और यह आशा उन्हें कभी भी लज्जित नहीं होने देगी (रोमियों 5:2, 5)।

भाग 2

यह निश्चय, मात्र अनुमान और सम्भावित धारणा नहीं है, जो किसी चूकने वाली आशा के ऊपर आधारित हो (इब्रानियों 6:11, 19); परन्तु विश्वास का यह अचूक आश्वासन, उद्धार की प्रतिज्ञाओं के परमेश्वर के सत्य पर (इब्रानियों 6:17 – 18), और उन अनुग्रहों के आन्तरिक साक्षी पर, जिनके लिए इन प्रतिज्ञाओं को किया गया है (2 पतरस 1:4 – 5, 10 – 11; 1 यूहन्ना 2:3; 3:14; 2 कुरिन्थियों 1:12), और लेपालकपन के आत्मा की गवाही पर आधारित है, जो हमारी आत्माओं के साथ गवाही

देता है कि हम परमेश्वर की सन्तान हैं (रोमियों 8:15 – 16): यह आत्मा हमारी विरासत का बयाना है, जिसके द्वारा हम छुटकारे के दिन के लिए मुहरबंद किए गए हैं (इफिसियों 1:13 – 14; 4:30; 2 कुरिन्थियों 1:21 – 22)।

व्याख्या

इस अध्याय में जिस 'अनुग्रह एवं उद्धार के आश्वासन' की चर्चा की गई है, उसका अर्थ विश्वासी का पक्का आश्वासन है कि वह 'अनुग्रह की स्थिति' में है, और यीशु ख्रीष्ट के उद्धार में उसका अपना व्यक्तिगत भाग है। इस विषय पर लिखे गए कथन रोमन कैथोलिक चर्च और आर्मीनियन लोगों के कुछ विशेष त्रुटियों के विरुद्ध निर्देशित हैं। रोम का चर्च इस बात से इनकार करता है कि इस जीवन में किसी भी मनुष्य के लिए, किसी चमत्कारिक ईश्वरीय प्रकाशन के बिना, उद्धार के सम्बन्ध में केवल एक अनुमानित और संभावित विश्वास से अधिक कुछ प्राप्त करना सम्भव है; और वे अपने तर्क के सबसे लाभकारी भागों में से कुछ को इसी निरन्तर बने रहने वाले संदेह और अनिश्चितता पर खड़ा करते हैं – जो उनके अंतिम उद्धार से सम्बन्धित होता है – और जिसमें वे अपने भक्तों को फँसाए रखते हैं, और जिसे वे कुछ हद तक चर्च की प्रार्थनाओं, संतों एवं शहीदों के पुण्य-कार्यों, और पादरियों द्वारा परमेश्वर के नाम पर दिए जाने वाले पाप-मोचन के माध्यम से दूर करने का दावा करते हैं। आर्मीनियन लोग, संतों के अंत तक दृढ़ बने रहने की निश्चितता को नकारने के अपने विश्वास के अनुरूप – यह मानते हैं कि किसी भी मनुष्य के लिए उद्धार के विषय में इससे अधिक निश्चितता प्राप्त करना सम्भव नहीं है, कि यदि वह अंत तक अपने विश्वास पर दृढ़ रहता है, तो उसे उद्धार प्राप्त होगा।

1. इन त्रुटियों के विरोध में, हमारा अंगीकार-कथन यह शिक्षा देता है कि संत लोग, किसी विशेष या तात्कालिक प्रकाशन के बिना, आम अनुग्रह के साधनों के उचित उपयोग के द्वारा, न केवल एक अनुमानित या

सम्भावित विश्वास को प्राप्त कर सकते हैं, बल्कि अपने अनुग्रह की स्थिति में होने, एवं अपने अंतिम उद्धार के विषय में निश्चित आश्वासन पा सकते हैं। निम्नलिखित बातों से इसकी पुष्टि होती है:

(क) पवित्रशास्त्र में, मसीही लोगों को यह निर्देश दिया गया है कि वे स्वयं की जाँच करें, और इस आश्वासन को प्राप्त करने के लिए पूरे लगन से प्रयास करें। प्रेरित पौलुस कुरिन्थियों की कलीसिया को यह शिक्षा देता है कि वे स्वयं को जाँचें कि वे विश्वास में बने हुए हैं, और वह इसे उनमें एक अत्यंत निंदनीय बात का संकेत मानता है, कि उन्हें यह नहीं पता कि यीशु ख्रीष्ट उनमें है भी या नहीं (2 कुरिन्थियों 13:5)। प्रेरित पतरस सभी मसीही लोगों को निर्देश देते हैं कि वे 'अपने बुलाए जाने और चुने जाने की निश्चयता का और भी अधिक प्रयत्न करते जाएं', दूसरों के लिए नहीं, बल्कि स्वयं अपने लिए; और वह उन्हें बताता है कि वे ऐसा कैसे कर सकते हैं (2 पतरस 1:5 – 11)। यह संदेश उन लोगों को सम्बोधित किया गया, जिनको 'हमारे परमेश्वर, उद्धारकर्ता यीशु मसीह की धार्मिकता द्वारा हमारे ही समान बहुमूल्य विश्वास प्राप्त हुआ'; उन्हें निर्देश दिया गया कि वे अपने विश्वास में सद्गुण; तथा सद्गुण में ज्ञान, आदि को जोड़े; और उन्हें सूचित किया गया है, कि ऐसा करने से, उन्हें अपने बुलाए जाने और चुने जाने का निश्चित आश्वासन प्राप्त होगा, और स्वर्ग में परमेश्वर के अनन्त राज्य में उनको निश्चित प्रवेश मिलेगा। यह निर्देश प्रेरित पौलुस द्वारा इब्रानियों को दिए गए प्रोत्साहन के समान है (इब्रानियों 6:11): हमारी इच्छा है कि तुम में से प्रत्येक अपनी आशा की पूर्ण निश्चयता को प्राप्त करने के लिए अन्त तक प्रयत्नशील रहे। ये प्रोत्साहन इस बात को स्पष्ट करते हैं मसीही लोगों के पास, बिना किसी विशेष प्रकाशन के भी, अपनी वर्तमान धार्मिकता और भविष्य की सुरक्षा के विषय में स्वयं को आश्वस्त करने के लिए साधन उपलब्ध है।

(ख) पवित्रशास्त्र सच्चे विश्वासियों के अनेक लक्षणों या चिन्हों को दर्शाता है, जिनके द्वारा वे निश्चित रूप से आश्वस्त हो सकते हैं कि उन्होंने

अपने प्राणों के उद्धार के लिए विश्वास किया है। 'यदि हम उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, तो इसी से हमें ज्ञात होता है कि हम उसे जान गए हैं'; 'परन्तु जो उसके वचन का पालन करता है, उसमें सचमुच परमेश्वर का प्रेम सिद्ध हो चुका है। इसी से हम जानते हैं कि हम उस में हैं' (1 यूहन्ना 2:3, 5)। 'हम जानते हैं कि हम मृत्यु से पार होकर जीवन में आ पहुँचे हैं, क्योंकि हम भाइयों से प्रेम रखते हैं'; 'इसी से हम जानेंगे कि हम सत्य के हैं और हम उसके सम्मुख उन बातों में अपने हृदयों को आश्वस्त कर सकेंगे' (1 यूहन्ना 3:14, 19)। इस पूरी पत्री का उद्देश्य विश्वासियों के सामने ऐसे निश्चित चिन्ह प्रस्तुत करना है, जिनके द्वारा वे 'जाने कि अनन्त जीवन उनका है' (1 यूहन्ना 5:13)।

(ग) संतों के व्यक्तिगत अनुभवों के इतिहास में, इस आश्वासन की प्राप्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। पवित्रशास्त्र में वर्णित संत लोग उद्धार के विषय में अपने आश्वासन को व्यक्त करने के आदी थे। दाऊद ने कहा, 'परन्तु मैं तो धार्मिकता के कारण तेरे मुख का दर्शन करूँगा; जब मैं जाग उठूँगा तो तेरे स्वरूप को देख कर तृप्त हो जाऊँगा' (भजन संहिता 17:15)। 'निश्चय भलाई और करुणा जीवन भर मेरे साथ-साथ बनी रहेंगी, और मैं यहोवा के घर में सर्वदा वास करूँगा' (भजन संहिता 23:6)। 'अपनी सम्मति के द्वारा तू मेरी अगुवाई करेगा, और अन्त में मुझे महिमा में ग्रहण करेगा' (भजन संहिता 73:24)। अय्यूब ने भी, अपने ढेरों दुःखों के बीच में, आश्वासन के बोल कहे: 'मुझे निश्चय है कि मेरा छुड़ाने वाला जीवित है ...' (अय्यूब 19:25)। नए नियम के विश्वासियों का अनुभव और भी अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। प्रेरित पौलुस इसका एक उदाहरण हो सकते हैं। सभी संतों की ओर से ये उनके विजयपूर्ण कथन हैं: 'परन्तु इन सब बातों में हम उसके द्वारा जिसने हम से प्रेम किया जयवन्त से भी बढ़कर हैं। क्योंकि मुझे पूर्ण निश्चय है कि न मृत्यु न जीवन, न स्वर्गदूत न प्रधानताएं, न वर्तमान न भविष्य, न शक्तियाँ, न ऊँचाई न गहराई, और न कोई सृजी हुई वस्तु हमें परमेश्वर के प्रेम से जो हमारे प्रभु यीशु मसीह में है, अलग कर

सकेगी' (रोमियों 8:37 – 39; साथ में 2 कुरिन्थियों 5:1 भी देखें)। एक अन्य अवसर पर वह अपने आश्वासन की घोषणा करता है कि उसने ख्रीष्ट पर विश्वास किया है, और उन्हें अपने भविष्य के आनन्द के प्रति पूर्ण निश्चय है: 'मैं जानता हूँ कि मैंने किस पर विश्वास किया है, और मुझे पूर्ण निश्चय है कि वह मेरी धरोहर की रखवाली करने में उस दिन तक समर्थ है' (2 तीमुथियुस 1:12)। वह इतना आश्वस्त था कि जब 'वह शरीर से दूर होगा', तो वह प्रभु के साथ होगा, इसी भरोसे के चलते, वह– शरीर से मुक्त होने और तुरन्त ही स्वर्गीय आनन्द में प्रवेश करने की अपनी तीव्र इच्छा व्यक्त करता है। 'अब मैं अर्घ की भाँति उण्डेला जाता हूँ और मेरे जीवन का अन्तिम समय आ पहुँचा है। मैं अच्छी कुश्ती लड़ चुका हूँ, मैंने अपनी दौड़ पूरी कर ली है, मैंने विश्वास की रक्षा की है। भविष्य में मेरे लिए धार्मिकता का मुकुट रखा हुआ है, जिसे प्रभु जो धार्मिकता से न्याय करने वाला है उस दिन मुझे प्रदान करेगा' (2 तीमुथियुस 4:6 – 8 साथ में देखें 2 कुरिन्थियों 5:8; फिलिप्पियों 1:23)। ये उदाहरण इस सामान्य सिद्धांत को स्थापित करने के लिए पर्याप्त होने चाहिए कि विश्वासियों द्वारा उद्धार का आश्वासन इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है।

2. यह आश्वासन 'उद्धार की प्रतिज्ञाओं के परमेश्वर के सत्य पर, और उन अनुग्रहों के आन्तरिक साक्षी पर, जिनके लिए इन प्रतिज्ञाओं को किया गया है, और लेपालकपन के आत्मा की गवाही पर आधारित है, जो हमारी आत्माओं के साथ गवाही देता है कि हम परमेश्वर की सन्तान हैं।' यह इनमें से किसी एक बात पर ही आधारित नहीं है, बल्कि इन सबके मेल पर आधारित है। वचन में उद्धार की प्रतिज्ञाएँ हमें सच्चे मसीही की विशिष्ट पहचान प्रदान करती हैं, और अचूक रूप से हमें आश्वासन देती हैं कि वे सब जिनमें ये गुण पाए जाते हैं, वे अवश्य बचाए जाएंगे। अनुग्रह के आन्तरिक साक्षी हमें यह आश्वासन देते हैं कि हम में ये गुण हैं; और हम अभी अनुग्रह की अवस्था में हैं, और 'अनन्तकाल के उद्धार के साथ बचाए जाएंगे'।

‘आश्वासन सामान्य तौर पर एक प्रकार के पवित्र तर्क, या इसी प्रकार की तर्क-पद्धति द्वारा प्राप्त होता है: जो कोई भी प्रभु यीशु ख्रीष्ट पर विश्वास करता है, वह अनुग्रह की अवस्था में होता है, और वह बचाया जाएगा (प्रेरितों का काम 16:31; रोमियों 9:33)। परन्तु मैं उस पर विश्वास करता हूँ; इसलिए, मैं अनुग्रह की अवस्था में हूँ, और बचाया जाऊँगा। जब तक हम सत्य के पवित्रशास्त्र पर विश्वास करते हैं, तब तक इन प्रस्तावों में से पहले पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। सभी कठिनाई दूसरे बिंदु से सम्बन्धित है, अर्थात, क्या हम सच में यीशु ख्रीष्ट पर विश्वास करते हैं? क्योंकि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कोई व्यक्ति स्वयं को कुछ समझे, जबकि वास्तव में वह कुछ भी नहीं है, और इस प्रकार वह स्वयं को ही धोखा देता है (गलातियों 6:3)। जिस प्रकार कभी-कभी शारीरिक आँखें किसी वस्तु को देखने से रोक दी जाती हैं, उसी प्रकार हमारी मानसिक आँखें भी रोकी जा सकती हैं (लूका 24:16); और ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति भी जो प्रभु का भय मानता है, उसे भी अंधकार में चलना अवश्य है (यशायाह 1:10); हालाँकि वह निश्चित रूप से ख्रीष्ट में होता है, फिर भी वह इस बात को भूल जाता है। यह पर्याप्त नहीं कि मनुष्य कुछ भले कार्यों के प्रति सचेत हो, जैसे कि विश्वास, पश्चाताप, परमेश्वर और उसके संतों के प्रति प्रेम के विषय में। उच्च आश्वासन के प्रति सचेतन होने के लिए, उसे इन कार्यों की विशिष्ट प्रकृति के विषय में आश्वस्त होना चाहिए, कि वे सच्चे हैं, और पाखंड नहीं है। परन्तु बिना पवित्र आत्मा की सहायता के वह इस सचेतन को कैसे प्राप्त कर सकता है, यह कल्पना से बाहर है। वह जिसने विश्वास और पश्चाताप दिया है, उसे ही उन बातों का ज्ञान भी उस मनुष्य को देना चाहिए, जिन्हें परमेश्वर की ओर से उसे सेतमेंत में दिए गए हैं (1 कुरिन्थियों 2:12)। जिस प्रकार सूर्य को केवल उसके ही प्रकाश में देखा जा सकता है, उसी प्रकार हम भी, पवित्र आत्मा के बिना यह नहीं जान सकते कि हमारे पास पवित्र आत्मा है।’[101]

[101] Bell’s Notes to Witsius’ *Irenical Animadversions*, pp. 305, 306.

कुछ लोगों ने यह शिक्षा दी है, कि प्रत्येक मनुष्य जो ख्रीष्ट पर विश्वास लाता है, उसे तुरन्त ही इस बात के प्रति सचेत होना चाहिए कि वह विश्वास करता है; और कि यह सचेतन वह पहला प्रमाण है जो मनुष्य को यह बताता है कि वह धर्मी ठहराए गए अवस्था में है। हमारा अंगीकार-कथन इस प्रमाण के विषय में पूर्णतः मौन है; या इसके विपरीत, यह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि यह चेतना किसी भी प्रकार से सच्चे विश्वास का अविभाज्य सहवर्ती नहीं है। यह सचेतन वही बात है जिसे कई ईश्वरविज्ञानी लेखकों ने 'विश्वास की परावर्तित क्रिया' (reflex act of faith) कहा है। इससे उनका अर्थ विश्वास की प्रत्यक्ष क्रिया की चेतना से था, या उस ज्ञान से था कि मनुष्य ने विश्वास किया है, यह चिंतन-मनन से उत्पन्न होता है। अब, यह घोषणा करते हुए कि 'अनुग्रह और उद्धार का आश्वासन' विश्वास के लिए अनिवार्य नहीं है, हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है कि मनुष्य इस आश्वासन को पाने से पहले कि वह धर्मी ठहराए गए अवस्था में है, वह ख्रीष्ट पर विश्वास कर सकता है, और विश्वास के द्वारा वह धर्मी ठहराया जा सकता है; या दूसरे शब्दों में, वह ख्रीष्ट पर विश्वास कर सकता है और उसे तुरन्त ही इस बात की चेतना न हो कि अपने प्राण के बचाए जाने कि लिए उसने वास्तव में विश्वास किया है। विश्वास के अलग-अलग स्तर होते हैं, और इसका प्रमाण इसकी प्रबलता के अनुपात में होगा। जब पवित्र आत्मा के बड़े संदेश दिए जाते हैं, जिसके माध्यम से विश्वास अत्यंत दृढ़ हो जाता है, तब वह अपने साथ अपनी वास्तविकता का सबसे अधिक अकाट्य प्रमाण भी ला सकता है। निस्संदेह, पवित्रशास्त्र में वर्णित अनेक संतों के विश्वास ऐसे थे कि उन पर संदेह करने का कोई कारण नहीं बनता है जैसे अब्राहम, सूबेदार और कनानी स्त्री का विश्वास। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम यह दावा करें कि हर विश्वासी को ख्रीष्ट में अपने विश्वास के विषय में तुरन्त ही सचेत हो जाना चाहिए, और कि उसका विश्वास सच्चा है।

‘यदि विश्वास, केवल किसी वचन के सत्य को उस प्रमाण के आधार पर जिस पर वह आधारित है, बुद्धि या समझ द्वारा स्वीकार कर लेने मात्र में होता, तो इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता था कि वह व्यक्ति इसके विषय में सचेत या निश्चित है; परन्तु, यदि हृदय किसी भी अर्थ में उद्धारक विश्वास का उचित स्थान है, तो चेतना से प्राप्त होने वाले प्रमाणों के साथ अधिक अनिश्चितता जुड़ी होगी। यदि आत्मा में परमेश्वर के प्रति और अनुग्रह द्वारा उद्धार के मार्ग के प्रति कोई विपरीत प्रवृत्ति नहीं होती, तो यह बात बहुत ही सहज होती; परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। नए जन्म में, हृदय पाप के कारण उत्पन्न होने वाले कपट से पूरी रीति से मुक्त नहीं हो पाता; जिसके कारण यह निरन्तर आत्मा को धोखा देने और भटकाने का प्रयास करता रहता है। हृदय का एक भी ऐसा अनुग्रहकारी आत्मिक भाव या कार्य नहीं है, जिसकी किसी न किसी हद तक, प्राकृतिक सिद्धांतों की कार्यप्रणाली द्वारा नकल न की जा सके; और हृदय का बाकी कपट इस प्रकार कार्य कर सकता है कि विश्वासी जन के लिए एक बात और दूसरी के बीच अन्तर कर पाना अत्यंत कठिन हो जाए। अनेक नैतिक रूप से गम्भीर लोग इस प्रकार धोखा खा जाते हैं, वे उन भावनाओं को गलती से परमेश्वर के अनुग्रह का कार्य समझ बैठते हैं, जिन्हें वे कभी-कभी महसूस करते हैं और विभिन्न कारणों से जोशीले हो जाते हैं। यह बात निस्संदेह है, कि पवित्र आत्मा के उद्धार वाले कार्य, किसी भी अन्य कारण की तुलना में, मनों में सर्वथा भिन्न प्रभाव उत्पन्न करते हैं; और इसलिए उसके कार्य को निश्चित रूप से अन्य सभी कार्यों से अलग पहचाना जा सकता है। फिर भी, जहाँ विश्वास कमजोर है, वहाँ अधिक कठिनाई बनी रहेगी। और ऐसा स्वाभाविक भी है, क्योंकि जब तक विश्वासियों के अंगों में एक ऐसा नियम कार्य कर रहा जो उसके मन के नियम के विरुद्ध संघर्ष करता है; और जब कर कि देह आत्मा के विरुद्ध लालसा करता रहता है, और उसे उन कार्यों को करने से रोकता है जिन्हें वह करना चाहता है। न ही आरम्भिक मसीही लोगों के मामले में यह निष्कर्ष सही मायना में निकाला जा सकता है, जिन्हें अपने विश्वास की सच्चाई को लेकर कोई हिचकिचाहट नहीं थी, और जिन्होंने बेझिझक घोषणा की कि वे विश्वास

करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय अनुग्रह की अधिक मात्रा दी गई थी, और सभी विश्वासियों के दी गई थी, जितना कि आमतौर पर या उसके बाद दिया गया।'[102]

पवित्र आत्मा की गवाही की वास्तविकता के विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता; क्योंकि प्रेरणा प्राप्त प्रेरित स्पष्ट रूप से घोषणा करता है: 'आत्मा स्वयं हमारी आत्मा के साथ मिलकर साक्षी देता है कि हम परमेश्वर की सन्तान हैं' (रोमियों 8:16)। हालाँकि, आत्मा के गवाही देने के तरीके के विषय में अलग-अलग विचार हैं। कुछ लोगों का विचार है कि आत्मा आंतरिक प्रकाशन, या प्रत्यक्ष सुझाव के द्वारा विश्वासियों के लेपालकपन की गवाही देता है। एक व्यक्ति कहता है, कि 'आत्मा स्वयं, जल और लहू से एकदम अलग तरीके से गवाही देता है, वह परमेश्वर के प्रेम को हृदय में एक अत्यंत ही मनमोहक और आत्मा को तृप्त कर देने वाली रीति से उँडेल देता है'। यह बात संतों के अनुभव से स्पष्ट है। इसमें आगे जोड़ा गया है, कि उनमें से कई लोगों को इसी प्रत्यक्ष रीति से आश्वासन तक लाया गया है; और केवल अपने हृदय में लक्षणों, संकेतों और योग्यताओं पर विचार करने से नहीं, जो कि जल या पवित्रीकरण के माध्यम से पवित्र आत्मा की गवाही है।[103] फिर भी, अधिकांश मसीही संतों की इस विचार पर सहमति है कि आत्मा अपने कार्यों के माध्यम से, या विश्वासियों के हृदयों में उसके द्वारा उत्पन्न प्रभावों के द्वारा गवाही देता है। वे किसी तत्काल गवाही के विचार को अस्वीकार करते हैं, और यह मानते हैं कि पवित्र आत्मा का *कार्य* ही वह *गवाही* है जो वह देता है, जो विश्वासियों को उनके लेपालकपन और उसके परिणामस्वरूप मिलने वाली सुरक्षा का आश्वासन देता है।

अध्यक्ष एडवर्ड्स इस विचार के विरुद्ध अत्यंत दृढ़ता एवं बहुत कड़ाई से बोलते हैं कि पवित्र आत्मा प्रत्यक्ष सुझाव या प्रकाशन के माध्यम से

---

[102] Thomson's (of Quarrelwood) *Sermons*, vol. 2, p. 540.

[103] Ralph Erskine's *Sermons*, Ser. 143, vol. 9, pp. 199, 200.

गवाही देता है, और घोषणा करते हैं कि इस झूठी एवं भ्रामक धारणा से अनेक गलत शिक्षाएँ उत्पन्न हुई हैं। वे कहते हैं, 'जिस बात ने बहुत से लोगों को परमेश्वर के आत्मा के उस प्रभाव के विषय में उनकी धारणा को गुमराह किया है, जिसके लिए हम 'गवाही' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, उसे आत्मा की गवाही कहा गया है। इसलिए, उन्होंने इसे हृदय पर आत्मा के किसी भी प्रभाव या कार्य को नहीं माना है, जिससे ऐसा कोई प्रमाण मिले जिसके आधार पर लोग यह तर्क दे सकें कि वे परमेश्वर की संतान हैं। परन्तु एक आंतरिक प्रत्यक्ष सुझाव, जैसे कि परमेश्वर ने मनुष्य से उसके हृदय में बात की हो, और उसके पक्ष में गवाही दी हो, और किसी गुप्त ध्वनि या अनुभूति के माध्यम से उसे बताया कि वह उसकी संतान है; ऐसा करते समय, इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया, जिस रीति से *गवाही* या *साक्षी* शब्द का उपयोग नए नियम में बहुधा किया गया है; जहाँ पर ऐसे शब्द बहुधा न केवल किसी बात को सच घोषित करने और उस पर जोर देने का संकेत देते हैं, बल्कि ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करने का भी संकेत देते हैं जिनके आधार पर किसी बात को सच सिद्ध किया जा सकता है। अतः (इबानियों 2:4), परमेश्वर के लिए कहा गया है कि वह चिन्हों, चमत्कारों, और विभिन्न प्रकार के आश्चर्यकर्मों तथा अपनी इच्छा के अनुसार पवित्र आत्मा के वरदानों के द्वारा इसकी साक्षी देता है। अब इन चमत्कारों को जिनका वर्णन यहाँ किया गया है, परमेश्वर के गवाह कहा गया है, दृढ़-कथन होने के स्वभाव के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि वे प्रमाण एवं सबूत हैं। इसी रीति से प्रेरितों के काम 14:3; यूहन्ना 5:36; 10:25 भी हैं। इसलिए जल एवं लहू को गवाही देने वाला कहा गया है (1 यूहन्ना 5:8), इसलिए नहीं कि उन्होंने कुछ कहा या दावा किया, बल्कि वे प्रमाण एवं सबूत थे।' 'वास्तव में प्रेरित, जब उस संदर्भ में (रोमियों 8:16), कहता है कि पवित्र आत्मा हमारी आत्मा के साथ मिलकर गवाही देता है कि हम परमेश्वर की संतान हैं, तो वह अपनी बात को पूरी रीति से स्पष्ट कर देता है, बशर्ते कि उसके वचनों पर ध्यान दिया जाए। जिस बात को यहाँ पर व्यक्त किया गया है वह पहले दो पदों से जुड़ी

हुई है, जैसा कि हर एक पाठक देख सकता है, यह बात प्रेरित द्वारा वहाँ कही गई बातों का ही परिणाम है। ये तीनों पद एक साथ इस प्रकार से हैं: "क्योंकि वे सब जो परमेश्वर के आत्मा के द्वारा चलाए जाते हैं, वे परमेश्वर के सन्तान हैं। तुम ने दासत्व का आत्मा नहीं पाया है कि फिर भयभीत हो, परन्तु पुत्रों के समान लेपालकपन का आत्मा पाया है, जिससे हम 'हे अब्बा! हे पिता!' कह कर पुकारते हैं: आत्मा स्वयं हमारी आत्मा के साथ मिलकर साक्षी देता है कि हम परमेश्वर की सन्तान हैं।" यहाँ पर जो बात प्रेरित कहता है, यदि हम उसकी बातों को समग्र रूप से देखें, तो यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि जब वह इस विषय पर बात करता है कि आत्मा हमें इस बात की गवाही या प्रमाण देता है कि हम परमेश्वर की संतान हैं, तो उसका संदर्भ वास्तव में आत्मा के हमारे भीतर वास करने, और हमें लेपालकपन की आत्मा, या एक सन्तान की आत्मा के रूप में मार्गदर्शन देने से है; जो हमें परमेश्वर के प्रति ठीक वैसा ही आचरण करने के लिए प्रेरित करती है, जैसे कोई संतान अपने पिता के प्रति करता है।'[104]

हाल के लेखक भी इस विषय पर यही दृष्टिकोण रखते हैं, और यह देखकर संतोष मिलता है कि इतनी दिलचस्प बात पर सबसे प्रतिष्ठित ईश्वर-विज्ञानी लेखकों के बीच समरूपता पाई जाती है। डॉ. डिक कहते हैं, 'पवित्र आत्मा विश्वासियों के पुत्र होने की गवाही देता है, जब वह उनके मनों पर अपने कार्य के द्वारा, उनके लेपालकपन के प्रमाणों को उजागर करता है; और इस प्रकार परमेश्वर के साथ उनके सम्बन्ध को इतना अधिक स्पष्ट कर देता है, जैसे कि वह उन्हें इस विषय पर एक सुनाई देने वाली वाणी के साथ आश्वस्त करता है।'[105] डॉ. चाल्मर्स कहते हैं:

---

[104] Edwards' *Treatise Concerning Religious Affections*, pp. 131, 137. साथ में देखें Falvel's *4th Sac,*. vol. 2, p. 455, 456; Mcleod's (New York) *Life and Power of True Godliness,* p. 204.

[105] Dick's *Theological Lectures*, vol. 3. P. 415.

एक बहुत ही स्पष्ट तरीका है जिससे पवित्र आत्मा हमारी आत्मा के साथ यह गवाही दे सकता है कि हम परमेश्वर की संतान हैं या जिस रीति में, कई अनुवादों के अनुसार, पवित्र आत्मा हमारी आत्मा को यह गवाही दे सकता है, या हमारी आत्मा के लिए पुष्टि कर सकता है कि हम परमेश्वर की संतान हैं। वही है जो हमारे प्राणों में अनुग्रह के कार्य को करता है, और वह कार्य हमारी स्वयं के अंतरात्माओं के समक्ष प्रकट हो सकता है। हम अपने ही नए रूप से ढाले गए चरित्र की रूपरेखा को पढ़ सकते हैं, और इसे हमारी आत्मा का एक अभ्यास माना जा सकता है, जिसके द्वारा हम अपने भीतर विकसित हुई नई विशेषताओं के नए पहलुओं के साथ परिचित होते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम बाइबल में पढ़ सकते हैं, कि एक नए प्राणी होने के पवित्र शास्त्र वाले लक्षण क्या हैं; और चूंकि समस्त पवित्र शास्त्र परमेश्वर की प्रेरणा से दिया गया है, इसलिए यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा इस विषय पर परमेश्वर के आत्मा और हमारी आत्मा के बीच एक संयुक्त गवाही स्थापित की जा सकती है; या जिसके माध्यम से एक से दूसरे तक कोई संदेश पहुँचाया जा सकता है, ताकि वे दोनों एक ही बात पर सहमत हों – कि हम वास्तव में परमेश्वर की संतान हैं। इस बात में परमेश्वर के आत्मा की भूमिका यह है कि वह न केवल हम पर यीशु ख्रीष्ट की एक जीवित पत्री की रूपरेखा खोद कर अंकित करता है, बल्कि एक लिखित प्रकाशन के माध्यम से हमें यह भी बताता है कि ये रुपरेखाएँ वास्तव में क्या हैं। वह भाग जो स्वयं हमारी आत्मा के पास है, अंतरात्मा की दृष्टि से हम वह पढ़ते हैं जो हमारे भीतर है; और, समझ की दृष्टि से, हम वह पढ़ते हैं जो परमेश्वर की गवाही की पुस्तक में है। और हमारे द्वारा महसूस होने पर कि अनुग्रह के जो लक्षण हमें हमारे भीतर दिखाई देते हैं, ठीक वैसे ही अनुग्रह के लक्षण हैं, जिन्हें हम उस वचन के विवरण में भी देखते हैं, जिसे पवित्र आत्मा ने ही लिखवाया है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हम परमेश्वर से जन्में हैं। लेकिन इससे भी बढ़कर, यह पवित्र आत्मा का वचन है जो व्यक्ति को इन दोनों ही दिशाओं में और भी अधिक स्पष्टता से देखने में सहायता करता है, ताकि व्यक्ति के आँखों को खोले जिससे कि वह एक ओर तो बाइबल में

निहित बातों को और भी अधिक उज्जवल रूप में देख सके, और दूसरी ओर, उन बातों को भी देख सके, जो उसके स्वयं के हृदय की गहराइयों में रहस्यमय परतों के बीच दबी हुई हैं, और अधिकांश लोगों के लिए तो पूरी रीति से अनदेखी और छिपी हुई हैं।

मैं अपने सिद्धांत को स्वयं अपने अनुभव से आगे बढ़ाए बिना, परमेश्वर के आत्मा के किसी भी अन्य संकेत की पुष्टि नहीं कर सकता, सिवाय उसके, जो वह परमेश्वर के वचन को आपके लिए स्पष्ट करने के कार्य में प्रदान करता है। जिससे आप प्रेरणा लते हैं, उसकी प्रतिज्ञाएं क्या हैं – और दूसरे से, आपकी अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ क्या हैं? और पहले वाले का अनुप्रयोग दूसरे पर लागू करने से एक अत्यंत वैध तर्क सामने आता है, कि आप स्वयं उन लोगों में से एक हैं जिनका उद्धार हुआ है; और यह कोई कठोर या पेचीदा तर्क भी नहीं होगा, बल्कि इसका प्रमाण अंतर्ज्ञान के प्रकाश के समान ही त्वरित और शक्तिशाली होगा।[106]

भाग 3

यह अचूक आश्वासन विश्वास के सार से सम्बन्धित नहीं है, बल्कि एक सच्चे विश्वासी को लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है, और इससे पहले कि वह इसका भागीदार बने, उसे कई कठिनाइयों से संघर्ष करना पड़ सकता है (1 यूहन्ना 5:13; यशायाह 50:10; मरकुस 9:24; सम्पूर्ण भजन संहिता 88; भजन संहिता 77:1 – 12): फिर आत्मा द्वारा उन वस्तुओं को जानने में सक्षम बनाए जाने के कारण जिन्हें परमेश्वर ने उसे सेंतमेंत में दिया है, वह, किसी भी असाधारण प्रकाशन के बिना, अनुग्रह के सामान्य साधनों के सही उपयोग में, उन्हें प्राप्त कर सकता है (1 कुरिन्थियों 2:12; 1 यूहन्ना 4:13; इब्रानियों 6:11 – 12; इफिसियों 3:17 – 19)। और इसीलिए यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने बुलाए जाने और चुन लिए जाने को सिद्ध करने का भली भाँति

[106] Chalmers *Lectures on the Romans*, vol. 3, pp. 64-66, 68.

यत्न करे (2 पतरस 1:10); जिससे इसके कारण उसका हृदय पवित्र आत्मा की शान्ति और आनन्द में, परमेश्वर के लिए प्रेम और कृतज्ञता में, और आज्ञाकारिता के कर्तव्यों में दृढ़ता और प्रसन्नता के साथ (रोमियों 5:1 – 2, 5; 14:17; 15:13; इफिसियों 1:3 – 4; भजन संहिता 4:6 – 7; 119:32), जो कि इस आश्वासन के उचित फल हैं आगे बढ़ सके: इस रीति से यह मनुष्य को लापरवाही की ओर प्रवृत्त करने से कोसो दूर है (1 यूहन्ना 2:1 – 2; रोमियों 6:1 – 2; तीतुस 2:11 – 12, 14; 2 कुरिन्थियों 7:1; रोमियों 8:1, 12; 1 यूहन्ना 3:2 – 3 भजन संहिता 130:4; 1 यूहन्ना 6 – 7)।

भाग 4

सच्चे विश्वासियों के लिए उनके उद्धार का आश्वासन कई रीतियों से डगमगा सकता है, कम हो सकता है, और स्थगित हो सकता है; जैसे कि इसे बनाए रखने में लापरवाही के कारण; किसी विशेष भयंकर पाप में गिरने से, जो विवेक को चोट पहुँचाता है, और आत्मा को दुःखी करता है; किसी अचानक या प्रबल परीक्षा में पड़ने के कारण; परमेश्वर द्वारा अपने मुख का प्रकाश वापस लेने कारण, और यहाँ तक कि दुःख के कारण भी जिससे उनके अन्धकार में चलने और कोई प्रकाश न होने का डर रहता है (श्रेष्ठगीत 5:2 – 3, 6; भजन संहिता 51:8, 12, 14; इफिसियों 4:30 – 31; भजन संहिता 77:1 – 10; मत्ती 26:69 – 72; भजन संहिता 31:22; सम्पूर्ण भजन संहिता 88; यशायाह 50:10): फिर भी वे परमेश्वर के उस बीज, और विश्वास के जीवन, ख्रीष्ट और भाइयों के प्रेम, हृदय की उस विश्वासयोग्यता और कर्तव्य के प्रति सचेतन से कभी भी पूरी रीति से वंचित नहीं होते हैं, जिससे आत्मा के कार्य द्वारा, यह आश्वासन उचित समय में पुनः जागृत हो सकता है (1 यूहन्ना 3:9; लूका 22:32; अय्यूब 13:15; भजन संहिता 73:15; 51:8, 12; यशायाह 50:10), और जिसके द्वारा, इस बीच समय में, उन्हें घोर निराशा से बचने

के लिए सहारा दिया जाता है (मीका 7:7 – 9; यिर्मयाह 32:40; यशायाह 54:7 – 10; भजन संहिता 22:1; सम्पूर्ण भजन संहिता 88)।

व्याख्या

कि यह आश्वासन, कि कोई मनुष्य अनुग्रह की स्थिति में है विश्वास के मूल-सत्व का भाग नहीं है, इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यह आश्वासन विश्वास के फलों एवं प्रमाणों की अनुभूति से उत्पन्न होता है। और यह स्पष्ट है कि विश्वास के प्रमाणों की पहचान किए जाने से पहले, विश्वास का होना अनिवार्य है। समस्त विश्वास गवाही पर आधारित होता है; परन्तु पवित्रशास्त्र में कोई भी ऐसी गवाही नहीं है जो किसी मनुष्य के लिए यह घोषित करती हो कि वह अनुग्रह की स्थिति में है; इसलिए, यह विश्वास का लक्ष्य नहीं हो सकता। इस प्रकार का आश्वासन, जैसा कि पहले ही दिखाया जा चुका है, सामान्यतः मनन-चिंतन, या तर्क प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त होता है। लेकिन, यद्यपि इस अध्याय में वर्णित आश्वासन विश्वास के लिए अनिवार्य नहीं है, फिर भी एक ऐसा आश्वासन है जो विश्वास के मूल-तत्व का भाग है; और इस बात को हमारा अंगीकार-कथन इस अध्याय में पहचानता है, जो उद्धार देने वाले विश्वास के विषय पर चर्चा करता है। यह उद्धार देने वाले विश्वास के मुख्य कार्यों को 'उद्धार के लिए ख्रीष्ट को स्वीकार करने, ग्रहण करने, और उस पर भरोसा रखने' में निहित मानता है; और किसी भी मनुष्य के लिए यह विश्वास या भरोसा किए बिना कि वह ख्रीष्ट के द्वारा बचाया जाएगा, अपने उद्धार के लिए ख्रीष्ट पर भरोसा करना असम्भव है। जो कोई भी किसी मनुष्य के ऊपर अपने पक्ष में किसी विशेष कार्य करने के लिए भरोसा रखता है, उसे यह दृढ़-निश्चय या आश्वासन अवश्य होना चाहिए कि वह व्यक्ति उसके लिए इस कार्य को पूरा करेगा। वास्तव में, विश्वास के लिए आश्वासन इतना आवश्यक है कि इसके बिना कोई विश्वास हो ही नहीं सकता, चाहे वह मानवीय हो या ईश्वरीय। किसी बात पर विश्वास करने का अर्थ है, उस बात की सच्चाई के

प्रति दृढ़-निश्चित या आश्वस्त होना; किसी प्रतिज्ञा पर विश्वास करने का अर्थ है, इस बात के लिए दृढ़-निश्चित या आश्वस्त होना कि प्रतिज्ञा करने वाला वही करेगा जो उसने कहा है। इसी प्रकार से, उद्धार के लिए ख्रीष्ट पर विश्वास करने का अर्थ, यह दृढ़-निश्चित या आश्वस्त होना है कि हम अपने प्रभु यीशु ख्रीष्ट के अनुग्रह द्वारा बचाए जाएंगे।

इस निश्चितता को जो कि विश्वास के लिए अनिवार्य है, उसे सामान्यतः *विश्वास का आश्वासन* कहते हैं; और अनुग्रह एवं उद्धार के आश्वासन को *अनुभूति का आश्वासन* कहते हैं। कुछ लोगों द्वारा पहले वाले को *वस्तुनिष्ठ* और दूसरे वाले को *आत्मनिष्ठ* आश्वासन कहा जाता है। इन दोनों के बीच एक स्पष्ट अंतर है; पहले वाले का अभिप्राय सुसमाचार की गवाही में परमेश्वर की विश्वासयोग्यता है; जबकि दूसरे का अभिप्राय आत्मा में अनुग्रहकारी कार्य का अस्तित्व है। पहला, परमेश्वर के वचन में निहित बातों के एकमात्र दृष्टिकोण से उत्पन्न होता है; और दूसरा, उसके वचन से जो हमारे से बाहर है और उसके कार्य से जो हमारे भीतर होता है, उनके संयुक्त दृष्टिकोण से उत्पन्न होता है। पहला एक ऐसा आश्वासन है कि परमेश्वर इसी समय ख्रीष्ट को उसके उद्धार सहित, सुसमाचार के मुफ्त पेशकश और प्रतिज्ञा में प्रदान कर रहा है। दूसरा एक ऐसा आश्वासन है कि ख्रीष्ट और उसका उद्धार वास्तव में पहले ही से हमारे अधिकार और आनन्द में है। यह उद्धार देने वाले विश्वास का अविभाज्य अंग है; यह सच्चे विश्वास के अभ्यास से अलग भी है, और बहुधा वास्तव में अलग होता भी है।

इस विषय के सम्बन्ध में दो चरम हैं जिनसे बचना चाहिए। पहला यह कि विश्वास के प्रत्यक्ष कार्य में कोई आश्वासन नहीं होता, और इस आश्वासन को केवल अनुग्रहकारी अवस्था के लक्षणों एवं प्रमाणों से ही प्राप्त किया जा सकता है; दूसरा चरम है कि व्यक्तिगत उद्धार का आश्वासन उद्धार देने वाले विश्वास के लिए इतना अनिवार्य है कि कोई भी मनुष्य सच्चा विश्वासी नहीं हो सकता, जिसे अपने स्वयं के उद्धार के विषय में थोड़ा भी संदेह हो। एक ओर, हम समझते हैं कि यद्यपि अनुग्रहकारी अवस्था के

लक्षणों एवं प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला आश्वासन विश्वास के मूल-तत्व का भाग नहीं है, फिर भी विश्वास के प्रत्यक्ष कार्य में एक ऐसा आश्वासन है, जो स्वयं व्यक्ति से जुड़ी किसी भी बात पर आधारित न होकर, केवल और केवल परमेश्वर के वचन पर आधारित है; और दूसरे ओर, हालाँकि विश्वास के लिए एक आश्वासन अनिवार्य है, फिर भी विश्वासी प्रायः अपने व्यक्तिगत उद्धार को लेकर संदेह और भय से व्याकुल हो सकता है, क्योंकि अभी भी उसके भीतर बहुत अधिक अविश्वास और बुराइयाँ शेष हैं, और ये प्रायः उस पर हावी हो जाते हैं।

इन अनुभागों में निहित अन्य सत्यों को संक्षेप में बताना ही पर्याप्त होगा।

1. जिस प्रकार अनुग्रह के सामान्य साधनों के उपयोग द्वारा विश्वासी लोग अपने अनुग्रहकारी अवस्था का आश्वासन प्राप्त करते हैं, इसलिए यह उनका कर्तव्य है कि वे इसे प्राप्त करने के लिए पूरी लगन और अपने पूरे प्रयास का उपयोग करें। यह परमेश्वर के आज्ञानुसार उन पर अनिवार्य है, और यह उनके अपने सुख के लिए आवश्यक है, हालाँकि उनकी सुरक्षा के लिए नहीं।

2. यह आश्वासन सभी विश्वासियों को प्राप्त नहीं होता; और, इसका अनुभव कर लेने के बाद भी, यह कमजोर पड़ सकता है, और यहाँ तक कि कुछ समय के लिए खो भी सकता है। यह शारीरिक दुर्बलता, अपनी स्वयं की लापरवाही, परीक्षा, परमेश्वर की उस कृपा-दृष्टि जिसे पवित्रशास्त्र में परमेश्वर का अपने लोगों से अपना मुख छिपाना कहा गया है, और कभी-कभार होने वाले पाप के कारण डगमगा सकता है।

3. हालाँकि विश्वासी लोग अपने आश्वासन को खो सकते हैं, फिर भी वे कभी भी परमेश्वर के अनुग्रहकारी गुणों एवं स्वभावों से पूरी रीति से वंचित नहीं होते, न ही उन्हें घोर निराशा में डूबने के लिए छोड़ दिया जाता है; और उनका आश्वासन पवित्र आत्मा के कार्य द्वारा, उचित समय पर जागृत किया जाता है।

4. यह आश्वासन, विश्वासियों को पाप में लिप्त होने के लिए उकसाने के बजाय, उन्हें लगन से पवित्रता की खोज करने के लिए प्रेरित करता है। जो लोग अपने आश्वासन पर घमंड करते हैं, और फिर भी जानबूझकर ज्ञात पाप करते हैं, वे केवल झूठा दिखावा करने वाले हैं। सच्चा आश्वासन परमेश्वर की सभी आज्ञाओं और नियमों का पूरी रीति से पालन करने में उसके साथ-साथ करीबी से चलने के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमें उद्धार के आश्वासन की प्रवृत्ति का आंकलन इस आधार पर करना चाहिए कि हमारे प्रभु के प्रेरितों ने इसके विषय में क्या कहा है; और वे हमेशा इसे पवित्रता के लिए एक प्रेरणा के रूप में उपयोग करते हैं (रोमियों 13:11-14; 1 कुरिन्थियों 15:58; 1 यूहन्ना 3:2, 3)।

अध्याय 19

परमेश्वर की व्यवस्था

भाग 1

परमेश्वर ने आदम को कार्यों की वाचा के रूप में, एक व्यवस्था दी, जिसके द्वारा उसने उसे और उसकी समस्त सन्तानों को व्यक्तिगत, सम्पूर्ण, सटीक और सतत आज्ञाकारिता के लिए बाँधा; इसका पालन करने पर जीवन की प्रतिज्ञा की, और इसका उल्लंघन करने पर मृत्यु की चेतावनी दी; और इसका पालन करने के लिए उसे सामर्थ्य और योग्यता प्रदान की (उत्पत्ति 1:26 – 27; 2:17; रोमियों 2:14 – 15; 10:5; 5:12, 19; गलातियों 3:10, 12; सभोपदेशक 7:29; अय्यूब 28:28)।

व्याख्या

परमेश्वर ने मनुष्य को एक बुद्धिमान प्राणी बनाकर, और उसे नैतिक शासन के अधीन रखकर, उसके आचरण के नियमन हेतु उसे एक व्यवस्था प्रदान की। यह व्यवस्था परमेश्वर के असीम रूप से धर्मी स्वभाव पर, और उसके एवं मनुष्य के बीच अनिवार्य रूप से विद्यमान नैतिक सम्बन्धों पर आधारित थी। यह मूल रूप से मनुष्य के हृदय में लिखित थी, क्योंकि उसे अपने सृष्टिकर्ता की इच्छा का ऐसा पूर्ण ज्ञान प्राप्त था जो उन परिस्थितियों में जिनमें उसे रखा गया था, उसके समस्त कर्तव्यों से उसे अवगत कराने के लिए पर्याप्त था, और साथ ही उसे वह समस्त आज्ञापालन करने की शक्ति एवं सामर्थ्य भी प्रदान की गई थी, जिसकी उससे अपेक्षा की गई थी। यह परमेश्वर के नैतिक स्वरूप में सम्मिलित है, जिसके अनुसार मनुष्य को

सृजा गया था (उत्पत्ति 1:27)। इस प्रकार, प्रथम मनुष्य के हृदय में लिखित इस व्यवस्था को प्रायः सृष्टि की व्यवस्था कहा जाता है, क्योंकि यह सम्प्रभु सृष्टिकर्ता की इच्छा थी, जिसे विवेकशील प्राणी के मन एवं हृदय पर उसकी रचना के समय अंकित करके उसके समक्ष प्रकट किया गया था। इसे नैतिक व्यवस्था भी कहा जाता है, क्योंकि यह परमेश्वर की इच्छा का प्रकटीकरण था, और मनुष्य के नैतिक कार्यों के लिए एक मापदंड एवं नियम था। आदम को मूल रूप से इस व्यवस्था के अधीन इसके स्वाभाविक रूप में रखा गया था, जो केवल उसे पूर्ण आज्ञापालन के लिए निर्देशित एवं बाध्य करता था। उसे एक वाचा के रूप में इसके अधीन तब लाया गया, जब इसके साथ मृत्यु की एक स्पष्ट चेतावनी, और जीवन के लिए अनुग्रहकारी प्रतिज्ञा को जोड़ा गया था; और फिर एक सकारात्मक आज्ञा जोड़ी गई, जिसमें उसे ज्ञान के वृक्ष का फल न खाने की आज्ञा दी गई, जो सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति उसके आज्ञाकारिता की परीक्षा थी (उत्पत्ति 2:16, 17)। कि इस वाचा को पहले मानव के साथ, एक अकेले व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि उसके समस्त प्राकृतिक वंशजों के संघीय प्रतिनिधि के रूप में बाँधा गया था, यह बात पहले ही दर्शाई जा चुकी है (पृष्ठ 125 देखें)। यह व्यवस्था, जिसे एक वाचा के रूप में दिया गया, प्रेरित पौलुस द्वारा कार्यों की व्यवस्था (रोमियों 3:27) कहा गया है; अर्थात, वह व्यवस्था जो कार्यों की वाचा के रूप में है। इस रूप में, व्यवस्था को न केवल कर्तव्य निर्धारित करने वाले के रूप में, परन्तु आज्ञापालन के पुरस्कार हेतु, जीवन की प्रतिज्ञा के रूप में देखा जाना चाहिए, और इसके उल्लंघन के दंड के रूप में मृत्यु की घोषणा करने वाले के तौर पर भी देखा जाना चाहिए। यह व्यवस्था जो 'जीवन के लिए अभिषिक्त' की गई थी, अब पाप में हमारे पतित स्वभाव की भ्रष्टता के कारण, 'शरीर के माध्यम से कमजोर', हो गई है। यह ऐसी शर्तों को निर्धारित करता है जिन्हें पूरा करने में हम असमर्थ हैं; और वाचा के रूप में व्यवस्था का पालन करके जीवन पाने के लिए प्रोत्साहित किए जाने के बजाय, हमसे यह अपेक्षा की

जाती है कि हम उस तरीके से उद्धार पाने की सभी आशाओं को त्याग दें, और यीशु ख्रीष्ट में विश्वास के द्वारा ही उद्धार को प्राप्त करें। परन्तु सभी मनुष्य स्वाभाविक रूप से तोड़ी गई वाचा के रूप में व्यवस्था के अधीन हैं; उसके घृणित दंड के भागी हैं, और उसकी आज्ञापालन करने के लिए बाध्य हैं। चूंकि यह वाचा न केवल आदम के साथ उसके अपने लिए बाँधी गई थी, बल्कि उसकी समस्त सन्तानों के लिए भी बाँधी गई थी, इसलिए जब उसने इसका उल्लंघन किया, तो उसने उन सभी को इस तोड़ी गई वाचा के अधीन कर दिया। इसलिए, स्वभाव से सभी मनुष्यों की दशा अत्यंत दयनीय है; 'इसलिए जितने लोग व्यवस्था के कामों पर भरोसा रखते हैं, वे सब श्राप के अधीन हैं' (गलातियों 3:10)। सचमुच वे ही लोग भ्रम में पड़े है जो व्यवस्था के कार्यों द्वारा धार्मिकता की खोज करते हैं; 'क्योंकि व्यवस्था के कामों से कोई प्राणी परमेश्वर के समाने धर्मी नहीं ठहरेगा' (रोमियों 3:20)।

भाग 2

यह व्यवस्था, उसके पाप में पतन के बाद भी, धार्मिकता का एक आदर्श नियम बनी रही; और, इसी प्रकार से परमेश्वर ने इसे सीनै पर्वत पर दस आज्ञाओं के रूप में दिया, और दो पट्टिकाओं पर लिखा (याकूब 1:25; 2:8, 10 – 12; रोमियों 13:8 – 9; व्यवस्थाविवरण 5:32; 10:4; निर्गमन 34:1); पहली चार आज्ञाओं में परमेश्वर के प्रति हमारा कर्तव्य और बाकी छः में मनुष्य के प्रति हमारा कर्तव्य सम्मिलित है (मत्ती 22:37 – 40)।

व्याख्या

मनुष्य के पाप में पतन के पश्चात्, व्यवस्था को जिसे कार्यों की वाचा माना गया है, उसे रद्द कर दिया गया और एक ओर हटा दिया गया; परन्तु इसे

नैतिक व्यवस्था माना गया, इसमें धार्मिकता का एक सिद्ध नियम है। व्यवस्था की यह सुन्दर प्रति, जिसे प्रथम मानव के हृदय में उसके सृष्टि के समा लिखा गया था, पाप में पतन के द्वारा, बहुत अधिक विकृत हो गई, हालाँकि पूर्ण रूप से मिट नहीं गई थी। सभी समझदार प्राणियों के मन में अभी भी इसकी कुछ धुंधली छाप बाकी है। इसके सामान्य सिद्धांत, जैसे कि, परमेश्वर की आराधना करनी है, माता-पिता का आदर करना है. कि हमें दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना है, जैसा हम चाहते हैं कि वे हमारे साथ करें – ऐसे सामान्य सिद्धांत अभी भी है, और कुछ हद तक, सभी मनुष्यों के मनों में लिखे गए हैं (रोमियों 2:14, 15)। परन्तु, चूंकि व्यवस्था का मूल संस्करण बहुत अधिक मिट चुका है, परमेश्वर को कृपापूर्वक भाया कि वह इसकी एक नई और सम्पूर्ण प्रति प्रदान करे। उसने अत्यंत गम्भीरता और गरिमा के साथ, सीने पर्वत से इसे इस्रालियों के लिए दिया। व्यवस्था की इस घोषणा में, उसने इसे दस आज्ञाओं में संक्षेप में प्रस्तुत किया; और, इसलिए, इसे आमतौर पर दस आज्ञाओं वाली व्यवस्था कहा जाता है। इन आज्ञाओं को स्वयं परमेश्वर की उंगली से पत्थर की दो पट्टियों पर लिखा गया था (निर्गमन 32:15, 16; 34:1)। पहली चार आज्ञाओं में परमेश्वर के प्रति हमारा कर्तव्य निहित है, और शेष छह में मनुष्य के प्रति हमारा कर्तव्य; और हमारे उद्धारकर्ता द्वारा इन्हें दो महान आज्ञा में सारांशित किया गया है: परमेश्वर से अपने सारे मन व हृदय से प्रेम करना और अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम करना (मत्ती 22:37 – 40)।

रोम के चर्च ने पहली तालिका में केवल तीन, और दूसरी तालिका में सात नियम रखे हैं। वे पहली और दूसरी आज्ञाओं को एक साथ जोड़ देते हैं, और इसका एक स्पष्ट कारण है। अलग से देखें, तो दूसरी आज्ञा परमेश्वर की आराधना में मूर्तियों के प्रयोग को मना करती है, और यह आज्ञा उस चर्च की इस प्रथा की स्पष्ट रूप से निंदा करती है; लेकिन, यदि इसे पहली आज्ञा के साथ एक परिशिष्ट के रूप में देखा जाए, तो जैसा कि वे दावा

करते हैं, यह केवल झूठे देवताओं की मूर्तियों की पूजा करने से ही मना करती है; और परिणामस्वरूप, यह उन्हें उन मूर्तियों की पूजा करने की स्वतंत्रता देती है, जिन्हें उन्होंने सच्चे परमेश्वर और उसके संतों के सम्मान में प्रतिष्ठापित किया है। इस प्रकार, दो आज्ञाओं को मिलाकर एक बना देने के बाद, दस की संख्या को पूरा करने के लिए, उन्होंने दस आज्ञाओं में से अन्तिम आज्ञा को दो भागों में बाँट दिया, जिसमें 'तू अपने पड़ोसी के घर का लालच न करना', को एक आज्ञा बनाया गया, और इसके बाद आने वाले वचनों को दूसरी आज्ञा।

इस विभाजन को सही नहीं ठहराया जा सकता। पहले दो नियम स्पष्ट रूप से अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित हैं। पहला आराधना के विषय की ओर संकेत करता है, अर्थात जीवित और सच्चा परमेश्वर, और कोई अन्य नहीं। दूसरी आज्ञा आराधना के साधन के रूप में न तो किसी मूर्ती को, और न ही किसी मनुष्य द्वारा गढ़ी गई किसी अन्य योजना को निर्धारित करती है, बल्कि यह उन विधियों को निर्धारित करती है, जो स्वयं परमेश्वर द्वारा नियुक्त किए गए हैं। दसवीं आज्ञा भी उतनी ही स्पष्ट रूप से एक एवं अविभाज्य है। इसका सम्पूर्ण भाग एक ही विषय से सम्बन्धित है – लालच, या अवैध इच्छा; और यदि इसे दो भागों में बाँटा जाना चाहिए, क्योंकि 'तू लालच न करना' दो बार दोहराया गया है, तो इसका अर्थ यह होगा कि इसे उतने ही आज्ञाओं में बाँटा जाना चाहिए, जितने कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का इसमें उल्लेख किया गया है; क्योंकि ये शब्द 'तू लालच न करना' इन सभी वस्तुओं के साथ जुड़ा हुआ ही समझा जाना चाहिए। प्रेरित पौलुस स्पष्ट रूप से इसे एक ही आज्ञा के रूप में बताता है, जब वह कहता है: 'मैं पाप को न जान पाता, क्योंकि यदि व्यवस्था न कहती, "लालच मत कर", तो मैं लालच के विषय में न जान पाता' (रोमियों 7:7)।

यह टिप्पणी की जा सकती है, कि दस आज्ञाओं की व्यवस्था को इस्राएल के लिए सीने पर्वत से, कार्यों की वाचा के रूप में, जारी किया

गया था। ऐसा नहीं था कि परमेश्वर की यह योजना थी कि वह इस्राएल के साथ कार्यों की वाचा को फिर से स्थापित करे, अथवा उन्हें व्यवस्था के प्रति अपनी स्वयं की आज्ञाकारिता के द्वारा अनन्त जीवन की खोज करने में लगाए; परन्तु व्यवस्था उनके सामने कार्यों की वाचा के रूप में प्रस्तुत की गई थी, ताकि उन्हें दिखाया जा सके कि बिना सिद्ध धार्मिकता के, जो कि व्यवस्था की सभी माँगों को पूरा करता है, वे परमेश्वर के सामने धर्मी नहीं ठहराए जा सकते थे। और ताकि, जब वे स्वयं को उस धार्मिकता से पूरी रीति से वंचित पाएँ, तो वे अनुग्रह की वाचा को थामने के लिए प्रेरित हों, जिसमें उनके धर्मी ठहराए जाने हेतु एक सिद्ध धार्मिकता का अनुग्रहपूर्वक प्रावधान किया गया है। सीने पर्वत पर लेनदेन की एक मिश्रित व्यवस्था थी। इसमें अनुग्रह की वाचा को प्रकाशित किया गया था, जैसा कि आज्ञाओं से पहले आने वाली प्रस्तावना के इन शब्दों से स्पष्ट होता है: 'मैं तेरा परमेश्वर यहोवा हूँ, जो तुझे मिस्र देश अर्थात दासत्व के घर से निकाल ले आया'; और साथ ही, उसी समय अनुष्ठानिक व्यवस्था की घोषणा से भी। परन्तु कार्यों की वाचा के रूप में, नैतिक व्यवस्था, भी प्रदर्शित की गई, ताकि इस्रालियों को उनके पापमय स्वभाव एवं दुर्दशा का बोध कराया जा सके, उन्हें प्रायश्चित की अनिवार्यता सिखाई जा सके, और उन्हें विश्वास के द्वारा उस धन्य मध्यस्थ, अब्राहम से प्रतिज्ञात उस वंशज को स्वीकार करने की ओर अग्रसर किया जा सके, जिसके द्वारा पृथ्वी के समस्त कुल या परिवार आशीष पाने वाले थे। इसलिए, व्यवस्था को सीने पर्वत पर कार्यों की वाचा के रूप में, और अनुग्रह की वाचा के अधीन रहते हुए प्रकट किया गया था। और आज भी यह व्यवस्था सुसमाचार के अधीन रहते हुए प्रकट की जाती है, मानों 'वह एक ऐसा शिक्षक हो जो पापियों को ख्रीष्ट के पास ले जाए, ताकि वे विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराए जा सकें' (गलातियों 3:24)।

भाग 3

इस व्यवस्था के अतिरिक्त, जिसे सामान्यतः नैतिक कहा जाता है, परमेश्वर को अच्छा लगा कि उस युग में कलीसिया के रूप में, इस्राएली लोगों को अनुष्ठानिक व्यवस्था दे, जिनमें कई विशिष्ट अध्यादेश, आंशिक रूप से आराधना के नियम सम्मिलित थे, जो ख्रीष्ट को, उसके अनुग्रहों, कार्यों, दुःखों, एवं लाभों का पूर्व-चित्रण करते थे (पूरा इब्रानियों 9; इब्रानियों 10:1; गलातियों 4:1 – 3; कुलुस्सियों 2:17); और आंशिक रूप से नैतिक कर्तव्यों के विविध निर्देशों से निहित थे (1 कुरिन्थियों 5:7; 2 कुरिन्थियों 6:17; यहूदा 1:23)। ये सभी अनुष्ठानिक व्यवस्थाएँ अब नए नियम के तहत निरस्त कर दिए गए हैं (कुलुस्सियों 2:14, 16 – 17; दानिय्येल 9:27; इफिसियों 2:15 – 16)।

भाग 4

उन्हें, एक राजनीतिक निकाय के रूप में, उसने कई न्यायिक व्यवस्थाएँ भी दिए, जो उन लोगों के देश के साथ समाप्त हो गए, और अब एक सामान्य न्याय संगतता की अपेक्षा से अधिक किसी अन्य को बाध्य नहीं करते हैं (पूरा निर्गमन 21; निर्गमन 22:1 – 29; उत्पत्ति 49:10; 1 पतरस 2:13 – 14; मत्ती 5:17 के साथ मत्ती 5:38 – 39; 1 कुरिन्थियों 9:8 – 10)।

भाग 5

नैतिक व्यवस्था सभी को, जिस रीति से धर्मी ठहराए गए व्यक्तियों को, वैसे ही अन्य लोगों को भी, सदैव इसके पालन के लिए बाँधती है (रोमियों 13:8 – 10; इफिसियों 6:2; 1 यूहन्ना 2:3 – 4, 7 – 8); और यह केवल इसमें निहित विषय के सम्बन्ध में ही नहीं, परन्तु उस सृष्टिकर्ता परमेश्वर के अधिकार के सम्बन्ध में भी है, जिसने इसे दिया है (याकूब

2:10 – 11)। सुसमाचार में ख्रीष्ट ने इस दायित्व को किसी भी रीति से समाप्त नहीं किया है, बल्कि इसे अधिक दृढ़ बनाया है (मत्ती 5:17 – 19; याकूब 2:8; रोमियों 3:31)।

व्याख्या

नैतिक व्यवस्था के अतिरिक्त, परमेश्वर ने इस्राएलियों को *धार्मिक अनुष्ठानिक* एवं *न्यायिक* व्यवस्था भी दिए; इन दोनों का उपयोग सीमित एवं अस्थायी है; जबकि नैतिक व्यवस्था सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक रूप से बाध्यकारी है।

1. अनुष्ठानिक व्यवस्था यहूदियों से उनके धार्मिक, या एक कलीसिया के रूप में सम्बन्धित थी, और रीति-रीवाजों एवं शारीरिक विधियों को निर्धारित करती थी, जिनका पालन उन्हें परमेश्वर की बाहरी आराधना के दौरान करना होता था। ये धार्मिक विधियाँ मुख्य रूप से ख्रीष्ट को पूर्व-संकेत (prefigure) करने या उसके प्रतिरूप थे, और उसके द्वारा मिलने वाले उद्धार के मार्ग का ज्ञान देने के लिए बनाए गए थे (इब्रानियों 10:1)। नए नियम के विधान के अंतर्गत इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है। यह इस प्रकार स्पष्ट होता है:

(क) स्वयं व्यवस्था की प्रकृति से। यह व्यवस्था यहूदियों को इसलिए दी गई थी, ताकि उन्हें अन्य राष्ट्रों के मूर्ति-पूजा सम्बन्धी रीति-रीवाज़ों से अलग रखा जा सके, और उनके धर्म को अशुद्ध होने से बचाया जा सके। लेकिन जब सुसमाचार का प्रचार सभी राष्ट्रों में किया गया, और यहूदियों एवं गैर-यहूदियों को ख्रीष्ट उनके सिर के अधीन, एक ही देह में एकत्रित किया गया, तो अलगाव की वह दीवार गिरा दी गई (इफिसियों 2:14, 15)।

(ख) क्योंकि ये धार्मिक विधियाँ भविष्य में आने वाली अच्छी वस्तुओं के प्रतीक मात्र थीं, जो कि धर्म-सुधार के समय तक यहूदियों पर लागू थीं,

और ख्रीष्ट के द्वारा समाप्त कर दी गई थीं, जिसमें ये विधियाँ सम्पूर्ण हुईं और साकार हुईं (इब्रानियों 9:9 – 12)।

(ग) चूंकि ये विधियाँ ख्रीष्ट का और उसकी मृत्यु का प्रतीक और प्रतिनिधित्व करने के लिए इस्राएलियों को दी गई थीं; और, चूंकि ख्रीष्ट आ चुका है, और उसने अपनी मृत्यु और प्रायश्चित के द्वारा वह सब कुछ पूरा कर दिया है जिनके वे पूर्व-प्रतीक थे, इसलिए इन प्रतीकों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए (कुलुस्सियों 2:17)।

(घ) क्योंकि इनमें से अनेक अनुष्ठान यरूशलेम के मंदिर तक ही सीमित थे, और अब जब वह मंदिर नष्ट हो चुका है, तो इन अनुष्ठानों का भी उसके साथ ही समाप्त हो जाना अनिवार्य है।

(ङ) क्योंकि प्रेरितों ने स्पष्ट रूप से सिखाया है कि मसीही युग में अनुष्ठानिक व्यवस्था रद्द कर दी गई है (प्रेरितों के काम 15:24)। इब्रानियों को लिखे गए पत्र का एक मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि इस व्यवस्था का रद्द होना अनिवार्य है (इब्रानियों 7:12)।

2. *न्यायिक* व्यवस्था का सम्बन्ध यहूदियों के साथ उनकी राजनैतिक क्षमता, या एक राष्ट्र के रूप में थी, और इसमें वे नियम सम्मिलित थे जिन्हें परमेश्वर ने उनके नागरिक प्रशासन के लिए निर्धारित किए थे। यह व्यवस्था भी, जहाँ तक यहूदी शासन-व्यवस्था की विशिष्टता थी, पूरी रीति से समाप्त कर दी गई है; परन्तु जहाँ तक इसमें कोई ऐसा विधान सम्मिलित है जो सभी राष्ट्रों के लिए समान प्रकृति की व्यवस्था पर आधारित है, तो यह अब भी बाध्यकारी है।

3. *नैतिक* व्यवस्था को यह नाम इसलिए दिया गया क्योंकि यह नैतिक कार्यों से सम्बन्धित है, और ताकि इसे सकारात्मक व्यवस्था से अलग किया जा सके, जिनकी बाध्यता केवल अस्थायी थी। इस व्यवस्था का समय एवं स्थान से, या किसी एक राष्ट्र से दूसरे की तुलना में, कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु यह मनुष्यों और उनके सृष्टिकर्ता के बीच, और

आपस में उनके सम्बन्धों पर आधारित होने के कारण, सभी युगों व परिस्थितियों में अपना अधिकार बनाए रखता है। एंटीनोमियन लोगों (व्यवस्था-विरोधी) के विपरीत, जो कहते हैं कि विश्वासियों को नैतिक व्यवस्था के पालन की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया है, हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है कि यह व्यवस्था, धर्मी ठहराए गए मनुष्यों के साथ-साथ अन्य लोगों पर भी सर्वकालिक रूप से बाध्यकारी है। विश्वासी लोग, वास्तव में, इस व्यवस्था के वाचा वाले रूप से स्वतंत्र हो चुके हैं; परन्तु वे अब भी मध्यस्थ ख्रीष्ट के हाथों में, जीवन के एक नियम के रूप में इसके अधीन हैं, अर्थात, 'जो परमेश्वर की व्यवस्था से रहित नहीं, परन्तु मसीह की व्यवस्था के अधीन' हैं(1 कुरिन्थियों 9:21)। ख्रीष्ट ने अत्यंत गम्भीर एवं स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि वह 'व्यवस्था को नष्ट करने के लिए नहीं आया, परन्तु पूर्ण करने आया' (मत्ती 5:17)। उसने एक वाचा के रूप में, अपनी पूर्ण आज्ञाकारिता, और अपने लोगों के स्थान पर सहे गए अपने अत्यंत कष्टदायक दुःखों के द्वारा इसे पूरा किया; और इसके ईश्वरीय निर्देशों को, कर्तव्य के एक सिद्ध नियम के रूप में, उसने अत्यंत सशक्त प्रेरणाओं के द्वारा उनके मन में दृढ़तापूर्वक स्थापित किया है। सुसमाचार, व्यवस्था के दायित्व को कमजोर करने के बजाय, उसके अधिकार की पुष्टि करता है और उसे सुदृढ़ करता है, और अत्यंत प्रबल प्रेरणाओं के द्वारा इसकी आज्ञाओं के पालन को अनिवार्य बनाता है: तो क्या हम विश्वास के द्वारा व्यवस्था को विफल करते हैं? कदापि नहीं! इसके विपरीत, हम व्यवस्था को दृढ़ करते हैं (रोमियों 3:31)। यद्यपि विश्वासियों के लिए नैतिक व्यवस्था अपने वाचा वाले रूप से स्वतंत्र हो चुकी है, फिर भी अपने विषय-वस्तु एवं अपने अधिकार, दोनों ही के सम्बन्ध में, यह अपरिवर्तनीय रूप से उसी प्रकार से बनी रहती है। और जैसे जीवन के नियम के रूप में व्यवस्था पहले मनुष्य पर बाध्यकारी था, परमेश्वर और उसके बीच किसी भी वाचा वाले लेनदेन से पहले, तो हम सहजता से यह

समझ सकते हैं कि व्यवस्था को इसके वाचा वाले रूप से पूरी रीति से अलग किया जा सकता है, जबकि इसी समय पर यह नैतिक आचरण के एक नियम के रूप में पूरी रीति से प्रभावी बना रहता है।

भाग 6

यद्यपि सच्चे विश्वासी, कार्यों की वाचा के रूप में व्यवस्था के अधीन नहीं हैं, जिसके कारण उन्हें धर्मी या दोषी ठहराया जा सके (रोमियों 6:14; गलातियों 2:16; 3:13; 4:4 – 5; प्रेरितों के काम 13:39; रोमियों 8:1); फिर भी यह उनके लिए, और साथ में अन्य लोगों के लिए बहुत उपयोगी है; क्योंकि, जीवन के नियम के रूप में, परमेश्वर की इच्छा और उनके कर्तव्य के विषय में उन्हें सूचित करने के लिए, यह उन्हें इसके अनुसार निर्देशित एवं बाध्य करता है (रोमियों 7:12, 22, 25; भजन संहिता 119:4 – 6; 1 कुरिन्थियों 7:19; गलातियों 5:14, 16, 18 – 23); साथ में उनके स्वभाव, हृदयों, एवं जीवनों के पापमय अशुद्धियों को भी उजागर करता है (रोमियों 3:20; 7:7); जिससे कि, इसके द्वारा स्वयं की जाँच करने से, वे पाप के प्रति और अधिक दोषानुभूति कर सकें, उसकी निन्दा करें, और उससे घृणा करें (याकूब 1:23 – 25 रोमियों 7:9, 14, 24;); साथ में उन्हें यह स्पष्ट दृष्टि अधिकता से प्राप्त हो सके, कि ख्रीष्ट, और उसके आज्ञापालन की सिद्धता की उन्हें कितनी अधिक आवश्यकता है (रोमियों 7:24 – 25; 8:3 – 4; गलातियों 3:24)। इसी रीति से यह नया जन्म प्राप्त लोगों के लिए भी उपयोगी है, क्योंकि यह पाप को रोकता है (याकूब 2:11; भजन संहिता 119:101, 104, 128); और इसके लिए चेतावनियाँ यह दिखाने का कार्य करती हैं कि उनके पाप की मजदूरी क्या है, और इस जीवन में उनके लिए किन कष्टों की अपेक्षा वे कर सकते हैं, भले ही वे उन अभिशापों से स्वतंत्र हैं जिनकी चेतावनी व्यवस्था में दी गई है (एज्रा 9:13 – 14; भजन संहिता 89:30

– 34)। इसी प्रकार से, इसकी प्रतिज्ञाएँ उन्हें दिखाती हैं, आज्ञाकारिता के प्रति परमेश्वर की स्वीकृति, तथा इसके आज्ञापालन से वे किन आशीषों की अपेक्षा कर सकते हैं (लैव्यव्यवस्था 26:1, 10; 26:14; 2 कुरिन्थियों 6:16; इफिसियों 6:2 – 3; भजन संहिता 37:11; मत्ती 5:5; भजन संहिता 19:11); यद्यपि व्यवस्था के द्वारा कार्यों की वाचा के रूप में उनकी कमाई के रूप में नहीं (गलातियों 2:16; लूका 17:10) जैसे कि मनुष्य का भलाई करना, और बुराई से दूर रहना, क्योंकि व्यवस्था एक को प्रोत्साहित करता है और दूसरे को रोकता है, इसका यह प्रमाण नहीं है कि वह व्यवस्था के अधीन है, और अनुग्रह के अधीन नहीं है (रोमियों 6:12, 14; 1 पतरस 3:8 – 12; भजन संहिता 34:12 – 16; इब्रानियों 12:28 – 29)।

भाग 7

व्यवस्था के उपर्युक्त उपयोग सुसमाचार के अनुग्रह के विपरीत नहीं हैं, बल्कि वे उसके साथ मधुरता से अनुपालन करते हैं (गलातियों 3:21); ख्रीष्ट का आत्मा उस कार्य को स्वतंत्र रूप से और प्रसन्नता से करने के लिए मनुष्य की इच्छा को वश में करता और सक्षम बनाता है, जिसे कि व्यवस्था में प्रकट, परमेश्वर की इच्छा, का पालन करने की अपेक्षा करता है (यहेजकेल 36:27; इब्रानियों 8:10; यिर्मयाह 31:33)।

व्याख्या

यहाँ यह पुष्टि की जाती है, कि सच्चे विश्वासी, कार्यों की वाचा के रूप में व्यवस्था से पूर्ण रीति से स्वतंत्र है। यीशु ख्रीष्ट ने, उनके प्रतिनिधि एवं जामिन के रूप में, अपनी मृत्यु तक के अपने दुःखों में, व्यवस्था के श्राप को उसकी पूरी कड़वाहट और उसकी चरम सीमा तक सहा, और इस प्रकार इसके दोषी ठहराने वाली शक्ति से उन्हें पूरी रीति से स्वतंत्र कर

दिया (गलातियों 3:13; रोमियों 8:1)। लेकिन यदि ख्रीष्ट ने केवल व्यवस्था के श्राप की सहा होता, और फिर भी अपने लोगों को वाचा के रूप में इसकी आज्ञाकारिता वाली शक्ति के अधीन ही छोड़ दिया होता, तो यह उन्हें केवल उसी परीक्षा की अनिश्चित स्थिति में वापस ले आता जिसमें आदम मूल रूप से था, और व्यवस्था का प्रत्येक उल्लंघन उन्हें फिर से उसी श्राप के अधीन कर देता। किंतु, ख्रीष्ट ने न केवल व्यवस्था के दण्ड को पूर्ण रीति से सहा, बल्कि इसकी आज्ञाओं का पूर्ण पालन भी किया, और इस प्रकार, उसने अपने लोगों के लिए व्यवस्था की आज्ञाकारिता के साथ-साथ इसके दोष ठहराने वाली शक्ति से भी स्वतंत्रता को प्राप्त किया। इस स्वतंत्रता के पूर्ण स्वरूप को दिखाने के लिए, हमें बताया गया है कि ख्रीष्ट की देह के द्वारा वे व्यवस्था के लिए मरे हुए बन गए हैं; क्योंकि हर एक विश्वास करनेवाले के लिए धार्मिकता के निमित्त मसीह व्यवस्था का अन्त है; और वे व्यवस्था के अधीन नहीं वरन् अनुग्रह के अधीन हैं (रोमियों 7:4; 10:4; 6:14)।

एक वाचा के रूप में, व्यवस्था से विश्वासी की स्वतंत्रता का सिद्धांत दुराचार की ओर प्रेरित नहीं करता है; क्योंकि यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है कि वे जीवन के नियम के रूप में व्यवस्था के अधीन हैं; और यहाँ पर भी यही दिखाया गया है कि व्यवस्था उनके लिए, एवं दूसरों के भी अनेक प्रकार से उपयोगी है। प्रेरित पौलुस कहता है, 'यदि कोई व्यवस्था को उचित रीति से काम में लाए तो वह भली है' (1 तीमुथियुस 1:8); अर्थात, यदि वह इसका उपयोग उस स्थिति के अनुरूप करे जिसमें वह है – चाहे एक विश्वासी के रूप में या एक नास्तिक के रूप में। नया जन्म नहीं पाए हुए और नया जन्म पाए हुए, अर्थात दोनों ही प्रकार के लोगों के लिए, व्यवस्था अनेक एवं महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इनमें से कुछ उपयोगों को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है।

पहला, नया जन्म नहीं पाए हुए लोगों के लिए नैतिक व्यवस्था निम्न तरीकों से उपयोगी है:

क. उन्हें बहुत पाप से रोकने के लिए (1 तीमुथियुस 1:9)।

ख. उन्हें उनकी पापमयता और दुःख व दुर्दशा के विषय में कायल करने के लिए (रोमियों 3:20; 7:9)।

ग. उनके लिए ख्रीष्ट की उनकी परम आवश्यकता का बोध कराने, और उन्हें उनके सर्व-पर्याप्त उद्धारकर्ता के रूप में ख्रीष्ट की ओर ले जाने के लिए (गलातियों 3:24)।

घ. उन्हें निरुत्तर ठहराने के लिए, यदि वे अपने पापों में बने रहते हैं, और अंततः पाप में खोए हुए पापियों के एकमात्र उद्धारकर्ता को अस्वीकार कर देते हैं (रोमियों 1:20; 2:15; यूहन्ना 3:18, 36)।

दूसरा, नया जन्म पाए हुए लोगों के लिए नैतिक व्यवस्था निम्न तरीकों से उपयोगी है:

क. ख्रीष्ट को उनके लिए और भी अनमोल बनाने, और उनके मन में उसके प्रति कृतज्ञता जगाने के लिए, जिसने उनसे इतना प्रेम किया कि उसने इस व्यवस्था की आज्ञाओं का पालन किया और इसके दण्ड को भी सहा, ताकि वह उन्हें इसके एक वाचा वाले रूप से स्वतंत्र कर सके (गलातियों 3:13; 4:4, 5)।

ख. उन्हें परमेश्वर की इच्छा दिखाने, और उसके अनुसार उनके आचरण को नियमित करने के लिए (मीका 6:8)।

ग. स्वयं के परीक्षण के एक मापदण्ड के रूप में कार्य करने के लिए, ताकि वे अपने हृदयों और जीवनों की अशुद्धियों को पहचानने के लिए – उन्हें नम्र बनाने के लिए – उन्हें ख्रीष्ट पर निरन्तर निर्भरता

की ओर ले जाने के लिए, और उन्हें पवित्रता में निरन्तर प्रगति करने हेतु प्रेरित करने के लिए (फिलिप्पियों 3:10 - 14)।

घ. उनकी विश्वासयोग्यता की परख करने के लिए, जिससे कि वे अपने हृदयों को यह आश्वासन दे सकें कि वे सत्य के हैं, और कि वे अपने कर्तव्यों में अनेक कमियों के बावजूद अपने भीतरी मनुष्यत्व के अनुसार परमेश्वर की व्यवस्था में आनन्द पाते हैं (1 यूहन्ना 3:19; रोमियों 7:22, 25; 2 कुरिन्थियों 1:12)।

अध्याय 20

मसीही स्वतंत्रता, और विवेक की स्वतंत्रता

भाग 1

सुसमाचार के तहत ख्रीष्ट ने विश्वासियों के लिए जिस स्वतंत्रता को मोल लिया, उसमें पाप के दोष से, परमेश्वर के दोषी ठहराने वाले क्रोध से, नैतिक व्यवस्था के अभिशाप से उनकी स्वतंत्रता है (तीतुस 2:14; 1 थिस्सलुनीकियों 1:10; गलातियों 3:13); और इस वर्तमान दुष्ट संसार से, शैतान के दासत्व से, और पाप के प्रभुत्व से (गलातियों 1:4; कुलुस्सियों 1:13; प्रेरितों के काम 26:18; रोमियों 6:14), कष्टों की दुष्टता से, पाप के डंक से, कब्र की विजय से, और अनन्त दण्ड से उनका छुड़ाया जाना है (रोमियों 8: 28; भजन संहिता 119:71; 1 कुरिन्थियों 15:54 – 57; रोमियों 8:1); और साथ में परमेश्वर तक उनकी स्वतंत्र पहुँच में (रोमियों 5:1 – 2), और उसके प्रति आज्ञाकारिता में उनके इच्छुक बनने में स्वतंत्रता है, दासत्व के भय से नहीं, बल्कि बच्चों – जैसे प्रेम और तत्पर मन से (रोमियों 8:14 – 15; 1 यूहन्ना 4:18)। ये सभी बातें व्यवस्था के अधीन विश्वासियों के लिए भी समान थीं (गलातियों 3:9, 14);[च] परन्तु नए नियम के तहत उस अनुष्ठानिक व्यवस्था के बन्धन से, जिसके अधीन यहूदी कलीसिया थी (गलातियों 4:1 – 3, 6 – 7; 5:1; प्रेरितों के काम 15:10 – 11); और अनुग्रह के सिंहासन तक पहुँच के लिए अधिक साहस में (इब्रानियों 4:14, 16; 10:19 – 22), और परमेश्वर के स्वतंत्र आत्मा के अधिक पूर्णतः से दिए जाने में, मसीही लोगों की स्वतंत्रता को और अधिक बढ़ा दिया गया है, जो कि व्यवस्था के अधीन

विश्वासियों को सामान्यतः प्राप्त नहीं थी (यूहन्ना 7:38 – 39; 2 कुरिन्थियों 3:13, 17 – 18)।

व्याख्या

नागरिक स्वतंत्रता यथोचित रूप से एक अमूल्य विशेषाधिकार माना जाता है, और जब यह खो जाए तो इसे पुनः पाने के लिए, या जब इसका आनन्द लेते समय इसकी रक्षा करने के लिए, कोई भी बलिदान बहुत बड़ा नहीं समझा जाता है। यद्यपि नागरिक स्वतंत्रता बहुत मूल्यवान है, फिर भी इस बात पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि वह स्वतंत्रता, जिसके द्वारा ख्रीष्ट अपने लोगों को स्वतंत्र करता है, उसकी कामना करना कहीं अधिक श्रेष्ठ है। जिस प्रकार अनुपात में आत्मा का मूल्य शरीर से ऊपर है, उसी रीति से जो स्वतंत्रता एक से सम्बन्धित है वह उस स्वतंत्रता से बहुत ऊपर होनी चाहिए, जो केवल दूसरे से सम्बन्धित है। जिन लोगों को यीशु ख्रीष्ट स्वतंत्र करता है, वे सचमुच में स्वतंत्र है (यूहन्ना 8:36)। मसीही स्वतंत्रता को या तो हर युग के विश्वासियों के लिए एक साझा अधिकार के रूप में, या फिर नए युग के अंतर्गत परमेश्वर की संतानों के लिए एक विशेषाधिकार के रूप में देखा जा सकता है। वह स्वतंत्रता, जो सभी युगों के विश्वासियों में समान है, उनकी स्वतंत्रता में निहित है:

1. *पाप के दोष और उसके प्रभुत्व से*। पाप के दोष का अर्थ है, पाप के कारण अनन्त दण्ड भोगने का दायित्व। इससे विश्वासियों को क्षमाशील दया के एक कार्य द्वारा स्वतंत्र किया जाता है, जो ख्रीष्ट के लहू के आधार पर प्रदान किया जाता है। 'हमें, उसमें, उसके लहू के द्वारा छुटकारा, अर्थात हमारे अपराधों की क्षमा, उसके अनुग्रह के धन के अनुसार मिली है' (इफिसियों 1:7)। परन्तु पाप के साथ न केवल पाप का दोष ही जुड़ा नहीं होता, बल्कि पाप, पापी मनुष्य पर अपना कठोर प्रभुत्व भी जमा लेता है। पाप के इस प्रभुत्वकारी शक्ति से ख्रीष्ट अपने लोगों को उनके नए जन्म वाले दिन स्वतंत्र करता है। और हालाँकि पाप अभी भी उनमें वास करता

है, लेकिन उनके प्रगतिशील पवित्रीकरण में उसकी शक्ति धीर-धीरे कमजोर पड़ती जाती है, और उचित समय में इसका अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाएगा। इसलिए, प्रेरित पौलुस विश्वासियों को इस प्रकार सम्बोधित करता है: 'पाप तुम पर प्रभुता करने नहीं पाएगा'; 'परन्तु जब पाप से स्वतंत्र होकर और परमेश्वर के दास बनकर तुम्हें यह फल मिला, जिसका परिणाम पवित्रता और जिसका अंत अनन्त जीवन है' (रोमियों 6:14, 22)।

2. *परमेश्वर के दण्ड देने वाले क्रोध से*। परमेश्वर के क्रोध तले सभी मनुष्य स्वाभाविक रीति से घृणित हैं। आज्ञा न मानने वाली सन्तान होने के नाते, वे क्रोध की सन्तान भी हैं (इफिसियों 2:2, 3)। परन्तु, उन पर ख्रीष्ट की धार्मिकता के अभ्यारोपित किए जाने के आधार पर, विश्वासी लोग परमेश्वर के क्रोध से पूरी रीति से स्वतंत्र हैं। 'अतः अब उन पर जो मसीह यीशु में हैं, दण्ड की आज्ञा नहीं' (रोमियों 8:1)। परमेश्वर उन से अपना मुख भले ही छिपा ले, परन्तु उसका न्यायिक क्रोध उन से सदा के लिए दूर कर दिया जाता है (यशायाह 54:9, 10; रोमियों 5:10)।

3. *एक टूटी वाचा के रूप में, व्यवस्था के श्राप से*। इस श्राप के अधीन सभी मनुष्य स्वाभाविक रूप से आते हैं; क्योंकि यह लिखा है: जो कोई व्यवस्था की पुस्तक में लिखी हुई सब बातों के करने में स्थिर नहीं रहता, वह श्रापित है (गलातियों 3:10)। परन्तु ख्रीष्ट ने अपने लोगों के जामिन के रूप में उस श्राप को सहकर, उन सभी को उससे छुटकारा दिया जो उसमें पाए जाते हैं। इसलिए प्रेरित पौलुस कहता है: मसीह ने जो हमारे लिए शापित बना, हमें मोल लेकर व्यवस्था के श्राप से छुड़ाया (गलातियों 3:13)। हालाँकि, विश्वासी लोग जीवन के नियम के रूप में नैतिक व्यवस्था के अधीन हैं, फिर भी वे कार्यों की वाचा के रूप में उससे पूरी रीति से स्वतंत्र हैं – वे उसकी आज्ञा देने वाली एवं दोषी ठहराने वाले सामर्थ्य दोनों से स्वतंत्र हैं; और इसलिए, वे अपने अपराधों के कारण इसके श्राप के अधीन नहीं किए जा सकते। 'तुम व्यवस्था के अधीन नहीं वरन् अनुग्रह

के अधीन हो' (रोमियों 6:14)। 'परन्तु जिस के बन्धन में हम थे उसके लिए मर कर, अब व्यवस्था से ऐसे छूट गए' (रोमियों 7:6)।

4. *इस वर्तमान दुष्ट संसार से*। यह संसार एक और अत्याचारी स्वामी है, और सभी मनुष्य स्वाभाविक रूप से इसके अधिकार और प्रभाव के अधीन हैं। परन्तु विश्वासियों को इस मनमोहक एवं विनाशकारी शत्रु की शक्ति से स्वतंत्र किया गया है। इस स्वतंत्रता को ख्रीष्ट ने उनके लिए प्राप्त किया है और उन्हें प्रदान किया है। 'उसी ने अपने आप को हमारे पापों के लिए दे दिया, ताकि हमारे परमेश्वर और पिता की इच्छा के अनुसार हमें इस वर्तमान बुरे संसार से छुड़ाए' (गलातियों 1:4)। उसके क्रूस के शक्तिशाली प्रभाव के द्वारा, संसार विश्वासी लोगों की दृष्टि में और विश्वासी लोग संसार की दृष्टि में क्रूस पर चढ़ाए जाते हैं (गलातियों 6:14)।

5. *शैतान के दासत्व से*। सभी मनुष्य स्वभाव ही से शैतान के बन्धन में हैं, और इसलिए, उसे इस 'संसार का ईश्वर' कहा जाता है। मनुष्य अपने को उसके जाल में फँसाकर, उसके शिकार बन गए हैं, और 'वे उसकी इच्छा के अनुसार उसके द्वारा बंदी बना दिए गए हैं'। परन्तु परमेश्वर का पुत्र यीशु ख्रीष्ट 'इसलिए प्रगट हुआ कि शैतान के कामों का नाश करे'; 'और मृत्यु के द्वारा उसे, जिसे मृत्यु पर शक्ति मिली थी, अर्थात शैतान को निकम्मा कर दे'। सुसमाचार में वह बंदियों के लिए स्वतंत्रता की घोषणा करता है (यशायाह 61:1); और उनके प्रभावशाली बुलाहट के दिन, वह वास्तव में अपने लोगों को शैतान के वश से छुड़ाता है (कुलुस्सियों 1:13)। जबकि इस वर्तमान संसार में, वास्तव में, वे इस विरोधी के हमलों का सामना करते हैं (1 पतरस 5:8); लेकिन शैतान उन पर अपना प्रभुत्व कभी फिर से प्राप्त न कर सकेगा, और उचित समय आने पर, वे उसकी परीक्षाओं से पूर्णतः मुक्त हो जाएँगे, और उसके प्रभाव की पहुँच से दूर पहुँचा दिए जाएँगे; क्योंकि प्रतिज्ञा यह है: 'शान्ति का परमेश्वर शैतान को तुम्हारे पाँवों से शीघ्र कुचलवा देगा' (रोमियों 16:20)।

6. *कष्टों व पीड़ाओं की दुर्दशा से*। यीशु ख्रीष्ट विश्वासी लोगों को उन कठिनाइयों से पूरी रीति से छुटकारा नहीं प्रदान करता जो सभी मनुष्यों के लिए आम हैं, परन्तु वह उन्हें पीड़ाओं से सम्बन्धित हर प्रकार के दंडात्मक बुराई से स्वतंत्र करता है। उनके कष्टों का प्याला भले ही विशाल और गहरा हो, परन्तु उसने न्यायिक क्रोध की एक बूँद भी मिश्रित नहीं है। उनके कष्ट उनके लाभ के लिए रचे गए हैं; और, परमेश्वर की आशीष के माध्यम से, वे अनेक दृष्टिकोणों से उनके लिए बहुत ही लाभकारी सिद्ध होते हैं। इसलिए, परमेश्वर के बच्चों ने प्रायः यह स्वीकार किया है कि मुझे जो दुःख हुआ वह मेरे लिए भला ही हुआ है (भजन संहिता 119:71)। और, यद्यपि कभी-कभी उन्हें यह समझने में कठिनाई हो सकती है कि उनकी परीक्षाएँ उनके लिए किस प्रकार लाभदायक सिद्ध होंगी, फिर भी उनके पास इस बात का पूर्ण आश्वासन होता है कि उनके लिए सब बातें मिलकर भलाई ही को उत्पन्न करती है (रोमियों 8:28। साथ में देखें इब्रानियों 12:6 – 11; 2 कुरिन्थियों 4:17)।

7. *मृत्यु के डंक से।* चूंकि मृत्यु का अर्थ है आत्मा और शरीर के बीच मिलन का टूट जाना, विश्वासी लोग भी इसके आघात से अलग नहीं हैं (इब्रानियों 9:28; भजन संहिता 89:48)। फिर भी, यीशु ख्रीष्ट अपने लोगों को मृत्यु से छुड़ाता है, उस मृत्यु से जो कि व्यवस्था के श्राप का परिणाम और अनन्त विनाश का अग्रदूत माना जाता है (यूहन्ना 11:25, 26)। उसने मृत्यु का डंक निकाल दिया है, और उसे अपने लोगों को कोई भी वास्तविक हानि पहुँचाने में असमर्थ बना दिया है (1 कुरिन्थियों 15:56)। विश्वासियों को कोई भी वास्तविक चोट पहुँचाने के बजाय, मृत्यु को, उन पर वर्णन से बाहर भलाई प्रदान करने का कार्य सौंपा गया है। यह उनके समस्त दुखों का अंत, युद्ध से उनकी मुक्ति, और ख्रीष्ट के साथ रहने के लिए उनका प्रस्थान है (फिलिप्पियों 1:21, 23)।

8. *कब्र की विजय से*। विश्वासियों के शरीरों को कब्र में रखा जाना और उनका सड़ना अनिवार्य है। फिर भी, उनके लिए कब्र कैदखाना नहीं,

बल्कि विश्राम का एक बिछौना है; और वे सर्वदा के लिए नाशवान शक्ति के अधीन नहीं रहेंगे, बल्कि अन्तिम दिन में महिमामय और अविनाशी दशा में जीवित किए जाएंगे (अय्यूब 19:26, 27)। 'परन्तु सचमुच मसीह मुर्दों में से जी उठा है, और जो सो गए हैं उनमें वह पहला फल हुआ' (1 कुरिन्थियों 15:20)। उसका पुनरुत्थान उन सभी के लिए जो उसमें सोते हैं पुनरुत्थान की प्रतिज्ञा एवं बयाना है। ठीक समय आने पर यह प्रतिज्ञा पूर्ण रूप से पूरी होगी: 'मैं उसको अधोलोक के वश से छुड़ा लूँगा और मृत्यु से उसको छुटकारा दूँगा' (होशे 13:14)। और 'तब वह वचन जो लिखा है पूरा हो जाएगा, जय ने मृत्यु को निगल लिया' (1 कुरिन्थियों 15:54)।

9. *अनन्त दण्ड से*। पाप के कारण मिलने वाला पूरा दण्ड इस जीवन में किसी को भी नहीं दिया जाता, बल्कि अन्त में, दुष्ट अधोलोक में लौट जाएँगे (भजन संहिता 9:17)। उस महान अन्तिम दिन में, उन पर दण्ड का निर्णय पूरी गम्भीरता से सुनाया जाएगा, और उन्हें उस अनन्त आग में फेंक दिया जाएगा, 'जो शैतान और उसके दूतों के लिए तैयार की गई है' (मत्ती 25:41)। परन्तु विश्वासी लोग दण्ड के भागी होने से सुरक्षित किए गए हैं, और आने वाले प्रकोप में बचाए गए हैं (यूहन्ना 5:24; 1 थिस्सलुनीकियों 1:10)। जब परमेश्वर के क्रोध का वह महान दिन आएगा, तो वे दुष्ट लोगों के दण्ड को देखेंगे; परन्तु वह दण्ड उनके निकट नहीं आएगा।

10. *विश्वासियों के पास परमेश्वर तक पहुँच की पूरी स्वतंत्रता भी है*। उनके पास एक अनुग्रहकारी पिता के रूप में परमेश्वर तक पहुँचने की स्वतंत्रता प्राप्त है, और वे एक सन्तान के समान पूरी स्वतंत्रता के साथ अपने हृदय की बातों को उसके समक्ष उँडेल सकते हैं और अपनी शिकायतों को उसके समक्ष रख सकते हैं। 'प्रभु यीशु मसीह में हम को उस पर विश्वास करने से साहस और भरोसे के साथ परमेश्वर के निकट आने का अधिकार है' (इफिसियों 3:12)।

11. *विश्वासियों के पास परमेश्वर की सेवा में आत्मा की स्वतंत्रता है*। दुष्ट लोग परमेश्वर के प्रति जो आज्ञापालन करते हैं, वह किसी अत्याचारी

स्वामी के प्रति दासों के आज्ञापालन जैसा होता है, जिससे वे घृणा करते हैं, और आज्ञापालन का उनका एकमात्र उद्देश्य दण्ड का भय होता है। परन्तु विश्वासियों को परमेश्वर के क्रोध के दासत्व-पूर्ण भय से मुक्त किया गया है, और वे प्रेम के उदार भाव से, एवं स्वैच्छिक मन के साथ परमेश्वर की सेवा करते हैं। जहाँ कहीं प्रभु का आत्मा है वहाँ स्वतंत्रता है (2 कुरिन्थियों 3:17 साथ में देखें लूका 1:74, 75; 2 कुरिन्थियों 5:14; 1 यूहन्ना 4:18)।

जिस स्वतंत्रता का वर्णन अब किया गया है, वह विश्वासियों को व्यवस्था के अधीन के साथ-साथ वर्तमान युग के अधीन भी प्राप्त थीं; परन्तु नए नियम के अंतर्गत, मसीही लोगों की स्वतंत्रता को कई मायनों में विस्तारित किया गया है, जिनका उल्लेख संक्षेप में आगे किया जाएगा।

1. *अब मसीही लोग अनुष्ठानिक व्यवस्था के जूए से स्वतंत्र हैं*। यहूदी कलीसिया को 'जगत की प्रारम्भिक शिक्षाओं के दासत्व में रखा गया था' (गलातियों 4:3); परन्तु इस भारी जुए को मसीही कलीसिया पर नहीं डाला गया (प्रेरितों के काम 15:10)। यीशु ख्रीष्ट की मृत्यु के द्वारा, प्राचीन अनुष्ठानों को उनके बाध्यकारी स्वरूप के सन्दर्भ में समाप्त कर दिया गया; और यद्यपि कुछ समय तक उनका उपयोग उदासीन भाव से किया जाता रहा, फिर भी सुसमाचार के पूर्ण प्रचार और यरूशलेम के मंदिर के विनाश के पश्चात्, उनका पालन करना अवैध हो गया; और प्रेरित पौलुस ने मसीही लोगों को प्रेरित किया कि 'मसीह ने स्वतंत्रता के लिए हमें स्वतंत्र किया है, इसलिए दृढ़ रहो और दासत्व के जुए में फिर न जुतो' (गलातियों 5:1)।

2. *अब मसीही लोगों के पास अनुग्रह के सिंहासन तक पहुँचने का और भी अधिक साहस है*। प्रेरित पौलुस प्रायः परमेश्वर तक पहुँच में मिलने वाली स्वतंत्रता, आत्मविश्वास और निर्भीकता का उल्लेख करता है; वह इसे नए नियम के अधीन विश्वासियों का एक विशेष विशेषाधिकार मानता है, जो उन लोगों की स्थिति के एकदम विपरीत है जो पुराने नियम के अधीन रहते थे (देखें इब्रानियों 4:16; 10:19; 1 यूहन्ना 3:21; 4:17; 5:14)।

3. *मसीही लोग परमेश्वर के स्वतंत्र आत्मा के संचार का आनन्द, उन विश्वासियों की तुलना में कहीं अधिक पूर्ण रीति से लेते है, जो व्यवस्था के अधीन सामान्य रूप से प्रदान किया जाता था।* इसमें कोई संदेह नहीं कि पुराने नियम की कलीसिया को पवित्र आत्मा दिया गया था; परन्तु आत्मा का अधिक व्यापक एवं प्रचुर मात्रा में उँडेला जाना नए नियम के समयों के लिए आरक्षित किया गया था। इसलिए कहा गया है कि पवित्र आत्मा अब तक न उतरा था, क्योंकि यीशु अब तक अपनी महिमा को न पहुँचा था (यूहन्ना 7:39)। पवित्र आत्मा के प्रचुर रीति से उँडेले जाने की बात को सुसमाचार के युग का एक महान विशेषाधिकार मानकर पहले ही से बताया गया था (यशायाह 44:3; योएल 2:28, 29)। तदनुसार, ख्रीष्ट के स्वर्गारोहण और मसीही युग के आरम्भ के होने पर, पवित्र आत्मा के असाधारण एवं चमत्कारी वरदान न केवल प्रेरितों को, बल्कि प्रायः सामान्य विश्वासियों को भी प्रदान किए गए; और पवित्र आत्मा के सामान्य एवं अनुग्रहकारी प्रभाव, पुराने नियम के युग की तुलना में अब भी कहीं अधिक प्रचुर मात्रा में प्रदान किए जाते हैं। इसलिए प्रेरित पौलुस इसे नए नियम के युग की महिमा का एक बहुत ही उत्कृष्ट भाग मानता है, कि यह 'पवित्र आत्मा की वाचा है' (2 कुरिन्थियों 3:8)।

यह स्वतंत्रता कितनी अद्‌भुत है, जिसका हम वर्णन कर रहे हैं! यदि नागरिक स्वतंत्रता को इतना अधिक महत्व दिया जाता है, तो निश्चित रूप से परमेश्वर की संतानों की यह महिमामय स्वतंत्रता अत्यधिक अनमोल है। विश्वासी लोग प्रभु यीशु ख्रीष्ट के कितने ऋणी हैं, जिसने स्वयं अपने बहुमूल्य लहू द्वारा कल्पना से बाहर दाम चुकाकर उनके लिए इस स्वतंत्रता को हासिल किया! निश्चित रूप से, उनके हृदय अपने इस उदार उद्धारकर्ता के प्रति कृतज्ञता से भर जाने चाहिए, जिसने उनकी छुड़ौती के लिए स्वयं अपनी जान कुर्बान कर दी। क्योंकि उसने उन्हें सबसे अपमानजनक दासता से मुक्त किया है, और उन क्रूर स्वामियों से स्वतंत्र किया है जो पहले उन पर अत्याचार करते थे, तो क्या उन्हें उसका जुआ, जो कि सहज है, और

उसका बोझ, जो कि हल्का है, अपने कंधों पर नहीं उठा लेना चाहिए? प्रत्येक सच्चा मसीही, ख्रीष्ट का समर्पित सेवक होना, जिसकी सेवा ही पूर्ण स्वतंत्रता है, इसे अपना सबसे बड़ा सौभाग्य और साथ ही अपना अनिवार्य कर्तव्य मानेगा।

भाग 2

केवल परमेश्वर ही विवेक का प्रभु है (रोमियों 14:4; याकूब 4:12), और उसने इसे मनुष्यों के उन सिद्धांतों एवं आज्ञाओं से स्वतंत्र रखा है, जो विश्वास या आराधना के विषय में उसके वचन के विपरीत है, या उससे भिन्न हैं (मत्ती 15:9; 23:8 – 10; प्रेरितों के काम 4:19; 5:29; 1 कुरिन्थियों 7:23; 2 कुरिन्थियों 1:24)। इसलिए विवेक के बाहर ऐसे सिद्धांतों पर विश्वास करना, या ऐसी आज्ञाओं का पालन करना, विवेक की सच्ची स्वतंत्रता के साथ विश्वासघात करना है (भजन संहिता 5:1; गलातियों 1:10; 2:4 – 5; 5:1; कुलुस्सियों 2:20 – 23); और पूर्ण विश्वास, एवं पूर्ण एवं अंध आज्ञाकारिता की अपेक्षा करना, विवेक की स्वतंत्रता के साथ-साथ, तर्क को भी नष्ट करना है (यशायाह 8:20; यिर्मयाह 8:9; होशे 5:11; यूहन्ना 4:22; प्रेरितों के काम 17:11; रोमियों 10:17; 14:23; प्रकाशितवाक्य 13:12, 16 – 17)।

व्याख्या

इस भाग में विवेक की स्वतंत्रता के सिद्धांत को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। विश्वास और कर्तव्य से सम्बन्धित सभी बातों में, विवेक केवल परमेश्वर के अधिकार के अधीन है, और मनुष्यों की परम्पराओं एवं आज्ञाओं की अधीनता से पूरी रीति से स्वतंत्र है। मानवीय अधिकार के प्रति समर्पण भाव से, परमेश्वर के वचन के विपरीत या उससे हटकर किसी भी सिद्धांत पर विश्वास करना, या किसी भी आज्ञा का पालन करना, विवेक की सच्ची स्वतंत्रता के साथ विश्वासघात करता है। और वह

शक्ति एवं अधिकार चाहे किसी के भी क्यों न हों – चाहे मजिस्ट्रेट या किसी पादरी के – पति, स्वामी, या माता-पिता के – जो बिना प्रश्न किए विश्वास की माँग करता है एवं पूर्ण अंध-आज्ञाकारिता की अपेक्षा करता है, तो वह विवेक की स्वतंत्रता को नष्ट कर देगा।

शासकों द्वारा, चाहे नागरिक या धार्मिक, दोनों के द्वारा विवेक के अधिकारों का प्रायः हनन किया गया है। रोम के चर्च द्वारा, हमारे अंगीकार-कथनों का, सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों में, सीधा खंडन किया जाता है। वे सिखाते हैं कि पोप, और अपने-अपने धर्म-क्षेत्रों में बिशप, अपने स्वयं के अधिकार से, ऐसे कानून बना सकते हैं, जो विवेक को बांधते हैं, और जिनका उल्लंघन करने पर दण्ड भुगतना पड़ता है, जो परमेश्वर की व्यवस्था के हर उल्लंघन के लिए निर्धारित है। और उन्होंने वास्तव में विश्वास के कई सिद्धांत थोप दिए हैं, और परमेश्वर की आराधना के लिए अनगिनत रीति-रिवाज़ों एवं अनुष्ठानों को अनिवार्य ठहराया है, जिनका पवित्रशास्त्र में कोई आधार नहीं है; और वे अपने सभी आदेशों में बिना प्रश्न किए पूर्ण विश्वास तथा अपनी सभी आज्ञाओं का आँख मूँदकर पालन करने की अपेक्षा रखते हैं। यह अनुभाग मुख्य रूप से उस चर्च के अत्याचारी अधिकार-हड़पने और अतिक्रमणों के विरुद्ध लक्षित है।

पृथ्वी पर किसी भी व्यक्ति को विवेक पर आदेश चलाने का अधिकार नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा करना उस विशेषाधिकार को अपनाना होगा, जो केवल परम प्रभु और विधान-निर्माता का ही है। 'व्यवस्था का देने वाला और न्यायी तो एक ही है, जो बचाने अथवा नाश करने का सामर्थ्य रखता है' (याकूब 4:12)। यीशु ख्रीष्ट द्वारा अपने अनुयायियों के बीच इस प्रकार की शक्ति के प्रयोग को मना किया गया था: 'गैरयहूदियों के राजा उन पर प्रभुता करते हैं, परन्तु तुम में ऐसा न हो' (लूका 22:25)। प्रेरणा प्राप्त प्रेरितों द्वारा इस बात से इनकार किया गया था: अन्यजातियों के प्रेरित ने यह कहा, 'ऐसी बात नहीं कि हम तुम्हारे विश्वास के विषय में अधिकार जताना चाहते

हैं, परन्तु हम तुम्हारे आनन्द के लिए तुम्हारे सहकर्मी हैं' (2 कुरिन्थियों 1:24)।

इस भाग में प्रतिपादित सिद्धांतों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है, कि धार्मिक बातों पर निजी निर्णय लेने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति का है, और प्रत्येक मसीही व्यक्ति द्वारा इसका अभ्यास किया जाना चाहिए। मसीही लोगों के लिए यह स्पष्ट रूप से आवश्यक है कि वे परमेश्वर के वचन के अचूक नियम द्वारा हर सिद्धांत की जाँच करें और उसे प्रमाणित करें (यशायाह 8:20; 1 यूहन्ना 4:1)। उन्हें उस आशा के विषय में उत्तर देने के लिए सर्वदा तैयार रहने की आवश्यकता है जो उनके हृदय में है (1 पतरस 3:15); और ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता, जो मनुष्यों के सिद्धांतों एवं आदेशों को बिना प्रश्न किए विश्वास करता है, और आँख मूँदकर आज्ञापालन के साथ स्वीकार करता है। जो कुछ भी विश्वास में नहीं किया जाता है, और न ही जिसके साथ परमेश्वर की दृष्टि में उस कार्य के कर्तव्य या उसकी वैधता के प्रति कोई व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास जुड़ा होता है, उसे पाप घोषित किया गया है (रोमियों 14:23)।

यहाँ प्रतिपादित सिद्धांतों से यह बात भी उतनी ही स्पष्ट रूप से सामने आती है, कि जब वैध अधिकारी, विश्वास एवं आराधना की बातों में, परमेश्वर के वचन के विपरीत या उससे हटकर कोई आदेश देते हैं, तो उनके आदेश विवेक को बाध्य नहीं करते। पवित्रशास्त्र हमें अपने वैध अधिकारियों – चाहे वे माता-पिता हों, या पति या मजिस्ट्रेट – के प्रति जिस आज्ञापालन का आदेश देता है – वह असीमित नहीं है; ऐसे समय या मामले हैं जिनमें आज्ञा का पालन न करना ही हमारा कर्तव्य बन जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह नियम, 'बालकों सब बातों में अपने-अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करो,' वास्तव में उन्हें केवल उनके वैध पैतृक अधिकार की सीमा में ही आज्ञा मानने का आदेश है, और यह किसी भी प्रकार बिना प्रश्न किए या निष्क्रिय आज्ञाकारिता के दायित्व को थोपता नहीं है। इस आज्ञा के सम्बन्ध में भी स्थिति उतनी ही स्पष्ट है, 'हे पत्नियों,

अपने-अपने पतियों के अधीन रहो'। और इस बात पर कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता कि मजिस्ट्रेट के प्रति अपेक्षित आज्ञाकारिता भी सीमित ही होती है। यह नियम, 'हर एक व्यक्ति शासकीय अधिकारियों के अधीन रहे,' मजिस्ट्रेट के आज्ञापालन में एक ऐसी आज्ञा के रूप में समझा जाना चाहिए, जो उनके वैध अधिकार के प्रयोग में ही मान्य होता है, और उन सभी बातों में जो कानूनन हैं। यही प्रेरणा प्राप्त शिक्षक, जिसने इतने सामान्य शब्दों में शासकों के आज्ञापालन का निर्देश दिया, स्वयं भी हर उन मौकों पर एकमत होकर और खुले तौर पर उनकी आज्ञा का उल्लंघन करते थे, जो आदेश उनके अन्य एवं उच्चतर दायित्वों के विपरीत होते थे। 'मनुष्यों की आज्ञा से बढ़कर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना ही हमारा कर्तव्य है' (प्रेरितों के काम 5:29), यही वह सिद्धांत था जिसे उन्होंने स्वीकार किया और जिसके अनुसार उन्होंने कार्य किया। जब यहूदी सभा ने प्रेरितों को यह आदेश दिया कि वे अब से यीशु के नाम पर और न बोलें, तो उनका बिना हिचकिचाहट वाला उत्तर यह था: 'तुम ही न्याय करो, क्या यह परमेश्वर के निकट भला है कि हम परमेश्वर की बात से बढ़कर तुम्हारी बात मानें। क्योंकि यह तो हम से हो नहीं सकता कि जो हम ने देखा और सुना है, वह न कहें' (प्रेरितों के काम 4:19, 20)। नैतिक रूप से कुछ भी गलत करने का कोई भी आदेश विवेक पर बाध्यकारी नहीं हो सकता।

यहाँ पर प्रतिपादित सिद्धांतों के आधार पर, कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि नागरिक अधिकार धार्मिक मामलों में पूरी रीति से अनुपयुक्त है। तथापि, इस धारणा का समर्थन करना अंगीकार-कथन के मूल उद्देश्य से बिल्कुल ही विपरीत है। इस अध्याय के चौथे भाग में, और साथ ही अध्याय 23 में, इस अंगीकार-कथन के लिखने वालों ने स्पष्ट रीति से सिखाया है कि धार्मिक मामलों में नागरिक अधिकार का वैध प्रयोग सम्भव है। और चूंकि इस भाग में, नागरिक अधिकार के इस प्रयोग की निन्दा करना उनका उद्देश्य नहीं था, इसलिए इन शब्दों के द्वारा न्यायसंगत रूप से ऐसा कोई सिद्धांत नहीं निकाला जा सकता; जैसा कि डॉ. मैक्री कहते

हैं, कि 'यदि वे नागरिक अधिकार के सभी प्रयोग की निन्दा करते, तो वे इन मामलों में मानवीय अधिकार के अन्य सभी प्रकारों के प्रयोग की भी निन्दा करते, चाहे वह धार्मिक, या पैतृक, आदि हों। क्या यह उतना ही सत्य नहीं है कि परमेश्वर ने विवेक को "मनुष्यों के उन सिद्धांतों और आज्ञाओं से स्वतंत्र रखा है, जो विश्वास या आराधना की बातों में, उसके वचन से किसी भी रीति से विपरीत हैं, या उससे अलग हैं", चाहे ये सिद्धांत और आज्ञाएँ पादरियों या मजिस्ट्रेट के हों, या स्वामियों या माता-पिता के हों? क्या "बिना प्रश्न किए विश्वास", या "एक पूर्ण और अंध-आज्ञाकारिता", चाहे वह धार्मिक परिषदों के प्रति हो या संसद के प्रति, अतार्किक एवं पापपूर्ण नहीं है? इन शब्दों का उद्देश्य यह सिखाना है कि, सभी मानवीय अधिकार, विशेष रूप से विश्वास एवं आराधना के मामलों में परमेश्वर की सम्प्रभुता एवं व्यवस्था के अधीन हैं। बल्कि, वे उस अंश में कलीसियाई अधिकार द्वारा किए जाने वाले उन अतिक्रमणों के विरुद्ध प्रत्यक्ष तौर पर लक्षित प्रतीत होते हैं, जो कि धर्म के क्षेत्र में उतने ही अधिक बार और उतने ही अधिक हानिकारक रहे हैं, जितने कि नागरिक शासकों द्वारा किए गए अतिक्रमण; जैसे कि पोप, धर्म-परिषदों, धर्माधिकारियों और सभाओं का कथित प्रभुत्व, जिसके तहत वे विश्वास के नए सिद्धांत बनाते हैं, और पवित्रशास्त्र से बाहर के ऐसे रीति-रिवाज़ों, अनुष्ठानों, नियमों आदि को निर्धारित करते एवं थोपते हैं, जिन्हें यहाँ पर "मनुष्यों की शिक्षाएँ एवं आज्ञाएँ" कहा गया है; जैसा कि हमारे प्रभु ने, शास्त्रीयों और फरीसियों की उन परम्पराओं एवं अंधविश्वासों को कहा है, जिन्हें परमेश्वर के नियम से जोड़ दिया गया था। यदि नागरिक शासक इन थोपी गई बातों से सहमत होते हैं, या यदि वे अपने एकमात्र अधिकार एवं और धार्मिक सर्वोच्चता के दावे के आधार पर ऐसा ही करने का प्रयास करते हैं, तो यह सिद्धांत उनकी तानाशाही की समान रूप से निन्दा करता है; और यह सिखाता है कि कोई भी त्रुटि, मनमानी आराधना, या किसी भी प्रकार का झूठा धर्म, कलीसिया या राज्यों में किसी के भी द्वारा क्यों न आज्ञापित किया गया हो, विवेक पर

कोई बाध्यता नहीं डाल सकता, क्योंकि विवेक प्रत्यक्ष रूप से केवल परमेश्वर के अधीन है। परन्तु, ऐसी कोई भी बात नहीं सिखाई जाती है, जो लोगों के विवेक को किसी भी मानवीय अधिकार की आज्ञा मानने से तब स्वतंत्र करती हो, जब वह अधिकार पूर्ण रूप से परमेश्वर के वचन के अनुरूप कार्य कर रहा हो, और उसके अतिरिक्त या अपनी सीमाओं से बाहर कुछ भी न थोप रहा हो; इस प्रकार का कोई भी अधिकार निश्चित रूप से ऐसा कर सकता है।'[107]

भाग 3

ऐसे लोग जो मसीही स्वतंत्रता का दिखावा करके, कोई भी पाप करते हैं, या किसी भी वासना की कामना करते हैं, वे मसीही स्वतंत्रता के उद्देश्य को नष्ट कर देते हैं; अर्थात, यह कि, शत्रुओं के हाथों से छुड़ाए जाने के नाते, हम जीवन भर प्रभु के सामने उसकी सेवा, बिना किसी भय के, पवित्रता एवं धार्मिकता से कर सकें (गलातियों 5:13; 1 पतरस 2:16; 2 पतरस 2:19; यूहन्ना 8:34; लूका 1:74 – 75)।

भाग 4

और चूंकि वह अधिकार जिसे परमेश्वर ने ठहराया है, और वह स्वतंत्रता जिसे ख्रीष्ट ने मोल लिया है, परमेश्वर द्वारा नष्ट करने के लिए अभिप्रेत नहीं, बल्कि परस्पर एक दूसरे का निर्माण करने एवं सुरक्षित करने के लिए अभिप्रेत की गई है; जो लोग, मसीही स्वतंत्रता के दिखावे पर, किसी भी वैध अधिकार, या उसके वैध प्रयोग का विरोध करते हैं, चाहे वे नागरिक हों या कलीसियाई सम्बन्धी हों, वे परमेश्वर के अध्यादेश का विरोध करते हैं (मत्ती 12:25; 1 पतरस 2:13 – 14, 16; रोमियों 13:1 – 8; इब्रानियों 13:17)। और अपने ऐसे विचारों को प्रकाशित

[107] M'Crie's Statement, pp. 100, 101.

करना, या ऐसे व्यवहारों को बनाए रखना, प्रकृति के ज्ञान, या मसीही विश्वास के ज्ञात सिद्धांतों के विपरीत हैं, चाहे वे विश्वास, आराधना से सम्बन्धित हैं, या वार्तालाप से सम्बन्धित हैं; या धार्मिकता के अधिकार से सम्बन्धित है; या ऐसे त्रुटिपूर्ण विचार या व्यवहार जो, या तो अपने स्वभाव में, या उनके प्रकाशित करने या बनाए रखने के तरीकों में, उस बाहरी शांति एवं व्यवस्था के लिए विनाशकारी हैं, जिन्हें ख्रीष्ट ने अपनी कलीसिया में स्थापित किया है; उन्हें कानूनी रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है (रोमियों 1:32; 1 कुरिन्थियों 5:1, 5, 11, 13; 2 यूहन्ना 1:10 – 11; 2 थिस्सलुनीकियों 3:14; 1 तीमुथियुस 6:3 – 5; तीतुस 1:10 – 11, 13 और तीतुस 3:10; मत्ती 18:15 – 17; 1 तीमुथियुस 1:19 – 20; प्रकाशितवाक्य 2:2, 14 – 15, 20; 3:9), और कलीसिया के निन्दा प्रस्तावों एवं नागरिक मजिस्ट्रेट के अधिकार द्वारा उनके विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है (व्यवस्थाविवरण 13:6 – 12; रोमियों 13:3 – 4; 2 यूहन्ना 1:10 – 11; एज्रा 7:23, 25 – 28; प्रकाशितवाक्य 17:12, 16 – 17; नहेम्याह 13:15, 17, 21 – 22, 25, 30; 2 राजा 23:5 – 6, 9, 20 – 21; 2 इतिहास 15:12 – 13, 16; 34:33; दानिय्येल 3:29; 1 तीमुथियुस 2:2; यशायाह 49:23; जकर्याह 13:2 – 3)।

व्याख्या

हमारे अंगीकार-कथन में जिस स्वतंत्रता की वकालत की गई है, वह निरंकुश और अनियंत्रित नहीं है। यह दावा करना कि मनुष्यों के पास नैतिक व्यवस्था की परवाह किए बगैर, और परमेश्वर के प्रति उत्तरदायी हुए बगैर, अपनी इच्छा से सोचने और कार्य करने का अधिकार है, यह नास्तिकवाद होगा। और, यदि मनुष्यों को सामाजिक रीति से एकजुट, तथा किसी प्रशासन के अधीन माना जाए, तो धार्मिक एवं नागरिक दोनों ही क्षेत्रों में, उनके स्वाभाविक अधिकार, समाज के हितों और उद्देश्यों की आवश्यकता के अनुरूप, प्रतिबंधों एवं नियमों के अधीन होने चाहिए।

तदनुसार, ऊपर वाले अनुभागों में, यह अंगीकार-कथन विवेक की स्वतंत्रता के सिद्धांत को उसके दुरुपयोग से बचाने का प्रयास करती है, *सबसे पहले,* परमेश्वर की व्यवस्था में उसके अधिकार के सन्दर्भ में; और *दूसरा,* पृथ्वी पर विद्यमान अधिकारियों, नागरिक एवं कलीसियाई दोनों के सन्दर्भ में। पहले वाले के सन्दर्भ में, यह घोषणा करती है, कि 'ऐसे लोग जो मसीही स्वतंत्रता का दिखावा करके, कोई भी पाप करते हैं, या किसी भी वासना की कामना करते हैं, वे मसीही स्वतंत्रता के उद्देश्य को नष्ट कर देते हैं।' परमेश्वर ने विवेक को स्वयं अपनी व्यवस्था के दायित्व से स्वतंत्र नहीं किया है; इसके विपरीत, वह हर किसी से अपेक्षा करता है कि उसने जो भी आज्ञा दी है, उन सभी बातों का वे बिना प्रश्न किए और तत्काल पालन करें। किसी भी ज्ञात पाप को करने की स्वतंत्रता की माँग करना वास्तव में व्यभिचारिता की माँग करना है; और मसीही स्वतंत्रता की आड़ में किसी भी भ्रष्ट भावना एवं कार्यों में स्वयं को लिप्त करना, अपनी स्वतंत्रता को 'शरीर की वासनाओं को पूरा करने के अवसर के रूप उपयोग करना है'। बाद वाले के सम्बन्ध में, अंगीकार-कथन कुछ विशेष बातों का उल्लेख करता है जिनके लिए एक विशेष श्रेणी के व्यक्तियों के विरुद्ध, नागरिक और धार्मिक, दोनों ही प्रकार के प्राधिकारियों द्वारा कार्रवाई की जा सकती है। हालाँकि, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस अनुभाग का उद्देश्य इन प्राधिकारियों के कार्यक्षेत्र की सीमा को निर्धारित करना नहीं है, बल्कि केवल विवेक के तर्क को दूर करना है; और इसे इस रीति से समझा जाना चाहिए कि वे सभी अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करें, और कोई भी दूसरे के अधिकार क्षेत्र में आने वाले मामलों में दखल न दे। यद्यपि नागरिक शासक नैतिक व्यवस्था की पहली तालिका के अधिक गम्भीर उल्लंघनों, जैसे परमेश्वर की निन्दा, ईश्वर-निन्दा वाले विचारों का प्रचार करना, और सब्त (विश्राम दिन) का खुलेआम घोर अपमान करने, आदि को रोक सकते हैं, और जब समय की माँग हो, तो उनके लिए दण्ड भी दे सकते हैं; फिर भी उन्हें इन बुराइयों को दबाना है, औपचारिक रीति से पापों के रूप में नहीं,

जो कि परमेश्वर का विशेषाधिकार है, न ही एक कलंक के रूप में, जिस रूप में ये कलीसिया के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं, बल्कि इन्हें अपराध और समाज को पहुँचाई गई क्षति के रूप में ही दबाना चाहिए।

सभी सच्चे प्रेस्बिटेरियन लोग विशुद्ध रूप से धार्मिक मामलों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के असहिष्णु या विवशकारी उपायों को अस्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि किसी भी मनुष्य को उसके धार्मिक विचारों या मान्यताओं के आधार पर दण्डित या परेशान नहीं किया जाना चाहिए, बशर्ते उनमें ऐसा कुछ भी न हो जो समाज के सामान्य हितों के लिए हानिकारक हो, या जिस देश में वे रहते हैं, वहाँ की कानूनी संस्थाओं के लिए खतरनाक हो। हालाँकि, अभी जिस अनुभाग पर विचार किया जा रहा है, उसे कभी-कभी इस रीति से प्रस्तुत किया गया है कि यह नागरिक मजिस्ट्रेट को, भले एवं शांतिप्रिय नागरिकों को, केवल उनके धार्मिक विचारों और रीति-रिवाजों के आधार पर दण्डित करने की शक्ति देता है, या फिर विवेक की स्वतंत्रता के लिए होने वाले सताव के निमित्त अनुकूल माना गया है। इस गम्भीर आरोप से अंगीकार-कथन को दोषमुक्त सिद्ध करने के लिए, हम डॉ. मैक्री के सुविचारित टिप्पणियों की सहायता लेंगे। एक प्रख्यात लेखक के रूप में वह कहते हैं, '' चौथे भाग का उद्देश्य, सार्वजनिक प्राधिकार के सन्दर्भ में विवेक की स्वतंत्रता के सिद्धांत के दुरुपयोग से बचाव करना है। और क्योंकि जिन शक्तियों को परमेश्वर ने स्थापित किया है, और जिस स्वतंत्रता को ख्रीष्ट ने अपने बलिदान से मोल लिया है, परमेश्वर द्वारा उनका उद्देश्य आपस में एक-दूसरे को नष्ट करना नहीं, बल्कि परस्पर एक-दूसरे सहारा देना और बचाना है; इसलिए, जो कोई भी मसीही स्वतंत्रता की आड़ लेकर, किसी भी वैध प्राधिकार का, या उसके वैध प्रयोग का विरोध करेगा, चाहे वह नागरिक हो या धार्मिक, वह वास्तव में परमेश्वर की ही व्यवस्था का विरोध करता है। वह जो विवेक का प्रभु है, उसी ने कलीसिया और देश में प्राधिकारों को स्थापित किया है; और यह मानना अत्यंत ही बेतुका होगा कि उसने हर मनुष्य के

मन में अपनी आज्ञाओं का विरोध करने, उन्हें निष्प्रभावी बनाने, और उन्हें रद्द करने की शक्ति स्थापित की है। जब सार्वजनिक और निजी दावे आपस में टकराते हैं, तो निजी दावों को सार्वजनिक दावों के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए; और जब कोई भी वैध प्राधिकार अपने कर्तव्य की सीमा के भीतर विधिपूर्वक कार्य कर रहा हो, तो यह समझा जाना चाहिए कि उसके पास वह उचित शक्ति है, जिसके द्वारा वह अपने कार्य की प्रगति में अनिवार्य रूप से बाधा डालने वाली हर वस्तु को अपने मार्ग से हटा सकता है। इसी के अनुसार, अंगीकार-कथन आगे कहता है: "और ऐसे विचारों को प्रकाशित करने के लिए, या ऐसी प्रथाओं को बनाए रखने के लिए, जो प्रकृति के ज्ञान, या मसीही धर्म के ज्ञात सिद्धांतों, चाहे वे विश्वास, आराधना, या आचरण से सम्बन्धित हों, या धर्म-परायणता की शक्ति के विपरीत हैं; या ऐसे झूठे विचार या प्रथाएँ, चाहे वे स्वयं अपने स्वरूप में हों या उन्हें प्रचारित करने और बनाए रखने के तरीके में, जो बाहरी शांति एवं व्यवस्था के लिए विनाशकारी हैं जिसे ख्रीष्ट ने कलीसिया में स्थापित किया है; ऐसे लोगों को विधिपूर्वक जवाबदेही के लिए बुलाया जा सकता है, और उनके विरुद्ध कलीसिया के निन्दा प्रस्ताव और नागरिक मजिस्ट्रेट की शक्ति के माध्यम से कार्रवाही की जा सकती है।" अब, इसका यह अर्थ नहीं है कि हर कोई जो ऐसे विचारों को प्रचारित करता, या ऐसी प्रथाओं को बनाए रखता है, जिनका उल्लेख किया गया है, उन पर नागरिक मजिस्ट्रेट द्वारा कार्रवाही की जा सकती है, या उन्हें दण्डित किया जा सकता है (यदि इस शब्द के प्रयोग पर जोर दिया जाए); और न ही यह कहता कि किसी भी भले एवं शांतिप्रिय नागरिक को केवल इस कार्रवाही के दायरे में लाया जाएगा, कि उसने कुछ धार्मिक विचार प्रचारित किया और कुछ प्रथाओं को बनाए रखा है।

क्योंकि, *सबसे पहली बात* तो यह है कि इस अनुच्छेद में एक विशेष प्रकार के चरित्र वाले लोगों की चर्चा की गई है और ये लोग भले एवं शांतिप्रिय नागरिकों से बिल्कुल भिन्न हैं। पिछले वाक्य में उन्हें इस प्रकार

वर्णित किया गया है: "वे लोग जो किसी भी वैध प्राधिकार का, या उसके वैध प्रयोग का *विरोध* करते हैं", और "परमेश्वर की व्यवस्था का प्रतिरोध करते हैं"। जैसा कि संयोजक एवं सापेक्ष शब्द से स्पष्ट होता है, विचाराधीन वाक्य में उन्हीं व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है। ऐसा नहीं कहा गया है कि "प्रकाशन या प्रचार करने वाला कोई भी व्यक्ति" आदि, परन्तु यह कि "जो किसी भी वैध प्राधिकार का विरोध करता है" आदि, "उनके प्रकाशन व प्रचार के लिए" आदि।

दूसरे स्थान पर, यह वाक्य उन कुछ तरीकों को स्पष्ट करता है जिनके द्वारा ये लोग उल्लिखित विरोध के लिए उत्तरदायी ठहराए जा सकते हैं, और परिणामस्वरूप, 'उनके विरुद्ध कार्रवाही की जा सकती है'; लेकिन यह इस बात का दावा नहीं करता कि इस प्रकार के प्रत्येक घोषित विचार या आचरण के लिए उन पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए या अवश्य चलाया जाना चाहिए। इन सब का अनिवार्य निहितार्थ यह है, कि वे निर्दिष्ट बातों में वैध प्राधिकारों, या उनके वैध प्रयोग का विरोध करते हुए पाए जा सकते हैं; और यह कि वे इस प्रकार के मामलों में किसी सामान्य दायित्वहीनता का दावा करने के हकदार नहीं हैं। ऐसे किसी भी दावे के बावजूद, "उन्हें जवाबदेही के लिए बुलाया जा सकता है, और उनके विरुद्ध कार्रवाही की जा सकती है"।

'क्योंकि, यह ध्यान में रखा जाए, कि इस अनुच्छेद का उद्देश्य कलीसिया के निन्दा-प्रस्ताव या नागरिक अभियोजन के उद्देश्यों को स्पष्ट करना नहीं है; इसका उचित एवं घोषित उद्देश्य विवेक की स्वतंत्रता के दुरुपयोग पर रोक लगाना है, क्योंकि यह उचित और वैध प्राधिकार के हितों को हानि पहुँचाता है। यह पाप के रूप में पाप नहीं है, परन्तु मसीह लोगों के आत्मिक हितों के लिए कंलक, या हानिकारक होने के रूप में, कलीसिया के निन्दा प्रस्ताव का उचित विषय है; और पापों के लिए नहीं, बल्कि ऐसे अपराधों के लिए कोई भी व्यक्ति मजिस्ट्रेट द्वारा दण्डित किए

जाने का पात्र बनता है। अंगीकार-कथन के लेखक इन भेदों से, जो उस समय आम थे, भली-भाँति परिचित थे।

'कुछ लोग मानते हैं कि यदि मजिस्ट्रेट की कार्रवाही केवल उन अपराधों तक ही सीमित होती जो "प्रकृति के नियम के विरुद्ध होते हैं", तो यह पूरी रीति से न्यायसंगत होता; लेकिन सत्य यह है कि ऐसा केवल उसी व्याख्या के आधार पर होता, जो अब दी गई है। किसी कार्य को मजिस्ट्रेट द्वारा दिए जाने वाले दण्ड का उचित विषय बनाने के लिए, केवल इतना पर्याप्त नहीं है कि वह परमेश्वर की व्यवस्था के विरुद्ध हो, चाहे वह व्यवस्था प्राकृतिक या प्रकाशित है; इसे किसी न किसी रूप में, समाज के सार्वजनिक हित के विरुद्ध अवश्य होना चाहिए। "यदि कोई अपनों की और निज करके अपने घराने की चिन्ता न करे," वह "प्रकृति के नियम के विरुद्ध" पाप करता है, ठीक वैसे ही वह व्यक्ति पाप करता है जो "परमेश्वर का नहीं वरन् सुखविलास ही को चाहने वाला है"; लेकिन ऐसे बहुत कम लोग होंगे जो यह तर्क देंगे कि मजिस्ट्रेट हर निकम्मे एवं पेटू व्यक्ति के विरुद्ध कार्रवाही करने और उसे दण्डित करने के लिए बाध्य हैं।

'दूसरी ओर, ऐसे विचार एवं प्रथाएँ हैं जो "मसीही धर्म के ज्ञात सिद्धांतों के विरुद्ध हैं", या उन पर थोपे गए हैं, जो स्वयं अपने प्रकृति में, या जिन परिस्थितियों में घिरी हो सकती है, सामान्य रूप से समाज के कल्याण के लिए, या किसी विशेष राष्ट्र के लिए, या उनके न्यायसंगत कार्यों के लिए, या उनमें स्थापित वैध संस्थाओं के लिए, इतने हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं कि इनके प्रचारकों एवं समर्थकों को उचित दमन और दण्ड का भागी बनना पड़ सकता है। एक ऐसे बिंदु के रूप में जिससे ये बातें सम्बन्धित हो सकती हैं, मैं प्रभु के दिन के बाहरी पालन एवं पवित्रीकरण का उल्लेख कर सकता हूँ, जो केवल "मसीही धर्म के सिद्धांतों" से ही जाना जा सकता है, और यह अंगीकार-कथन द्वारा निर्दिष्ट सभी विशिष्ट बातों से जुड़ा हुआ है, जैसे "विश्वास, आराधना, आचरण, परमेश्वर की भक्ति की शक्ति, और कलीसिया की बाहरी व्यवस्था एवं शांति"। इस प्रकार की व्याख्या के

और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे कोई भी समझदार मनुष्य इनकार नहीं करेगा, जो पाप-सम्बन्धी सिद्धांतों और प्रथाओं से, और उन प्रथाओं से भली-भांति परिचित है जो वेस्टमिन्स्टर असेंबली के सत्रों के दौरान अंग्रेज सम्प्रदाय के बीच प्रचलित थीं; और जो व्यक्ति इस बात से इनकार नहीं करता, मेरे विचार से, निष्पक्ष व्याख्या के किसी भी सिद्धांत के आधार पर, वह इस प्रश्नगत अनुच्छेद पर उत्पीड़न का कलंक लगाने का हकदार नहीं हो सकता।'[108]

[108] M'Crie's Appendix to *Discourses on the Unity of the Church*, pp. 134-137.

अध्याय 21

मसीही आराधना, एवं सब्त का दिन

भाग 1

प्रकृति का ज्ञान यह दिखाता है कि एक परमेश्वर है, जिसका स्वामित्व एवं सम्प्रभुता सभी पर है; वह भला है, और सब लोगों के साथ भलाई करता है; और इसलिए उसका भय माना जाना चाहिए, उससे प्रेम करना चाहिए, उसकी स्तुति करनी चाहिए, उससे प्रार्थना करनी चाहिए, उस पर भरोसा करना चाहिए, और सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण प्राण, एवं सम्पूर्ण शक्ति से उसकी सेवा करनी चाहिए (रोमियों 1:20; प्रेरितों के काम 17:24; भजन संहिता 119:68; यिर्मयाह 10:7; भजन संहिता 31:23; 18:3; रोमियों 10:12; भजन संहिता 62:8; यहोशू 24:14; मरकुस 12:33)। परन्तु सच्चे परमेश्वर की आराधना करने का स्वीकार्य तरीका स्वयं परमेश्वर द्वारा स्थापित किया गया है, और उसकी स्वयं की प्रकट इच्छा तक ही सीमित है, जिसके कारण मनुष्यों की कल्पनाओं और युक्तियों, या शैतान के सुझावों के अनुसार, किसी भी सदृश्य चित्रण या पवित्र शास्त्र में निर्धारित न किए गए अन्य तरीकों से उसकी आराधना नहीं की जा सकती है (व्यवस्थाविवरण 12:32; मत्ती 15:9; प्रेरितों के काम 17:25; मत्ती 4:9 – 10; व्यवस्थाविवरण 4:15 – 20; निर्गमन 20:4 – 6; कुलुस्सियों 2:23)।

व्याख्या

मसीही आराधना उस श्रद्धा एवं आदर में निहित है, जिसे हम परमेश्वर को,

एक अनन्त सिद्धता वाले व्यक्ति के रूप में प्रदान करते हैं; जिसके द्वारा हम, अपने प्रमुख भलाई और एकमात्र आनन्द के रूप में, उसके प्रति अपनी अधीनता, और उस पर अपने भरोसे को व्यक्त करते हैं। इसे आन्तरिक या बाहरी दोनों रूपों में देखा जा सकता है; इनमें से पहला वह आन्तरिक श्रद्धा है जिसके लिए हम परमेश्वर के प्रति ऋणी हैं, जैसे कि उससे प्रेम करना, उस पर विश्वास करना, उसका भय मानना, और मन की अन्य सहज क्रियाएँ; इनमें से दूसरा वाला, उसके स्थापित नियमों के पालन द्वारा, उस श्रद्धा की बाहरी अभिव्यक्ति में निहित है।

परमेश्वर की बाहरी आराधना के सम्बन्ध में, हमारा अंगीकार-कथन सर्वप्रथम यह पुष्टि करता है, कि परमेश्वर की आराधना केवल उसी रीति से स्वीकार्य हो सकती है, जिसे स्वयं परमेश्वर द्वारा स्थापित किया गया है। चूंकि परमेश्वर ही मसीही आराधना का एकमात्र विषय है, इसलिए आराधना की विधि को निर्धारित करने का विशेषाधिकार भी केवल उसी का है। इसलिए, आराधना के विषय में परमेश्वर द्वारा स्थापित विधान ही हमारा नियम होना चाहिए; और जो कुछ भी उपयोगी और उचित माना जा सकता है, उसकी जाँच और निर्धारण इसी नियम के अनुसार की जानी चाहिए। परमेश्वर द्वारा निर्धारित नियमों में कोई भी फेरबदल करने, या कुछ भी जोड़ने का अधिकार मानवीय बुद्धि के लिए छोड़ा नहीं गया है। यहोवा कहता है, 'जिन बातों की मैं तुम को आज्ञा देता हूँ उनको चौकस होकर माना करना; और न तो कुछ उनमें बढ़ाना, और न उनमें से कुछ घटाना' (व्यवस्थाविवरण 12:32)। परमेश्वर की आराधना को और अधिक सुंदर बनाने और आराधकों में भक्ति-भाव जगाने के बहाने, उसमें ऐसी रीतियों को सम्मिलित करना जिन्हें महत्वपूर्ण अनुष्ठान माना जा सकता है, यह अंधविश्वास और अपनी इच्छा की आराधना का दोषी होना है।

दूसरे स्थान पर, हमारा अंगीकार-कथन विशेष रूप से परमेश्वर की आराधना को 'किसी भी सदृश्य चित्रण रूप में' करने की निन्दा करता है।

मूर्तियों के रूप में अथवा उनके माध्यम से परमेश्वर की आराधना करना, रोम के चर्च की सबसे निकृष्ट भ्रष्टताओं में से एक है। परमेश्वर एक आत्मिक, अदृश्य, और अगम्य व्यक्ति है, और इसलिए उसे किसी भी भौतिक रूप या आकृति द्वारा चित्रित नहीं किया जा सकता। 'इसलिए तुम मुझे किसके समान बताओगे कि मैं उसके तुल्य ठहरूँ' (यशायाह 40:25)। 'अतः परमेश्वर का वंश होकर हमें यह समझना उचित नहीं कि ईश्वरत्व सोने या रूपे या पत्थर के समान है, जो मनुष्य की कारीगरी और कल्पना से गढ़े गए हों' (प्रेरितों के काम 17:29)। इस्राएलियों को स्पष्ट रूप से परमेश्वर की कोई भी मूर्ति बनाने से मना किया गया था। व्यवस्थाविवरण 4:15, 16 में, मूसा इस बात पर जोर देता है कि 'जब यहोवा ने तुम से होरेब पर्वत पर आग के बीच में से बात की तब तुम को कोई रूप न दिखाई पड़ा, कहीं ऐसा न हो कि तुम बिगड़कर, ... कोई मूर्ति खोदकर बना लो'। और इसलिए, वह उन्हें निर्देश देता है (पद 23), 'इसलिए अपने विषय में तुम सावधान रहो, कहीं ऐसा न हो कि तुम उस वाचा को भूलकर, जो तुम्हारे परमेश्वर यहोवा ने तुम से बाँधी है, किसी और वस्तु की मूर्ति खोदकर बनाओ'। भले ही मूर्तियों का उद्देश्य परमेश्वर का हूबहू रूप दिखाना न हो, बल्कि केवल परमेश्वर के प्रतीकात्मक रूप को दिखाना हो, परन्तु फिर भी पवित्रशास्त्र परमेश्वर की आराधना मूर्तियों के द्वारा करने से मना करता है। प्रत्येक वह सदृश्य रूप, जिसे हमारे विचारों में परमेश्वर को स्मरण दिलाने और हमारी भक्ति-भावना को जगाने के लिए बनाया गया हो, और जिसके सामने हम अपने धार्मिक अनुष्ठानों को करते हैं, उसे दूसरी आज्ञा (निर्गमन 20:4) में स्पष्ट रूप से मना किया गया है। रोम का चर्च, इस बात को भली भाँति जानते हुए कि यह आज्ञा उनके सिद्धांत एवं प्रथा की निन्दा करती है, इसे पहली आज्ञा का ही एक उपभाग बना देता है, और अपनी धर्म-शिक्षा की पुस्तकों एवं भक्ति-ग्रंथों में इसे सम्मिलित नहीं करता है।

तीसरी बात यह है, कि हमारा अंगीकार-कथन न केवल मूर्तियों के द्वारा परमेश्वर की आराधना की निन्दा करता है, बल्कि पवित्र शास्त्र में निर्धारित न किए गए अन्य तरीकों से भी परमेश्वर की आराधना करने की निन्दा करता है। रोम के चर्च ने न केवल अनेक तुच्छ रीति-रिवाजों द्वारा परमेश्वर की आराधना को भ्रष्ट किया है, बल्कि कुछ प्रोटेस्टेंट चर्चों ने भी पोप-प्रथा के कई रीति-रिवाजों का बनाए रखा हुआ है; जैसे मसीही धर्म-सेवकों के लिए विशेष वस्त्र धारण करने, अनेक त्योहारों को मनाने, चर्चों में वेदियाँ बनाने, बपतिस्मा के समय क्रूस का चिह्न बनाने, यीशु के नाम पर सिर झुकाने, और प्रभु भोज के समय घुटने टेकने की आज्ञा देते हैं। इन रीति-रिवाज़ों को हम उचित रूप से अंधविश्वास मानते हैं, क्योंकि पवित्रशास्त्र में इनके लिए कोई आधार नहीं है, और ये मनुष्यों के ही बनाए हुए हैं। यह बहुत अच्छा होता यदि जो लोग इन रीतियों की आज्ञा देते हैं, और जो लोग इनका पालन करते हैं, वे यहूदियों के विषय में परमेश्वर के इन वचनों पर विचार करते: ये व्यर्थ मेरी उपासना करते हैं, क्योंकि मनुष्यों की विधियों को धर्मोपदेश करके सिखाते हैं (मत्ती 15:9)।

भाग 2

मसीही आराधना परमेश्वर पिता, परमेश्वर पुत्र और पवित्र आत्मा को दी जानी चाहिए और केवल उसी को (मत्ती 4:10; यूहन्ना 5:23; 2 कुरिन्थियों 13:14); न कि स्वर्गदूतों, संतों या किसी अन्य प्राणी को (कुलुस्सियों 2:18; रोमियों 1:25; प्रकाशितवाक्य 19:10); और पाप में पतन के बाद से, बिना किसी मध्यस्थ के नहीं; और न ही किसी अन्य मध्यस्थ में, परन्तु केवल ख्रीष्ट की मध्यस्थता में आराधना दी जानी चाहिए (यूहन्ना 14:6; इफिसियों 2:18; 1 तीमुथियुस 2:5; कुलुस्सियों 3:17)।

व्याख्या

इस भाग में मसीही आराधना के विषय को परिभाषित किया गया है।

1. हमारा अंगीकार-कथन इस बात की पुष्टि करता है कि मसीही आराधना केवल परमेश्वर को ही अर्पित की जानी चाहिए। जबकि पहली आज्ञा हमें उसे छोड़ और किसी को ईश्वर करके मानने से मना करती है, वहीं यह हम से अपेक्षा करती कि हम केवल उसी की आराधना करें। सबसे स्पष्ट उत्तर वह था जिसे यीशु ख्रीष्ट ने शैतान को दिया था जब शैतान चाहता था कि हमारा उद्धारकर्ता उसे गिर कर दण्डवत् करे और उसकी आराधना करे। प्रभु यीशु ने उत्तर दिया, 'क्योंकि लिखा है, तू प्रभु अपने परमेश्वर को प्रणाम कर, और केवल उसी की आराधना कर' (मत्ती 4:10)। और जब प्रेरित यूहन्ना ने एक स्वर्गदूत की आराधना करने का प्रयास किया, चाहे आश्चर्यवश, अथवा उसे यीशु ख्रीष्ट समझने की भूल के कारण, तो उस स्वर्गदूत ने यूहन्ना से कहा, 'देख ऐसा मत कर परमेश्वर ही को दण्डवत् कर' (प्रकाशितवाक्य 22:8, 9); इसके द्वारा यह संकेत दिया गया है कि केवल परमेश्वर की ही आराधना की जानी चाहिए।

केवल एक ही सच्चा परमेश्वर हो सकता है, परन्तु परमेश्वरत्व में तीन भिन्न व्यक्ति हैं; इन तीनों व्यक्तियों को पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा कहा जाता है; और मसीही आराधना इन तीनों व्यक्तियों में से प्रत्येक को दी जानी चाहिए। हालाँकि, मसीही लोग प्रायः अपनी प्रार्थनाएँ पिता से, पुत्र के नाम में, और पवित्र आत्मा की सहायता से करते हैं, फिर भी परमेश्वर के लिए आराधना इन तीनों आराध्य व्यक्ति. में से किसी के लिए भी की जा सकती है। और इस बात को सदैव स्मरण रखा जाना चाहिए, कि जब परमेश्वरत्व के किसी भी एक व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित किया जाता है, तो अन्य दो भी सम्मिलित होते हैं। परमेश्वरत्व के केवल ये व्यक्ति ही मसीही आराधना के योग्य है, क्योंकि वे एक ही अस्तित्व है – एक परमेश्वर।

2. पोप समर्थकों के विरोध में, जो यह मानते हैं, कि न केवल परमेश्वर, बल्कि भले स्वर्गदूतों और दिवंगत संतों की भी, जिन्हें पोप द्वारा संत घोषित किया गया है, धार्मिक रीति से आराधना की जानी चाहिए; हमारा अंगीकार-कथन पुष्टि करता है कि न तो स्वर्गदूतों, न ही संतों, और न ही किसी अन्य प्राणी की धार्मिक आराधना की जानी चाहिए। प्रेरित पौलुस द्वारा स्पष्ट रूप से स्वर्गदूतों की आराधना करना निषिद्ध माना गया है: 'कोई मनुष्य आत्महीनता और स्वर्गदूतों की पूजा कराके तुम्हें दौड़ के प्रतिफल से वंचित न करे' (कुलुस्सियों 2:18)। और जब प्रेरित यूहन्ना स्वर्गदूत की आराधना करने जा रहा था, तो स्वर्गदूत ने बिल्कुल मना कर दिया, और उसे आज्ञा दी कि वह अपनी आराधना को स्वयं परमेश्वर की ओर निर्देशित करे: 'तब मैं उसको दण्डवत् करने के लिए उसके पाँवों पर गिर पड़ा। उसने मुझ से कहा, देख ऐसा मत कर, मैं तेरा और तेरे संगी भाइयों का संगी दास हूँ ... परमेश्वर ही को दण्डवत् कर' (प्रकाशितवाक्य 19:10)। कैथोलिक लोग घोर मूर्ति-पूजा के भी दोषी हैं, क्योंकि वे दिवंगत संतों, विशेषकर कुंवारी मरियम की पूजा करते हैं। वे संतों से प्रार्थना करने, मन्नतें मांगते, उनकी शपथ लेते, उनके नाम पर वेदियाँ और मंदिरों को समर्पित करते, धूप-दान अर्पण करते है, और संक्षेप में कहें तो, वे उन्हें वे सभी आदर सम्मान देते हैं, जो परमेश्वर को दिए जाते हैं। निस्संदेह, वे दिखावा करते हैं कि संतों को दी जाने वाली उनकी आराधना, स्वरूप में, और स्तर में, ठीक वैसी नहीं है जैसी वे परमेश्वर को देते हैं। परन्तु, यद्यपि, वे सैद्धांतिक रूप में कितना भी अंतर क्यों न करें, अधिकांश लोग व्यवहार में कोई अंतर नहीं करते। दिवंगत संतो को किसी भी प्रकार की मसीही आराधना देना, पवित्रशास्त्र के अनुसार उचित नहीं ठहराया जा सकता। मसीही लोगों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे उन लोगों को स्मरण रखें जिन्होंने उन पर शासन किया था (इब्रानियों 13:17), परन्तु उनकी आराधना करने का कोई भी संकेत नहीं दिया गया है। जब पत्रियाँ लिखी

गईं तो कई प्रेरितों एवं प्रथम मसीही लोगों को, विशेष रूप से महान याकूब और स्तिफनुस को शहादत सहनी पड़ी; परन्तु उनसे प्रार्थना करने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। संतों का आह्वान करने का अर्थ है या तो वे सर्वत्र विद्यमान हैं, या यह कि वे सब कुछ जानते हैं; लेकिन सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता परमेश्वरीय सिद्धताएँ हैं, जो किसी भी प्राणी को नहीं दिए जा सकते हैं।

हमारा अंगीकार-कथन न केवल स्वर्गदूतों और संतों की, बल्कि किसी भी 'अन्य प्राणी की' भी आराधना करने की निन्दा करता है। और कैथोलिक लोगों के पास, यहाँ बताए गए आराधना के अन्य विषयों के अतिरिक्त, आराधना के अनेक वस्तुएँ हैं। वे न केवल दिवंगत संतों की स्वयं आराधना करते हैं, बल्कि उनके अवशेषों की भी पूजा करते हैं। ट्रेंट की परिषद ने अवशेषों की पूजा को अधिकृत किया था; और आज भी कैथोलिक लोगों के बीच उनका बहुत आदर-सम्मान किया जाता है। परन्तु जिस प्रकार परमेश्वर ने मूसा के अवशेषों के विषय में यहूदियों के अंधविश्वास में पड़ जाने की सम्भावना को प्रभावी रीति से रोक दिया; परमेश्वर ने यह सुनिश्चित करते हुए उसके शव को इस प्रकार दफन किया कि 'कोई भी उसके कब्र के विषय में न जान सके' (व्यवस्थाविवरण 34:6); उसी प्रकार से यह बात निश्चित रूप से हमें इस बात का औचित्य प्रदान करती है कि हम संतों के शरीरों का सम्मान करने के लिए उन्हें केवल दफनाने से अधिक और कुछ न करें। हम जानते हैं कि आरम्भिक मसीही लोगों ने स्तिफनुस के शरीर के विषय में उसे सम्मानपूर्वक दफनाने के अतिरिक्त और कोई विशेष कार्य नहीं किया (प्रेरितों के काम 8:2)। और चूंकि अवशेषों की पूजा प्रत्यक्ष रूप से आरम्भिक मसीही लोगों की प्रथा के विपरीत है, इसलिए यह सामान्य विवेक के साथ पूरी रीति से असंगत है।

ट्रेंट की धर्म-परिषद द्वारा यह भी आदेश जारी किया गया था, कि धन्य कुंवारी मरियम, और अन्य संतों की प्रतिमाओं को 'उचित सम्मान व श्रद्धा' दिया जाए।[109] इसी के अनुसार, रोमन कैथोलिक लोग इन प्रतिमाओं के सामने झुकते हैं, उन्हें चूमते हैं, और उनसे प्रार्थना करते हैं। वे हम से कह सकते हैं कि वे अपनी आराधना केवल प्रतिमा तक ही सीमित नहीं रखते, बल्कि उसके भीतर और उसके माध्यम से परमेश्वर की आराधना करते हैं। यही बात ज्ञानी मूर्तिपूजकों और यहूदियों, दोनों ही के द्वारा कही जा सकती है, फिर भी यह उन्हें मूर्तिपूजा के दोष से मुक्त नहीं करती। इस्रालियों ने सोने के बछड़े के माध्यम से यहोवा परमेश्वर की आराधना करने का दावा किया था (निर्गमन 32:5)। और यारोबाम द्वारा दान और बेतेल में स्थापित किए गए बछड़े केवल सच्चे परमेश्वर की आराधना के साधन मात्र थे (1 राजा 12:26)। न केवल मूर्तियों की स्वयं पूजा करना, बल्कि पूजा में उनका उपयोग करना, चाहे भले ही उनके माध्यम से सच्चे परमेश्वर की ही आराधना की जा रही हो, यह भी पवित्रशास्त्र में मूर्तिपूजा कहलाता है।

यह भाग उस माध्यम की ओर भी संकेत करता है जिसके द्वारा परमेश्वर को स्वीकार्य आराधना अर्पित की जानी चाहिए। निर्दोषता की अवस्था में, मनुष्य को हर समय परमेश्वर तक पहुँचने की स्वतंत्रता प्राप्त थी, और उसे अपने एवं अपने सृष्टिकर्ता के बीच मध्यस्थता के लिए किसी की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन पाप में पतन के बाद से, किसी मध्यस्थ के बिना परमेश्वर को कोई भी स्वीकार्य आराधना नहीं चढ़ाई जा सकती। और कैथोलिक लोगों के विरोध में, जो मानते हैं कि स्वर्गदूत, दिवंगत संत, और विशेष रूप से कुंवारी मरियम, परमेश्वर और मनुष्य के बीच में मध्यस्थ एवं प्रार्थना करने वाले हैं, हमारा अंगीकार कथन दृढ़ता से पुष्टि करता है, कि यीशु ख्रीष्ट को छोड़ और कोई मध्यस्थ नहीं है। पवित्रशास्त्र हमें स्पष्ट रूप से यह आश्वासन देता है कि 'परमेश्वर एक ही है, और परमेश्वर और मनुष्यों

[109] Con. Trid., Sess. 25.

के बीच में भी एक ही मध्यस्थ है, अर्थात मसीह यीशु जो मनुष्य है' (1 तीमुथियुस 2:5)। ख्रीष्ट स्वयं के विषय में यह घोषणा करते हैं, 'मार्ग, सत्य और जीवन मैं ही हूँ; बिना मेरे द्वारा कोई पिता के पास नहीं पहुँच सकता' (यूहन्ना 15:6)। और 'उसी के द्वारा हम ... पिता के पास पहुँच होती है' (इफिसियों 2:18)।

कैथोलिक लोग यह स्वीकार करते हैं कि यीशु ख्रीष्ट ही *उद्धार* का एकमात्र मध्यस्थ है; परन्तु वे स्वर्गदूतों और संतों को भी उसके साथ, *प्रार्थना निवेदन* करने वालों के रूप में जोड़ते हैं। वास्तव में, इस बिंदु पर वे आपस में एकमत नहीं हैं। कुछ का मानना है कि हमारे अब महिमा प्राप्त मध्यस्थ के साथ-साथ, स्वर्गदूत और दिवंगत संत भी हमारे लिए परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं। अन्यों का मानना है कि वे केवल ख्रीष्ट और हमारे बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। परन्तु, पवित्रशास्त्र इन भेदों के लिए कोई आधार प्रदान नहीं करता। यह ख्रीष्ट की उस मध्यस्थता को दिखाता है, जो उसके प्रायश्चित वाले बलिदान के अमूल्य योग्यता पर आधारित है। वह जो पिता के पास हमारा एक सहायक है, वही हमारे पापों का भी प्रायश्चित है (1 यूहन्ना 2:1, 2)। वह प्रार्थना का मध्यस्थ है, क्योंकि वह छुटकारे का मध्यस्थ है; और इसी आधार पर उसकी प्रार्थना प्रभावशाली है। महिमा प्राप्त संत लोग स्वर्ग में अपने प्रवेश के लिए परमेश्वर के मुफ्त अनुग्रह के ऋणी हैं, और उनके पास कोई भी ऐसा गुण नहीं जिसे वे दूसरों के लिए उपयोग कर सकें। उनकी मध्यस्थता की याचना करने का अर्थ यह मानना है कि वे हमारी प्रार्थनाएँ सुनते हैं और हमारी परिस्थितियों से अवगत हैं; परन्तु यह एक निराधार धारणा है। उन्हें हमारे लिए परमेश्वर से प्रार्थना करने हेतु नियुक्त करना, ख्रीष्ट के सम्मान के लिए अत्यंत अपमानजनक है; क्योंकि इसका अर्थ यह है कि वह अपने पद के प्रति लापरवाह है, या फिर उसमें इतनी रुचि नहीं कि वह परमेश्वर से उन आशीषों को प्राप्त कर सके जिनकी हमें आवश्यकता है। उन्हें हमारे लिए ख्रीष्ट के समक्ष मध्यस्थता

हेतु नियुक्त करना यह भी स्वयं ख्रीष्ट का अपमान है; क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हमारे दयालु महायाजक की तुलना में, 'जो हमारी निर्बलताओं में हमारे साथ दुखी होता है, वरन् वह सब बातों में हमारे समान परखा गया'।

जहाँ एक ओर इस विषय पर रोम के चर्च का सिद्धांत प्रभु यीशु ख्रीष्ट का अपमान करता है, वहीं दूसरी ओर यह दिवंगत संतों को परमेश्वर के समान आदर एवं गुण प्रदान करता है। इसका अर्थ यह होना चाहिए कि वे सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हैं; क्योंकि उदाहरण के लिए, कुंवारी मरियम को उन प्रार्थना के विषय में ज्ञान कैसे हो सकता है जो एक ही समय में हजारों स्थानों पर, और लाखों लोगों द्वारा उन्हें सम्बोधित की जाती हैं? प्रोटेस्टेंट लोग पूरी रीति से उचित कारणों से स्वर्गदूतों और मनुष्यों को मध्यस्थ मानने की धारणा को अस्वीकार करते हैं, और केवल उस महिमामय मध्यस्थ की प्रार्थनाओं पर निर्भर रहते है, जिसकी पिता परमेश्वर सदैव सुनता है।

भाग 3

धन्यवाद के साथ प्रार्थना, मसीही आराधना का एक विशेष भाग होने के कारण (फिलिप्पियों 4:6), परमेश्वर इसे सभी मनुष्यों से अपेक्षा करता है (भजन संहिता 65:2); और ताकि इसे स्वीकार किया जा सके, इसके लिए इसे पुत्र के नाम से (यूहन्ना 14:13 – 14; 1 पतरस 2:5), उसके आत्मा की सहायता से (रोमियों 8:26), उसकी इच्छानुसार (1 यूहन्ना 5:14), समझ, श्रद्धा, नम्रता, उत्साह-जोश, विश्वास, प्रेम, और विश्वास में दृढ़ता के साथ किया जाना चाहिए (भजन संहिता 47:7; सभोपदेशक 5:1 – 2; इब्रानियों 12:28; उत्पत्ति 18:27; याकूब 5:16; 1:6 – 7; मरकुस 11:24; मत्ती 6:12, 14 – 15; कुलुस्सियों 4:2; इफिसियों 6:18);

और यदि यह मुखर ध्वनि में है, तो किसी परिचित भाषा में की जानी चाहिए (1 कुरिन्थियों 14:14)।

भाग 4

प्रार्थना वैध बातों के लिए की जानी चाहिए (1 यूहन्ना 5:14), और सभी प्रकार के मनुष्यों के लिए जो जीवित हैं, या जो लोग भविष्य में रहेंगे (1 तीमुथियुस 2:1 – 2; यूहन्ना 17:20; 2 शमूएल 7:29; रूत 4:12); परन्तु मृतकों के लिए नहीं (2 शमूएल 12:21 – 23; लूका 16:25 – 26; प्रकाशितवाक्य 14:13), और न ही उन लोगों के लिए जिनके विषय में यह ज्ञात हो कि उन्होंने मृत्यु के दंड वाला पाप किया है (1 यूहन्ना 5:16)।

व्याख्या

हमारा अंगीकार-कथन मसीही आराधना के उद्देश्य और उसे किस विधि से किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में एक सामान्य विवरण प्रस्तुत करने के बाद, अब मसीही आराधना के विभिन्न भागों की अधिक विस्तृत विवरण देने की ओर अग्रसर होता है; और हमारे विचाराधीन अनुभागों में, यह प्रार्थना के विषय पर चर्चा करता है, जो इस आराधना का एक विशेष अंग है, जिसके लिए हम परमेश्वर के प्रति ऋणी हैं। प्रार्थना को जब उसके सबसे व्यापक अर्थ में लिया जाता है, तो उसमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित होती हैं: स्तुति, या परमेश्वर के सिद्ध गुणों, और उसके कार्यों का श्रद्धापूर्ण गुणगान, जिनमें वे प्रकट होते हैं; परमेश्वर के सामने अपने पापों को अंगीकार करना; उससे प्राप्त कृपा व अनुग्रह के लिए धन्यवाद; उन आशीषों के लिए निवेदन करना जिनकी हमें आवश्यकता है। लेकिन, प्रार्थना शब्द के संकीर्ण अर्थ में, यह निवेदन या याचना करने में निहित है; और इस दृष्टिकोण से हम इसे उन टिप्पणियों में देखेंगे, जो हम अंगीकार-कथन के लेखों के स्पष्टीकरण हेतु प्रस्तुत करने वाले हैं।

1. *प्रार्थना एक ऐसा कर्तव्य है जो सभी मनुष्यों के लिए उचित व अनिवार्य है*। आश्रित प्राणी होने के नाते, हम परमेश्वर के प्रति इस श्रद्धा को अर्पित करने के लिए ऋणी हैं। 'हम उसी में जीवित रहते, और चलते-फिरते और हमारा स्थिर रहते है'; और 'हर एक अच्छा वरदान और हर एक उत्तम दान उसी से है'। तो फिर, इससे अधिक उचित और क्या हो सकता है कि हम उस पर अपनी निरन्तर निर्भरता को स्वीकार करें, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रतिदिन उससे याचना करें?

कभी-कभी यह तर्क प्रार्थना की आवश्यकता और उपयोगिता के विरुद्ध तर्कों के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं, कि परमेश्वर हमारी आवश्यकताओं को हमारे बताने से पहले ही जानता है, और उसकी असीम भलाई उसे वह सब प्रदान करने के लिए प्रेरित करेगी जो हमारे आनन्द के लिए हितकारी है। परन्तु, यद्यपि परमेश्वर को सूचना देने के लिए प्रार्थना निश्चित रूप से आवश्यक नहीं है, और न ही इसका उद्देश्य परमेश्वर की कृपा को जगाना है, फिर भी इसका यह अर्थ नहीं है कि इसकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अन्य अत्यंत महत्वपूर्ण कारण भी हो सकते हैं जिनके लिए इसकी आवश्यकता है। इसे सम्भवतः इस प्रकार डिज़ाइन किया गया है कि यह हमारे मनों पर हमारी आवश्यकताओं का एहसास और भी गहराई से बिठा दे, और उन्हें उस स्थिति में ले आए, जिसमें एकमात्र उचित स्थिति यही है कि हमें वे वरदान प्राप्त हो सकें जिनकी हम याचना करते हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे स्वर्गीय पिता से हमारी आवश्यकता वाली आशीषों को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना ही वह दिव्य रूप से ठहराया गया माध्यम है। उसने हमें माँगने की आज्ञा दी है, और प्रतिज्ञा की है कि हमें मिलेगा (मत्ती 7:7)। उसने हमें अनेक अत्यंत महान एवं बहुमूल्य प्रतिज्ञाएँ दी हैं, और उसने कहा है: 'इस्राएल के घराने में फिर मुझ से विनती की जाएगी कि मैं उनके लिए यह करूँ' (यहेजकेल 36:37)।

यह आरोप भी लगाया गया है कि 'दुष्ट और नया जन्म नहीं प्राप्त लोगों को परमेश्वर से बिल्कुल भी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए'। यह भ्रांति कुछ मसीही सम्प्रदायों द्वारा ठीक उसी समय उठाई गई थी, जब हमारा अंगीकार-कथन संकलित किया गया;[110] और इसको स्वयं हमारे समय में फिर से उठाया जाने लगा है। यह तर्क दिया जाता है कि, चूंकि अविश्वासी लोग ऐसी प्रार्थना नहीं कर सकते जो स्वीकार्य हो, इसलिए उन्हें तो बिल्कुल भी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। यह सहजता से स्वीकार किया जाएगा कि केवल विश्वास की प्रार्थना ही स्वीकार्य हो सकती है; फिर भी हमें यह मानना चाहिए कि सभी मनुष्य परमेश्वर से प्रार्थना करने के लिए बाध्य हैं।

क. प्रार्थना एक ऐसा कर्तव्य है जिसकी अपेक्षा मात्र स्वाभाविक ज्ञान द्वारा की जाती है, और इसलिए, यह सभी मनुष्यों पर अनिवार्य रूप से लागू होनी चाहिए (योना 1:5, 6, 14)।

ख. प्रार्थना एक ऐसा कर्तव्य है जिसकी आज्ञा परमेश्वर के वचन में मनुष्यों को बिना किसी भेदभाव के और सर्वत्र दी गई है (भजन संहिता 65:2; फिलिप्पियों 4:6; 1 थिस्सलुनीकियों 5:17)।

ग. यदि अविश्वासियों, या नया जन्म नहीं प्राप्त मनुष्यों को प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, तो प्रार्थना नहीं करना उनका पाप नहीं माना जाएगा; परन्तु पवित्रशास्त्र में प्रार्थना की उपेक्षा को सदैव एक अत्यंत गम्भीर अपराध के रूप में दिखाया गया है (भजन संहिता 10:4; यिर्मयाह 10:25)।

घ. प्रेरित पतरस ने जादूगर शमौन से परमेश्वर से प्रार्थना करने को कहा, भले ही वह उस समय 'पित्त की सी कड़वाहट और अधर्म के बन्धन में पड़ा था' (प्रेरितों के काम 8:22, 23)।

ङ. प्रार्थना अनुग्रह का ठहराया गया साधन है, जिसका उपयोग सभी मनुष्यों को करना चाहिए। हालाँकि यह हमारे प्रार्थना करने में नहीं है, फिर

[110] Edward's *Gangraena*, part i., p. 27.

भी परमेश्वर द्वारा स्थापित एक व्यवस्था के रूप में प्रार्थना ही वह मार्ग है, जिसके द्वारा हम उससे किसी भी आशीष की आशा कर सकते हैं (मत्ती 7:7)। इसलिए हर वह व्यक्ति जिसे परमेश्वर से किसी भी अच्छी वस्तु की आवश्यकता या इच्छा है, वह प्रार्थना के द्वारा उसे माँगने के लिए बाध्य है।

च. यद्यपि दुष्टों की प्रार्थना के साथ-साथ उनका कार्य दोनों ही पापमय हैं, क्योंकि ये उनके द्वारा ठीक रीति से नहीं किए जाते हैं, फिर भी, चूंकि ये कार्य अपने आप में वैध और उत्तम हैं, इसलिए इनका परित्याग करना उनके लिए और भी अधिक घृणित बात है (नीतिवचन 15:8; 21:4)। इन्हीं कारणों से, हमें अपने अंगीकार-कथन के अनुरूप यह बनाए रखना चाहिए, कि 'प्रार्थना परमेश्वर द्वारा सभी मनुष्यों से अपेक्षित है'।

2. *प्रार्थना उन वस्तुओं के लिए की जानी चाहिए जो वैध हैं, या परमेश्वर की इच्छा के अनुरूप हैं।* चूंकि हमारी प्रार्थना को परमेश्वर की प्रकट इच्छा के द्वारा निर्देशित होना चाहिए, इसलिए उसका वचन ही प्रार्थना का नियम होना चाहिए। और न तो इस नियम के कारण हमारी प्रार्थनाएँ किसी संकीर्ण सीमा में बंध जाती हैं; क्योंकि हमारे लिए वास्तव में आवश्यक ऐसी कोई भी वस्तु नहीं बताई जा सकती, जो किसी न किसी परमेश्वर की घोषणा या प्रतिज्ञा में सम्मिलित न हो। हमें परमेश्वर से सांसारिक कृपाओं को माँगने का अधिकार है; क्योंकि 'हमारा स्वर्गीय पिता जानता है कि हमें इन वस्तुओं की आवश्यकता है' (मत्ती 6:32); परन्तु हमारी प्रार्थनाओं में आत्मिक कृपाओं को ही प्राथमिकता मिलनी चाहिए; इसलिए हमारे उद्धारकर्ता का यही वचन है: 'इसलिए पहले तुम परमेश्वर के राज्य और उसके धर्म की खोज करो तो ये सब वस्तुएँ भी तुम्हें मिल जाएँगी' (मत्ती 6:33)। यदि हम अपनी प्रार्थनाओं को परमेश्वर के वचन के द्वारा व्यवस्थित करें, तो हम पूर्ण विश्वास के साथ यह महसूस कर सकते हैं कि उसकी इच्छा और हमारी अभिलाषाओं के बीच पूर्ण सामंजस्य है; और हम

उस सुंदर और व्यापक प्रतिज्ञा से पूरा प्रोत्साहन पा सकते हैं: 'यदि तुम मुझ में बने रहो और मेरा वचन तुम में बना रहे, तो जो चाहो माँगो और वह तुम्हारे लिए हो जाएगा' (यूहन्ना 15:7; साथ में देखें, 1 यूहन्ना 5:14)।

3. *प्रार्थना ख्रीष्ट के नाम में की जानी चाहिए*। हमारे उद्धारकर्ता हमें प्रायः यह निर्देश देते हैं कि हम हर वस्तु उसके नाम से माँगें, और हमें आश्वस्त करता है कि उसके नाम में प्रस्तुत की गई हमारी सभी इच्छाएँ और निवेदन पूरे किए जाएँगे (यूहन्ना 14:13, 14; 16:23, 24)। लेकिन, केवल अपनी प्रार्थनाओं में ख्रीष्ट के नाम को सम्मिलित कर लेना, या उन्हें इन खाली शब्दों के साथ समाप्त कर देना ही पर्याप्त नहीं है: 'हम जो कुछ भी माँगते हैं, वह मसीह के निमित्त है।' ख्रीष्ट के नाम में प्रार्थना करने का अर्थ है, प्रार्थना करने के लिए अपना सारा प्रोत्साहन केवल ख्रीष्ट से प्राप्त करना, इस कर्तव्य का पालन उसकी सामर्थ्य पर निर्भर होकर करना, तथा परमेश्वर तक पहुँचने के लिए, और अपनी प्रार्थनाओं की स्वीकृति एवं उन पर अनुग्रहपूर्ण उत्तर पाने के लिए, केवल उसके ही गुणों एवं मध्यस्थता पर भरोसा रखना।

4. *प्रार्थना पवित्र आत्मा की सहायता पर निर्भर रहते हुए की जानी चाहिए*। स्वीकार्य प्रार्थना के लिए एक अनिवार्य शर्त के रूप इस बात को पवित्रशास्त्र में प्रायः बताया गया है (इफिसियों 6:18; यहूदा 20)। हमें नहीं पता कि हमें किस बात के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, इसलिए पवित्र आत्मा की सहायता के बिना, इस बात का खतरा रहता है कि हम अपनी प्रार्थनाओं में गलत वस्तु माँग बैठें। न ही हमें यह पता है कि हमें किसी रीति से प्रार्थना करनी चाहिए। परन्तु हमारी निर्बलताओं में सहायता के लिए पवित्र आत्मा की प्रतिज्ञा की गई है, जो हमारे मन को हमारी आवश्यकता के ज्ञान से प्रकाशित करने के द्वारा, हमें उन प्रतिज्ञाओं का स्मरण दिलाकर, जो परमेश्वर से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति माँगने के लिए हमारा प्रोत्साहन है, और हमारे भीतर उन भावनाओं एवं गुणों को

जगाता है, जो कि एक स्वीकार्य प्रार्थना के लिए आवश्यक है (रोमियों 8:26, 29)।

5. यदि हम चाहते हैं कि हमारी प्रार्थनाएँ परमेश्वर द्वारा स्वीकार की जाएं, तो *उन्हें सही रीति से प्रस्तुत किया जाना चाहिए,* और इसमें अनेक बातें सम्मिलित हैं। हमें इस प्रकार से प्रार्थना करनी चाहिए:

(क) *समझ-बुद्धि के साथ* (भजन 47:7); परमेश्वर के विषय में कुछ ज्ञान के साथ, जो प्रार्थना का एकमात्र लक्ष्य है; हमारी आवश्यकताओं के विषय में, जो प्रार्थना की विषय-वस्तु है; और ख्रीष्ट के व्यक्ति एवं कार्य के विषय में, जो स्वीकार्य प्रार्थना का एकमात्र मध्यस्थ है; और उन प्रार्थनाओं के विषय में, जो प्रार्थना में हमारे लिए प्रोत्साहन हैं।

(ख) *श्रद्धा के साथ* (इब्रानियों 12:28), जो परमेश्वर की असीम महिमा और निष्कलंक पवित्रता की गहन अनुभूति से उत्पन्न होती है।

(ग) *नम्रता के साथ* (उत्पत्ति 18:27) जो हमारी अपनी अयोग्यता एवं पापमयता के गहन बोध से उत्पन्न होती है।

(घ) *पूरी लगन के साथ* (याकूब 5:16), जो हमारी अपनी आवश्यकताओं की गहन समझ से, और उन आशीषों के अमूल्य स्वरूप की चेतना से उत्पन्न होती है, जिनकी हम परमेश्वर से याचना करते हैं।

(ङ) *विश्वास के साथ* (याकूब 1:6), यह विश्वास करते हुए कि जो कुछ भी हम परमेश्वर की इच्छा के अनुसार माँगते हैं वह हम प्राप्त करेंगे।

(च) *प्रेम के साथ* (1 तीमुथियुस 2:8), हमारे साथ परमेश्वर की उपस्थिति के लिए तीव्र अभिलाषा रखते हुए, और उन सभी लोगों

के प्रति स्नेहपूर्ण आदर रखते हुए जिनके लिए हमें प्रार्थना करनी चाहिए।

(छ) *आग्रहपूर्ण और अंत तक विश्वास में दृढ़ बने रहने के साथ* (मत्ती 15:22 – 28; इफिसियों 6:18), अपनी विनती पर जोर देते हुए, और अपने निवेदन को बार-बार तब तक दोहराते हुए, जब तक कि कोई अनुग्रहकारी उत्तर न मिल जाए।

(ज) *आशा के साथ,* परमेश्वर की प्रतीक्षा करते हुए, उसकी इच्छा के प्रति समर्पित होकर, और अपनी प्रार्थनाओं के उत्तर की बाट जोहकर प्रार्थना करना (भजन संहिता 5:3; मीका 7:7)।

6. *प्रार्थना, कम से कम जब वह सार्वजनिक और सामाजिक हो, तो किसी जानी-पहचानी भाषा में ही की जानी चाहिए*। यह रोम के चर्च के सिद्धांत एवं प्रथा की निन्दा करता है, जो यह मानता है कि सार्वजनिक प्रार्थना को किसी जानी-पहचानी भाषा में होना आवश्यक नहीं है, और जो आज भी अपनी आराधना को लातीनी भाषा में ही करता आ रहा है, एक ऐसी भाषा जो पिछले एक हजार वर्षों से आम बोलचाल की भाषा नहीं रही है। यह प्रथा सामान्य विवेक के इतने विपरीत है, कि इसके विरोध में हमारे अंगीकार-कथन के लेख का समर्थन करने के लिए किसी भी तर्क की आवश्यकता नहीं हो सकती। यह समझना पर्याप्त है, कि प्रेरित पौलुस ने कुरिन्थियों की पहली पत्री के 14वे अध्याय का लगभग पूरा भाग इस बात को दिखाने में समर्पित किया है कि सार्वजनिक प्रार्थनाएँ आम बोलचाल की भाषा में ही की जानी चाहिए। वह किसी अनजान भाषा में दस हजार शब्दों को बोलने के बजाय, ऐसे पाँच शब्द बोलना अधिक पसंद करेगा जिन्हें लोग समझ सकें। वह इस सामान्य नियम को निर्धारित करता है: 'सब कुछ आत्मिक उन्नति के लिए होना चाहिए'। परन्तु लोग ऐसी भाषा

में की गई आराधना से कैसे आत्मिक उन्नति पा सकते हैं, जिसे वे समझते ही नहीं?

7. *प्रार्थना 'सभी प्रकार के मनुष्यों के लिए की जानी चाहिए जो जीवित हैं, या जो लोग भविष्य में जीवित रहेंगे; परन्तु मृतकों के लिए नहीं, और न ही उन लोगों के लिए जिनके विषय में यह ज्ञात हो कि उन्होंने मृत्यु के दंड वाला पाप किया है*'। हमें 'पृथ्वी पर स्थित ख्रीष्ट की समस्त कलीसिया के लिए – मजिस्ट्रेट और मसीही सेवकों के लिए; अपने भाइयों के लिए, और हाँ, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं के लिए भी प्रार्थना करनी चाहिए' (WLC, प्रश्न 183)। और जिस प्रकार ख्रीष्ट ने उन लोगों के लिए प्रार्थना की, जो बाद में उस पर विश्वास करने वाले थे (यूहन्ना 17:20), उसी प्रकार हमें भी संसार में उसके राज्य की उन्नति के लिए, उसके दूसरे आगमन तक प्रार्थना करनी चाहिए (भजन संहिता 102:18)।

यह कथन के हमें मृतकों के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, रोम के चर्च के विरुद्ध उठाया गया है, जो यह मानता है कि दिवंगत आत्माओं के लिए प्रार्थनाएँ और मिस्सा (Mass) किया जाना चाहिए, और इनसे उन्हें वास्तव में लाभ पहुँच सकता है। पवित्रशास्त्र में हमें ऐसा कोई नियम नहीं मिलता जो हमसे मृतकों के लिए प्रार्थना करने की अपेक्षा करता हो; न ही ऐसी कोई प्रतिज्ञा कि परमेश्वर उनके लिए की गई हमारी प्रार्थनाओं को सुनेगा; और न ही उनके लिए की गई प्रार्थना का कोई उदाहरण मिलता है; क्योंकि जब पौलुस ने यह प्रार्थना की कि उनेसिफुरुस को उस दिन प्रभु की दया प्राप्त हो (2 तीमुथियुस 1:18), तो इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उनेसिफुरुस उस समय मृत था। जब दाऊद का बच्चा मृत्यु द्वारा उससे ले लिया गया, तो उसने उसके लिए प्रार्थना करना बंद कर दिया (2 शमूएल 12:22, 23)। मृतकों की स्थिति अपरिवर्तनीय रूप से निश्चित कर दी गई है, और इसलिए हमारी प्रार्थनाएँ उनके लिए लाभदायक नहीं हो सकतीं (लूका 16:22 – 26)।

यह कथन कि हमें उन लोगों के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए जिनके विषय में यह ज्ञात हो कि उन्होंने मृत्यु के दण्ड वाला पाप किया है, यह प्रेरित यूहन्ना के स्पष्ट शब्दों पर आधारित है: 'यदि कोई अपने भाई को ऐसा पाप करते देखे जिसका फल मृत्यु न हो, तो विनती करे, और परमेश्वर उसे उसके लिए, जिन्होंने ऐसा पाप किया है जिसका फल मृत्यु न हो जीवन देगा। पाप ऐसा भी होता है जिसका फल मृत्यु है; इसके विषय में मैं विनती करने के लिए नहीं कहता' (1 यूहन्ना 5:16)। मृत्यु की ओर ले जाने वाला पाप सम्भवतः पवित्र आत्मा के विरुद्ध किया गया पाप है, जो कि एकमात्र ऐसा पाप घोषित किया गया है जिसे क्षमा नहीं किया जा सकता; और उस पाप का अक्षम्य स्वरूप ही स्पष्ट रूप से वह कारण है, जिसके चलते उस व्यक्ति के लिए प्रार्थना करने की मनाही है, जिसके विषय में यह ज्ञात हो कि वह इस पाप का दोषी है।

भाग 5

ईश्वरीय भय के साथ पवित्रशास्त्र का पढ़ा जाना (प्रेरितों के काम 15:21; प्रकाशितवाक्य 1:3); उचित संदेश का प्रचार किया जाना (2 तीमुथियुस 4:2); और समझ, विश्वास, एवं श्रद्धा के साथ परमेश्वर के प्रति आज्ञाकारिता में सचेतन होकर वचन का सुना जाना (याकूब 1:22; प्रेरितों के काम 10:33; मत्ती 13:19; इब्रानियों 4:2; यशायाह 66:2); हृदय में अनुग्रह के साथ भजन का गाया जाना (कुलुस्सियों 3:16; इफिसियों 5:19; याकूब 5:13); साथ ही, ख्रीष्ट द्वारा स्थापित संस्कारों को उचित रीति से देना एवं योग्य रीति से ग्रहण किया जाना; ये सभी परमेश्वर की सामान्य मसीही आराधना का भाग हैं (मत्ती 28:19; 1 कुरिन्थियों 11:23 – 29; प्रेरितों के काम 2:42): इनके अतिरिक्त धार्मिक शपथ (व्यवस्थाविवरण 6:13; नहेम्याह 10:29), व्रत (यशायाह 19:21; सभोपदेशक 5:4 – 5), धार्मिक उपवास (योएल 2:12; एस्तेर 4:16; मत्ती

9:15; 1 कुरिन्थियों 7:5), और कई समयों पर धन्यवाद (भजन संहिता 107; एस्तेर 9:22); जिन्हें उनके विभिन्न समयों एवं ऋतुओं में पवित्र एवं धार्मिक रीति से प्रयोग किया जाना चाहिए (इब्रानियों 12:28)।

व्याख्या

हमारा अंगीकार-कथन, प्रार्थना के कर्तव्य की व्याख्या करने के पश्चात्, मसीही आराधना के अन्य विधानों की व्याख्या करने की ओर अग्रसर होता है; जिनमें से कुछ सामान्य और नियमित हैं, तो अन्य असाधारण एवं सामयिक हैं।

1. *पवित्रशास्त्र का पढ़ा जाना*। परमेश्वर के वचन को सार्वजनिक रूप से (नहेम्याह 8:8; लूका 4:16); परिवारों में (व्यवस्थाविवरण 6:6 – 9; भजन संहिता 78:5); और एकांत में (यूहन्ना 5:39) पढ़ा जाना चाहिए।

> 'इस दृढ़ विश्वास के साथ कि यह परमेश्वर के यथार्थ वचन हैं; और केवल वही हमें उन्हें समझने के लिए सक्षम बना सकता है; उनमें प्रकट परमेश्वर की इच्छा को जानने, विश्वास करने, और आज्ञापालन की इच्छा के साथ; उनकी विषय-वस्तु एवं उनके विषय-क्षेत्र पर लगन एवं ध्यान देने के साथ; मनन, अनुप्रयोग, आत्म-त्याग एवं प्रार्थना के साथ; पवित्र शास्त्र को उच्चतम एवं श्रद्धापूर्ण आदर के साथ पढ़ा जाना चाहिए।' (वेस्टमिन्स्टर विस्तृत धर्म-प्रश्नोत्तरी WLC 157)।

2. *परमेश्वर के वचन का प्रचार एवं सुना जाना*। वचन का प्रचार किया जाना परमेश्वर का एक विधान है, और इसे कलीसिया में संसार के अंत तक जारी रहने के लिए नियुक्त किया गया है (1 कुरिन्थियों 1:21; मत्ती 28:20)। यह कि सेवकाई का पद परमेश्वर का संस्थान है, और कलीसिया में एक विशिष्ट पद है, यह इन निम्नलिखित बातों से स्पष्ट होता है:

(क) पवित्रशास्त्र में सुसमाचार के सेवकों को विशेष उपाधियाँ दी गई हैं। उन्हें पादरी, शिक्षक, परमेश्वर के रहस्यों के भण्डारी, झुंड के बिशप या अध्यक्ष, और कलीसिया के दूत कहा गया है।

(ख) उन्हें विशेष कर्तव्य सौंपे गए हैं। उन्हें वचन का प्रचार करना है, विरोध करने वालों की ताड़ना करना और उन्हें शिक्षा देनी है (2 तीमुथियुस 4:2; 2:25); और मसीही संस्कारों का संचालन करना है (मत्ती 28:19; 1 कुरिन्थियों 11:23); उन लोगों के समान झुंड की रखवाली करनी है, जिन्हें लेखा देना पड़ेगा (इब्रानियों 13:17); पढ़ने, उपदेश देने, और शिक्षा देने पर ध्यान देना; इन बातों पर मनन करना और अपने आप को पूरी रीति से इनके लिए समर्पित कर देना है (1 तीमुथियुस 2:13, 15)।

(ग) लोगों से उनके सेवकों के सम्बन्ध में कुछ विशेष कर्तव्यों की अपेक्षा की जाती है। उन्हें उन लोगों को जानने और स्वीकार करने के लिए कहा गया है जो उनमें परिश्रम करते हैं, और प्रभु में उनके अगुवे हैं (1 थिस्सलुनीकियों 5:12); उनके काम के कारण प्रेम के साथ उनको बहुत ही आदर के योग्य समझना है (1 थिस्सलुनीकियों 5:13); अपने अगुवों की आज्ञा माननी है और उनके अधीन रहना है (इब्रानियों 13:17); उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करनी है (गलातियों 6:6); और उनके लिए प्रार्थना करनी है (2 थिस्सलुनीकियों 3:1)। ये बातें स्पष्ट रूप से सिद्ध करती हैं कि कलीसिया में सेवकाई एक विशिष्ट पद है।

हालाँकि हर कोई परमेश्वर के वचन को पढ़ सकता है और उसे पढ़ना भी चाहिए, फिर भी इसका प्रचार 'केवल उन्हीं लोगों के द्वारा प्रचारित किया जाना चाहिए जो पर्याप्त रूप से इसके लिए वरदान-युक्त हैं, और साथ में इस पद के लिए विधिवत् अनुमोदित एवं बुलाए गए हैं' (WLC 158)। मसीही लोगों को आपसी शिक्षा और आत्मिक उन्नति के लिए अपने वरदानों और अवसरों का उपयोग निजी तौर पर करना चाहिए; परन्तु किसी को भी, चाहे उनके पास कितने भी वरदान क्यों न हों, सुसमाचार प्रचार

करने का अधिकार तब तक नहीं है, जब तक कि उन्हें इस उद्देश्य के लिए ख्रीष्ट से बुलाहट प्राप्त न हो। प्रेरितों को उनका बुलावा सीधे तौर से स्वयं ख्रीष्ट से प्राप्त हुआ था, और उन्हें इस पवित्र धरोहर को अपने से निचले स्तर के शिक्षकों को सौंपने का अधिकार दिया गया था; और फिर, इन्हें यह आज्ञा दी गई कि वे इसे विश्वासयोग्य पुरुषों को सौंपें, जो दूसरों को भी सिखाने में समर्थ हों। और सामान्य परिस्थितियों में, सुसमाचार का प्रचार करने का किसी को अधिकार नहीं है, केवल उन लोगों को, जिन्हें कलीसिया में पहले से ही आधिकारिक शक्ति प्राप्त व्यक्तियों के माध्यम से, ख्रीष्ट द्वारा इस कार्य के लिए अधिकृत किया गया है। आरम्भिक कलीसिया में, जो लोग वचन का प्रचार करते थे, उनके ऊपर 'प्राचीनों के हाथ रखें जाने' के द्वारा पूरी गम्भीरता के साथ उनके पद के लिए अलग किया जाता था (1 तीमुथियुस 4:14)।

लोगों के हित के लिए सुसमाचार का प्रचार करने के लिए एक नियमित बुलाहट आवश्यक है; क्योंकि एक सेवक के परिश्रम की सारी सफलता ख्रीष्ट की आशीष पर निर्भर करती है, और लोगों के पास यह अपेक्षा करना का कोई आधार नहीं है कि उन लोगों के परिश्रम पर यह आशीष मिलेगी, जो ख्रीष्ट के सेवक नहीं हैं (यिर्मयाह 23:32)।

यह बुलाहट स्वयं मसीही सेवकों के सुख-चैन और प्रोत्साहन के लिए भी कम आवश्यक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सेवा-कार्य अत्यंत कठिन एवं खतरों से भरा होता है, इसलिए इस कार्य को पूरा करते समय परमेश्वर की सहायता और सुरक्षा की अपेक्षा करने का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को है, जो परमेश्वर की आज्ञा के अधीन इस कार्य को करते हैं (रोमियों 10:14, 15; प्रेरितों के काम 26:16, 17)।

3. *भजनों का गाया जाना*। पुराने नियम के समय में, इसे परमेश्वर की सामान्य आराधना के एक भाग के रूप में जोड़ा गया था, और यह अनुष्ठानिक आराधना से अलग पहचाना गया (भजन संहिता 69:30, 31)।

नए नियम के समय इसे रद्द नहीं किया गया, बल्कि इसकी पुष्टि की गई है (इफिसियों 5:19; कुलुस्सियों 3:16)। इसे ख्रीष्ट और उसके प्रेरितों के उदाहरण द्वारा मान्यता प्राप्त है (मत्ती 26:30; प्रेरितों के काम 16:25)। दाऊद के भजन विशेष रूप से परमेश्वर द्वारा कलीसिया के उपयोग के लिए, पुरानी व्यवस्था के अधीन, सार्वजनिक स्तुति करने हेतु निर्धारित किए गए थे; और वे वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत कलीसिया के उपयोग के लिए भी समान रूप से उपयुक्त हैं। यद्यपि प्रेरितों ने रीति-रिवाज़ वाले अनुष्ठानों के उन्मूलन पर बहुत ज़ोर दिया, तथापि उन्होंने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि दाऊद के भजन सुसमाचारीय आराधना के लिए अनुपयुक्त हैं; और यदि ऐसा अभिप्रेत होता कि इन्हें नए नियम के समय में बाहर कर दिया जाए, तो यह सोचने का कारण है कि इनके स्थान पर कोई अन्य भजनावली उपलब्ध कराई गई होती। भजन संहिता की पुस्तक में ऐसे अनेक अंश हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि पवित्र आत्मा ने उन्हें सभी युगों में कलीसिया के उपयोग के लिए अभिप्रेत किया था। दाऊद कहता है, 'हे मेरे परमेश्वर, हे राजा, मैं तुझे सराहूंगा और मैं तेरे नाम को सदा-सर्वदा धन्य कहता रहूँगा' (भजन संहिता 145:1)। जैसा कि महान हेनरी ने कहा है, 'इससे यह संकेत मिलता है कि जिन भजनों को दाऊद ने लिखा उनका उपयोग परमेश्वर की स्तुति के लिए समय के अंत तक किया जाना चाहिए'। हमें अपने होठों के साथ-साथ अपनी आत्मा से भी परमेश्वर की स्तुति करनी चाहिए, और इसे 'कुशलतापूर्वक' करने के लिए हमें पूरा प्रयास करना चाहिए (भजन संहिता 33:3)। चूंकि यह सार्वजनिक आराधना का ऐसा भाग है जिसमें पूरी मंडली को अपनी आवाज़ एक साथ उठानी चाहिए, इसलिए लोगों को पवित्र संगीत का अभ्यास करना चाहिए, ताकि वे इस कार्य में उचित तालमेल के साथ जुड़ सकें। परन्तु सबसे मुख्य बात यह है कि समझ-बुद्धि के साथ, गाए जा रहे विषय के अनुरूप ही हृदय के भावों के साथ गाया जाए (भजन संहिता 47:7; 1 कुरिन्थियों 16:15; भजन संहिता 108:1)।

4. *ख्रीष्ट द्वारा स्थापित मसीही संस्कारों का उचित संचालन और उनका योग्य रीति से ग्रहण किया जाना*। चूंकि आने वाले अध्याय इन विधियों पर विस्तार से चर्चा करते हैं, इसलिए हम फिलहाल इन्हें छोड़ रहे हैं।

5. *धार्मिक शपथ एवं व्रत*। इन पर हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे।

6. *धार्मिक उपवास एवं धन्यवाद की भेंटे*। कथित त्योहारों के दिन, जिन्हें आम तौर पर पवित्र दिन कहा जाता है, परमेश्वर के वचन में इनका कोई आधार नहीं है; परन्तु जब परमेश्वर की कृपा से कोई असाधारण घटना घटित हुई हो, तो किसी सक्षम प्राधिकारी द्वारा उपवास या धन्यवाद के लिए एक विशेष दिन निर्धारित किया जा सकता है। जब कोई दण्ड या विपत्ति आने की आशंका हो अथवा आ पड़ी हो, या फिर किसी विशेष आशीष की कामना हो और उसे प्राप्त किया गया हो, तो उपवास करना अत्यंत ही उचित एवं उपयुक्त होता है। जब कोई असाधारण दया या छुटकारा प्राप्त हुआ हो, तो धन्यवाद देने का एक विशेष आह्वान किया जाता है। इन विधियों के सम्बन्ध में हमारे अंगीकार-कथन के लेखकों के विचार 'द डायरेक्टरी फॉर द पब्लिक वरशिप ऑफ गॉड (The Directory for the Public Worship of God)' में पाए जा सकते हैं।

भाग 6

प्रार्थना या मसीही आराधना का कोई भी अन्य भाग, अब सुसमाचार के तहत होने के कारण, किसी भी स्थान में जहाँ यह की जाती है, उससे न तो बंधा हुआ है, और न ही उस स्थान के कारण अधिक स्वीकार्य होता है (यूहन्ना 4:21): परन्तु परमेश्वर की आराधना हर स्थान में (मलाकी 1:11; 1 तीमुथियुस 2:8), आत्मा एवं सच्चाई से की जानी चाहिए (यूहन्ना 4:23 – 24); जैसे कि निजी परिवारों (यिर्मयाह 10:25; व्यवस्थाविवरण 6:6 – 7; अय्यूब 1:5; 2 शमूएल 6:18, 20; 1 पतरस 3:7; प्रेरितों के

काम 10:2) में प्रतिदिन (मत्ती 6:11), और गुप्त रूप से प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वयं से (मत्ती 6:6; इफिसियों 6:18), वैसे ही सार्वजनिक सभाओं में अधिक गम्भीरता के साथ की जानी चाहिए, जिसे लापरवाही से या जानबूझकर उपेक्षित या त्यागना नहीं चाहिए, जब परमेश्वर, अपने वचन या ईश्वरीय प्रबन्धन के द्वारा आराधना करने के लिए बुलाता है (यशायाह 56:6 – 7; इब्रानियों 10:25; नीतिवचन 1:20 – 21, 24; 8:34; प्रेरितों के काम 13:42; लूका 4:16; प्रेरितों के काम 2:42)।

व्याख्या

सुसमाचार के अंतर्गत, धार्मिक आराधना के स्थलों से सम्बन्धित सभी भेद-भावों को समाप्त कर दिया गया है। हमसे अपेक्षा की जाती है कि हम 'पिता की आराधना आत्मा और सच्चाई से करें' (यूहन्ना 4:21); स्थानों में कोई भेद किए बिना; और 'हर जगह पुरुष, बिना क्रोध और विवाद के पवित्र हाथों को उठाकर प्रार्थना किया करें' (1 तीमुथियुस 2:8)। यह चर्चों के पवित्रीकरण, और उन्हें पवित्रता प्रदान करने की प्रथा की निन्दा करता है। और साथ ही यह अंधविश्वासी धारणा भी कि किसी एक स्थान पर किसी दूसरे स्थान की तुलना में, धार्मिक आराधना, परमेश्वर को अधिक स्वीकार्य और मनुष्यों के लिए अधिक लाभकारी होती हैं।

1. *मसीही आराधना प्रतिदिन निजी परिवारों में की जानी चाहिए*। यह एक ऐसा कर्तव्य है जिसे प्रकृति का ज्ञान अत्यंत स्पष्ट रीति से सिखाता है। और गैर-मसीही लोग उन परिवारों के विरुद्ध न्याय में उठ खड़े होंगे, जो स्वयं को मसीही तो कहते हैं, पर प्रार्थना नहीं करते। क्योंकि उनके संरक्षक देवताओं के अतिरिक्त, जिनके विषय में यह माना जाता था कि वे नगरों और राष्ट्रों पर शासन करते हैं, और जिन्हें इसी रूप में सार्वजनिक सम्मान दिया जाता था, उनके अपने घरेलू देवता भी थे, जिनकी पूजा हर निजी

परिवार अपने घर पर ही अपने प्रत्यक्ष रक्षक और उपकारी के रूप में करता था।

परन्तु, पवित्रशास्त्र का ज्ञान इस कर्तव्य के दायित्व को और भी अधिक स्पष्ट रूप से उजागर करता है। पवित्रशास्त्र में वर्णित संतों के उदाहरणों द्वारा इसकी अनुशंसा की गई है। और अच्छे उदाहरण हमें उतने ही दृढ़ता से कर्तव्य से बाँधते हैं, जितने कि स्पष्ट आदेश। हम देखते हैं कि अब्राहम जहाँ कहीं भी जाता था, वहाँ वह वेदी बनाता था। और पारिवारिक धर्म के प्रति उसके ध्यान की परमेश्वर ने विशेष रूप से सराहना की (उत्पत्ति 18:19)। हमारे पास यहोशू (24:15); अय्यूब (1:5); और दाऊद (2 शमूएल 6:20) के उदाहरण हैं। परन्तु पवित्रशास्त्र में हमारे पास इन सबसे भी अधिक मनमोहक पारिवारिक आराधना का एक उदाहरण लिखा है, स्वयं हमारे उद्धारकर्ता का उदाहरण; जिसके पास यद्यपि अपना कोई घर नहीं था, फिर भी उसका एक परिवार था (मत्ती 10:25)। यहाँ हम उसे देखते हैं कि वह अपने पीछे चल रही भीड़ से अलग होकर, अपने परिवार के साथ प्रार्थना कर रहा है: 'जब वह एकान्त में प्रार्थना कर रहा था और उसके चेले उसके साथ थे' (लूका 9:18)।

पारिवारिक आराधना की प्रथा परिवारों की सांसारिक समृद्धि को भी बढ़ावा देती है; क्योंकि यह परमेश्वर की आशीष ही है जो किसी को समृद्ध और सम्पन्न बनाती है; और इस आशीष को पाने का इससे बेहतर तरीका और क्या हो सकता है कि पूरा परिवार मिलकर प्रार्थना करे और हर दिन इसे परमेश्वर से माँगे? (नीतिवचन 3:33)। इससे अधिक पारिवारिक आराधना परिवारों के आत्मिक और अनन्त हितों को बढ़ावा देने में कहीं अधिक सहायक होते हैं; साथ ही, यह मसीही धर्म को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक फैलाने का सबसे प्रभावशाली माध्यम भी है।

दूसरी ओर, इस कर्तव्य की उपेक्षा परिवारों पर परमेश्वर के श्राप को ले आएगी; 'क्योंकि दुष्टों के घर पर यहोवा का शाप रहता है' (नीतिवचन 3:33)। यह वचन कितना भयानक है (यिर्मयाह 10:25): 'जो जाति तुझे

नहीं जानती, और जो तुझ से प्रार्थना नहीं करते, उन्हीं पर अपनी जलजलाहट उण्डेल'। तो इसलिए, हर परिवार का मुखिया यहोशू के इस उत्कृष्ट संकल्प को अपना ले: 'परन्तु मैं तो अपने घराने समेत यहोवा ही की सेवा नित करूँगा' (यहोशू 24:15)।

2. *मसीही आराधना एकान्त में प्रत्येक व्यक्ति को अकेले में करनी चाहिए*। मत्ती 6:6 में, हमारे उद्धारकर्ता ने अपने सभी शिष्यों को स्पष्ट रूप से एकान्त में प्रार्थना के कर्तव्य का उपदेश दिया, और वह उन्हें निर्देश देता है कि इसे सही रीति से कैसे किया जाए, विशेषकर अपनी एकान्त वाली प्रार्थना के लिए किसी गुप्त स्थान का चयन करना। इस कर्तव्य की पुरजोर अनुशंसा उद्धारकर्ता के उदाहरण द्वारा भी की जाती है (मत्ती 14:23; मरकुस 1:35)। प्रत्येक युग में परमेश्वर के संतों ने इसका अभ्यास किया है। हमारे सामने याकूब (उत्पत्ति 32:24); दानिय्येल (दानिय्येल 6:10); दाऊद (भजन संहिता 55:3; 5:17); या हिजकिय्याह (यशायाह 38:2) के उदाहरण हैं। निस्संदेह, गुप्त में की गई प्रार्थना परमेश्वर के अनुग्रह की अवस्था से अविभाज्य है; यह आत्मिक जीवन के सबसे पहले, सबसे स्पष्ट और सबसे प्रबल लक्षणों में से एक है। तरसुस के शाऊल के मन फिराव के तुरन्त बाद ही, उसके विषय में यह कहा गया, 'देख वह प्रार्थना कर रहा है' (प्रेरितों के काम 9:11)। सच्ची धर्म-परायणता को बढ़ावा देने का यह एक उत्कृष्ट साधन है; और इस कर्तव्य का नियमित एवं निष्ठापूर्ण पालन, मसीही विश्वासयोग्यता के सर्वोत्तम प्रमाणों में से एक है। लेकिन मसीही लोगों को न केवल सुबह और संध्या कम से कम एक बार एकान्त में प्रार्थना करनी चाहिए, बल्कि वे अन्य समयों पर भी, यहाँ तक कि अपने दैनिक कामों में व्यस्त रहते हुए भी, बार-बार अपनी आत्मा को परमेश्वर की ओर उठाकर, पूरी श्रद्धा और उत्साह के साथ छोटी-छोटी प्रार्थनाएँ करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रार्थना के अनेक उदाहरण हमें परमेश्वर के वचन में मिलते हैं (निर्गमन 14:15; 1 शमूएल 1:13; नहेम्याह 2:4; 1 इतिहास 5:20)।

3. मसीही लोगों को सार्वजनिक आराधना के लिए, निर्धारित समयों पर, एक साथ एकत्रित होना चाहिए। पहले वाली व्यवस्था के अंतर्गत, परमेश्वर के चुने हुए लोगों के सभी पुरुषों को यह आज्ञा दी गई थी कि 'वे वर्ष में तीन बार प्रभु यहोवा को अपना मुंह दिखाएँ' (निर्गमन 2314)। लेकिन उनकी सार्वजनिक प्रकृति की सभी आराधना केवल मंदिर तक, या पवित्र पर्वों के अनुष्ठान तक ही सीमित नहीं थी; उन्होंने पूरे देश में आराधनालय बनवाए, जहाँ वे कम से कम सब्त के दिनों में, यहोवा परमेश्वर की आराधना के लिए एकत्रित होते थे (प्रेरितों के काम 15:21)। यीशु ख्रीष्ट, जब इस पृथ्वी पर थे, तो वे न केवल बड़े पर्वों के उत्सवों पर यरूशलेम जाते थे, बल्कि सब्त के दिनों में नियमित रूप से आराधनालय की आराधना में भी उपस्थित रहते थे। 'फिर वह नासरत में आया, जहाँ पाला पोसा गया था, और अपनी रीति के अनुसार सब्त के दिन आराधनालय में जाकर पढ़ने के लिए खड़ा हुआ' (लूका 4:16)। उसका उदाहरण परमेश्वर की आराधना में नियमित और कर्तव्यनिष्ठता से भाग के लेने के लिए, उन लोगों पर एक प्रबल दायित्व डालता है, जो स्वयं को उसका अनुयायी बताते हैं। आरम्भिक मसीही लोग केवल गुप्त रूप से और अपने परिवारों के बीच परमेश्वर की आराधना करके ही संतुष्ट नहीं हो जाते थे, बल्कि जब भी उन्हें समय मिलता, वे सार्वजनिक आराधना के लिए एक साथ एकत्रित होते थे (प्रेरितों के काम 2:46)। अपने लोगों की सामूहिक आराधना से परमेश्वर अत्यंत सम्मानित होता है; और वह अपनी सार्वजनिक आराधना की विधियों को अनुग्रह का साधन बनाकर, उन्हें सम्मानित करने में प्रसन्न होता है। प्रायः इन्हीं विधियों के द्वारा पापियों के हृदयों को जगाया और परिवर्तित किया जाता है, और संत लोगों को आत्मिक उन्नति और सांत्वना दी जाती है। इसलिए, मसीही लोगों को परमेश्वर की सार्वजनिक आराधना को बहुत महत्व देना चाहिए, 'प्रभु के भवन में जाने' के अवसरों का लगन से लाभ उठाना चाहिए, और 'एक

दूसरे के साथ इकट्ठा होना न छोड़ने' के प्रति सचेत रहना चाहिए, 'जैसे कि कितनों की रीति है' (इब्रानियों 10:25)।

भाग 7

जैसा कि प्रकृति के नियम के अनुसार है कि, सामान्य रूप से, परमेश्वर की आराधना के लिए समय का एक निश्चित अनुपात निर्धारित किया जाना चाहिए; इसलिए, अपने वचन में, एक सकारात्मक, नैतिक और शाश्वत आज्ञा के द्वारा, सभी युगों में सभी मनुष्यों को बाँधते हुए, उसने विशेष रूप से सात दिन में से एक दिन को सब्त के लिए नियुक्त किया है, जिसे उसके लिए पवित्र माना जाना चाहिए (निर्गमन 20:8, 10 – 11; यशायाह 56:2, 4, 6 – 7): जो कि सृष्टि की उत्पत्ति से ख्रीष्ट के पुनरुत्थान तक, सप्ताह का अन्तिम दिन था; और ख्रीष्ट के पुनरुत्थान से, सप्ताह के पहले दिन में बदल दिया गया (उत्पत्ति 2:2 – 3; 1 कुरिन्थियों 16:1 – 2; प्रेरितों के काम 20:7), जिसे पवित्रशास्त्र में प्रभु का दिन कहा जाता है (प्रकाशितवाक्य 1:10), और जिसे संसार के अन्त तक मसीही सब्त के रूप में जारी रखा जाना है (निर्गमन 20:8, 10; मत्ती 5:17 – 18)।

व्याख्या

हमारा अंगीकार-कथन इसके बाद उस *समय* पर चर्चा करता है, जो परमेश्वर की आराधना के लिए समर्पित है।

यह प्रकृति के नियम का एक आदेश है, कि हमारे समय का एक उचित भाग परमेश्वर की प्रत्यक्ष आराधना में लगाया जाना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए समय का ठीक-ठीक कितना भाग और सप्ताह का कौन सा विशेष दिन पवित्र मानना चाहिए, यह निर्णय लेने का अधिकार परमेश्वर का है। अतः उसने अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए यह निर्धारित किया है कि हमारे समय का सातवाँ भाग उसकी सेवा के लिए समर्पित किया जाए।

सृष्टि के आरम्भ से लेकर ख्रीष्ट के पुनरुत्थान तक, उसने आदेश दिया कि सप्ताह का सातवाँ दिन उसकी आराधना में समर्पित किया जाए, विशेष रूप से, सृष्टि के कार्य से उसके विश्राम की स्मृति में। फिर भी, वह विशेष दिन विधि-निर्माता के अधिकार तथा इच्छानुसार बदला जा सकता है। और ख्रीष्ट के पुनरुत्थान के बाद, सृष्टि के कार्य के साथ-साथ उद्धार के कार्य की स्मृति को बनाए रखने के उद्देश्य से, सब्त के दिन को सप्ताह के सातवें दिन से बदलकर प्रथम दिन कर दिया गया; जिसे मसीही सब्त के रूप में संसार के अंत कर जारी रखा जाना है।

इन टिप्पणियों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि सब्त अंशतः एक नैतिक और अंशतः एक सकारात्मक व्यवस्था है। जहाँ तक यह इस बात की अपेक्षा करता है कि हमारे समय का एक निश्चित भाग परमेश्वर की आराधना में समर्पित किया जाए, तो यह नैतिक है, क्योंकि यह परमेश्वर और मनुष्य के बीच विद्यमान सम्बन्ध पर आधारित है। जहाँ तक यह हमारे समय के सातवें भाग को अपने लिए निर्धारित करता है, और परमेश्वर की सेवा के लिए एक दिन को पवित्र मानने का निश्चय करता है, तो यह एक सकारात्मक व्यवस्था है, क्योंकि यह परमेश्वर की इच्छा और उसकी नियुक्ति पर आधारित है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए, कि कोई भी सकारात्मक व्यवस्था, जब एक बार परमेश्वर द्वारा लागू और प्रकट की जाती है, तो यह स्थायी रूप से बाध्यकारी हो सकती है, और इस मायने में, इसे नैतिक कहा जा सकता है। इसलिए, 'सब्त की नैतिकता' की बात करना और दस आज्ञाओं की चौथी आज्ञा में जो नैतिक रूप से स्वाभाविक है तथा जो नैतिक रूप से सकारात्मक है, उनके बीच अंतर करना सामान्य बात है। क्योंकि यह इस बात की अपेक्षा करता है कि हमारे समय का एक निश्चित भाग परमेश्वर की आराधना के लिए समर्पित किया जाए, अतः यह नैतिक रूप से प्राकृतिक है; और क्योंकि यह निर्धारित करता है कि हमारे समय का सातवाँ भाग, न कि कोई अन्य अनुपात, इस उद्देश्य के लिए अलग रखा जाए, इसलिए यह एक सकारात्मक नैतिक नियम है। हम इसे

सकारात्मक व्यवस्था कहते हैं, क्योंकि सात दिनों में से एक दिन सब्त के रूप में मानना परमेश्वर की सम्प्रभु नियुक्ति से उत्पन्न होता है; और हम इसे **नैतिक** सकारात्मक कहते हैं, क्योंकि परमेश्वर की यह नियुक्ति सार्वभौमिक एवं अनन्त रूप से बाध्यकारी है; और इस प्रकार, सब्त को उन अनुष्ठानिक विधानों से अलग किया जाता है, जो केवल यहूदियों के लिए विशिष्ट थे और ख्रीष्ट की मृत्यु के साथ ही समाप्त कर दिए गए थे। इसलिए, सब्त की नैतिकता इस बात में निहित है कि यह सभी युगों में, समस्त मनुष्यों पर एक बाध्यकारी दायित्व के रूप में लागू होती है।

यह बात कि सात दिनों में से एक दिन को सब्त के रूप में नियुक्त करना एक सार्वभौमिक एवं अनन्त दायित्व है, निम्नलिखित बातों से स्पष्ट होता है:

1. *सब्त की मूल स्थापना से*। इसका विवरण हमें (उत्पत्ति 2:1 – 3) में मिलता है। उस समय, मानव जाति में हमारे आदि माता-पिता के अतिरिक्त कोई भी अस्तित्व में नहीं था; और चूंकि सब्त उनके लिए ही स्थापित किया गया था, इसलिए यह संसार के अंत तक उनकी समस्त संतान के लिए बाध्यकारी होना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आदम के सभी वंशजों के लिए, हर युग और राष्ट्र में, उनकी निर्बलता और पापमय अवस्था में, अपने स्वयं के विश्राम और परमेश्वर की आराधना के लिए एक दिन का निर्धारित होना उतना ही तर्कसंगत और आवश्यक है, जितना कि स्वयं आदम के लिए अदन की वाटिका और उसकी निष्पाप अवस्था में था।

तो सब्त का दिन, जैसा कि उस समय निर्धारित किया गया था, कोई अनुष्ठानिक व्यवस्था नहीं हो सकती थी; क्योंकि जब तक मनुष्य अपनी निष्ठा बनाए हुए था, तब तक ख्रीष्ट को पहले से प्रतिबिम्बित करने वाले किसी भी प्रतीक की आवश्यकता नहीं थी। इस तर्क को केवल तभी नकारा जा सकता है, जब यह मानने से इनकार कर दिया जाए कि सब्त की स्थापना सृष्टि के आरम्भ में ही हुई थी, और यह साबित कर दिया जाए

कि यह सबसे पहले इस्राएलियों को जंगल में दिया गया था। अतः विभिन्न लेखकों द्वारा ऐसा ही करने का प्रयास किया गया है, परन्तु यह प्रमाण पूरी रीति से विफल रहा है। ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है कि उत्पत्ति में, मूसा ने सब्त की संस्थापना का उल्लेख पूर्वानुमान द्वारा किया था। वृत्तांत को कहने का ढंग स्वाभाविक रीति से किसी भी पाठक को यह मानने पर विवश कर देगा कि वह उस समय की घटनाओं का वर्णन कर रहा है, जब सृष्टि रचना का कार्य पूर्ण हो चुका था। यद्यपि 2500 वर्षों की अवधि तक या जब तक इस्राएल मिस्र से बाहर नहीं आ गया, सब्त के पालन का कोई अभिलेख उपलब्ध नहीं है, फिर भी इससे यह निष्कर्ष निकाला नहीं जा सकता कि सब्त की स्थापना आरम्भ से नहीं हुई थी, या जल-प्रलय से पूर्व और कुलपिताओं के समयों में इसका पालन नहीं किया जाता था; क्योंकि लगभग 500 वर्षों की अवधि के दौरान भी जिसमें यहोशू, न्यायियों विशेषकर शमूएल और शाऊल का इतिहास सम्मिलित है, इसको मानने का कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है; और न ही इस्राएल के कनान में प्रवेश करने के समय से लेकर यूहन्ना बपतिस्मा देने वाले के खतना तक, खतने को कोई भी एक उदाहरण अभिलेखों में मिलता है। निर्गमन 16:23 में, सब्त का उल्लेख स्पष्ट रूप से एक नई व्यवस्था के रूप में नहीं, बल्कि ऐसी व्यवस्था के रूप में किया गया है जो पहले ही से ज्ञात थी। और जब सीनै पर्वत पर इस्राएल के लिए व्यवस्था को लागू किया गया, तो सब्त का उल्लेख एक ऐसी व्यवस्था के रूप में किया गया जिससे वे पहले से परिचित थे, लेकिन जिसकी उन्होंने बहुत अधिक उपेक्षा की थी या जिसे वे भूल गए थे। सम्भवतः मिस्र में इसका पालन बहुत हद तक बंद हो गया था; और इसलिए उनसे कहा गया कि 'तू विश्राम-दिन को पवित्र मानने के लिए स्मरण रखना'। यह भी देखा जा सकता है कि समय को सात-सात दिनों के सप्ताह में बाँटने की जो प्रथा कुलपिताओं के युग में प्रचलित थी, उसकी संतोषजनक व्याख्या सब्त की पूर्व-स्थापना के बिना नहीं की जा सकती।

2. सब्त के दिन के पालन की बाध्यकारी अनिवार्यता का तर्क, *दस आज्ञाओं में चौथी आज्ञा के स्थान के आधार पर दिया जा सकता है*। इसे उन नैतिक नियमों के ठीक बीच में रखा गया है, जिन्हें परमेश्वर ने मानवजाति को उनके जीवन के लिए एक निरन्तर जारी रहने वाले नियम के रूप में प्रदान किया था। यह उन आज्ञाओं में से एक ऐसी आज्ञा है, जिन्हें स्वयं परमेश्वर की वाणी द्वारा बोला गया था, जिन्हें परमेश्वर की उंगली ने पत्थर पर दो बार लिखा था, और जिन्हें वाचा के संदूक में सुरक्षित रखा गया था। इनमें से कोई भी बात किसी भी अनुष्ठानिक व्यवस्था के विषय में नहीं कही जा सकती।

3. सीनै पर्वत से उद्घोषित इस आज्ञा से संलग्न सभी कारण, *उनकी प्रकृति में नैतिक हैं*। इन कारणों का यहूदियों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था, बल्कि ये सभी राष्ट्रों और सभी युगों के समस्त मनुष्यों पर समान रूप से लागू होते हैं। और इसलिए हम पाते हैं कि गैर-यहूदियों के साथ-साथ यहूदियों के लिए भी सब्त का पालन करना अनिवार्य था; परन्तु वे धार्मिक अनुष्ठानिक रीति-रिवाज़ों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं थे (निर्गमन 20:10, 11)।

4. यहूदी सब्त के समाप्त किए जाने के बाद भी सब्त का पालन जारी रहना था, यह बात यीशु ख्रीष्ट के वचनों में निहित है: 'प्रार्थना किया करो कि तुम्हें जाड़े में या सब्त के दिन भागना न पड़े' (मत्ती 24:20)। ख्रीष्ट यहाँ पर यहूदी सब्त की नहीं, बल्कि मसीही सब्त की बात कर रहे हैं; क्योंकि वह उस पलायन की ओर संकेत कर रहा है, जो यरूशलेम के विनाश के समय होना चाहिए था; और यह तब तक नहीं हुआ, जब तक कि यहूदी सब्त के समाप्त हो जाने के चालीस वर्ष बाद का समय न आ गया। लेकिन, यद्यपि उस समय सब्त को सप्ताह के सातवें दिन से बदलकर पहला दिन किया जाना था, फिर भी ख्रीष्ट के वचन निश्चित रूप से यह संकेत देते हैं कि सब्त को अभी भी जारी रखा जाना था।

5. सब्त की निरंतरता के विषय को यशायाह 56:6 – 8 में स्पष्ट रूप से सिखाया गया है। जो कोई भी इस अंश की जाँच करेगा, वह पाएगा कि नबी नए नियम के समय की बात कर रहा है। इस प्रकार, सुसमाचार के युग में भी सब्त को एक ईश्वरीय विधान के रूप में बना रहना था; और इसे अपवित्र होने से बचाकर रखना एक कर्तव्य बना रहना था; और भविष्यद्वाणी के अचूक पवित्र आत्मा की घोषणाओं के अनुसार, इसका पालन करना आशीषमय होना था।

सब्त के दिन में बदलाव होने से उसकी नैतिकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस व्यवस्था का मूल तत्व हमारे समय के सातवें भाग को पूर्ण रूप से परमेश्वर की प्रत्यक्ष आराधना के लिए समर्पित करना है; और वह विशेष दिन पूरी रीति से परिस्थितियों पर निर्भर है। यह नहीं कहा गया है कि, '*सातवें दिन* को स्मरण रखना'; बल्कि यह कि 'तू *विश्राम-दिन* को पवित्र मानने के लिए स्मरण रखना'। न ही यह कहा गया है कि 'परमेश्वर ने *सातवें दिन* को आशीष दी'; बल्कि यह कि 'परमेश्वर ने *विश्राम-दिन* को आशीष दी, और उसे पवित्र ठहराया'। परन्तु, जिस प्रकार सप्ताह का सातवां दिन, ईश्वरीय विधान के अनुसार, मूल रूप से परमेश्वर की आराधना द्वारा ठहराया गया था, अतः इस दिन में परिवर्तन केवल 'सब्त के प्रभु' द्वारा ही किया जा सकता था। यह स्वीकार किया जाता है कि दिन में बदलाव के लिए हमारे पास कोई स्पष्ट आदेश नहीं है, लेकिन हमारे पास इस बात के पुख्ता प्रमाण है कि ख्रीष्ट के पुनरुत्थान के समय, सब्त को सप्ताह के सातवें दिन से बदलकर पहले दिन कर दिया गया था।

1. कि सप्ताह का पहला दिन ही मसीही सब्त होना चाहिए, इस बात की भविष्यवाणी पुराने नियम के पवित्रशास्त्र में की गई थी: 'आज वह दिन है जो यहोवा ने बनाया है' (भजन संहिता 118:24); वह दिन नहीं जिसे उसने बनाया है – क्योंकि उसने बाकी सभी दिन भी बनाए हैं – बल्कि वह दिन जिसे उसने अपने लिए पवित्र किया, या जिसे उसने एक पवित्र दिन बनाया है। और जिस दिन का उल्लेख किया गया है, वह ख्रीष्ट के पुनरुत्थान

का दिन है, जब 'राजमिस्त्रियों ने जिस पत्थर निकम्मा ठहराया था, वही कोने का सिरा हो गया'। प्रेरितों के काम 4:10, 11 की तुलना करें; यहेजकेल 43:27 को भी देखें, जहाँ आठवें का उल्लेख उस दिन के रूप में किया गया है जिस दिन प्रभु को आत्मिक बलिदान चढ़ाए जाने थे; और मसीही सब्त को *आठवाँ* दिन कहा जा सकता है, क्योंकि सप्ताह का पहला दिन अब सृष्टि के क्रम के अनुसार आठवाँ दिन है।

2. अपने पुनरुत्थान के बाद, ख्रीष्ट सप्ताह के प्रथम दिन अपने शिष्यों से बार-बार मिले (देखें यूहन्ना 20:19, 26)। यद्यपि ख्रीष्ट अन्य दिनों में भी अपने कई शिष्यों को दिखाई दिए, फिर भी विशेष रूप केवल इतना ही लिखा कि सप्ताह के पहले दिन, जब वे सब एक साथ एकत्रित थे, तब उसने उनसे भेंट की। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं शिष्य सप्ताह के पहले दिन ही एकत्रित होना शुरू हो चुके थे, और यीशु ख्रीष्ट ने इस प्रथा को स्वीकृति दी। कई लोगों का मानना है कि अपने स्वर्गारोहण तक, वह सप्ताह के इसी दिन उनसे मिलते रहे, और 'उनसे परमेश्वर के राज्य से सम्बन्धित बातों के विषय में बातें करते रहे' (प्रेरितों के काम 1:3)।

3. प्रेरित लोग और आरम्भिक मसीही लोग, परमेश्वर की विधियों को मनाने हेतु, इसी दिन नियमित रूप से एकत्रित होते थे। हम पढ़ते हैं कि 'सप्ताह के पहले दिन, जब चेले रोटी तोड़ने के लिए इकट्ठे हुए, तो पौलुस ने उनसे बातें कीं' (प्रेरितों के काम 20:7); जहाँ उस दिन उसके एक साथ मिलने का उल्लेख किसी असाधारण या महज कभी-कभार होने वाली घटना के रूप में नहीं, बल्कि एक तय और सामान्य प्रथा के रूप में किया गया है। 1 कुरिन्थियों 16:1, 2 से यह प्रतीत होता है कि आरम्भिक मसीही लोग, सप्ताह के पहले दिन, अपने जरूरतमंद भाइयों की सहायता के लिए दान देते थे, और यह वे प्रेरितों के स्पष्ट निर्देश पर करते थे। इस प्रकार, गरीबों के लिए दान, जो कि यहूदी आराधनालयों में सब्त के दिन इकट्ठा किया जाता था, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेरितों के अधिकार से, मसीही लोगों के बीच सप्ताह के पहले दिन के लिए स्थानांतरित कर दिया गया।

4. पुराने समय में, मसीही सब्त को *प्रभु के दिन* (प्रकाशितवाक्य 1:10) के विशिष्ट नाम से जाना जाता था, वह दिन जिसे यीशु ख्रीष्ट ने विशेष रूप से अपना बताया था, और जो उसके सम्मान के लिए समर्पित था।

5. सप्ताह का पहला दिन, प्रेरितों के युग से लेकर वर्तमान समय तक, एक समान रूप से मसीही सब्त के रूप में मनाया जाता रहा है; और जब परमेश्वर के लोग इसके धार्मिक पालन में लगते हैं, तो वह उन पर अनमोल आशीषों को उण्डेलने के द्वारा उस दिन को उल्लेखनीय रूप से सम्मानित करता है।

सब्त के दिन को सप्ताह के सातवें दिन से बदलकर पहले दिन करने के पर्याप्त कारण हैं। जिस प्रकार, सृष्टि के कार्य की स्मृति में, संसार के आरम्भ से लेकर ख्रीष्ट के पुनरुत्थान तक सातवें दिन को पवित्र माना गया था, उसी प्रकार यह उचित है कि ख्रीष्ट के पुनरुत्थान के बाद से, उद्धार के और अधिक महान एवं महिमामय कार्य की स्मृति में, सप्ताह के प्रथम दिन को पवित्र माना जाए। और चूंकि सर्वशक्तिमान परमेश्वर का कोई भी नया कार्य, जो इससे अधिक या इसके बराबर महत्व का हो, अब नहीं होगा, इसलिए यह उचित है कि यह दिन संसार के अंत तक मसीही सब्त के रूप में जारी रहना चाहिए।

भाग 8

इस सब्त को तब प्रभु के लिए पवित्र माना जाता है, जब मनुष्य, अपने हृदयों को उचित रूप से तैयार कर, और अपने सामान्य कार्यों को पहले से व्यवस्थित करने के पश्चात, अपने सांसारिक कार्यों एवं मनोरंजन के विषय में, न केवल अपने कार्यों, वचनों, एवं विचारों से एक पूरे दिन का पवित्र विश्राम लेते हैं (निर्गमन 20:8; 16:23, 25 – 26, 29 – 30; 31:15 – 17; यशायाह 58:13; नहेम्याह 13:15 – 19, 21, 22); बल्कि साथ में वे अपना सम्पूर्ण समय प्रभु की आराधना के सार्वजनिक एवं

निजी कार्यों, और आवश्यकता एवं दया के कर्तव्यों में व्यतीत करते हैं (यशायाह 58:13; मत्ती 12:1 – 13)।

व्याख्या

यह अनुभाग बताता है कि सब्त को उचित रूप से पवित्र मानने के लिए क्या आवश्यक है। पहले से उचित तैयारी करने के बाद, सब्त के दिन को निम्न तरीकों से पवित्र रखा जाना चाहिए; सभी सांसारिक कार्यों और मनोरंजन से विश्राम लेने के द्वारा – अपना पूरा समय पवित्र कार्यों, और आवश्यकता एवं दया-सम्बन्धी कर्तव्यों को निभाने में बिताना चाहिए।

1. व्यक्तियों को अपने सामान्य मामलों को पहले से ही निपटाने का प्रयास करना चाहिए, ताकि सब्त के दिन इस संसार की चिंताओं और व्यवसायों में न उलझ जाए, और प्रभु के दिन के लिए उपयुक्त कार्यों में संलग्न होने के लिए अपने हृदयों को तैयार करना चाहिए।

2. चूंकि सब्त का दिन पवित्र विश्राम का दिन है, इसलिए लोगों को पूरे दिन अपने सांसारिक कार्यों से – सभी शारीरिक श्रम से, और साथ ही सांसारिक अध्ययनों से जुड़े मानसिक श्रम से – और ऐसे विषयों के बारे में सभी अनावश्यक वचनों एवं विचारों से दूर रहना चाहिए। उन्हें उन मासूम से दिखने वाले मनोरंजनों से भी दूर रहने की आवश्यकता है, जो अन्य दिनों में वैध होते हैं, क्योंकि ये ऐसे समय का भाग ले लेते हैं जो अन्य पवित्र उद्देश्यों के लिए समर्पित है, और इस प्रकार ये उन्हें सब्त के उचित कर्तव्यों के पालन के लिए अनुपयुक्त बना देते हैं। उस दिन ऐसे मनोरंजन या आमोद-प्रमोद में सम्मिलित होना जो अपने आप में पापमय हैं, अत्यंत गम्भीर अपराध-बोध के साथ उनमें भाग लेना चाहिए।

3. लोगों को सब्त का पूरा समय, जब वे जाग रहे होते हैं, तो पवित्र कार्यों में बिताना चाहिए – प्रार्थना में, धार्मिक पाठन, और मनन में – अपने परिवार को शिक्षा देने में, और उनके साथ पवित्र बातचीत में – और अनुग्रह

के सार्वजनिक अनुष्ठानों में उपस्थित रहने में। सब्त के कुछ घंटे धार्मिक कार्यों के लिए समर्पित करना और बाती सारा समय सांसारिक कार्यों में बिताना बहुत ही गलत बात है। सब्त का दिन भी सप्ताह के बाकी छह दिनों जितना ही लंबा होता है, और जितना समय हम बाकी दिनों में अपने कार्यों में लगाते हैं, उतना ही समय सब्त के दिन हमें परमेश्वर की सार्वजनिक या निजी आराधना में लगाना चाहिए।

4. सब्त के दिन आवश्यकता एवं दया-सम्बन्धी कार्यों की अनुमति है। पहले प्रकार के कार्यों का तात्पर्य उन कार्यों से है, जिन्हें पिछले दिन नहीं किया जा सका था और जिन्हें अगले दिन तक टाला भी नहीं जा सकता। दूसरे प्रकार के कार्यों का तात्पर्य उन कार्यों से है, जो हमारे साथी प्राणियों के प्रति करुणा-भाव से किए जाते हैं। इस श्रेणी के अंतर्गत निम्नलिखित कार्य सम्मिलित हैं: परमेश्वर के भवन आना-जाना; किसी ऐसे नगर या शहर की रक्षा करना जिस पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया हो; समुद्र में जहाज चलाना; आग बुझाना, और उन सामानों को हटाना जो आग या अचानक आई बाढ़ से नष्ट हो सकते हैं; मवेशियों को चारा खिलाना, और उनके जीवन को खतरे से बचाना; बीमारों से मिलने जाना, और उनकी सुख-सुविधाओं एवं आवश्यकताओं का ध्यान रखना; और बच्चों की देखभाल करना। संक्षेप में, इस प्रकार की कोई भी बात मना नहीं है, हालाँकि यह कभी-कभी दिन के आवश्यक कार्यों में बहुत हद तक रुकावट डाल सकती हैं; क्योंकि 'परमेश्वर बलिदान से नहीं, परन्तु दया चाहता है'। यीशु ने सब्त के दिन बीमारों को चंगा किया, और जब उसके चेले भूखे थे, तो उन्होंने बालियों से अनाज मसलकर खाया; और यद्यपि फरीसियों ने उन्हें डांटा, फिर भी प्रभु ने उन्हें निर्दोष ठहराया।

'सब्त मनुष्य के लिए बनाया गया था'। यह कोई मनमानी व्यवस्था नहीं है, बल्कि एक अत्यंत कल्याणकारी व्यवस्था है – जिसे मनुष्य के लाभ और हित के लिए बनाया गया है। यदि इसे केवल काम-काज से विश्राम

के एक दिन के रूप में देखा जाए, तो इसे एक दयालु एवं लाभकारी व्यवस्था ही माना जाना चाहिए। इसका उद्देश्य मानवजाति के श्रमिक वर्गों को परिश्रम से विश्राम देने का अवसर प्रदान करना है; और स्वास्थ्य एवं शक्ति को बनाए रखने के लिए साप्ताहिक विश्राम का पुनः प्राप्त होना नितांत आवश्यक पाया गया है। समुदाय के प्रत्येक सदस्य के लिए उस विश्राम दिन का पूर्ण आनन्द लेने का अधिकार सुरक्षित होना चाहिए, जिसे परमेश्वर ने अपनी भलाई में, और अपने अधिकार के द्वारा उसे प्रदान किया है।

लेकिन सब्त केवल सांसारिक कार्यों की थकान और चिंताओं से विश्राम का समय मात्र ही नहीं है – बल्कि यह सामान्य श्रम से विराम का समय है, ताकि हम मसीही धर्म के कर्तव्यों का पालन अधिक लगन के साथ कर सकें। और निश्चित रूप से, सात दिनों में से एक पूरा दिन परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा के लिए, हमारी आत्माओं के उत्थान के लिए, और अनन्त काल की तैयारी के लिए कोई बहुत अधिक समय नहीं है। स्कॉटलैंड बहुत समय से सब्त के दिन के सम्मानजनक पालन के लिए विशेष रूप से प्रतिष्ठित रहा है। फिर भी, यह दुःख का विषय है कि इस सम्बन्ध में अब एक दुखद गिरावट देखने को मिल रही है। हाल के वर्षों में सब्त के दिन की पवित्रता का उल्लंघन भयानक तेज़ी से बढ़ रहा है, और चूंकि यह अनेक अन्य बुराइयों का मूल स्रोत है, इसलिए अपने देश के सर्वोत्तम हितों के लिए इससे अधिक हानिकारक कोई अन्य बात हमारे ज्ञान में नहीं है। सब्त का उचित पालन व्यक्तियों और राष्ट्रों के सांसारिक कल्याण को बढ़ावा देने, सार्वजनिक नैतिकता के स्तर को ऊँचा उठाने, मसीही धर्म के हितों को आगे बढ़ाने और परमेश्वर के अनुग्रह और आशीषों को प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन है। दूसरी ओर, सब्त का अनादर मनुष्यों के सांसारिक हितों के लिए हानिकारक है – यह समुदाय का मनोबल गिराता है, मसीही धर्म को नष्ट करता है, और राष्ट्र पर परमेश्वर के कोप और दण्ड को लेकर आता है। इसलिए, प्रत्येक व्यक्ति को इस बढ़ती हुई बुराई को रोकने के

लिए अपना पूरा प्रयत्न करना चाहिए, और यह पक्का संकल्प बना लेना चाहिए कि दूसरे लोग चाहे कुछ भी करें, वह 'सब्त के दिन को अपवित्र होने से बचाएगा'। जो लोग इस दिन का कड़ाई और लगन से पालन करके परमेश्वर का आदर करते हैं, जिस दिन को वह अपना विशेष अधिकार मानता है, वे उस व्यापक प्रतिज्ञा के अनुसार प्रभु की आशीष प्राप्त करेंगे: 'यदि तू सब्त के कारण अपना पैर रोके रहे अर्थात मेरे पवित्र दिन में अपनी इच्छा पूरी न करे, और सब्त को आनन्द का तथा यहोवा के पवित्र दिन को आदरणीय दिन माने, और उसका सम्मान करे अर्थात अपने मार्गों में चलने, अपनी ही इच्छा पूरी करने, और अपनी ही बात बोलने से रुका रहे, तब तू यहोवा में आनन्दित रहेगा, और मैं तुझे पृथ्वी के ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर ले चलूँगा, मैं तेरे मूल पुरुष याकूब के भाग में से तुझे खिलाऊंगा। यहोवा ही के मुख से यह वचन निकला है' (यशायाह 58:13, 14)।

अध्याय 22

वैध शपथ एवं व्रत लेना

भाग 1

वैध शपथ मसीही धार्मिक आराधना का एक भाग है (व्यवस्थाविवरण 10:20), जिसमें उचित समय पर, शपथ लेने वाला व्यक्ति जो कुछ वह कहता है या प्रतिज्ञा करता है, उसके लिए गवाह बनने हेतु; और जो वह शपथ लेता है उसके सत्य या असत्य के अनुसार उसका न्याय करने के लिए (निर्गमन 20:7; लैव्यव्यवस्था 19:12; 2 इतिहास 1:23; 2 इतिहास 2:22 – 23), गम्भीरता से परमेश्वर का आह्वान करता है।

भाग 2

केवल परमेश्वर का नाम ही वह है जिसके द्वारा मनुष्यों को शपथ लेनी चाहिए, और उसमें उसका उपयोग पूरे पवित्र भय और श्रद्धा के साथ किया जाना चाहिए (व्यवस्थाविवरण 6:13); इसलिए उस महिमामय एवं भय-योग्य नाम के द्वारा व्यर्थ या दुस्साहसपूर्वक शपथ लेना, या किसी अन्य वस्तु के द्वारा शपथ लेना, पाप है, और इससे घृणा की जानी चाहिए (निर्गमन 20:7; यिर्मयाह 5:7; मत्ती 5:34, 37; याकूब 5:12)। फिर भी, महत्वपूर्ण एवं उचित समय के मामलों में, नए नियम के तहत, साथ ही पुराने नियम के तहत, शपथ को परमेश्वर के वचन के द्वारा न्यायसंगत ठहराया गया है (इब्रानियों 6:16; 2 कुरिन्थियों 1:23; यशायाह 65:16), वैसे ही कानूनी प्राधिकरण द्वारा ठहराए गए मामलों में वैध शपथ ली जानी चाहिए (1 राजा 8:31; नहेम्याह 13:25; एज्रा 10:25)।

भाग 3

जो भी व्यक्ति शपथ लेता है, उसे उस अत्यंत गम्भीर कार्य की गम्भीरता पर उचित विचार करना चाहिए, और उसमें केवल उसी बात का प्रतिज्ञान करना चाहिए जिसके विषय में उसे पूर्ण विश्वास हो कि वह सत्य है (निर्गमन 20:7; यिर्मयाह 4:2)। न ही कोई मनुष्य स्वयं को किसी भी बात के लिए शपथ से बांध सकता है, बल्कि केवल उसी बात के लिए जो भली एवं न्यायपूर्ण है, और जिसके लिए वह ऐसा होने हेतु विश्वास करता है, और जिसको करने के लिए वह सक्षम एवं संकल्पित है (उत्पत्ति 24:2 – 3, 5 – 6, 8 – 9)। फिर भी, किसी भी ऐसी बात की शपथ से इनकार करना पाप है, जो भली एवं न्यायपूर्ण है, और जिसे कानूनी प्राधिकरण द्वारा ठहराया गया है (गिनती 5:19, 21; नहेम्याह 5:12; निर्गमन 22:7 – 11)।

भाग 4

शपथ को शब्दों के स्पष्ट एवं सामान्य अर्थ में लेनी चाहिए, बिना किसी संदिग्ध अर्थ या मानसिक आरक्षण के (यिर्मयाह 4:2; भजन संहिता 24:4)। यह पाप करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती; Page 304परन्तु किसी भी ऐसी बात में जो पापपूर्ण नहीं है, यह उसका पालन करने के लिए बाध्य करती है, भले ही इससे व्यक्ति को स्वयं की हानि हो (1 शमूएल 25:22, 32 – 34; भजन संहिता 15:4): न ही इसका उल्लंघन किया जाना चाहिए, भले ही इसे विधर्मियों या अविश्वासियों के साथ लिया गया है (यहेजकेल 17:16, 18 – 19; यहोशू 9:18 – 19; 2 शमूएल 21:1)।

व्याख्या

इन अनुभागों में निम्न बातें सम्मिलित हैं: *पहला,* वैध शपथ की प्रकृति; *दूसरा,* मनुष्यों को किसके नाम से शपथ लेनी चाहिए; *तीसरा,* शपथ लेने

की औचित्यता; *चौथा,* जिस प्रकार से शपथ लेनी चाहिए; और *पाँचवाँ,* शपथ का बाध्यकारी दायित्व।

1. शपथ मसीही आराधना का एक गम्भीर धार्मिक कृत्य है, जिसमें शपथ लेने वाला व्यक्ति परमेश्वर को अपनी कही या प्रतिज्ञा की गई बात की सच्चाई का साक्षी बनाता है, और परमेश्वर से यह प्रार्थना करता है कि वह उसकी शपथ की सत्यता या असत्यता के आधार पर उसका न्याय करे। जब कोई व्यक्ति भूतकाल या वर्तमान से सम्बन्धित तथ्यों की शपथ लेता है, तो इसे *निश्चयात्मक शपथ* (assertory oath) कहा जाता है; और जब कोई व्यक्ति यह शपथ लेता है कि वह भविष्य में कोई विशेष कार्य या कार्यों को करेगा, तो इसे *प्रतिज्ञात्मक शपथ* (promissory oath) कहा जाता है। शपथ का सम्बन्ध नागरिक या धार्मिक मामलों से हो सकता है, और उसके विषय के अनुसार, उसे नागरिक या धार्मिक शपथ कहा जा सकता है। परन्तु, चाहे इसे किसी भी विषय पर लागू किया जाए, शपथ स्वयं धर्म की पवित्र रीतियों के बीच अपना उच्च स्थान बनाए रखती है।

2. शपथ केवल परमेश्वर के नाम पर ही ली जानी चाहिए। हमें स्पष्ट रूप से यह आज्ञा दी गई है कि 'हम उसके नाम से शपथ लें' (व्यवस्थाविवरण 6:13); और उन वस्तुओं के नाम से शपथ लेना जो ईश्वर नहीं हैं, इसे घोर अपराध के रूप में दर्शाया गया है (यिर्मयाह 5:7)। परमेश्वर के नाम से शपथ लेने का अर्थ है, उसकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, और न्याय में विश्वास रखना एवं स्वीकार करना; अतः, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य नाम से शपथ लेना पूर्ण रूप से अवैध है, और यह मूर्तिपूजा से किसी भी प्रकार से कम नहीं है।

3. महत्वपूर्ण अवसरों पर, जब किसी वैध प्राधिकारी द्वारा ऐसा अनिवार्य किया जाए, तो शपथ लेना उचित हो सकता है। क्वेकर्स (Quakers) और कुछ अन्य लोग, नए नियम के अंतर्गत, किसी भी स्थिति में शपथ लेने की वैधता को अस्वीकार करते हैं। परन्तु, उनके इस विचार का खण्डन अनेक तर्कों द्वारा किया जाता है। पुष्टि हेतु शपथ लेना नैतिक

नियम के तीसरे सिद्धांत द्वारा समर्थित है। क्योंकि जहाँ एक ओर वह आज्ञा परमेश्वर का नाम व्यर्थ में लेने से रोकती है, वहीं दूसरी ओर वह वैध अवसरों पर परमेश्वर के नाम की शपथ लेने की अनुमति भी देती है।

इस प्रथा की पुष्टि पुराने नियम में दिए गए अनेक स्वीकृत उदाहरणों से होती है। अब्राहम ने अबीमेलेक से शपथ ली कि वह उसके साथ कपटपूर्ण व्यवहार नहीं करेगा (उत्पत्ति 21:23, 24)। इसी नाम के एक राजा ने चाहा कि इसहाक और उसके बीच एक शपथ हो; और उन्होंने एक-दूसरे से शपथ खाई (उत्पत्ति 26:31)। इसी रीति से याकूब ने लाबान से शपथ खाई (उत्पत्ति 31:53) ; और यूसुफ ने अपने पिता से शपथ खाई (उत्पत्ति 47:31)। ये सभी उदाहरण मूसा की व्यवस्था का यहूदियों को दिए जाने से पहले के हैं, और इसलिए, शपथ लेना मूसा की व्यवस्था की कोई विशिष्टता नहीं हो सकती। लेकिन उस व्यवस्था ने शपथ लेने की औचित्यता को स्पष्ट रूप से मान्यता दी थी (लैव्यव्यवस्था 5:1), और उस व्यवस्था के अंतर्गत हमें ऐसे पवित्र पुरुषों के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने परमेश्वर के नाम की शपथ खाई थी। इस प्रकार, योनातन ने दाऊद से अपने प्रति शपथ लेने को कहा (1 शमूएल 20:17); और दाऊद ने भी शाऊल के प्रति शपथ ली (1 शमूएल 24:21, 22)।

चूंकि शपथ लेना न तो न्यायिक और न ही धार्मिक विधि का कोई भाग है, इसलिए वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत भी इसका औचित्य उतना ही होना चाहिए, जब तक नए नियम में इसे स्पष्ट रूप से वर्जित न किया गया हो। परन्तु नए नियम में शपथ लेने की पुष्टि करने वाली बहुत सी बातें हैं। प्रेरित पौलुस प्रायः इन और इसी प्रकार के शब्दों में परमेश्वर से अपील करता है: 'परमेश्वर मेरा गवाह है'; 'मैं मसीह में सच कहता हूँ, मैं झूठ नहीं बोल रहा' (रोमियों 1:9; 9:1) : 'मैं परमेश्वर को अपना साक्षी ठहराता हुआ कहता हूँ' (2 कुरिन्थियों 1:23)। यीशु ख्रीष्ट ने स्वयं महायाजक के प्रश्न का उत्तर दिया, जब महायाजक ने उसे जीवित परमेश्वर की शपथ दिलाई; जो यहूदियों के बीच शपथ दिलाने का एक सामान्य तरीका था। इब्रानियों

का लेखक उस शपथ का उल्लेख करता है जो परमेश्वर ने अब्राहम से खाई थी, 'जब शपथ खाने के लिए किसी को अपने से बड़ा न पाया, तो अपनी ही शपथ खाकर कहा'; और वह आगे कहता है, 'हर एक विवाद का फैसला शपथ से होता है' (इब्रानियों 6:13, 16); जिससे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि परमेश्वर ने इस प्रथा को स्वीकृति दी थी। इसलिए, यह स्पष्ट होना चाहिए कि हमारे उद्धारकर्ता के वचन, 'कभी शपथ न खाना' (मत्ती 5:34), और प्रेरित याकूब के इसी प्रकार के वचन (5:12) आवश्यक और गम्भीर समयों पर शपथ लेने को पूरी रीति से प्रतिबंधित नहीं करते हैं; लेकिन केवल आम बातचीत में शपथ खाने की प्रथा को, और विशेष रूप से जीवों की शपथ खाने को मना करते हैं।

लेकिन, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि हर किसी छोटी-मोटी बातों में परमेश्वर की अपील करना, और बार-बार एवं अनावश्यक रूप से वही शपथ दोहराना, परमेश्वर के नाम का व्यर्थ उपयोग करना है। और यह भी देखा जा सकता है, कि जैसे पवित्रशास्त्र में शपथ लेने का सामान्य तरीका हाथ उठाना बताया गया है (उत्पत्ति 14:22; प्रकाशितवाक्य 10:5, 6), इसलिए इसी को प्राथमिकता दी जानी चाहिए; और अंधविश्वास के सभी तरीकों को अस्वीकार कर देना चाहिए।

4. शपथ 'सच्चाई, धार्मिकता, और न्याय' के साथ ली जानी चाहिए (यिर्मयाह 4:2)। *सच्चाई में;* अर्थात, मन के भावों और शपथ के शब्दों के पूरे मेल के साथ, उनके सामान्य और स्पष्ट अर्थ में, और जैसा कि शपथ दिलाने वाले लोग समझते हैं; बिना किसी गोलमाल बात या मन में कोई बात छिपाए। शपथ लेते समय मन में कोई बात छिपाकर रखने की अनुमति देना, जैसे कि रोम का चर्च कुछ मामलों में करता है, शपथ के मूल उद्देश्य को ही विफल करना है, लोगों के बीच समस्त विश्वास को समाप्त कर देना है, और शपथ लेने वाले को झूठी शपथ के घोर पाप में फंसा देना है। *धार्मिकता में;* अर्थात, उन बातों में जो शपथ लेते समय हमारे लिए वैध और सम्भव हों, और इस दृढ़ अभिप्राय के साथ कि हम अपनी प्रतिज्ञा को

अवश्य पूरा करेंगे। *न्याय में;* अर्थात, जानबूझकर और श्रद्धा के साथ, इस बात पर अच्छी रीति से विचार करते हुए कि क्या शपथ का विषय भला और न्यायसंगत है, और क्या इसके प्रस्तावित उद्देश्य इतने पर्याप्त हैं कि हमारी घोषणाओं की सत्यता की गारंटी के तौर पर हम परमेश्वर के महिमामय और भययोग्य नाम का उपयोग करने को उचित ठहरा सकें।

5. एक वैध शपथ व्यक्ति को उसके पालन के लिए बाध्य करती है। इस तरह की शपथ, जो व्यक्तियों को किसी पापपूर्ण कार्य में संलग्न करती हैं, वे अपने आप में ही अमान्य या अशक्त और शून्य हैं; और जिन लोगों ने जल्दबाजी में ऐसी शपथ खाईं हैं, उन्हें उन पर पछताना चाहिए और उन्हें त्याग देना चाहिए, न कि उन्हें शपथ खाने के पाप में, निभाने का पाप भी जोड़ना चाहिए, जैसा कि हेरोदेस ने अत्यंत दुष्टतापूर्वक किया था, जब उसने अपनी शपथ के कारण यूहन्ना बपतिस्मा देने वाले का सिर कटवा दिया था (मरकुस 6:23, 26)। परन्तु एक वैध शपथ बाध्यकारी होती है, भले ही इसका पालन किसी व्यक्ति के सांसारिक हितों के लिए हानिकारक क्यों न हो; और यह एक भले मनुष्य का चरित्र है, कि 'चाहे हानि उठानी पड़े, वह शपथ खाकर बदलता नहीं' (भजन संहिता 15:4)। रोम के चर्च का यह एक घृणित सिद्धांत है कि 'विधर्मियों के साथ की गई प्रतिज्ञा को नहीं निभाना चाहिए'।

भाग 5

व्रत, एक शपथ-पत्र के समान प्रकृति का होता है, और इसे भी उसी प्रकार की धार्मिक सावधानी के साथ किया जाना चाहिए, और उसी प्रकार की निष्ठा के साथ इसका पालन किया जाना चाहिए (यशायाह 19:21; भजन संहिता 61:8; 66:13 – 14; सभोपदेशक 5:4 – 6)।

भाग 6

यह किसी प्राणी के लिए नहीं, परन्तु केवल परमेश्वर के लिए किया जाना

चाहिए (भजन संहिता 76:11; यिर्मयाह 44:25 – 26): और ताकि इसे स्वीकार किया जा सके, इसे स्वेच्छा से, विश्वास और कर्तव्य के विवेक से, प्राप्त दया के लिए कृतज्ञतापूर्ण रीति से, या जो हम चाहते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए किया जाना चाहिए; जिसके द्वारा हम अपने आप को आवश्यक कर्तव्यों, या अन्य बातों के लिए अधिक दृढ़ता से बाँधते हैं, जहाँ तक और जब तक वे उपयुक्त रूप से इसके लिए प्रेरित हो सकते हैं (उत्पत्ति 28:20 – 22; व्यवस्थाविवरण 23:21, 23; 1 शमूएल 1:11; भजन संहिता 50:14; 66:13 – 14; 132:2 – 5)।

भाग 7

कोई भी मनुष्य परमेश्वर के वचन में निषिद्ध किसी भी बात को करने के लिए व्रत नहीं ले सकता है, या जो बात वचन में निर्देशित किसी कर्तव्य में बाधा डालती है, या जो उसकी अपनी शक्ति में नहीं है, और जिसको करने के लिए उसे परमेश्वर की ओर से न तो कोई प्रतिज्ञा या योग्यता मिली है (गिनती 30:5, 8, 12 – 13; मरकुस 6:26; प्रेरितों के काम 23:12, 14)। इस सम्बन्ध में, निरन्तर अकेले जीवन, स्वयं स्वीकार की गई गरीबी, और नियमित आज्ञाकारिता के विषय में पोप की मठवासी शपथ है, जो कि उच्चतर सिद्धता के स्तर की होने से इतनी दूर हैं, कि वे अंधविश्वास बातें एवं पापपूर्ण जाल हैं, जिनमें कोई भी मसीही व्यक्ति स्वयं को फंसा नहीं सकता (मत्ती 19:11 – 12; 1 कुरिन्थियों 7:2, 9, 23; इफिसियों 4:28; 1 पतरस 4:2)।

व्याख्या

ये अनुभाग किसी व्रत या मन्नत की प्रकृति, विषय-वस्तु, और दायित्व से सम्बन्धित हैं।

व्रत परमेश्वर से की गई एक गम्भीर प्रतिज्ञा है, जो व्यक्तिगत या सामाजिक हो सकती है। हालाँकि व्रत की 'प्रकृति प्रतिज्ञात्मक शपथ जैसे

होती है', फिर भी दोनों के बीच में अंतर किया जा सकता है। शपथ में, सामान्य तौर पर मनुष्य एक पक्ष होता है और परमेश्वर को साक्षी के रूप में पुकारा जाता है; व्रत में, परमेश्वर पक्ष और साक्षी दोनों है। व्रत केवल परमेश्वर के प्रति ही ली जानी चाहिए; और इसलिए, दिवंगत संतों के लिए व्रत लेना, जैसा कि कैथोलिक लोग करते हैं, यह अंधविश्वासपूर्ण और मूर्तिपूजा है। व्रत स्वेच्छा से, और विश्वास के साथ, या उन्हें पूरा करने में समर्थ बनाने के लिए ख्रीष्ट के अनुग्रह पर निर्भर रहते हुए मानना चाहिए (फिलिप्पियों 4:13; 2 कुरिन्थियों 12:9)।

व्यक्ति स्वयं को किसी व्रत द्वारा, चाहे वह आवश्यक कर्तव्यों से सम्बन्धित हो या ऐसी अन्य बातों से जिनकी स्पष्ट रूप से अपेक्षा नहीं की गई हों, तब तक और उतनी ही सीमा तक बांध सकते हैं, जब तक कि वे कर्तव्य-पालन को बेहतर बनाने में सहायक हों। परन्तु कोई भी व्यक्ति ऐसी किसी भी बात को करने का व्रत नहीं ले सकता जो या तो गैर-कानूनी है, या जो उसके अपने वश में नहीं है, और जिसके निष्पादन के लिए उसे परमेश्वर से सामर्थ्य का कोई वचन प्राप्त नहीं है।

व्रत में एक अंतर्निहित दायित्व होता है, जो परमेश्वर की व्यवस्था के दायित्व से भिन्न है। व्यवस्था में, परमेश्वर *हमें* अपने आधिकारिक आदेश से *बांधता* है; व्रत में, *हम स्वयं को* अपनी स्वैच्छिक प्रतिबद्धता से *बांधते* हैं। किसी व्रत को इस प्रकार पेश करना कि वह विवेक पर कोई नया या अतिरिक्त दायित्व नहीं डालता, या जैसा कि कुछ कैथोलिक लेखक मानते हैं, कि व्रत हमें परमेश्वर की व्यवस्था द्वारा निर्देशित नैतिक कर्तव्यों से नहीं बांधती, क्योंकि हमारा व्रत उसकी व्यवस्था में किसी अतिरिक्त दायित्व को नहीं जोड़ सकता, यह स्पष्ट रूप से बेतुका है। यह पवित्रशास्त्र और मानवजाति के सामान्य विवेक, दोनों के ही विपरीत है। परमेश्वर की व्यवस्था बाध्यकारी होती है; यह प्राथमिक दायित्व है। परन्तु, एक व्रत भी उतना ही बाध्यकारी होता है; यह द्वितीयक दायित्व है। और अधीनस्थ बातें परस्पर विरोधी नहीं होतीं। परमेश्वर के वचन में व्रत को पूरा करने का

निर्देश बार-बार और अत्यंत कड़ाई से दिया गया है। मूसा कहता है, 'जब तू अपने परमेश्वर यहोवा के लिए मन्नत माने, तो उसे पूरी करने में विलम्ब न करना; क्योंकि तेरा परमेश्वर यहोवा उसे निश्चय तुझ से ले लेगा, और विलम्ब करने से तू पापी ठहरेगा' (व्यवस्थाविवरण 23:21; साथ में देखें सभोपदेशक 5:4; भजन 50:14; 76:11)।

अध्याय 23

नागरिक मजिस्ट्रेट

भाग 1

परमेश्वर ने, जो समस्त संसार का सर्वोच्च प्रभु और राजा है, अपनी स्वयं की महिमा एवं सार्वजनिक भलाई के लिए अपने अधीन में, लोगों के ऊपर नागरिक मजिस्ट्रेटों को नियुक्त किया है, और इस उद्देश्य के लिए उसने उन्हें तलवार की शक्ति से सुसज्जित किया है, ताकि जो भले लोग हैं उनकी वे रक्षा और उन्हें प्रोत्साहित करें, और जो बुरा करते हैं उन्हें दण्ड दें (रोमियों 13:1 – 4; 1 पतरस 2:13 – 14)।

भाग 2

मसीही लोगों के लिए यह वैध है कि वे बुलाए जाने पर मजिस्ट्रेट का पद स्वीकार करें एवं उसका कार्यपालन करें (नीतिवचन 8:15 – 16; रोमियों 13:1 – 2, 4); जिसके निष्पादन में, उन्हें प्रत्येक राष्ट्र के हितकारी कानूनों के अनुसार, विशेष रूप से धर्मपरायणता, न्याय, एवं शान्ति बनाए रखनी चाहिए (भजन संहिता 2:10 – 12; 1 तीमुथियुस 2:2; भजन संहिता 82:3 – 4; 2 शमूएल 23:3; 1 पतरस 2:13), अतः, इस उद्देश्य के लिए, वे अब नए नियम के तहत, उचित एवं आवश्यक समय पर कानूनी रूप से युद्ध लड़ सकते हैं (लूका 3:14; रोमियों 13:4; मत्ती 8:9 – 10; प्रेरितों के काम 10:1 – 2; प्रकाशितवाक्य 17:14, 16)।

व्याख्या

पवित्रशास्त्र 'विश्वास और आचरण का एक सिद्ध नियम' है। वह हर परिस्थिति एवं सम्बन्ध में मनुष्यों के लिए अनिवार्य कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं, चाहे कलीसिया के सदस्य या किसी राष्ट्र के नागरिक के रूप में – चाहे शासक के रूप में या प्रजा के रूप में। इसलिए, मसीही सिद्धांतों का कोई सारांश, जो नागरिक शासकों के कर्तव्यों को, विशेष रूप से मसीही धर्म और यीशु ख्रीष्ट के राज्य के सन्दर्भ में, स्पष्ट रूप से प्रस्तुत न करे, वह अत्यंत दोषपूर्ण होगा। फलस्वरूप, यह विषय सभी रिफॉर्म्ड कलीसियाओं के विश्वास के अंगीकार-कथनों में एक प्रमुख स्थान रखता है; और इन अंगीकार-कथनों की अनुरूपता इस बात का एक प्रबल अनुमानित प्रमाण है कि इस रोचक विषय पर पवित्रशास्त्र के सिद्धांत न तो अस्पष्ट हैं और न ही 'समझने में कठिन' हैं।

यह सच है कि विभिन्न समयों पर ऐसे मसीही सम्प्रदाय उभरे हैं, जिन्होंने सभी प्रकार के नागरिक सरकारों के सिद्धांतों को हानिकारक, और विशेषकर धर्म के मामलों में नागरिक अधिकारियों के किसी भी तरह के दखल का विरोध करने वाली बातों को माना है। जर्मनी के एनाबैपटिस्ट, जिन्होंने, सोलहवीं सदी में, ऐसा भारी उथल-पुथल मचाया था, उनका मानना था कि 'ख्रीष्ट के राज्य में नागरिक मजिस्ट्रेट की कोई आवश्यकता नहीं है'। और मेनो (Menno) द्वारा उनके सिद्धांतों में बदलाव किए जाने के बाद भी, उन्होंने 'न तो सरकारी अधिकारियों को अपने समुदाय में सम्मिलित किया और न ही अपने किसी सदस्य को मजिस्ट्रेट या अधिकारी का काम करने की अनुमति दी'। उन्होंने 'बल का उत्तर बल से देने की वैधता को भी नकारा और युद्ध को, उसके हर रूप में, मसीही विरोधी और अन्यायपूर्ण माना'।[111] वेस्टमिन्स्टर असेंबली की बैठक के दौरान अंग्रेज मसीही पंथों ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए थे। उस समय सामने

[111] Mosheim's *Eccl. Hist.*, cent xvi., sect. 3, part 2, chap. 3. Cap. 5, 16.

आई कई हानिकारक गलतियों में से कुछ इस प्रकार हैं: 'कि एक मसीही व्यक्ति के लिए मजिस्ट्रेट बनना उचित नहीं है; परन्तु मसीही बनने पर उसे अपना मजिस्ट्रेट पद छोड़ देना चाहिए: कि मसीही लोगों के लिए अपने कानूनों और नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए लड़ना और हथियार उठाना गैरकानूनी है।'[112] यह सर्वविदित है कि सोसायटी ऑफ फ्रेंड्स (Society of Friends) या क्वेकर्स (Quakers) आज भी युद्ध की वैधता को नकारते हैं।

ऐसे विचारों के विपरीत, हमारा अंगीकार-कथन यहाँ सिखाता है:

1. कि मजिस्ट्रेट का पद या नागरिक सरकार परमेश्वर का ठहराया हुआ प्रबंध है।

2. कि मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति परमेश्वर की महिमा के अधीन में, जन-कल्याण को बढ़ावा देने के लिए की जाती है।

3. कि मसीही लोग वैध रूप से मजिस्ट्रेट का पद स्वीकार कर सकते हैं।

4. कि मजिस्ट्रेटों को शांति एवं न्याय के साथ-साथ धर्म-परायणता भी बनाए रखनी चाहिए।

5. कि वे अब नए नियम के तहत, उचित और आवश्यक मौकों पर कानूनी तौर पर युद्ध कर सकते हैं।

1. *मजिस्ट्रेट का पद, या नागरिक सरकार, परमेश्वर का ठहराया हुआ प्रबन्ध है*। कई जाने-माने लेखकों का मानना है कि सरकार सामाजिक सहमति पर आधारित है; लेकिन सामान्य तौर पर यही माना जाता है कि सरकार परमेश्वर की इच्छा पर आधारित है।[113] जब यह कहा जाता है कि मजिस्ट्रेट का पद एक ईश्वरीय व्यवस्था है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि

---

[112] Edwards' *Gangraena*, part i., pp. 29, 30.

[113] सरकार की बुनियाद के रूप में सामाजिक समढौते की वकालत करने वालों में लॉके (Locke) का सम्मानित नाम है और इसके विपरीत विचार रखने वालों में इनका उल्लेख कर सकते हैं Paley 'Moral and political Philosophy', book vi., chap. 3, and to Dwight (Ser. 113).

यह सीधे और स्पष्ट रूप से परमेश्वर द्वारा नियुक्त पद है, जैसे कि सुसमाचार सेवा (प्रचारक) का पद होता है। इसका बस इतना ही अर्थ है कि सरकार परमेश्वर की इच्छा के अनुरूप है। यह परमेश्वर की इच्छा है कि मानवजाति की खुशहाली को बढ़ावा दिया जाए। लेकिन मानवजाति की प्रसन्नता के लिए – शांति और व्यवस्था बनाए रखने, और जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति की सुरक्षा के लिए सरकार या प्रशासन अनिवार्य है। बल्कि, सामाजिक परिस्थिति में मानवजाति की एक बड़ी संख्या के अस्तित्व के लिए ही यह आवश्यक है। इससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह परमेश्वर की इच्छा है कि सरकारी प्रशासन होना चाहिए; और तर्क पर आधारित इस निष्कर्ष की पुष्टि प्रेरणा प्राप्त प्रेरित के स्पष्ट कथन से होती है: 'प्रत्येक व्यक्ति राज्य के अधिकारियों के अधीन रहे, क्योंकि कोई अधिकार ऐसा नहीं जो परमेश्वर की ओर से न हो, और जो है वे परमेश्वर के द्वारा ठहराए हुए हैं। इसलिए जो अधिकार का सामना करता है, उसने परमेश्वर की विधि का विरोध किया है' (रोमियों 13:1, 2)। यह ध्यान देने योग्य बात है, कि मजिस्ट्रेट की व्यवस्था परमेश्वर ने संसार के नैतिक शासक के रूप में की थी, और यह मध्यस्थ के रूप में ख्रीष्ट से नहीं निकलती है। यह बात नागरिक और कलीसियाई सत्ताओं की बीच एक महत्वपूर्ण अंतर बनाती है।

> राष्ट्रों के ऊपर महान राजा ने नागरिक सत्ता स्थापित की है; संतों के महान राजा ने कलीसियाई सत्ता स्थापित की है। मेरा कहने का अर्थ है कि सर्वोच्च परमेश्वर, जो स्वर्ग और पृथ्वी का स्वामी है, जो स्वयं अपने हाथों की रचना, अर्थात समस्त ब्रह्माण्ड पर सम्प्रभुता के साथ शासन करता है, और इसलिए उसने पूरी मानवजाति पर, अपने स्थान पर ईश्वरों के रूप में काम करने के लिए मजिस्ट्रेटों को नियुक्त किया है। परन्तु, कलीसिया के मध्यस्थ और राजा के रूप में यीशु ख्रीष्ट, जिसे उसके पिता ने पवित्र पर्वत सिय्योन की राजगद्दी पर बैठाया है (भजन संहिता

> 2:6), ताकि वह याकूब के घराने पर अनन्तकाल तक राज करे (लूका 1:33), जिसके पास उसके कंधे पर दाऊद के घर की कुंजी है (यशायाह 22:22), उसने कलीसियाई सत्ता और प्रशासन कलीसिया के अधिकारियों के हाथों में सौंपी है, जिन्हें, वह अपने नाम से भेजता है।[114]

आगे यह भी कहा जा सकता है कि, हालाँकि परमेश्वर ने नागरिक सरकार व्यवस्था को बनाया है, फिर भी उसने सभी समुदायों के लिए सरकार के किसी एक रूप को अनिवार्य नहीं ठहराया है; उसने इस बात को अलग-अलग देशों पर छोड़ दिया है कि वे अपने लिए सबसे उपयुक्त प्रशासन व्यवस्था चुनें; और इस सम्बन्ध में प्रेरित पतरस इसे 'मनुष्यों का ठहराया हुआ नियम' कहते हैं (1 पतरस 2:13)।

2. *मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति परमेश्वर की महिमा के अधीन में, जन-कल्याण को बढ़ावा देने के लिए की जाती है*। मजिस्ट्रेटों को 'भलाई के लिए परमेश्वर के सेवक' कहा जाता है (रोमियों 13:4)। उन्हें स्वयं अपने मान-सम्मान और लाभ के लिए, सम्मान और अधिकार नहीं दिए गए हैं, बल्कि इसलिए कि वे समाज के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए काम करें; विशेष रूप से 'बुराई करने वाले को दण्ड देने के लिए, और जो भला काम करते हैं, उनकी प्रशंसा करने के लिए'। चूंकि नागरिक सरकार की यही रूपरेखा है, इसलिए सबसे बुरी सरकारें भी कुछ हद तक इस उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु जब इस रूपरेखा की जानबूझकर और कुख्यात रूप से अनदेखी की जाती है – जब शासक आदतन अत्याचारी बन जाते हैं, और देश की स्वतंत्रता और अधिकारों को छीनने या समाप्त करने लगते हैं – तो शासित लोगों को इस बुराई को दूर करने का अधिकार होना चाहिए। सच्ची स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक सिद्धांत है, और इस पर स्वयं हमारे देश में क्रांति के समय पर कार्यान्वित किया गया था।

---

[114] George Gillespie, *Aaron's Rod*, p. 185.

3. *मसीही लोग वैध रूप से मजिस्ट्रेट का पद स्वीकार कर सकते हैं*। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पुरानी व्यवस्था के अधीन, दाऊद, योशिय्याह और हिजकिय्याह जैसे सबसे पवित्र लोगों ने परमेश्वर की स्वीकृति के साथ इस पद का दायित्व निभाया। कई ऐसी भविष्यवाणियाँ भी हैं जो स्पष्ट रीति से बताती हैं कि मसीही लोगों को नए नियम की व्यवस्था के अधीन इस पद को निभाना चाहिए (यशायाह 44:23; भजन संहिता 72:10, 11)। जो लोग मानते हैं कि मसीही लोगों के लिए ऐसे पद संभालना गैर-कानूनी है, वे मुख्य रूप से अपने विचार ख्रीष्ट के उदाहरण (लूका 12:14), और अपने शिष्यों से कही उसकी बात (मत्ती 20:25, 26) पर आधारित करते हैं। परन्तु, यद्यपि ख्रीष्ट सांसारिक प्रभुता करने नहीं आए थे, और उन्होंने अपने प्रेरितों में दिखने वाली महत्वाकांक्षी सोच को दबाया था, और उन्हें तथा बाद के समय में सुसमाचार के सेवकों को ऐसा पद संभालने से मना किया था, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि यह सभी मसीही लोगों को इस कार्य से दूर करती है। यदि मसीही लोगों के लिए मजिस्ट्रेट का पद स्वीकार करना गैर-कानूनी होता, तो इसका परिणाम यह होता कि या तो मसीही राष्ट्रों में कोई मजिस्ट्रेट ही नहीं होता – जो उन्हें अराजकता और विघटन में ले जाता – या फिर, उनके बीच ऐसे मजिस्ट्रेट नियुक्त करने पड़ते जो मसीही न हों; और कौन इस बात के बेतुकेपन को नहीं समझता?[115]

4. *मजिस्ट्रेटों को शांति एवं न्याय के साथ-साथ धर्म-परायणता भी बनाए रखनी चाहिए*। प्रेरित प्रोत्साहित करते हैं कि मसीही लोगों द्वारा 'राजाओं और सब ऊँचे पदवालों के निमित्त' प्रार्थना की जानी चाहिए, 'इसलिए कि हम विश्राम और चैन के साथ सारी भक्ति और गम्भीरता से जीवन बिताएँ' (1 तीमुथियुस 2:1, 2)।

[115] Calvin's *Inst*., book iv., chap. 20, sect. 4, 5. *Doddridge's Lectures*, vol. ii. p. 253.

> मसीही लोगों को इस बात के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, कि अधिकारी लोग उनके उद्देश्य को बढ़ावा देने के लिए बाध्य हो जाएं; और यह केवल 'विश्राम और चैन वाला जीवन' नहीं है, बल्कि 'सारी भक्ति और गम्भीरता वाला जीवन' है। शासकों को अपनी आधिकारिक क्षमता में ईमानदारी के समान ही ईश्वर-भक्ति के प्रति भी उदासीन नहीं रहना चाहिए; उन्हें दोनों का ही समर्थन एवं दोनों को ही बढ़ावा देना चाहिए (एज्रा 6:8 – 10)।'[116]

5. *मसीही मजिस्ट्रेट अब नए नियम के तहत, उचित और आवश्यक मौकों पर कानूनी तौर पर युद्ध कर सकते हैं*। युद्ध को एक बड़ी बुराई के रूप में माना जाना चाहिए, परन्तु संसार की वर्तमान स्थिति में यह कभी-कभी आवश्यक होता है; और यदि कोई देश इस सिद्धांत को अपना ले और उस पर कार्य करे कि युद्ध पूर्ण रूप से गैर-कानूनी है, तो वह जल्द ही अपने महत्वाकांक्षी पड़ोसियों का शिकार बन जाएगा। पुराने नियम के तहत, युद्ध परमेश्वर की स्पष्ट आज्ञा और उसकी सहमति से लड़े जाते थे; परन्तु उसने कभी भी ऐसी किसी भी बात की आज्ञा या स्वीकृति नहीं दी जो नैतिक रूप से गलत हो। नए नियम में भी ऐसी कई परिस्थितियाँ बताई गई हैं जो मजिस्ट्रेटों के युद्ध छेड़ने और मसीही लोगों के हथियार रखने को कानूनी रूप से सही ठहराती हैं। जब सिपाहियों ने यूहन्ना से पूछा कि उन्हें क्या करना चाहिए, तो उसने उनसे कहा, 'किसी पर उपद्रव न करना और न झूठा दोष लगाना'; परन्तु उसने उन्हें अपना व्यवसाय, गैर-कानूनी मानकर छोड़ने का आदेश नहीं दिया; इसके विपरीत, जो नियम उसने जोड़ा, 'अपने वेतन पर संतोष करना', उससे यह पता चलता है उन्हें अपनी परिस्थिति में नौकरी जारी रखनी थी (लूका 3:14)। मसीही कलीसिया में जिस पहले गैर-यहूदी को स्वीकार किया गया वह एक रोमी सेना का

[116] M'Crie's *Statement*, p. 139.

अधिकारी सूबेदार था; लेकिन जब पतरस ने उसे बपतिस्मा दिया, तो उसने उससे रोमी सेना की अपनी नौकरी को छोड़ने के लिए नहीं कहा (प्रेरितों के काम 10)। उन कई मामलों को तय करना जिनमें युद्ध न्यायसंगत हो सकता है, उनका वर्णन यहाँ उचित नहीं होगा; हालाँकि, सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि आक्रामक युद्ध, या ऐसे युद्ध जो महत्वाकांक्षा या सांसारिक सीमा विस्तार की इच्छा पूरी करने के लिए किए जाते हैं, उन्हें न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता; परन्तु बचाव के लिए लड़े जाने वाले युद्ध, या ऐसे युद्ध जिनका आरम्भ तो बचाव के उद्देश्य से होता है, भले ही आगे चलकर वे प्रायः आक्रामक रूप ले लेते हैं, वे न्यायसंगत होते हैं।

भाग 3

नागरिक मजिस्ट्रेट, वचन एवं मसीही संस्कारों के प्रशासन; या स्वर्ग के राज्य की कुंजियों के अधिकार को स्वयं अपने ऊपर नहीं ले सकता (2 इतिहास 26:18; मत्ती 18:17; 16:19; 1 कुरिन्थियों 12:28, 29; इफिसियों 4:1, 12; 1 कुरिन्थियों 4:1, 2; रोमियों 10:15; इब्रानियों 5:4): फिर भी उसके पास अधिकार है, और यह उसका कर्तव्य है, कि वह व्यवस्था को बनाए रखे, ताकि कलीसिया में एकता और शान्ति बनी रहे, ताकि परमेश्वर का सत्य पवित्र एवं सम्पूर्ण बना रहे; ताकि सभी ईश-निन्दा और विधर्मी शिक्षा का दमन किया जाए; आराधना और अनुशासन में सभी भ्रष्टता एवं दुरुपयोग को रोका जाए या सुधारा जाए; और परमेश्वर के सभी अध्यादेशों को विधिवत रूप से तय किया जाए, संचालित किया जाए और उनका पालन किया जाए (यशायाह 49:23 भजन संहिता 122:9; एज्रा 7: 23, 25 – 28; लैव्यव्यवस्था 24:16; व्यवस्थाविवरण 13:5, 6, 12; 2 राजा 18:4; 1 इतिहास 13:1 – 9; 2 राजा 24:1 – 26; 2 इतिहास 34:33; 15: 12, 13)। इसके बेहतर प्रभाव

के लिए, उसके पास धर्म-सभाओं को बुलाने, उनमें उपस्थित रहने का अधिकार है, और यह सुनिश्चित करने का अधिकार है कि उनमें जो कुछ भी सम्पादित होता है वह परमेश्वर की इच्छा के अनुसार हो (2 इतिहास 19:8 - 11; 29, 30. मत्ती 2:4, 5)।

व्याख्या

इस अनुभाग में, हमारे अंगीकार-कथन को तैयार करने वालों का स्पष्ट उद्देश्य इरास्टियन (Erastian) और सेक्टेरियन (Sectarian) दोनों प्रकार के सिद्धांतों से समान रूप से बचाव करना था। इरास्टियन सिद्धांतों के विरोध में, जिनके अनुसार कलीसिया का प्रशासन और अनुशासन नागरिक मजिस्ट्रेट को सौंपा जाता है, हमारा अंगीकार-कथन यह घोषित करता हैं कि मजिस्ट्रेट न तो वचन और मसीही संस्कारों के संचालन का कार्य अपने हाथ में ले सकता है, और न ही कलीसिया के प्रशासन में कोई भाग संभाल सकता है। हालाँकि, इरास्टियन लोगों के विरोध में, वे कलीसिया में मजिस्ट्रेट के किसी भी प्रशासनिक या न्यायिक अधिकार को नहीं मानते, फिर भी, दूसरे अतिवादी सोच से बचने के लिए, उस युग के सेक्टेरियन लोगों के विरोध में, वे जोर देकर कहते हैं, कि मजिस्ट्रेट का यह कर्तव्य है कि वह कलीसिया की भलाई और सच्चे मसीही धर्म के हितों को आगे बढ़ाने के लिए अपने प्रभाव और अधिकार का हर संभव तरीके से उपयोग करे।

यह बात बहुत कुछ उल्लेखनीय है कि मसीही धर्म के मामले में मजिस्ट्रेट की शक्ति, और कलीसिया एवं राष्ट्र के बीच सम्बन्ध के मामले को लेकर बिल्कुल अलग-अलग विचार रखने वाले पक्ष भी इस बात पर सहमत हैं कि हमारे अंगीकार-कथन का यह भाग नागरिक मजिस्ट्रेट को कलीसिया भीतर और उस पर नियंत्रण रखने की शक्ति देता है। पूरी रीति से धार्मिक मामलों में नागरिक न्यायालयों के हाल के हस्तक्षेप का समर्थन करने वालों

ने, जिसे अब राज्य की विधायिका ने भी अनुमति दे दी है, इस धारा का हवाला देते हुए कहा है कि यह ऐसे हस्तक्षेप की अनुमति देती है। दूसरी ओर, धर्म से जुड़े सभी सरकारी व्यवस्थाओं के विरोधियों ने भी इस भाग का यही अर्थ निकाला है, और यह आरोप लगाया है कि यह सरकारी अधिकारी को कलीसिया के मामलों में और कलीसिया के ऊपर इरास्टियन अधिकार (अर्थात कलीसिया पर सरकार के नियंत्रण) की अनुमति देती है।

> 'यदि यह बात सच है, तो यह बहुत अनोखी बात होगी, क्योंकि जिस असेंबली ने इसे तैयार किया था, वह उसी संसद के साथ इसी दावे को लेकर विवाद में उलझी हुई थी, जिसकी सुरक्षा में वह वहाँ बैठकर काम कर रही थी; और इस बात के कारण कि वे लगातार सरकार को वह अधिकार सौंपने से इनकार करते रहे (जिसमें उन्हें सभी प्रेस्बिटेरियन लोगों का समर्थन प्राप्त था), इंग्लैंड में प्रेस्बिटरियों और सिनॉड (धर्म महा-परिषदों) के गठन को रोक दिया गया था।'[117]

इस महत्वपूर्ण बात से अलग, अंगीकार-कथन से ही ऐसे कई घोषणाएँ आसानी से पेश किए जा सकते हैं जो इस आरोप को गलत साबित करने के लिए पर्याप्त होंगे। इन घोषणाओं पर हम बाद में विचार करेंगे, और अभी हम बस इतना कहेंगे कि अंगीकार कथन को अपने-आप में सुसंगत माना जाना चाहिए; और यदि इस भाग के कुछ अलग-अलग वाक्यांशों का ऐसा अर्थ निकाला जा सकता है जो कलीसिया की स्वतंत्रता के विरुद्ध हो, फिर भी यदि उन वाक्यांशों का ऐसा अर्थ भी निकल सकता है जो कलीसिया की स्वतंत्रता और उस पर ख्रीष्ट के एकमात्र मुखिया होने के विषय में स्पष्ट

[117] M'Crie's *Appendix*, p. 138.

तौर पर कही गई व्याख्या के साथ मेल खाता हो, तो निश्चित रूप से उसी व्याख्या को उनका सही और अभिप्रेरित अर्थ माना जाना चाहिए।

इस अनुभाग में विभिन्न अनुच्छेदों को समझाने से पहले, कुछ सामान्य टिप्पणियाँ करना उचित होगा।

सबसे पहले, यह ध्यान दिया जा सकता है कि यहाँ नागरिक मजिस्ट्रेट से तात्पर्य राज्य या राष्ट्र की सर्वोच्च नागरिक सत्ता से है। अंगीकार-कथन और सामान्य रूप से ईश्वर-विज्ञान के लेखों में, नागरिक मजिस्ट्रेट का अर्थ अकेले और पूरी रीति से अकेले काम करने वाले शासक से नहीं है, बल्कि यह देश की सरकार, या उस सत्ता से है, जिसको राष्ट्रीय कानून बनाने और राष्ट्रीय विधेयक को विधिवत लागू करने का अधिकार है।

दूसरे स्थान पर, इसमें कोई संदेह नहीं कि यहाँ पर अंगीकार-कथन नागरिक मजिस्ट्रेट के कर्तव्य के विषय में जो सिखाता है, वह एक मजिस्ट्रेट के रूप में उसी का कर्तव्य है; क्योंकि यह कहता है, उसे जो कार्य सौंपा गया है, उसे करने का 'उसके पास अधिकार है'। उसे यहाँ पर सौंपे गए कर्तव्य को करना है, न केवल अपने परामर्श और उदाहरण के द्वारा, जैसे कि एक मसीही व्यक्ति को महिमा के पद पर बैठाया जाता है, परन्तु एक मजिस्ट्रेट के रूप में अपने आधिकारिक अधिकार और प्रभाव से भी पूरा करना है।

लेकिन, *तीसरे स्थान पर,* यह भी स्पष्ट है कि हमारा अंगीकार-कथन यहाँ ऐसे अधिकारी की बात करता है जो मसीही व्यक्ति भी है और सच्चे मसीही धर्म को मानता है। यह सोचना कि किसी मसीही मजिस्ट्रेट के अतिरिक्त कोई और व्यक्ति भी उन कार्यों को कर सकता है जो यहाँ मजिस्ट्रेट के लिए बताए गए हैं, यह इतनी बड़ी ही बेतुकी बात है कि इसे अंगीकार-कथन से जोड़ा नहीं जा सकता।

चौथे स्थान पर, हमारा अंगीकार-कथन यहाँ यह सिखाता है कि मसीही धर्म को आगे बढ़ाना और यीशु ख्रीष्ट की कलीसिया के हितों को बढ़ावा

देना , मसीही मजिस्ट्रेटों के आधिकारिक कर्तव्यों का एक महत्वपूर्ण भाग है। हालाँकि, नागरिक सरकार का उचित एवं तत्काल उद्देश्य, परमेश्वर की महिमा के अधीन, मनुष्यों का सांसारिक कल्याण कार्य है, फिर भी मसीही धर्म को बढ़ावा देना एक ऐसा उद्देश्य है जिस लक्ष्य के प्रति नागरिक शासक अपने नागरिक अधिकार के क्रियान्वयन में बाध्यकारी है; क्योंकि यहाँ तक कि उनके पद का यह प्रत्यक्ष उद्देश्य भी मसीही धर्म की सहायता के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। और हालाँकि मजिस्ट्रेट के पद का आधार प्राकृतिक सिद्धांतों पर है, फिर भी यह उस शक्ति की सीमा को बहुत बढ़ा देता है जो उन्हें नागरिक शासकों के रूप में, प्रकृति के नियम से मिलता है। वह कानून परमेश्वर के नैतिक शासन के अधीन लोगों को, एक साथ और अलग-अलग, इस बात के लिए बाध्य करता है कि वे हर उस बात को अपनाएँ और पालन में लाएँ जिसे परमेश्वर अपनी प्रसन्नता से उनके विश्वास एवं कर्तव्य के नियम के रूप में प्रकट करता है। इसलिए, जब देशों और उसके शासकों को परमेश्वर के प्रकाशन का अनुग्रह प्राप्त हो, तो उन्हें सच्चे मसीही धर्म के लिए सार्वजनिक रूप से समर्थन देना चाहिए; उन्हें नागरिक संविधान से उन सभी बातों को हटाना चाहिए जो मसीही धर्म से असंगत में हैं, या उसकी प्रगति में बाधा डालती हैं; अपने कर्तव्य के निर्वहन में इसके पदाधिकारियों को समर्थन एवं सुरक्षा देनी चाहिए; और हर रीति से समर्थ रहते हुए यह सुनिश्चित करना चाहिए कि इसका लाभकारी प्रभाव बिना किसी रुकावट के फैले और समाज के सभी वर्गों और विभागों तक पहुँचे। हमारे अंगीकार-कथन को तैयार करने वालों ने इस सिद्धांत को नहीं अपनाया था कि मजिस्ट्रेट के अधिकार का क्रियान्वयन केवल लोगों के सांसारिक मामलों तक ही सीमित होना चाहिए, और यह कि अपने आधिकारिक पद पर रहते हुए सच्चे मसीह धर्म को बढ़ावा देना, उनका कर्तव्य नहीं है। वेस्टमिन्स्टर असेंबली के एक प्रतिष्ठित सदस्य ने इस प्रकार कहा, 'निश्चित रूप से, मसीही धर्म के मामलों

में, परमेश्वर के वचन के द्वारा, और रिफॉर्म्ड कलीसियाओं के विश्वास के अंगीकार-कथनों के द्वारा, मसीही मजिस्ट्रेट के पास बहुत शक्ति और अधिकार है।'[118]

लेकिन भले ही हमारा अंगीकार-कथन स्पष्ट रूप से यह सिखाता है कि नागरिक मजिस्ट्रेट को मसीही धर्म और ख्रीष्ट की कलीसिया के मामलों में कुछ करने का अधिकार है, फिर भी यह इन मामलों के सम्बन्ध में उसके अधिकार के क्रियान्वयन पर कुछ प्रतिबंधों और सीमाओं को भी तय करता है।

हमारे अंगीकार-कथन के अनुसार, नागरिक मजिस्ट्रेट को कलीसिया के ऊपर प्रभुत्व वाली सर्वोच्चता को नहीं अपनाना चाहिए; क्योंकि प्रभु यीशु ख्रीष्ट के अतिरिक्त कलीसिया का कोई मुखिया नहीं है (अध्याय 25, अनुभाग 6)। उसे कलीसिया के आंतरिक प्रशासन में दखल नहीं देना चाहिए; क्योंकि 'प्रभु यीशु ख्रीष्ट ने अपनी कलीसिया के राजा एवं सिर (प्रधान) होने के रूप में, उसमें कलीसिया के अधिकारियों के हाथों में एक सरकार नियुक्त की है, जो नागरिक मजिस्ट्रेट से भिन्न है'; और 'इन अधिकारियों को स्वर्ग के राज्य की कुंजियाँ सौंपी गई हैं' (अध्याय 30, अनुभाग 1, 2)। एक मजिस्ट्रेट के रूप में, उन्हें सच्चे या झूठे धर्म का सार्वजनिक न्यायाधीश नहीं बनना चाहिए और न ही अपनी प्रजा को पूरी रीति से धार्मिक मामलों में कोई आदेश देना चाहिए; क्योंकि, 'सेवा के रूप में, यह धर्म महासभाओं एवं धर्म-परिषदों का कार्य है कि वे विश्वास के विवादों, एवं विवेक के मामलों का निर्णय करें' (अध्याय 31, अनुभाग 3)।

विचाराधीन अनुभाग के पहले अनुच्छेद में, चर्च के सम्बन्ध में नागरिक मजिस्ट्रेट की शक्ति के विषय में, एक अन्य महत्वपूर्ण सीमा है। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वह आराधना विधियों का संचालन अपने हाथ में नहीं ले सकता: 'वह वचन एवं मसीही संस्कारों के प्रशासन स्वयं अपने

[118] George Gillespie, *Aaron's Rod*, p. 181.

ऊपर नहीं ले सकता'। न ही वह कलीसिया के प्रशासन एवं अनुशासन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले सकता है: 'वह स्वर्ग के राज्य की कुंजियों के अधिकार को स्वयं नहीं अपना सकता'। सबसे व्यापक अर्थ में, *कुंजियों* में *तलवार,* या नागरिक सत्ता से अलग, सम्पूर्ण कलीसियाई अधिकार सम्मिलित है।[119] परन्तु 'कुंजियों की शक्ति' के अर्थ को सीमित मायने में लिया जाए, जैसा कि यहाँ होना चाहिए, जहाँ इसे वचन एवं मसीही संस्कारों के संचालन से अलग माना गया है, तो इसका सीधा सा अर्थ कलीसिया के कामकाज चलाने की सामान्य प्रशासनिक शक्ति है; और इससे अधिक विशेष रूप से, ख्रीष्ट की कलीसिया में लोगों को मसीही धार्मिक विधियों और पदों में प्रवेश देना, और कलीसिया के निन्दा प्रस्तावों के विषय में दंड देना या उनमें ढील देने से जुड़े सभी प्रश्नों पर अधिकार के साथ और न्यायिक रूप से निर्णय करने का अधिकार।

इस वर्तमान अनुभाग में नागरिक मजिस्ट्रेट की शक्तियों पर लगाया गया यह एकमात्र प्रतिबंध नहीं है। यह भी स्पष्ट रीति से बताया गया है कि यहाँ पर उसे सौंपे गए कर्तव्य को करने में, उसे परमेश्वर के वचन के द्वारा नियंत्रित होना चाहिए। उसे मनमाने रूप से कार्य नहीं करना है, परन्तु परमेश्वर के वचन के मानकों द्वारा उसका मार्गदर्शन होना चाहिए। उसे सौंपे गए कार्यों के एक महत्वपूर्ण भाग के सम्बन्ध में – जो कि धर्म-महा-परिषदों (Synod) से सम्बन्धित है – यह स्पष्ट रीति से घोषित किया गया है कि उसे यह देखना है कि 'जो उनमें कामकाज व निर्णय किए गए हों वह परमेश्वर की इच्छा के अनुसार है' – परमेश्वर की इच्छा, जैसा कि उसके वचन में प्रकट किया गया है, इस प्रकार यह उसके लिए भी विशेष रीति से एक नियम के रूप में निर्धारित है, जैसा कि यह धर्म-महा-परिषद के आम

[119] नागरिक अधिकार को तलवार की शक्ति कहा जाता है, और दूसरी (कलीसियाई) को कुंजियों की शक्ति - *Second Book of Discipline*, chap. i.)

सदस्यों के लिए है।[120] पुराने समय के इरास्टियन लोग भी इसी सिद्धांत को मानते थे; क्योंकि उन्होंने अपने विरोधियों के सामने यह माना कि मसीही मजिस्ट्रेट, जब कलीसियाई मामलों और मसीही धर्म से जुड़े विषयों पर आज्ञा देते और उन्हें सुलझाते हैं, तो उसे परमेश्वर के वचन के नियमों का सख्ती से पालन करना होता है; और जैसे वह राष्ट्र की मनमानी सरकार नहीं चला सकते, वैसे ही कलीसिया की सरकार तो बिल्कुल भी नहीं।[121]

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है, कि, हमारे अंगीकार-कथन के अनुसार, नागरिक मजिस्ट्रेट का यह कर्तव्य है कि वह अपने आधिकारिक पद पर रहते हुए 'प्रत्येक राष्ट्र के हितकारी कानूनों के अनुसार', कार्य करने के लिए बाध्य है (भाग 2)। अब, जिस प्रकार हमारे विश्वास के अंगीकार-कथन, परमेश्वर के वचन पर आधारित है, उसी रीति से यह हमारी वैधानिक-पुस्तक में भी सम्मिलित है; और इसलिए, जब नागरिक शासक कलीसियाई मामलों में ऐसा अधिकार अपनाते हैं, जिसे अंगीकार-कथन ने उन्हें नहीं दिया है, तो उनकी कार्रवाही को परमेश्वर के वचन और राष्ट्र के कानून दोनों ही के विरुद्ध होना चाहिए।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए, कलीसिया की स्वतंत्रता के साथ पूर्ण तालमेल बैठाते हुए, हमारे अंगीकार-कथन के इस भाग को समझाना कठिन नहीं होगा। यह घोषित किया गया है कि नागरिक मजिस्ट्रेट के पास 'अधिकार है, और यह उसका कर्तव्य है, कि वह व्यवस्था को बनाए रखे', इत्यादि। इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि उसे उन लक्ष्यों को उन सभी तरीकों से पूरा करना है जिनसे उन्हें पाने का प्रयास किया जा सकता है; क्योंकि आरम्भिक परिच्छेद में, इनमें से कुछ को सावधानीपूर्वक अलग रखा गया है। इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि इन मामलों में उसका कोई कानूनी अधिकार है, और वह न केवल अपने लिए, बल्कि दूसरों के

[120] Ibid., pp. 15–19.

[121] Gillespie, *Aaron's Rod*, p. 173.

व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए भी इन पर निर्णय लेने और उन्हें निर्धारित करने के लिए अधिकृत है; क्योंकि ऐसा करना स्वर्ग के राज्य की कुंजियों को हथियाने जैसा होगा। इसका केवल यही अर्थ हो सकता है कि बताई गई बातें वे लक्ष्य हैं, जिन पर लक्ष्य साधने के लिए वह अधिकृत एवं बाध्यकारी है, और कलीसिया के अधिकार क्षेत्र में दखल दिए बिना, उसके पास ऐसे तरीके हैं जिनका वह उपयोग कर सकता है।

अंगीकार-कथन उन कुछ तरीकों को बताता है जिनका उपयोग नागरिक मजिस्ट्रेट कानूनी रीति से बताए गए उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कर सकता है: 'इसके बेहतर प्रभाव के लिए, उसके पास धर्म-महासभाओं को बुलाने, का अधिकार है।' इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि पादरियों को नागरिक मजिस्ट्रेट के बुलाए बिना, स्वयं से धर्म-सभाओं और धर्म-महासभाओं में मिलने का अधिकार नहीं है; क्योंकि अध्याय 31 में स्पष्ट रीति से कहा गया है कि उनके पास यह अधिकार 'स्वयं से', और 'अपने पद के कारण' है। वास्तव में, चर्च ऑफ स्कॉटलैंड की जनरल असेंबली का यह मानना था कि जिस अध्याय का अभी उल्लेख किया गया है, उसमें चर्च की अपनी सभाएँ बुलाने की अंदरूनी शक्ति के विषय में अंगीकार-कथन में स्पष्ट रीति से नहीं बताया गया है। और इसी के अनुसार, 1647 के उनके अधिनियम में, जिसके तहत अंगीकार-कथन को अनुमोदित किया गया था, उन्होंने स्पष्ट रीति से घोषणा की कि वे इसके उस भाग का अर्थ 'केवल उन चर्चों के संदर्भ में समझे थे जिनकी प्रशासन-व्यवस्था अभी तक तय या स्थापित नहीं हुई थी'; और यही स्पष्टीकरण उस भाग पर भी समान रूप से लागू होना चाहिए जो अभी हमारे सामने है। इसलिए, हमारा अंगीकार-कथन यह दृढ़ता से नहीं कहता कि मजिस्ट्रेट हर मौकों और हर परिस्थितियों में, या जब भी धर्म से जुड़ी कोई बुराई सुधारनी हो, तो इस शक्ति का उपयोग कर सकता है। इतना ही पर्याप्त है कि ऐसे मौके और परिस्थितियाँ हो सकते हैं जिनमें वह उचित रूप से इस अधिकार

का उपयोग कर सकें। जब देश और चर्च दोनों ही उथल-पुथल के दौर से गुजर रहे हों, और इसके उथल-पुथल बहुत सीमा तक धार्मिक गड़बड़ियों के कारण से हों, तो ऐसे में ऐसा कदम उठाना निश्चित रूप से उसका एक महत्वपूर्ण कर्तव्य बन जाता है, बशर्ते कि उसे यह कदम व्यावहारिक और उचित लगे। और उस समय हालात कुछ ऐसे ही थे, जब इंग्लैंड की संसद ने वेस्टमिन्स्टर असेंबली बुलाई थी।

यह कहने के बाद कि मजिस्ट्रेट के पास धर्म-महासभा बुलाने का अधिकार है, यह भी जोड़ा गया है: 'इसके बेहतर प्रभाव के लिए, उनमें उपस्थित रहने का अधिकार है, और यह सुनिश्चित करने का अधिकार है कि उनमें जो कुछ भी सम्पादित होता है वह परमेश्वर की इच्छा के अनुसार हो'।

> 'यहाँ इस बात पर ज़ोर दिए बगैर कि सही व्याख्या में इन शब्दों को ऐसे समझना चाहिए कि इस प्रकार की धर्म-महासभाओं को मजिस्ट्रेट द्वारा बुलाया जाना चाहिए, तो उसके वहाँ उपस्थित रहने पर क्या उचित आपत्ति हो सकती है? क्या वह अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी भी सार्वजनिक सभा में उपस्थित होने का अधिकार नहीं जता सकता? – क्या वह धर्म-महासभा में उनकी कार्रवाही देखने, उनकी बाहरी शांति को बनाए रखने, उनकी शिकायतों का समाधान करने, या (क्यों नहीं?) उनके परामर्श या शिक्षा सुनने के लिए उपस्थित नहीं हो सकता? परन्तु, यदि यह माना जाए कि उनकी कार्यवाही को वैधता देने के लिए उसकी उपस्थिति आवश्यक है, और वह उनकी बैठक के अध्यक्ष या चर्चा और वोटिंग के संचालक के रूप में बैठा है, तो मैं केवल इतना कहूँगा कि अंगीकार-कथन के शब्द ऐसे दावों का थोड़ा भी समर्थन नहीं करते, ये दावे प्रेस्बिटेरियन लोगों के आम सिद्धांतों और विशेषकर स्कॉटलैंड के चर्च के जाने-माने और घोषित सिद्धांतों के एकदम विरुद्ध हैं। 'परिच्छेद के अंतिम भाग पर उठाई गई आपत्ति का भी ऐसा ही उत्तर दिया जा सकता है। कोई भी मसीही

व्यक्ति, उसका पद कुछ भी हो, "यह सुनिश्चित नहीं कर सकता कि जो कुछ भी कार्यवाही हुई है", यहाँ तक कि धर्म-महासभाओं में भी, वह "परमेश्वर की इच्छा के अनुसार है?" यदि किसी देश की विधायिका या सरकार मसीही धर्म का विशेष ध्यान रखती है, या यदि मसीही धर्म के मामले में उन्हें कोई विशेष जिम्मेदारी निभानी है, और विशेष रूप से यदि उन्हें किसी भी स्थिति में धर्म-महासभा बुलाने का अधिकार है, तो क्या यह देखना विशेष, रूप से उनका कर्तव्य नहीं हो जाता? अब क्या इसका अर्थ यह है कि उनके पास कोई भी कलीसियाई अधिकार है, या वे सच्चे और झूठे मसीही धर्म पर कोई सार्वजनिक निर्णय सुनाते हैं। कई कलाओं और विज्ञानों के मामलों में, जिन्हें वे बढ़ावा एवं प्रोत्साहित करते हैं, वे स्वयं को उनका उचित निर्णायक नहीं मानते, उसी रीति से, इस विषय और अन्य कई विषयों पर भी जिन पर वे अपना अधिकार प्रयोग करते हैं, उनके सार्वजनिक कामकाज को चलाने के लिए उनकी अपनी निजी समझ ही पर्याप्त है। क्या मसीही शासकों, न्यायाधीशों, और मजिस्ट्रेटों को यह सुनिश्चित नहीं करना चाहिए कि उनके द्वारा जो "कुछ भी किया जाए", वह "परमेश्वर की इच्छा के अनुरूप" हो? क्या यह बहुत उचित नहीं है कि वे संतुष्ट हों, और कि हर उचित साधनों के द्वारा यह सुनिश्चित करें कि धर्म-महासभाओं के निर्णय परमेश्वर की इच्छा के अनुरूप हों, विशेषकर तब, जब उन्हें बाद में इन निर्णयों को कानूनी मान्यता देनी हो, या उन्हें लागू करने में आने वाली बाहरी बाधाओं को दूर करने के लिए अपने अधिकार का उपयोग करना हो; अपनी प्रजा के विवकों पर स्वयं को थोपे बिना, वे ये दोनों ही कार्य कर सकते हैं? और, अन्त में, क्या ऐसे कई तरीके नहीं हैं, जिनसे वे, जैसा यहाँ बताया गया है, अपने पद से बाहर की कोई शक्ति लिए बिना या धर्म-महासभा या कलीसियाई न्यायालयों के कार्य में दखल दिए बिना ऐसी सेवाएं उपलब्ध करा सकते हैं? लेकिन यदि यह माना जाए कि मजिस्ट्रेट, ऐसे मामलों में सही न्यायाधीश होने के नाते, कलीसियाई सभा की चर्चाओं को नियंत्रित करेगा – उन्हें बताएगा और निर्देश देगा कि उनके

निर्णय क्या होने चाहिए; या कि, जब उन्होंने सोच-विचार कर लिया और निर्णय ले लिया, तो वह उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील ले सकता है, या सम्पूर्ण मामले को अपने अधिकरण के समक्ष ला सकता है, और उनके दण्डों की समीक्षा कर सकता है, उन्हें बदल सकता, और उन्हें पलट सकता है; मुझे पहले के समान केवल यही कहना है कि अंगीकार-कथन के शब्द ऐसे दावों के लिए थोड़ा भी समर्थन नहीं करते हैं; ये दावे प्रेस्बिटेरियन लोगों के आम सिद्धांतों, और, विशेष रूप से चर्च ऑफ स्कॉटलैंड के जाने-माने और घोषित सिद्धांतों एवं मान्यताओं के बिल्कुल विरुद्ध हैं।'[122]

भाग 4

लोगों का यह कर्तव्य है कि वे मजिस्ट्रेटों के लिए प्रार्थना करें (1 तीमुथियुस 2:1 – 2), उनके व्यक्तित्व का सम्मान करें (1 पतरस 2:17), उन्हें कर एवं अन्य शुल्क अदा करें (रोमियों 13:6 – 7), उनके वैध आदेशों का पालन करें और विवेक के कारण उनके अधिकार के अधीन रहें (रोमियों 13:5; तीतुस 1:3)। मसीही धर्म में अविश्वास या मतभेद मजिस्ट्रेट के न्यायपूर्ण एवं कानूनी अधिकार को निरर्थक नहीं बनाता है, न ही यह लोगों को उनके प्रति उचित आज्ञाकारिता से मुक्त करता है (1 पतरस 2:13 – 14, 16): जिससे पादरी वर्ग के लोगों को छूट प्राप्त नहीं है (1 राजा 2:35; प्रेरितों के काम 25:9 – 11; रोमियों 13:1; 2 पतरस 2:1, 10 – 11; यहूदा 1:8 – 11); यहाँ तक कि पोप का भी उनके प्रभुत्व-क्षेत्र में, या उनके अधीन लोगों में से किसी पर भी कोई शक्ति या अधिकार-क्षेत्र बिल्कुल भी नहीं है; और न ही उनके अधिकार-क्षेत्र या जीवन से उन्हें वंचित करने का अधिकार है, यदि वह उन्हें विधर्मी, या

[122] McCrie's *Appendix*, pp. 142, 143.

किसी भी अन्य बहाने से दोषी ठहराता है (2 तीमुथियुस 2:4; प्रकाशितवाक्य 13:15 – 17)।

व्याख्या

1. सबसे पहले, यह भाग प्रशासकों के प्रति प्रजा के कर्तव्यों को बताता है; और हमारे अंगीकार-कथन को तैयार करने वालों द्वारा दिए गए प्रमाण स्पष्ट रीति से दिखाते हैं इन अधिकारियों पर परमेश्वर की आशीष के लिए प्रार्थना करना, उनका आदर करना, उन्हें कर (टैक्स) देना, और उनके सभी वैध-पूर्ण आज्ञाओं का कर्तव्यनिष्ठा वाली अधीनता के साथ आज्ञापालन करना हमारा कर्तव्य है।

2. कैथोलिक सिद्धांत के विरोध में, यह पुष्टि की गई है, कि 'मसीही धर्म में अविश्वास या मतभेद मजिस्ट्रेट के न्यायपूर्ण एवं कानूनी अधिकार को निरर्थक नहीं बनाते हैं, न ही यह लोगों को उनके प्रति उचित आज्ञाकारिता से मुक्त करता है'। स्वयं यीशु ख्रीष्ट ने कैसर को कर दिया, और उसके प्रेरितों ने मसीही लोगों को उस समय उपस्थित 'उच्च अधिकारियों' के अधीन रहने की शिक्षा दी थी, हालाँकि वे सभी अधिकारी गैर-मसीही थे। हालाँकि, यह स्वीकार करना चाहिए, कि जिन देशों पर अलौकिक प्रकाशन के साथ कृपा होती है, उन्हें अपने शासकों को चुनते समय मसीही योग्यताओं का ध्यान रखना चाहिए। और जिन देशों ने धर्म-सुधार के कार्य में बड़ी सफलताएँ प्राप्त की हैं, और सर्वशक्तिमान परमेश्वर के समक्ष राष्ट्रीय संकल्प लिया है, उन्हें निश्चित रूप से ऐसे अधिकारियों को चुनना चाहिए, जो सच्चे मसीही धर्म को बनाए रखने में उनका साथ दें और कानूनों के तहत शासन करें जो मसीही धर्म को आगे बढ़ाने में सहायक हों। इसी सिद्धांत पर हमारे सुधारकों ने कार्य किया; क्योंकि उन्होंने अपने नागरिक संविधान के माध्यम से यह तय किया कि इन देशों के शासक उसी धर्म के हों जिसे वहाँ के लोग मानते हैं, और राष्ट्रीय वाचाओं के

लक्ष्यों को पूरा करने में वह लोगों का सहयोग करे। लेकिन यदि किसी मजिस्ट्रेट को, जनता या देश के बहुमत की इच्छा और सहमति से अधिकार मिला हो (और परमेश्वर के वचन के अनुसार, यही बात उसके अधिकार को 'सही और वैध' बनाती है), तो 'मसीही धर्म में अविश्वास या मतभेद, मजिस्ट्रेट के न्यायपूर्ण एवं कानूनी अधिकार को निरर्थक नहीं बनाता है', और न ही यह लोगों या किसी अल्पसंख्यक समूह को उसके सभी वैध आज्ञाओं को मानने और उसके अधीन रहने की जिम्मेदारी से मुक्त करता है। हमारे अंगीकार-कथन में स्पष्ट रूप से बताए गए इस सिद्धांत के अनुरूप ही स्कॉटलैंड में रानी मेरी (Queen Mary) के समय धर्म-सुधार करने वाले हमारे पूर्वजों का आचरण रहा है; और एपिस्कोपेसी (उच्च-धर्माधिकारी प्रणाली) की आरम्भिक स्थापना के बाद और राजशाही की बहाली के बाद के समय में आने वाले हमारे पूर्वजों के वंशजों का भी आचरण ऐसा ही रहा है, और यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक कि सरकार खुलेआम और स्पष्ट रूप से अत्याचारपूर्ण शासन में नहीं बदल गई।

3. यह पुष्टि की जाती है कि नागरिक मजिस्ट्रेट के प्रति उचित आज्ञापालन से 'पादरी वर्ग के लोगों को छूट प्राप्त नहीं है'। यह पोप-सम्बन्धी सिद्धांत को स्पष्ट रूप से नकारता है जिसके तहत चर्च के धर्म-गुरुओं और उनकी सम्पत्ति को सामान्य आपराधिक और नागरिक न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र से छूट प्राप्त होती थी। हमारा अंगीकार-कथन निर्णायक रूप से यह मानता है कि नागरिक मजिस्ट्रेट को कलीसिया के पदाधिकारियों के उचित कार्य के निर्वहन में उन्हें नियंत्रित करने या उनके निर्णयों को पलटने का अधिकार नहीं है; लेकिन यह भी कम स्पष्ट रूप से नहीं सिखाता कि नागरिक प्रकृति होने के नाते, कलीसिया के पदाधिकारियों को उन मामलों में उनके अधिकार से छूट नहीं दी जाती है जो उनके वैध-पूर्ण अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। प्रेरितों का आदेश सामान्य है, और सभी प्रकार के लोगों पर लागू होता है: 'हर एक व्यक्ति

शासकीय अधिकारियों के अधीन रहे' (रोमियों 13:1)। वाक्यांश 'हर एक व्यक्ति' बहुत बलपूर्वक है, और ऐसा लगता है कि इसका उद्देश्य जिम्मेदारी के सार्वभौमिक होने की बात को, आम वाक्यांश 'हर कोई' की तुलना में अधिक दृढ़ता से सामने लाना है। नागरिक और मसीही धार्मिक अधिकारियों के अधिकार-क्षेत्र अलग-अलग और सुस्पष्ट हैं। मसीही धर्म के मामलों में नागरिक शासकों का कोई वैध अधिकार-क्षेत्र नहीं होता है; और नागरिक मामलों में, धर्म अधिकारी भी, क्योंकि वे समाज का भाग हैं, इसलिए शासन करने वाले अधिकारियों के अधीन रहने के लिए दूसरों के ही समान बाध्य हैं।

4. इसके आग पुष्टि की गई है, कि पोप का भी मजिस्ट्रेटों के प्रभुत्व-क्षेत्र में, उन पर या उनके अधीन लोगों में से किसी पर भी कोई शक्ति या अधिकार-क्षेत्र बिल्कुल भी नहीं है। जब पोप अपनी पूरी शक्ति के शीर्ष पर था, तो उसने पूरी पृथ्वी पर सांसारिक एवं आध्यात्मिक, दोनों ही मामलों में सर्वोच्च अधिकार को हथिया लिया था। उसने परमेश्वर के अधिकार से राजाओं और उनके राज्यों पर अपना अधिकार होने का दिखावा किया और अपनी इच्छा से राजाओं को ताज और राज्य देने की शक्ति का दावा किया। उन्होंने कई बार इस धमंडी दावे को वास्तव में करके दिखाया है। उन्होंने धर्म-विरोधी होने या धर्म में फूट डालने के झूठे आरोपों के आधार पर राजाओं को राजगद्दी से उतारा और समाज के निकाला है – उनकी प्रजा को उनकी निष्ठा से मुक्त कर, दूसरे राज्यों को सौंपा है। हालाँकि, रिफॉर्मेशन (धर्म-सुधार) के बाद से पोप की अत्यधिक शक्ति पर बहुत रोक लगाई गई है। प्रोटेस्टेंट लोग न केवल सांसारिक, बल्कि आध्यात्मिक मामलों में भी उसके अधिकार को नहीं मानते हैं; और यहाँ तक कि उन अधिकतर देशों में भी जहाँ उनकी आध्यात्मिक शक्ति को अब भी माना जाता है, उनकी सांसारिक सर्वोच्चता को स्वीकार नहीं किया जाता; लेकिन चूंकि कैथोलिक लोग अपने चर्च को कभी न बदलने का दावा करते हैं और

रोमन पोप स्वयं को कभी गलती न करने वाला मानता है, इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि उन्होंने पूरी पृथ्वी पर राज करने के अपने अधिकार को छोड़ दिया है; और यदि वे फिर से सत्ता में आते हैं, तो यह माना जा सकता है कि वे खुलकर अपने पुराने, अतिवादी सिद्धांतों को अपनाएंगे और अपनी सर्वोपरि सत्ता को उतने ही कठोर रीति से लागू करेंगे, जितना कि अंधकारमय युगों में किया जाता था। इसलिए, नागरिक और धार्मिक स्वतंत्रता के हर समर्थक को 'पाप के उस पुरुष' के हर हमले का दृढ़तापूर्वक विरोध करना चाहिए, 'जो विरोध करता है, और हम एक से जो ईश्वर या पूज्य कहलाता है, अपने आप को बड़ा ठहराता है'।

अध्याय 24

विवाह और तलाक

भाग 1

विवाह एक पुरुष और एक स्त्री के बीच होना चाहिए: किसी भी पुरुष के लिए एक से अधिक पत्नियाँ रखना वैध नहीं है, और न ही किसी स्त्री के लिए एक ही समय में एक से अधिक पति रखना वैध है (उत्पत्ति 2:24; नीतिवचन 2:17; मत्ती 19:5 – 6)।

भाग 2

विवाह को, पति और पत्नी की पारस्परिक सहायता के लिए (उत्पत्ति 2:18); वैध सन्तान द्वारा मानवजाति की वृद्धि के लिए, और पवित्र वंश द्वारा कलीसिया की वृद्धि के लिए (मलाकी 2:15); और अपवित्रता को रोकने के लिए नियुक्त किया गया था (1 कुरिन्थियों 7:2, 9)।

व्याख्या

विवाह परमेश्वर का एक विधान है, जिसे पति और पत्नी की आपसी सहायता, मानव-जाति के सम्मानजनक प्रजनन, और प्रजाति की सुख-सुविधा एवं बेहतरी से जुड़े अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्यों के लिए बनाया गया है। इसे पाप के आने से पहले स्थापित किया गया था, और इसलिए, यह पवित्र विधान होना चाहिए, और इसे परमेश्वर की सेवा में लोगों के लिए कोई रुकावट नहीं होना चाहिए। प्रभु ने देखा कि अदन की वाटिका में 'आदम का अकेला रहना अच्छा नहीं' था, और बाकी सभी जीवों में उसके

लिए 'कोई ऐसा सहायक न मिला जो उस से मेल खा सके'। इसलिए परमेश्वर को यह भला लगा कि स्त्री को उसकी पसली से बनाए, जो 'उसकी हड्डियों में की हड्डी और उसके मांस में का मांस' थी, और उसे आदम के पास लाकर उसने उन्हें पति-पत्नी के रूप में एक साथ जोड़ दिया, और इस रीति से उनकी आने वाली पीढ़ियों के लिए अनुकरण हेतु एक उदाहरण दिया। चूंकि परमेश्वर ने आदम के लिए केवल एक ही स्त्री बनाई थी, इसलिए उसने स्पष्ट रूप से अपनी यह इच्छा व्यक्त की कि प्रत्येक पुरुष की केवल एक ही पत्नी हो, और प्रत्येक पत्नी का एक ही पति हो। इस रीति से मलाकी इस तथ्य को समझाते हुए कहता है: 'क्या उसने एक ही को नहीं बनाया?' – अर्थात एक स्त्री को – 'जब कि और आत्माएँ उसके पास थीं? और एक ही को क्यों बनाया? इसलिए कि वह परमेश्वर के योग्य सन्तान चाहता है' (मलाकी 2:15)।

बहुविवाह का आरम्भ सबसे पहले कैन के वंशज लेमेक ने किया था (उत्पत्ति 4:19) और हालाँकि कुलपिताओं और अन्य भक्त पुरुषों ने इसका पालन किया, फिर भी यह परमेश्वर की व्यवस्था और प्रकृति के नियम, दोनों के ही विरुद्ध है। क्योंकि परमेश्वर अपने विधान में संसार में पैदा होने वाले पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता (बराबरी) बनाए रखता है, इसलिए स्पष्ट रूप से उसकी इच्छा है कि एक पुरुष के लिए केवल एक ही महिला हो; और जहाँ कहीं भी बहुविवाह की प्रथा रही थी, वहाँ इससे सम्बन्धित लोगों और समाज, दोनों के लिए अनेक बुराइयाँ पैदा हुई हैं। इससे पति की पत्नियों के बीच जलन और झगड़े पैदा होते हैं; स्वयं पति में यह मन को बांट देता है, या उसमें सारा प्रेम ही समाप्त हो जाता है; इससे महिलाओं के चरित्र का पतन होता है, बच्चों की उपेक्षा होती है और कई अन्य बुराइयाँ भी पैदा होती हैं। यीशु ख्रीष्ट के वचन स्पष्ट रूप से बहुविवाह की मनाही का संकेत देते हैं; कि 'जो कोई [व्यभिचार को छोड़] और किसी कारण से अपनी पत्नी को त्यागकर दूसरी से विवाह करे, वह

व्यभिचार करता है' (मत्ती 19:9), तो जो व्यक्ति पहली पत्नी को छोड़े बिना दूसरी से विवाह करता है, उसे भी व्यभिचार का उतना ही दोषी होना चाहिए।

भाग 3

सभी प्रकार के ऐसे लोगों के लिए विवाह करना वैध है जो विवेक से अपनी सहमति देने में सक्षम हैं (इब्रानियों 13:4; 1 तीमुथियुस 4:3; 1 कुरिन्थियों 7:36 – 38; उत्पत्ति 24:57 – 58) । फिर भी, मसीही लोगों का कर्तव्य है कि वे केवल प्रभु में विवाह करें (1 कुरिन्थियों 7:39)। और इसलिए, ऐसे लोग जो सच्चे रिफॉर्म्ड मसीही विश्वास को मानते हैं, उन्हें अविश्वासियों, पोप को मानने वालों से, या अन्य मूर्तिपूजकों के साथ विवाह नहीं करना चाहिए: न ही जो लोग विश्वासी हैं, उन्हें उन लोगों के साथ विवाह करके असमान जूए में बंधना चाहिए, जो अपने जीवन में कुख्यात रूप से दुष्ट हैं, या विधर्मी शिक्षा को मानते हैं (उत्पत्ति 34:14; निर्गमन 34:16; व्यवस्थाविवरण 7:3 – 4; 1 राजा 11:4; नहेम्याह 13:25 – 27; मलाकी 2:11 – 12; 2 कुरिन्थियों 6:14)।

व्याख्या

रोम का चर्च पादरी वर्ग, और उन सभी लोगों के विवाह पर रोक लगाता है जिन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया है। यह शैतान की शिक्षाओं में से एक है, जिसका उल्लेख बड़े धर्म-त्याग के एक कलंक के तौर पर किया गया है: 'परन्तु आत्मा स्पष्टता से कहता है कि आनेवाले समयों में कितने लोग भरमानेवाली आत्माओं, और *दुष्टात्माओं की शिक्षाओं* पर मन लगाकर विश्वास से बहक जाएँगे। यह उन झूठे मनुष्यों के कपट के कारण होगा, जिनका विवेक मानो जलते हुए लोहे से दागा गया है, *जो विवाह करने से रोकेंगे...* '(1 तीमुथियुस 4:1 – 3)। यह सिद्धांत परमेश्वर के वचन के

बिलकुल विपरीत है, जो 'सभी प्रकार के ऐसे लोगों के लिए विवाह' की अनुमति देता है 'जो विवेक से अपनी सहमति देने में सक्षम हैं'। प्रेरित घोषणा करता है कि 'विवाह सब बात में आदर की बात समझी जाए' (इब्रानियों 13:4), और इसमें मसीही धर्म के सार्वजनिक पदों पर काम करने वालों को भी अलग नहीं रखा गया है। पुराने नियम के तहत, नबियों, याजकों, और उन सभी लोगों को विवाह करने की अनुमति थी जो प्रत्यक्ष रूप से परमेश्वर की सेवा में लगे हुए थे। नए नियम के तहत भी, मसीह धर्म के सेवकों को विवाह करने की स्पष्ट अनुमति है। मत्ती 8:14 से स्पष्ट पता चलता है कि प्रेरित पतरस विवाहित थे। सुसमाचार प्रचारक फिलिप्पुस की चार कुंवारी बेटियाँ थीं, जो भविष्यवाणी करती थीं (प्रेरितों के काम 21:9)। पौलुस ने 'किसी मसीही बहिन के साथ विवाह करने' का अधिकार जताया, 'जैसा अन्य प्रेरित करते हैं' (1 कुरिन्थियों 9:5)। और यह बार-बार बताया गया है कि 'अध्यक्ष निर्दोष और एक ही पत्नी का पति' हो (1 तीमुथियुस 3:2; तीतुस 1:6)। इससे यह स्पष्ट है कि मसीही धर्म के सेवकों को भी इस मामले में वही स्वतंत्रता प्राप्त है, जिसका आनन्द अन्य पुरुष लेते हैं। रोमन कैथोलिक पादरियों के लिए अनिवार्य ब्रह्मचर्य उस चर्च में हमेशा से उपस्थित अनियंत्रित अनैतिकता के मुख्य कारणों में से एक रहा है।

पुरानी व्यवस्था के तहत, परमेश्वर के लोगों को गैर-यहूदियों, और विशेषकर कनानियों के साथ विवाह के बंधन में बन्धने से स्पष्ट रूप से मनाही थी (निर्गमन 34:12 – 16; व्यवस्थाविवरण 7:3)। ऐसे विवाह को अपने आप में अमान्य माना जाता था, इसलिए एज्रा और नहेमायाह ने यहूदियों से उनकी गैर-यहूदी पत्नियों को अलग करवा दिया (एज्रा 10; नहेमायाह 13)।

सुसमाचार के आरम्भ होने पर, यह प्रायः हुआ होगा कि पति या पत्नी में से किसी ने मसीही धर्म को अपना लिया, जबकि उसका साथी मूर्ति-

पूजा से ही जुड़ा रहा या जुड़ी रही। इस परिस्थिति में, प्रेरित पौलुस यह तय करता है कि विश्वास करने वाले पति या पत्नी को अविश्वासी जीवनसाथी के साथ बने रहना चाहिए: यदि किसी भाई की पत्नी विश्वास न रखती हो और उसके साथ रहने से प्रसन्न हो, तो वह उसे न छोड़े। जिस स्त्री का पति विश्वास न रखता हो, वह पति को न छोड़े (1 कुरिन्थियों 7:12, 13)। इस रीति से प्रेरित यह तय करता है, कि विवाह के बाद, यदि पति या पत्नी में से कोई मसीही धर्म को अपना ले और दूसरा पक्ष गैर-मसीही ही बना रहे, तो धर्म का यह अंतर अलग होने का कोई ठोस कारण नहीं है। यदि गैर-मसीही पक्ष धर्म बदलने वाले पक्ष के साथ रहने को तैयार है, तो विश्वासी पक्ष का यह कर्तव्य है कि वह प्रसन्नता एवं विश्वासयोग्यता से अपनी जिम्मेदारियों को निभाए, भले ही धर्म को लेकर उनकी सोच अलग-अलग हो।

परन्तु यदि किसी मसीही पुरुष या महिला को अपना जीवनसाथी चुनना हो, तो उन्हें 'केवल प्रभु में ही' विवाह करना चाहिए। कम से कम सामान्य परिस्थितियों में, सच्चे मसीही धर्म को मानने वाले शिक्षकों या विश्वासियों का विवाह, ऐसे व्यक्तियों से करने की मनाही है, जो स्पष्ट रीति से सच्चे परमेश्वर की भक्ति से अनजान हैं: 'अविश्वासियों के साथ असमान जूए में न जुतो' (2 कुरिन्थियों 6:14)। इस नियम की अनदेखी करने से कई बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। मसीही व्यक्ति जो ऐसे साथी के साथ जुड़ता है, वह स्वयं को कई घोर परीक्षाओं में डाल देगा। उसे ऐसे लोगों के बीच उठना-बैठना पड़ता है जिनकी सोच और काम-काज का तरीका उससे बिल्कुल अलग होता है। मसीही धर्म में उन्नति के उसके अवसर बहुत कम हो जाएँगे। पारिवारिक आराधना को बनाए रखना भी कठिन होगा। अपने बच्चों को परमेश्वर के प्रति श्रद्धा एवं भय के साथ पालने-पोसने के उसके प्रयासों पर, उसके अविश्वासी जीवनसाथी के उदाहरण और सीख द्वारा उल्टा प्रभाव पड़ेगा। उसके मसीही संघर्ष में सहायक साबित होने के बजाए, वह उसकी

आत्मा के लिए एक फंदा बन जाएगी। इसी वजह से, बहुत से लोग विश्वास से भटक गए हैं, और जिन्होंने अपनी निष्ठा बनाए रखी है, उन्होंने स्वयं को बहुत से दुखों में डाल लिया है।

भाग 4

विवाह को पवित्रशास्त्र में निषिद्ध रक्त-सम्बन्धी या आत्मीयता की सीमाओं के भीतर नहीं होना चाहिए (सम्पूर्ण लैव्यव्यवस्था 18; आमोस 2:7; 1 कुरिन्थियों 5:1); और न ही ऐसे किसी भी अनाचारपूर्ण विवाह को मनुष्य के कानून या पक्षों की सहमति से वैध बनाया जा सकता है, जिससे कि ये व्यक्ति पति व पत्नी के रूप में एक साथ रह सकें (लैव्यव्यवस्था 18:24 – 28; मरकुस 6:18)। जिस प्रकार पुरुष अपने स्वयं के रक्त के निकट कुटुम्बी से विवाह नहीं कर सकता, वैसे ही वह अपनी पत्नी के किसी भी कुटुम्बी से विवाह नहीं कर सकता, जो उसके रक्त के समान निकट है, और न ही जैसे स्त्री अपने परिवार के किसी भी कुटुम्बी से विवाह नहीं कर सकती है, वैसे ही वह अपने पति के किसी भी ऐसे कुटुम्बी से विवाह नहीं कर सकती है, जो उसके रक्त के समान निकट है (लैव्यव्यवस्था 20:19 – 21)।

भाग 5

किसी भी अनुबंध के पश्चात् किया गया व्यभिचार या यौन अपराध, विवाह से पहले पता चल जाने पर, निर्दोष पक्ष को उस अनुबंध को समाप्त करने का उचित मौका प्रदान करता है (मत्ती 1:18 – 20)। विवाह के पश्चात् व्यभिचार के मामले में, निर्दोष पक्ष के लिए तलाक के लिए मुकदमा दायर करना (मत्ती 5:31 – 32), और तलाक के पश्चात् दूसरा विवाह करना वैध है, मानो जैसे कि अपराधी पक्ष मर चुका हो (मत्ती 19:9; रोमियों 7:2 – 3)।

भाग 6

यद्यपि मनुष्य की भ्रष्टता इतनी अधिक है कि वह वाद-विवाद करने के लिए प्रवृत्त होता है, और उन लोगों को अनावश्यक रूप से अलग कर देता है जिन्हें परमेश्वर ने विवाह में जोड़ा है; फिर भी केवल व्यभिचार, या ऐसा जानबूझकर किया गया परित्याग, जिसका किसी भी रीति से कलीसिया या नागरिक न्यायाधीश द्वारा समाधान नहीं किया जा सकता है, तो यह विवाह के बन्धन को तोड़ने के लिए पर्याप्त कारण है (मत्ती 19:6, 8 – 9; 1 कुरिन्थियों 7:15); जिसमें कानूनी प्रक्रिया को सार्वजनिक एवं व्यवस्थित तरीके को अपनाया जाना चाहिए ;तथा इसमें सम्मिलित व्यक्तियों को, उनके स्वयं के मामले में, उनकी अपनी इच्छा और विवेक पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए (व्यवस्थाविवरण 24:1 – 4)।

व्याख्या

मूसा की व्यवस्था में खून के सम्बन्धियों या ससुराल पक्ष के सम्बन्धियों के बीच विवाह करने की सख्त मनाही थी (लैव्यव्यवस्था 18); और हमारे देश के कानूनों के अनुसार, यह मनाही इन्हीं सम्बन्धों की सीमा तक लागू होती है। इन सम्बन्धों की सीमा में किए गए विवाह अपने आप में ही न्यायोचित रूप से अमान्य माने जाते हैं और उन्हें उचित रूप से रद्द किया जा सकता है।

मूसा ने यहूदियों को अपनी पत्नियों को छोड़ने की अनुमति 'उनके हृदयों की कठोरता के कारण' दी, ताकि और बड़ी बुराइयों को रोका जा सके; परन्तु नए नियम में, तलाक की अनुमति केवल व्यभिचार या जान-बूझकर और हठपूर्वक घर-बार छोड़ने की स्थिति में ही दी गई है। इसमें कोई शक नहीं कि व्यभिचार न्यायोचित आधार है, 'निर्दोष पक्ष के लिए तलाक के लिए मुकदमा दायर करना, और तलाक के पश्चात् दूसरा विवाह करना वैध है, मानो जैसे कि अपराधी पक्ष मर चुका हो'; क्योंकि यीशु ख्रीष्ट ने इस

मामले में स्पष्ट निर्णय सुनाया है: 'मैं तुम से यह कहता हूँ कि जो कोई अपनी पत्नी को व्यभिचार के सिवा किसी और कारण से तलाक दे, तो वह उससे व्यभिचार करवाता है; और जो कोई उस त्यागी हुई से विवाह करे, वह व्यभिचार करता है' (मत्ती 5:32)।

लेकिन क्या किसी पक्ष द्वारा जानबूझकर या हठपूर्वक साथ छोड़ देने से दूसरे पक्ष को फिर से विवाह करने की स्वतंत्रता मिल जाती है, यह विवाद का विषय हो सकता है। कई प्रतिष्ठित ईश्वर-विज्ञानियों ने इस बात का समर्थन किया और उनका मानना है कि प्रेरित पौलुस ने इस मामले में स्पष्ट रूप से निर्णय दिया है: 'परन्तु जो पुरुष विश्वास नहीं रखता, यदि वह अलग हो तो अलग होने दो, ऐसी दशा में कोई भाई या बहिन बन्धन में नहीं' (1 कुरिन्थियों 7:15)। पद 11 में, प्रेरित स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि जो पक्ष जानबूझकर और हठपूर्वक दूसरे से अलग हो जाए, उसे दूसरे के साथ जीवित रहते हुए फिर से विवाह करने की अनुमति नहीं थी। लेकिन पद 15 में, ऐसा प्रतीत होता है कि वह कह रहा है कि जिस पक्ष को छोड़ दिया गया था, वह छोड़ने वाले व्यक्ति की वापसी के लिए उचित उपाय करने के बाद, फिर से विवाह करने के लिए स्वतंत्र था।[123] और यह निर्णय न्यायोचित लगता है; क्योंकि बिना अपरिवर्तनीय अलग के द्वारा विवाह का बन्धन टूटा हुआ है, और वह उद्देश्य जिसके लिए विवाह हुआ था प्रभावशाली रूप से पराजित हो चुका है; और यह उचित नहीं कि निर्दोष पक्ष को किसी भी रीति से राहत न मिले। इसलिए हमारा अंगीकार-कथन सिखाता है, कि न केवल व्यभिचार, बल्कि 'ऐसा जानबूझकर किया गया परित्याग, जिसका किसी भी रीति से कलीसिया या नागरिक न्यायाधीश द्वारा समाधान नहीं किया जा सकता है, तो यह विवाह के बन्धन को तोड़ने

[123] लेख के इस दृष्टिकोण का डॉ. ड्वाइट (Sermon cxxi) ने बहुत विरोध किया है; लेकिन ऊपर बताई गई व्याख्या इस देश के बुद्धिमान राजनेताओं एवं धर्म-विज्ञानियों का आम राय रही है।

के लिए पर्याप्त कारण है'; और स्कॉटलैंड का कानून जानबूझकर और अपरिवर्तनीय रूप से परित्याग के मामले में तलाक की अनुमति देता है।

हालाँकि, यह ध्यान दिया जाना चाहिए, कि व्यभिचार से भी विवाह का बन्धन अपने-आप से नहीं टूटता, और न ही इसे दोनों पक्षों की सहमति से तोड़ा जा सकता है। विवाद की प्रतिज्ञा को तोड़ने पर पीड़ित पक्ष को ही यह अधिकार मिलता है कि वह सक्षम अधिकारी से विवाह समाप्त करने की माँग कर सके; और यदि वह उस अधिकार का उपयोग करना चुनता है, तो तलाक में 'कानूनी प्रक्रिया को सार्वजनिक एवं व्यवस्थित तरीके को अपनाया जाना चाहिए'।

अध्याय 25

कलीसिया

भाग 1

सार्वभौमिक या विश्वव्यापी कलीसिया, जो कि अदृश्य है, चुने हुए लोगों की सम्पूर्ण संख्या से मिलकर बनी है, जो ख्रीष्ट इसके सिर (प्रधान) के तहत, एकत्रित किए गए है, एकत्रित किए जा रहे हैं, या एकत्रित किए जाएंगे; और यह उसकी दुल्हन, उसकी देह है, जो सब में सब कुछ पूर्ण करता है (इफिसियों 1:10, 22 – 23; इफिसियों 5:23, 27, 32; कुलुस्सियों 1:18)।

भाग 2

दृश्यमान कलीसिया भी, जो सुसमाचार के तहत सार्वभौमिक या विश्वव्यापी (केवल एक राष्ट्र तक सीमित नहीं है जैसे कि पहली व्यवस्था के तहत थी) संसार भर में, उन सभी लोगों से (1 कुरिन्थियों 1:2; 12:12 – 13; भजन संहिता 2:8; प्रकाशितवाक्य 7:9; रोमियों 15:9 – 12), और उनके बच्चों से (1 कुरिन्थियों 7:14; प्रेरितों के काम 2:39; यहेजकेल 16:20 – 21; रोमियों 11:16; उत्पत्ति 3:15,; 17:7), मिलकर बनी है, जो सच्चे मसीही विश्वास को मानते हैं; और यह प्रभु यीशु ख्रीष्ट का राज्य है (मत्ती 13:47; यशायाह 9:7), परमेश्वर का घर और परिवार है (इफिसियों 2:19; 3:15), जिसके बाहर उद्धार की कोई सामान्य सम्भावना नहीं है (प्रेरितों के काम 2:47)।

भाग 3

इस विश्वव्यापी दृश्यमान कलीसिया को ख्रीष्ट ने परमेश्वर की सेवकाई, वचन, एवं अध्यादेश दिए हैं, ताकि इस जीवन में, संसार के अन्त तक संतों को एकत्रित एवं सिद्ध किया जाए: और वह ऐसा अपनी उपस्थिति और आत्मा के द्वारा, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, उन्हें इसके लिए प्रभावशाली बनाता है (1 कुरिन्थियों 12:28; इफिसियों 4:11 – 13; मत्ती 28:19 – 20; यशायाह 59:21)।

व्याख्या

यूनानी शब्द *एक्लेसिया* (ekklesia), जिसे हम 'कलीसिया या चर्च' कहते हैं, एक ऐसे शब्द से निकला है जिसका अर्थ है *बाहर बुलाना,* और यह किसी विशेष उद्देश्य के लिए बुलाई गई और इकट्ठा की गई सभा को दर्शाता है। लोकतांत्रिक देशों में इसे ऐसे लोगों की सभाओं पर लागू किया जाता था, जिन्हें एक सार्वजनिक उद्घोषक द्वारा, एक साथ विचार-विमर्श करने के लिए एक निश्चित स्थान पर इकट्ठा होने के लिए बुलाया जाता था। नए नियम में इस शब्द के जो विभिन्न अर्थ हैं, उन्हें यहाँ पर बताना आवश्यक नहीं है; हमारे उद्देश्य के लिए यह कहना पर्याप्त है कि इस शब्द का उपयोग लोगों की एक ऐसी सभा या समाज को दिखाने के लिए किया जाता है, जिन्हें सुसमाचार के माध्यम से बुराई में डूबे संसार से बाहर निकाल कर यीशु ख्रीष्ट पर विश्वास और उसकी संगति में बुलाया गया है। लेकिन बुलाहट दो प्रकार की होती है; एक *बाहरी,* जो केवल वचन के द्वारा है – दूसरी *भीतरी,* जो पवित्र आत्मा के द्वारा होती है, और जो व्यक्तिगत रीति से चुने हुए लोगों के लिए ही होती है। इसलिए कलीसिया को दो रूपों या पहलुओं में देखा जा सकता है; एक बाहरी या दृश्यमान – और दूसरा भीतरी या अदृश्य।

अदृश्य समझी जाने वाली कलीसिया, हमारे अंगीकार-कथन के अनुसार, 'चुने हुए लोगों की सम्पूर्ण संख्या से मिलकर बनी है, जो ख्रीष्ट इसके सिर (प्रधान) के तहत, एकत्रित किए गए है, एकत्रित किए जा रहे हैं, या एकत्रित किए जाएंगे'। इस कलीसिया के लिए प्रेरित कहता है:

> जैसा मसीह ने भी कलीसिया से प्रेम करके अपने आप को उसके लिये दे दिया कि उसको वचन के द्वारा जल के स्नान से शुद्ध करके पवित्र बनाए, और उसे एक ऐसी तेजस्वी कलीसिया बनाकर अपने पास खड़ी करे, जिसमें न कलंक, न झुर्री, न कोई और ऐसी वस्तु हो वरन् पवित्र और निर्दोष हो (इफिसियों 525 – 27)।

इस कलीसिया के सदस्यों के विषय में, कुछ ने अपनी यात्रा पहले ही समाप्त कर ली है और अब वे स्वर्ग में सिद्ध आत्माएँ बनाए जा चुके हैं; जबकि अन्य अभी भी पृथ्वी पर जीवित हैं, और मसीही युद्ध में लड़ रहे हैं; परिस्थिति की इस विविधता ने *विजयी* कलीसिया और *संघर्षरत* कलीसिया के बीच सामान्य भिन्नता को जन्म दिया है। अदृश्य कलीसिया, जिसे चुने हुए सभी लोगों का समूह माना जाता है, तब तक पूरी नहीं होगी जब तक वह दिन न आ जाए जब 'प्रभु अपने बहुमूल्य रत्नों को इकट्ठा करेगा'। यह कलीसिया, जिसे किसी भी समय पर पृथ्वी पर वास्तव में उपस्थित माना जाता है, उन सभी लोगों से मिलकर बनी है जिन्हें परमेश्वर के अनुग्रह से सुसमाचार की सहभागिता में बुलाया गया है, और सत्य के द्वारा पवित्र किया गया है; और ये सब मिलकर एक ही कलीसिया को बनाते हैं, क्योंकि भले ही वे स्थान के हिसाब से कितने भी दूर हों और परिस्थितियाँ कितनी भी अलग-अलग हो, वे पवित्र आत्मा और विश्वास के बन्धन के द्वारा, अपने मुखिया या सिर यीशु ख्रीष्ट से और एक ही शरीर के अंगों के रूप में एक दूसरे के साथ आपस में गहराई से जुड़े हुए हैं। 'क्योंकि हम सब ने क्या यहूदी हो क्या यूनानी, क्या दास हो क्या स्वतंत्र,

एक ही आत्मा के द्वारा एक ही देह होने के लिए बपतिस्मा लिया, और हम सब को एक ही आत्मा पिलाया गया' (1 कुरिन्थियों 12:13)।

> इस कलीसिया को अदृश्य इसलिए कहा गया है, क्योंकि इसे आँखों से नहीं देखा जा सकता। यह स्थान के सम्बन्ध में संसार से अलग नहीं है, बल्कि अवस्था के सम्बन्ध में अलग है। यह दृश्यमान कलीसिया में छिपा हुआ है, जिससे इसे निश्चित रूप से अलग से पहचाना नहीं जा सकता। इसके सदस्यों के गुण अंदरूनी हैं; उनका विश्वास और प्रेम इंद्रियों को महसूस होने वाली वस्तुएँ नहीं हैं। अपने साथी मनुष्यों के विषय में हम केवल उदारतापूर्ण मत ही बना सकते हैं, जो संभावित आधारों पर टिकी हो सकती है; लेकिन हम गलती कर सकते हैं, और, कई कारणों से हम संतों को पाखंडी और पाखंडियों को संत समझ सकते हैं। यह प्रत्येक आँख को दिखाई नहीं देता, केवल उसको जो 'मनुष्यों के संतानों के मन को खोजता और हृदय को जाँचता है'। 'हाँ प्रभु यहोवा, ' और केवल वही 'अपनों को पहिचानता है।'[124]

हमारे अंगीकार-कथन के अनुसार, दृश्यमान कलीसिया 'संसार भर में, उन सभी लोगों से, और उनके बच्चों से, मिलकर बनी है, जो सच्चे मसीही विश्वास को मानते हैं'। इस कलीसिया के विषय में प्रेरित पौलुस 1 कुरिन्थियों 12:28 में यह कहता है: 'परमेश्वर ने कलीसिया में अलग-अलग व्यक्ति नियुक्त किए हैं, प्रथम प्रेरित, दूसरे भविष्यद्वक्ता, तीसरे शिक्षक, फिर सामर्थ्य के काम करनेवाले, फिर चंगा करनेवाले, और उपकार करनेवाले, और प्रबन्ध करनेवाले, और नाना प्रकार की भाषा बोलनेवाले।'

> इस कलीसिया को दृश्यमान कहा जाता है, न केवल इसलिए कि इसे बनाने वाले लोग स्वर्गदूत या अलग आत्माएँ नहीं, बल्कि नश्वर शरीर वाले

[124] Dick, *Lectures on Theology*, vol., pp. 309, 310.

> मनुष्य हैं, लेकिन क्योंकि, एक समाज के रूप में, यह हमारे इंद्रियों की पकड़ में आता है। इसके सदस्य जाने-पहचाने होते हैं; उनकी सभाएँ सार्वजनिक होती हैं; हम उनमें उपस्थित हो सकते हैं, और उनकी आराधना के विभिन्न भागों को देख सकते हैं। यह किसी अन्य समाज के समान ही अलग से पहचाना जाता है; और हम कह सकते हैं, कि यहाँ यीशु ख्रीष्ट की कलीसिया है; परन्तु वहाँ पर यहूदियों या मुसलमानों की सभा है। इसे खोजने के लिए हमारी इंद्रियों के उपयोग के अतिरिक्त और कुछ भी आवश्यक नहीं है। पवित्रशास्त्र को पढ़कर यह जानने के बाद कि कलीसिया की पहचान करने वाले गुण क्या हैं, जहाँ कहीं भी हमें ऐसा कोई समुदाय दिखता है जिसके विश्वास-वचन और प्रथाएँ, मोटे तौर पर इस ढांचे के अनुरूप हों, तो हम यह कहने के लिए अधिकृत हैं, कि यह कलीसिया है, या ऐसा कि यह कलीसिया का एक भाग है।[125]

जब भी हम दृश्यमान एवं अदृश्य कलीसिया की बात करते हैं, तो इससे यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि दो कलीसियाएँ हैं, या कलीसिया का एक भाग दृश्यमान हैं और दूसरा अदृश्य है। दृश्यमान कलीसिया में अदृश्य कलीसिया सम्मिलित है, लेकिन वे पूर्ण रूप से एक-जैसे नहीं हैं; जो लोग उस कलीसिया को बनाते हैं जिसे अदृश्य माना जाता है, वे उस कलीसिया के भी भाग हैं जिसे दृश्यमान माना जाता है; परन्तु कई लोग जो दृश्यमान कलीसिया का भाग हैं, उनमें से कई अदृश्य कलीसिया में सम्मिलित नहीं हैं।

सुसमाचार की सेवकाई और मसीही विधियाँ जिन्हें यीशु ख्रीष्ट ने दृश्यमान कलीसिया को दी हैं, उन्हें इस रीति से बनाया गया है ताकि पापियों को अदृश्य कलीसिया में इकट्ठा किया जाए, और संतों को सिद्ध बनाया जाए; और उसके पवित्र आत्मा के समवर्ती प्रभावों से, वे इन लक्ष्यों

[125] Ibid., pp. 308, 309.

को पूरा करने में प्रभावशाली बनाए जाते हैं। प्रेरित पौलुस द्वारा इस बात को स्पष्ट रीति से सिखाया गया है:

> उसने कुछ को प्रेरित नियुक्त करके, और कुछ को भविष्यद्वक्ता नियुक्त करके, और कुछ को सुसमाचार सुनानेवाले नियुक्त करके, और कुछ को रखवाले और उपदेशक नियुक्त करके दे दिया, जिस से पवित्र लोग सिद्ध हो जाएँ और सेवा का काम किया जाए और मसीह की देह उन्नति पाए, जब तक कि हम सब के सब विश्वास और परमेश्वर के पुत्र की पहिचान में एक न हो जाएँ, और एक सिद्ध मनुष्य न बन जाएँ और मसीह के पूरे डील–डौल तक न बढ़ जाएँ (इफिसियों 4:11 – 13)।

क्योंकि यह वह उद्देश्य है जिसके लिए सुसमाचार की सेवकाई को कलीसिया में स्थापित किया गया था, इसलिए यह निश्चित रूप से तब तक जारी रहेगा जब तक सभी चुने हुए लोग यीशु ख्रीष्ट के पास इकट्ठा न कर दिए जाएं, और उनमें से हर एक को सिद्धता तक न पहुँचाया जाए। ख्रीष्ट की इस प्रतिज्ञा में बहुत कुछ निहित है: 'और देखो, मैं जगत के अन्त तक सदा तुम्हारे संग हूँ' (मत्ती 28:20)। यह प्रतिज्ञा सुसमाचार की सफलता को भी सुनिश्चित करती है। कुछ समयों पर ऐसा लगता है कि यीशु ख्रीष्ट के साथ बहुत कम लोग जुड़ रहे हैं: परन्तु समय-समय पर उन लोगों में कुछ और लोग 'कलीसिया में जोड़े जाते है, ऐसे लोग बचाए जाएँगे'। पिता परमेश्वर ने जो कुछ यीशु ख्रीष्ट को दिया है, वह सब उसके पास आएगा, और उनमें से कोई भी खोएगा नहीं। ख्रीष्ट कहते हैं, 'मेरी और भी भेड़ें हैं, जो इस भेड़शाला की नहीं। मुझे उनका भी लाना अवश्य है। वे मेरा शब्द सुनेंगी, तब एक ही झुण्ड और एक ही चरवाहा होगा' (यूहन्ना 10:16)।

कैथोलिक (catholic) शब्द – जिसका उपयोग यहाँ दृश्यमान कलीसिया के लिए किया गया है – पवित्रशास्त्र में नहीं मिलता, लेकिन इसका उपयोग बहुत पहले से होता आ रहा है, हालाँकि सदा एक ही अर्थ

में नहीं हुआ है। हमारे अंगीकार-कथन में जैसे यह प्रयुक्त हुआ, यह शब्द विश्वव्यापी शब्द के समानार्थक है। यह सर्व विदित है कि रोम के चर्च ने घमण्ड के साथ स्वयं को कैथोलिक या विश्वव्यापी चर्च होने का दावा किया है, और जो लोग उसकी सीमा से बाहर हैं या पोप द्वारा हथियाई गई सर्वोच्चता को नहीं मानते, उन्हें मसीही धर्म का विरोधी और परमेश्वर द्वारा शापित घोषित किया गया है। यह बड़ी आसानी से दिखाया जा सकता है कि उसके दावे आधारहीन और अहंकारी हैं – कि किसी भी युग में उसने विश्वव्यापी स्वरूप को धारण नहीं किया। परन्तु यीशु ख्रीष्ट की सच्ची कलीसिया किसी देश या मसीही सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं है; इसमें वे सभी सम्मिलित हैं जो सच्चे मसीही धर्म को मानते हैं और सुसमाचार के नियमों का पालन करते हैं; और मसीही जगत के अलग-अलग भागों में विधिवत रूप से गठित कई विशिष्ट कलीसियाएँ, कैथोलिक या विश्वव्यापी कलीसिया के अभिन्न अंग हैं।

इन अनुभागों की सामान्य व्याख्या करने के बाद, इनमें सम्मिलित कई प्रस्तावों पर अधिक विस्तार से विचार किया जा सकता है।

1. एक विश्वव्यापी अदृश्य कलीसिया है, जिसमें विश्वास करने वाले सभी लोग या परमेश्वर द्वारा चुने हुए सभी लोग सम्मिलित हैं, जिन्हें संसार से बाहर बुलाकर यीशु ख्रीष्ट की संगति में मिलाया गया है। इस बात को कैथोलिक लोग नहीं मानते, जो यह मानते हैं कि कैथोलिक चर्च नितांत दृश्यमान है, ठीक वैसे ही जैसे संसार का कोई भी राज्य होता है, और इसमें न केवल वे लोग सम्मिलित हैं जिन्हें परमेश्वर ने प्रभावशाली रीति से बुलाया है, बल्कि वे भी हैं जो अविश्वासी और खुलेआम पापी भी है – अर्थात वे सभी जो रोम या पोप के अधिकार के प्रति अपनी अधीनता को स्वीकार करते हैं। परन्तु जिस कलीसिया की बात अभी हम कर रहे हैं, उसमें केवल वही लोग सम्मिलित हैं जो सच्चे विश्वासी हैं। यह मानना होगा, कि ये लोग दिखाई नहीं देते हैं; और परिणामस्वरूप, जिस कलीसिया का निर्माण वे

करते हैं, उसको अदृश्य होना चाहिए। मनुष्यों के रूप में, विश्वासी लोग इंद्रियों से महसूस किए जाने वाले पात्र हैं; परन्तु विश्वासियों के रूप में, वे इंद्रियों के पकड़ में नहीं आते। दृश्यमान कलीसिया में वे पाखंडी लोगों के साथ मिले-जुले हैं, और एक को दूसरे से निश्चित और अचूक रूप से अलग नहीं किया जा सकता। पवित्रशास्त्र हमें सिखाता है कि एक ही कलीसिया है जो यीशु ख्रीष्ट की दुल्हन है, और जिसकी महिमा आंतरिक है (भजन संहिता 45:13); जो ख्रीष्ट की रहस्यमयी देह है, और आत्मिक बंधनों के द्वारा उससे जुड़ी हुई है (इफिसियों 1:23); और जिसके अलग-अलग सदस्य एक ही पवित्र आत्मा के द्वारा एक ही देह में जुड़े हुए हैं (1 कुरिन्थियों 12:13)। लेकिन इन बातों को इंद्रियों द्वारा नहीं समझा जा सकता, और इसलिए, हमें विश्वास करना चाहिए कि सच्चे विश्वासियों से मिलकर बनी, एक ही कैथोलिक या विश्वव्यापी कलीसिया है।

2. एक ही विश्वव्यापी दृश्यमान कलीसिया है, जिसमें विश्वास करने वाले सभी मसीही लोग सम्मिलित हैं, और जो संसार के सभी क्षेत्रों में फैली हुई है। इस बात को स्वतंत्र कलीसिया (Independents) नहीं मानते, वे दृश्यमान कलीसिया की अवधारणा को केवल एक ही मंडली तक सीमित रखते हैं, जो सामान्य तौर पर सार्वजनिक आराधना के लिए एक ही स्थान पर एकत्रित होती है। परन्तु, नए नियम के कई स्थानों पर, कलीसिया शब्द (जैसा कि दृश्यमान कलीसिया के लिए उपयोग होता है) किसी विशेष मण्डली वाली कलीसिया तक सीमित नहीं की जा सकती। जब हमें बताया जाता है कि 'शाऊल कलीसिया को उजाड़ रहा था' (प्रेरितों के काम 8:3), और कि वह 'परमेश्वर की कलीसिया को बहुत ही सताता और नष्ट करता था' (गलातियों 1:13), तो यह नहीं माना जा सकता कि केवल एक ही कलीसिया थी जो उसके क्रोध का शिकार हुई थी। यह बताया गया है (प्रेरितों के काम 9:31) कि उसके मन-फिराने के बाद, 'सारे यहूदिया, और गलील, और सामरिया में कलीसिया को चैन मिला';

जो निश्चित रूप से यह बताता है कि इससे पहले वे उसके अंधे जोश के द्वारा पीड़ित हुए थे; फिर भी, उन सभी का उल्लेख एक ही कलीसिया के रूप में किया गया है जो उसके द्वारा सताई गई थी।

संसार भर से सभी मसीही लोग इस रीति से एकजुट हैं कि वे एक ही कलीसिया का निर्माण करते हैं। यह बात विश्वव्यापी दृश्यमान कलीसिया को दिए गए विभिन्न नामों से स्पष्ट होता है। इसे प्राकृतिक शरीर के संदर्भ में 'एक देह' कहा गया है, जिसमें कई अंग होते हैं, जो आपस में इस रीति से जुड़े होते हैं कि वे एक देह बनाते हैं। इसे 'परमेश्वर का राज्य' कहा जाता है; लेकिन राज्य एक होता है, भले ही वह कई प्रांतों और अधीनस्थ सरकारों से मिलकर बनता है। इसे 'परमेश्वर का घर' कहा जाता है; जिसका अर्थ है कि, भले ही यह कई भागों से मिलकर बना हो, फिर भी यह एक आत्मिक परिवार है।

चूंकि यह असम्भव है कि विश्वास करने वाले सभी मसीही लोग, मसीही धर्म की विधियों का पालन के लिए एक स्थान पर एकत्रित हो सकें, इसलिए इस उद्देश्य के लिए अलग-अलग कलीसियाएँ या मण्डलियाँ बनाना आवश्यक है। परन्तु ये अलग-अलग कलीसियाएँ एक कैथोलिक या विश्वव्यापी दृश्यमान कलीसिया के अभिन्न अंग हैं।[126]

इस दृश्यमान कलीसिया में पाखंडी एवं केवल नाममात्र के विश्वासी, साथ ही वे लोग भी सम्मिलित हैं जिन्हें प्रभावशाली रीति से बुलाया गया है और जिनका नया जन्म हुआ है। इसीलिए कलीसिया की तुलना एक खलिहान से की गई है जिसमें गेहूँ के साथ-साथ भूसा भी होता है (मत्ती 3:12); और एक ऐसे *खेत* से की गई है, जहाँ अच्छे बीज के साथ-साथ खरपतवार भी बोए जाते हैं (मत्ती 13:24, 25); और एक ऐसे *जाल* से, जो अच्छी एवं बुरी, दोनों प्रकार की मछलियों को इकट्ठा करता है (पद 47);

[126] Whytock, *Essays on the Church*, essay ii.

एक ऐसे *बड़े घर* के समान जिसमें हर प्रकार के बर्तन हैं, कुछ आदर के योग्य और कुछ अनादर के लिए (2 तीमुथियुस 2:20)।

पवित्रशास्त्र में दिखाए गए दृश्यमान कलीसिया की ऐसी स्थिति को देखते हुए, किसी व्यक्ति को कलीसिया की संगति में सम्मिलित करने के लिए उससे नए जन्म के पक्के प्रमाण माँगने का कोई आधार नहीं है; और न ही उनकी आत्मिक स्थिति के विषय में कोई निर्णय लेने के उद्देश्य से उनसे उनके धार्मिक अनुभवों का विवरण माँगने का कोई औचित्य है। यीशु ख्रीष्ट ने कलीसिया के पदाधिकारियों को सच्चे विश्वासियों और केवल नाममात्र के धार्मिक लोगों के बीच पूरी रीति से अलगाव करने का अधिकार नहीं दिया है (मत्ती 13:30)। यह एक ऐसा कार्य है जिसके लिए वे पूरी रीति से अयोग्य हैं; क्योंकि, जैसे किसान के नौकर बहुत समय तक गेहूँ और खरपतवार में अंतर नहीं कर पाए थे, वैसे ही ख्रीष्ट के सेवक भी पाखंडियों और सच्चे विश्वासियों के बीच पक्की रीति से अंतर नहीं कर सकते। वे लोगों को केवल उनके बाहरी व्यवहार से ही परख सकते हैं; और यह उन्हें परमेश्वर के सामने लोगों की आत्मिक स्थित के विषय में सही-सही निर्णय लेने के योग्य पर्याप्त प्रमाण नहीं दे सकता। दृश्यमान कलीसिया की संगति और विशेषाधिकारों में प्रवेश देने का आधार पवित्रशास्त्र के अनुसार विश्वास को ग्रहण करना है। केवल इस बात पर कलीसिया के पदाधिकारी निर्णय लेने में सक्षम हैं; और परमेश्वर की दृष्टि में उनकी आत्मिक स्थिति के विषय में कोई निर्णय लेना, उस परमेश्वर के अधिकार को अपने हाथ में लेने जैसा होगा जो अकेले में 'हृदय की जाँच' करता है।

3. विश्वास करने वाले मसीही लोगों के बच्चे दृश्यमान कलीसिया के सदस्य हैं। 'एंटी-पेडो-बैपटिस्ट' (जो लोग बच्चों को बपतिस्मा देने के विरुद्ध हैं – Anti-Paedo-Baptists) इस बात को नहीं मानते हैं; और कई इंडिपेंडेंट (Independent) कलीसियाएँ, यद्यपि वे शिशुओं को बपतिस्मा देते हैं, लेकिन इस बात को लेकर हिचकिचाते हैं कि उन्हें किस श्रेणी में

रखा जाए; क्या उन्हें कलीसिया का सदस्य माना जाए, या फिर उस स्थिति के लिए तैयार होने के उद्देश्य से केवल कलीसिया की देखरेख में रखा जाए।

> कलीसिया के सदस्यों के बच्चों का कलीसिया के सदस्य होने के पक्ष में यह एक दृढ़ तर्क है, कि, नागरिक समाज में, बच्चों को वही अधिकार हैं जो उनके माता-पिता के अधिकार हैं। इस संसार के राज्यों में बच्चे एवं बड़े दोनों ही सम्मिलित होते हैं; तो क्या हम यह सोचें कि यीशु ख्रीष्ट के राज्य में बच्चों के लिए कोई स्थान नहीं है? ब्रिटिश नागरिकों के बच्चों को भी अपने माता-पिता के समान ही विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, भले ही, वे उस समय, उन विशेषाधिकारों को समझने या उनका पूरा लाभ उठाने में सक्षम न हों। तो इसलिए, क्या यह मानना उचित नहीं है, कि ख्रीष्ट के राज्य का विधान, हर बिंदु में बच्चों के विशेषाधिकार के लिए भी उतना ही अनुकूल है? हालाँकि, इस मामले में हमें केवल अनुमान और तुलना पर निर्भर नहीं रहना पड़ता; उनके विशेषाधिकार स्पष्ट रूप से परमेश्वर के वचन से सिद्ध किए जा सकते हैं। परमेश्वर की वाचा उसकी कलीसिया के साथ माता-पिता और उनके बच्चों तक भी फैली हुई है। पुराने नियम के तहत शिशु कलीसिया के सदस्य थे, और नए नियम के तहत उन्हें बाहर रखने के विषय में कोई वचन नहीं है; बल्कि, नए नियम में ऐसे कई प्रमाण हैं जिनसे पता चलता है कि कलीसिया की सदस्यता का अधिकार तब भी शिशुओं को मिलता है।[127]

हमारा प्रभु स्वयं इसे बहुत स्पष्ट रूप से कहते हैं: 'यीशु ने बच्चों को पास बुलाकर कहा, "बालकों को मेरे पास आने दो, और उन्हें मना न करो : क्योंकि परमेश्वर का राज्य ऐसों ही का है' (लूका 18:16)। यदि 'परमेश्वर के राज्य' से अर्थ महिमा की अवस्था है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं, तो

[127] Whytock, *Essays on the Church,* essay ix.

हम दृढ़ता से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बच्चे, महिमा के वारिस होने के नाते, दृश्यमान कलीसिया के सदस्य माने जाने चाहिए। लेकिन इस बात की अधिक सम्भावना है कि इस पद में 'परमेश्वर के राज्य' को पृथ्वी पर कलीसिया के रूप में समझा जाए; और हमारे प्रभु ने बच्चों को अपने पास आने देने का कारण यह बताया कि उसने उन्हें कलीसिया के सदस्य के रूप में माना।

4. दृश्यमान कलीसिया के बाहर उद्धार की कोई सामान्य सम्भावना नहीं है। यह रोमन कैथोलिक चर्च के उस सिद्धांत से बिल्कुल अलग है, जो पुष्टि करता है कि रोमन कैथोलिक ही एकमात्र चर्च है और उस चर्च के बाहर उद्धार की सम्भावना नहीं है। यही अहंकारी दिखावा प्रायः द्वीप के दक्षिणी भाग (इंगलैंड) में घमंडी, निर्दयी प्रीलेटिस्टों (बिशप-धर्माधिकारी प्रणाली को मानने वालों) द्वारा किया जाता है; जो, यह मानकर कि उनका अपना समाज ही 'कलीसिया' है, उन सभी लोगों को धर्म-संघ तोड़ने वाला घोषित कर देता है जो बिशप के शासन को नहीं मानते, और उन्हें परमेश्वर की बिना वाचा वाली दया पर छोड़ देते हैं; या दूसरे शब्दों में, उन्हें उद्धार की हर आशा से बाहर कर देते हैं। लेकिन हम इतने घमंडी नहीं हैं कि उद्धार की सम्भावना को किसी विशेष कलीसिया की सीमाओं तक ही सीमित कर दें, और न ही हम पक्के तौर पर यह कहते हैं कि विश्वव्यापी दृश्यमान कलीसिया के बाहर उद्धार की कोई सम्भावना नहीं है।

हमारा अंगीकार-कथन, बहुत ही सावधानी से चुने गए शब्दों में, केवल यह दृढ़ता से कहता है कि 'दृश्यमान कलीसिया के बाहर उद्धार की कोई सामान्य सम्भावना नहीं है'। तो फिर, इसकी सीमा से बाहर भी उद्धार की सम्भावना है; क्योंकि हो सकता है कि कोई व्यक्ति किसी रीति से, जैसे पवित्रशास्त्र को पढ़कर, सत्य को जान ले, और उसके पास स्वयं को कलीसिया से जोड़ने का कोई मौका न हो; लेकिन ऐसे मामले असाधारण होते हैं: और चूंकि परमेश्वर आम तौर पर साधनों के माध्यम से कार्य करता

है, इसलिए दृश्यमान कलीसिया के बाहर उद्धार की कोई सामान्य सम्भावना नहीं है, क्योंकि जो लोग कलीसिया से बाहर हैं, वे उद्धार के सामान्य साधनों से वंचित हैं।

भाग 4

यह विश्वव्यापी कलीसिया कभी अधिक, और कभी कम दृश्यमान रही है (रोमियों 11:3 – 4; प्रकाशितवाक्य 12:6, 14)। और विशिष्ट कलीसियाएँ, जो इसके सदस्य हैं, वे अधिक या कम पवित्र है, जो सुसमाचार के सिद्धांत के पढ़ाए जाने और अपनाए जाने, अध्यादेशों के प्रशासन के अनुसार है, और उनमें की जाने वाली सार्वजनिक आराधना अधिक या कम पवित्र है (सम्पूर्ण प्रकाशितवाक्य 2 – 3; 1 कुरिन्थियों 5:6 – 7)।

भाग 5

स्वर्ग के नीचे सबसे शुद्ध कलीसियाएँ मिश्रण एवं त्रुटि दोनों के अधीन हैं (1 कुरिन्थियों 13:12; सम्पूर्ण प्रकाशितवाक्य 2 – 3; मत्ती 13:24 – 30, 47); और कुछ तो इतने पतित हैं जैसे कि वे ख्रीष्ट की कलीसिया नहीं, बल्कि शैतान के आराधनालय बन गए हैं (प्रकाशितवाक्य 18:2; रोमियों 11:18 – 22)। फिर भी, पृथ्वी पर हमेशा एक कलीसिया होगी जो परमेश्वर की इच्छा के अनुसार उसकी आराधना करेगी (मत्ती 16:18; भजन संहिता 72:17; 102:28; मत्ती 28:19 – 20)।

व्याख्या

1. यह विश्वव्यापी कलीसिया कभी अधिक, और कभी कम दृश्यमान रही है। यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि कलीसिया अपनी बाहरी स्थिति में, दृश्यमान है, और इसके बाद यह प्रगट होगा कि कलीसिया कभी

नष्ट नहीं होगी। हालाँकि दृश्यमान कलीसिया संसार के किसी न किसी भाग में हमेशा उपस्थित रहती है, परन्तु वह हमेशा एक समान रूप से फलती-फूलती और दिखाई देने वाली नहीं होती। जिस प्रकार चंद्रमा घटता-बढ़ता रहता है, उसी प्रकार कलीसिया भी कभी-कभी वैभव के साथ चमकती है, और अन्य समयों पर इतनी धुंधली पड़ जाती है कि कठिनाई से ही दिखाई देती है। यह संख्या में इतनी कम हो सकती है, और जो विश्वासयोग्य थोड़े लोग बचते हैं वे सताव की हिंसा के कारण इतने बिखर सकते हैं या स्वयं छिपने को मजबूर हो सकते हैं, कि सबसे समझदार मसीही व्यक्ति भी सम्भवतः ही दिखाई देने वाली कलीसिया का रूप देख पाएगा।

हम इसे रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धांत के विरोध में मानते हैं कि कलीसिया पूरे संसार को सबसे वैभवशाली रूप में दिखाई देती रही है, दिखाई देती है, और दिखाई देती रहेगी। इस सिद्धांत का खंडन कलीसिया के इतिहास से होता है, दोनों पुराने नियम और नए नियम के समयों के तहत। पुराने नियम के तहत, राजा अहाब के शासनकाल के दौरान, मूर्ति-पूजा की ओर लोगों का झुकाव इतना आम हो गया था, और सताव की हिंसा इतनी भयानक थी, कि एलिय्याह ने सोचा कि सच्चे परमेश्वर की आराधना करने वाला अकेला व्यक्ति केवल वही बचा है। वास्तव में, परमेश्वर ने अपने लिए सात हजार ऐसे लोगों को बचाकर रखा हुआ था जिन्होंने बाल की मूर्ति के साने अपने घुटने नहीं टेके थे – परन्तु वे 'छिपाए गए लोग' थे। और एलिय्याह, क्योंकि उन्हें खोज नहीं पाया था, इसलिए इस निष्कर्ष पर पहुँचा: "मैं ही अकेला रह गया हूँ" (1 राजा 19:10)। नए नियम के तहत, हम एक ऐसे समय के विषय में पढ़ते हैं जब एक विशाल उकाब के दो पंख उस स्त्री को दिए गए (अर्थात, कलीसिया को), ताकि वह जंगल में उड़कर स्वयं को छिपा सके (प्रकाशितवाक्य 12:14)। कलीसिया पर सदैव ही सताव के द्वारा उत्पीड़िनों, या गलत शिक्षाओं द्वारा

भ्रष्ट होने का खतरा बना रहता है; और ये दोनों ही बातें उसकी चमक और महिमा को धुंधला कर देती हैं।

2. स्वर्ग के नीचे सबसे शुद्ध कलीसियाएँ मिश्रण एवं त्रुटि दोनों के अधीन हैं। कैथोलिक लोग जोर देकर कहते हैं कि चर्च से कोई गलती नहीं हो सकती; लेकिन चूंकि वे स्वयं इस बात पर सहमत नहीं है कि यह अचूकता किसमें निहित है – पोप में, या किसी महा-परिषद में, या संयुक्त रूप से दोनों में – इसलिए हम इसे इस बात का पक्का प्रमाण मान सकते हैं कि यह दावा बेतुका और निराधार है। यदि किसी व्यक्ति या कलीसिया को सचमुच में अचूकता जैसा इतना महत्वपूर्ण और विशेष अधिकार मिला होता, तो निश्चित रूप से यह स्पष्टता से बताया गया होता कि यह अधिकार किसके पास है। हमें इस बात के अनगिनत प्रमाणों के लिए केवल इतिहास को देखना होगा कि कुछ विशेष कलीसियाओं ने गलती की है, और कि रोम के चर्च जितनी बड़ी व गम्भीर गलतियाँ किसी और चर्च ने नहीं की है। हर एक पीढ़ी में कोई न कोई समाज, 'संतों को एक बार सौंपे गए विश्वास' को चाहे कम या अधिक रूप से सम्भाल कर रखेगा; लेकिन कोई भी विशेष कलीसिया गलतियों से पूरी रीति सुरक्षित नहीं है।

3. पृथ्वी पर एक सच्ची कलीसिया सदा बनी रहेगी। प्रायः संख्या की दृष्टि से कलीसिया बहुत कम हो गई है, और कुछ कलीसियाएँ इतने भ्रष्ट हो गए हैं कि उन्हें शैतान का आराधनालय माना जा सकता है; लेकिन यीशु ख्रीष्ट की कलीसिया का कभी भी विनाश नहीं हुआ है। और जिस प्रकार कलीसिया अदन की वाटिका में अपनी स्थापना के समय से लेकर आज तक बनी हुई है, उसी प्रकार यह आगे के सभी युगों में, यीशु ख्रीष्ट के दूसरे आगमन तक बनी रहेगी। संसार के राज्य उलट-पलट हो सकते हैं, और सबसे शक्तिशाली साम्राज्य खंडहर बन सकते हैं; लेकिन न तो कोई शक्ति और न ही कोई नीति कभी भी कलीसिया को पूरी रीति से नाश कर सकती है। सच तो यह है, कि किसी भी विशेष राष्ट्र में, जहाँ कलीसिया की

स्थापना एक बार हो चुकी है, उसके सदा बने रहने की कोई गारंटी नहीं है; परन्तु हमारे पास आश्वासन का सबसे पक्का आधार यहाँ है कि, कहीं न कहीं, यीशु ख्रीष्ट के पास उसकी सेवा करने के लिए और जब तक सूर्य व चंद्रमा बने रहेंगे, तब तक उसके नाम को फैलाने के लिए लोग अवश्य रहेंगे। अब तक कलीसिया को उसके अधिकांश समय में, इस संसार की शक्तियों के हाथों से सताव झेलना पड़ा है; परन्तु, जलती हुई झाड़ी के समान होने के बावजूद, वह नष्ट नहीं हुई है। उसे बर्बाद करने के लिए सत्ता-शक्ति एवं नीतियों का उपयोग किया जा सकता है, लेकिन सब व्यर्थ है; 'वह एक चट्टान पर बनी है, और नरक के फाटक उस पर प्रबल न होंगे'।

भाग 6

प्रभु यीशु ख्रीष्ट के अतिरिक्त कलीसिया कोई सिर (प्रधान) नहीं है (कुलुस्सियों 1:18; इफिसियों 1:22): और न ही रोम का पोप किसी भी मायने में इसका मुखिया हो सकता है; बल्कि वह ख्रीष्ट विरोधी, पाप का पुरुष और विनाश का पुत्र है, जो ख्रीष्ट और हर एक से जो ईश्वर या पूज्य कहलाता है, उसके विरुद्ध स्वयं को बड़ा ठहराता है (मत्ती 23:8 – 10; 2 थिस्सलुनीकियों 2:3 – 4, 8 – 9; प्रकाशितवाक्य 13:6)।

व्याख्या

इस बात पर विश्वास किया जाना चाहिए कि प्रभु यीशु ख्रीष्ट ही कलीसिया का एकमात्र प्रमुख या सिर है, और यह बात न केवल रोमन कैथोलिक लोगों के विरोध में मानी जानी चाहिए, जो पुष्टि करते हैं कि पतरस के उत्तराधिकारी के रूप में और ख्रीष्ट का प्रतिनिधि होने के रूप में, रोम का पोप, विश्वव्यापी कलीसिया का प्रमुख है; बल्कि इरास्टियन लोगों के विरोध में भी, जो सर्वोच्च मजिस्ट्रेट या शासक को उसके राज्य में कलीसिया का प्रमुख मानते हैं।

यीशु ख्रीष्ट का प्रभुत्व एवं अधिकार सार्वभौमिक है। परमेश्वर होने के नाते, उसके पास सभी प्राणियों पर शासन करने और उन्हें अपने काम में लाने एवं अपनी महिमा को प्रकट करने के लिए स्वाभाविक और मौलिक अधिकार है। मध्यस्थ के रूप में, उसके पास पिता की ओर से सब वस्तुओं के ऊपर सार्वभौमिक प्रधानता प्राप्त है। यह कहा गया है कि पिता ने 'उसे सब वस्तुओं पर शिरोमणि ठहराकर कलीसिया को दे दिया' (इफिसियों 1:22); यहाँ, यह ध्यान देने वाली बात है कि प्रेरित, कलीसिया के ऊपर ख्रीष्ट की प्रधानता की बात नहीं कर रहा है, बल्कि मध्यस्थ के रूप में उसके सार्वभौमिक शिरोमणि होने की बात कर रहा है। उसे सब वस्तुओं पर शिरोमणि ठहराया गया है; लेकिन यह अधिकार उसे इसलिए सौंपा गया है ताकि वह कलीसिया की भलाई के लिए सभी वस्तुओं का संचालन कर सके; और इसलिए कहा जाता है कि उसे सब वस्तुओं पर शिरोमणि ठहराकर कलीसिया को दे दिया, या उसकी भलाई के लिए। लेकिन ख्रीष्ट के पास कलीसिया पर, एक विशेष प्रकार का अधिकार (सिर होने का अधिकार) है, जो उसकी देह या शरीर है। इस बात को स्पष्ट रीति से कहा गया है: "वही देह, अर्थात् कलीसिया का सिर है' (कुलुस्सियों 1:18)। यहाँ उसकी तुलना प्राकृतिक शरीर के सिर से की गई है; और इफिसियों 5:23 में, उसे कलीसिया का सिर बताया गया है, जैसे पति पत्नी का सिर होता है।

दृश्यमान कलीसिया के लिए यीशु ख्रीष्ट उसके प्रशासन एवं दिशा-मार्गदर्शन का मुखिया है। वह 'इस्राएल का राजा है', और 'प्रभुता उसके काँधे पर होगी' (यशायाह 9:6)। यहोवा कहता है, "मैं तो अपने ठहराए हुए राजा को अपने पवित्र पर्वत सिय्योन की राजगद्दी पर बैठा चुका हूँ" (भजन संहिता 2:6)। अपनी कलीसिया के लिए नियम व्यवस्था को लागू करना – कलीसिया द्वारा पालन के लिए आराधना की विधियों एवं प्रशासन के स्वरूप को स्थापित करना – उसके पदाधिकारियों को नियुक्त करना,

और उनके पद संभालने के तरीके को निर्धारित करना, ये सब उसके अधिकार-क्षेत्र में आता है। अदृश्य कलीसिया के लिए यीशु ख्रीष्ट न केवल प्रशासन एवं दिशा-मार्गदर्शन का मुखिया है, बल्कि वह जीवनदायी प्रभाव का स्रोत भी है। इसलिए उसे 'सिर' कहा गया है, 'जिससे सारी देह जोड़ों और पट्ठों के द्वारा पालन–पोषण पाकर और एक साथ गठकर, परमेश्वर की ओर से बढ़ती जाती है' (कुलुस्सियों 2:19)। यीशु ख्रीष्ट कलीसिया का एकमात्र और अनन्य सिर है, चाहे उसे दृश्यमान के रूप में या अदृश्य के रूप में माना जाए। कलीसिया के सर्वोच्च विधान निर्माता के रूप में, केवल उसी का प्राधिकार कलीसिया को स्वीकार करना चाहिए। उसकी भाषा सदैव इस प्रकार होनी चाहिए: 'इस्राएल का पवित्र हमारा राजा है'। लोग चाहे जैसा भी भेद करें, लेकिन एक से अधिक सिर वाला शरीर प्रकृति में एक राक्षस जैसा होगा, इसलिए पवित्रशास्त्र स्पष्ट रीति से दिखाता है कि यीशु ख्रीष्ट की देह, जो कि कलीसिया है, कोई राक्षस नहीं है। जिस प्रकार 'एक देह' है, उसी प्रकार से 'एक प्रभु' है। यीशु ख्रीष्ट ने अपना अधिकार न तो पोप को और न ही किसी राजा को सौंपा है; और यद्यपि अपने शारीरिक रूप से वह अब स्वर्ग में है, फिर भी उसे पृथ्वी पर कलीसिया में उसके स्थान पर कार्य करने के लिए किसी प्रतिनिधि की आवश्यकता नहीं है। स्वर्ग जाने से पहले, उसने अपने शिष्यों से यह अनमोल प्रतिज्ञा की: 'देखो, मैं जगत के अन्त तक सदा तुम्हारे संग हूँ'; और 'क्योंकि जहाँ दो या तीन मेरे नाम पर इकट्ठा होते हैं, वहाँ मैं उनके बीच में होता हूँ' (मत्ती 28:20; 18:20)।

यीशु ख्रीष्ट के इस राजशाही अधिकार पर प्रायः धार्मिक और नागरिक, दोनों ही शक्तियों द्वारा दुस्साहसपूर्ण अतिक्रमण किए गए हैं। पाप का पुरुष और विनाश का पुत्र लम्बे समय से परमेश्वर की निन्दा करते हुए सार्वभौमिक प्रधानता और प्रभुत्व पर अहंकारपूर्ण व झूठा दावा करता रहा है; और जब इंग्लैंड में धर्म-सुधार आरम्भ हुआ, तो कलीसिया की प्रधानता

को रोमन पोप से ब्रिटिश राजशाही को स्थानांतरित कर दिया गया। हेनरी अष्टम को 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' के सर्वोच्च प्रधान के रूप में पहचाना गया; और यह कानून बनाया गया कि 'राजा, उसके उत्तराधिकारी, आदि को चर्च ऑफ इंग्लैंड का, जिसे 'ऐंग्लिकाना एक्लेसिया (*Anglicana Ecclesia*)' कहा जाता है, पृथ्वी पर एकमात्र सर्वोच्च प्रमुख माना और स्वीकार किया जाएगा; और इस देश के शाही ताज से जुड़े और सम्मिलित होने के नाते, वे न केवल उसकी उपाधि और पदवी धारण करेंगे और लाभ उठाएंगे, बल्कि उस चर्च के सर्वोच्च प्रधान के पद से जुड़े सभी सम्मान, प्रतिष्ठा, छूट, लाभ और सुविधाएँ भी उन्हें प्राप्त होंगी।'[128] यह भी कानून बनाया गया कि राजशाही को 'धार्मिक अधिकार' को क्रियान्वयन करने का पूरा अधिकार है; और 'आर्चबिशप और बिशप के पास राजशाही शक्ति के द्वारा, उसके अधीन, और उससे प्राप्त अधिकार के अतिरिक्त, चर्च से सम्बन्धित कोई अधिकार नहीं है'।[129] रानी एलिज़ाबेथ के शासनकाल के आरम्भ में, प्रतीकात्मक शब्द 'प्रधान' को बदल कर 'सर्वोच्च शासक (Supreme governor)' कर दिया गया; लेकिन दोनों ही शब्दों का अर्थ एक ही है। उसके शाही पूर्वजों के पास जो शक्ति या अधिकार थे, उनमें से किसी को भी नहीं छोड़ा गया; क्योंकि, उसी समय यह कानून बनाया गया था, कि 'सभी अधिकार-क्षेत्र – आत्मिक और चर्च से सम्बन्धित – सदा के लिए राजशाही ताज के साथ मिला दिए जाने चाहिए और उससे जोड़ दिए जाने चाहिए'।

आत्मिक अधिकार का यह अपवित्र हनन, और यीशु ख्रीष्ट की सम्प्रभुता पर अधार्मिक आक्रमण, इंग्लैंड के चर्च द्वारा अपने 37वें अनुच्छेद में स्वीकृत है। यह इस प्रकार से है: 'इंग्लैंड के इस राज्य, और उसके अधीन अन्य राज्यों में महारानी के पास सर्वोच्च शक्ति है; जिसके अधीन इस

[128] The 26th, Henry VIII., cap. 1.

[129] The 37th, Henry VIII., cap.17.

अधिकार-क्षेत्र के सभी वर्गों का मुख्य प्रशासन, चाहे वे धार्मिक हों या नागरिक, सभी मामलों में उससे सम्बन्ध रखते हैं।' कुछ उस चर्च के अधिकारी वास्तव में राजा को चर्च का प्रधान या सर्वोच्च शासक मानने में शर्मिंदगी महसूस करते हैं, और उन्होंने इस उपाधि के वास्तविक अर्थ को कम करके दिखाने या उसकी व्याख्या करके इसे टालने का प्रयास किया है। परन्तु यह प्रयास बेकार है; इस उपाधि से जुड़े आत्मिक अधिकार-क्षेत्र और चर्च ऑफ इंग्लैंड जिस इरास्टियन बन्धन से जकड़ा हुआ है, उसके कई प्रमाण सहजता से दिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, कौन नहीं जानता कि उसके सभी बिशपों को नियुक्त का अधिकार राजा के पास है – और उसके पादरी महाराजा या महारानी की अनुमति के बिना सभा नहीं कर सकते; और पादरियों की सभा को वास्तव में एक सदी से भी अधिक समय से स्थगित, लगभग समाप्त ही कर गया है? हाल की घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जो चर्च इस रीति से गुलामी में जकड़ा हुआ है, वह धर्म-विरोधी विचारों को रोकने और अनुशासन बनाए रखने में पूरी रीति से बेबस होता है।

धर्म-सुधार के युग के दौरान, स्कॉटलैंड के चर्च ने यीशु ख्रीष्ट के एकमात्र प्रधान होने की बात का, न केवल सम्मानपूर्वक दावा किया, बल्कि व्यावहारिक रूप से इसे सिद्ध भी किया। यह विशेष रूप से दूसरे धर्म-सुधार आंदोलन का महान एवं प्रमुख सिद्धांत था। और यीशु ख्रीष्ट को ही अपना एकमात्र राजा एवं प्रधान मानते हुए उनके राजशाही अधिकारों के लिए संघर्ष करने, और सत्ता-लोभी शासकों द्वारा अपनी आत्मिक स्वतंत्रता में किए जा रहे इरास्टियन हस्तक्षेप का विरोध करने के कारण ही, उनके कई अनुयायियों को कैद और निर्वासन झेलना पड़ा, और कार्य-क्षेत्रों तथा फाँसी के तख्तों पर अपना लहू बहाना पड़ा। यद्यपि हमारे विश्वास के अंगीकार-कथन में स्पष्ट रूप से व दृढ़ता से कहा गया है कि यीशु ख्रीष्ट ही एकमात्र प्रधान या सिर है, फिर भी यह बहुत खेद की बात है कि क्रांति

समझौते (Revolution Settlement) में इस महत्वपूर्ण सिद्धांत की उतनी प्रभावी रीति से रक्षा नहीं की गई थी। अधिनियम 1592, जिसके तहत उस समय चर्च की स्थापना की गई, उसमें ख्रीष्ट के प्रधान होने की बात को स्वीकार नहीं किया गया था; और जनरल असेंबली के किसी भी अधिनियम द्वारा इसे औपचारिक रूप से घोषित नहीं किया गया था। यद्यपि राजशाही की सर्वोच्चता का न तो राजा ने प्रत्यक्ष रूप से दावा किया और न ही चर्च ने इसे स्वीकार किया, फिर भी बहुत जल्द इसका आभासी रूप में उपयोग होने लगा। जनरल असेंबली की सभाओं को राजा ने उस समय बार-बार भंग किया और स्थगित किया (1691 – 95 के दौरान) और, 1703 में, जब असेंबली ने यीशु ख्रीष्ट की सर्वोच्चता को प्रमाणित करने, चर्च की अंदरूनी शक्ति, और प्रेस्बिटेरियन प्रशासन के ईश्वरीय अधिकार के उद्देश्य से एक अधिनियम का ड्राफ्ट तैयार किया था, तो महारानी के कमिश्नर ने बिना किसी दर्ज विरोध के इसे अचानक भंग कर दिया।

> 'परन्तु आम लोगों के संरक्षकों की सत्ता-शक्ति को बार-बार समाप्त किए जाने के बाद जब उसे फिर से बहाल किया गया, तो इससे चर्च की स्वतंत्रता पर और अधिक आक्रमण किया गया, और आत्मिक मामलों पर सांसारिक शक्ति का नियंत्रण और भी अधिक दृढ़ हो गया। संरक्षक की शक्ति, जब खाली चर्चों के समझौतों में इसका कोई वास्तविक प्रभाव होता है, तो यह अधिकार कलीसियाई सर्वोच्चता के साथ उसी स्रोत से निकलता है, और न तो इसे सही ठहराया जा सकता है और न ही इसकी आलोचना की जा सकती है, परन्तु ऐसा करने के लिए भी उन्हीं सिद्धांतों के साथ पालन करना होगा जो कलीसियाई सर्वोच्चता के मामले में लागू होती है; और वास्तव में, जब राजशाही इसका उपयोग करता है, तो यह उसी का ही एक भाग है।'[130]

[130] Bruce, *Dissertation on the Supremacy of Civil Powers*, p.105.

कलीसिया की अपनी आत्मिक स्वतंत्रता को प्रमाणित करने के हाल के प्रयास, जिनके कारण स्कॉटलैंड के चर्च व्यवस्था में फूट पड़ी, उसका विशेष उल्लेख किए बिना भी, यह कहा सकता है कि इन घटनाओं से एक बात स्पष्ट रीति से दिखाई देती है, वह है, कि यह कुछ नहीं, बल्कि चर्च पर इरास्टियन अधिकार को बनाए रखने और क्रियान्वयन करने के लिए राज्य का दृढ़ संकल्प है। लेकिन स्कॉटलैंड के मसीही लोगों ने 'सिय्योन में राजा' के रूप में यीशु ख्रीष्ट की एकमात्र सर्वोच्चता के प्रति अपनी अटूट और पक्की निष्ठा का सबसे स्पष्ट प्रमाण दिया है – एक ऐसा सत्य जिसके बचाव में उनके पूर्वजों ने 'अपनी जान की परवाह किए बिना मृत्यु को गले लगा लिया'। वे इससे कम महान उद्देश्य के लिए न तो संघर्ष कर सकते हैं और न ही कष्ट सह सकते हैं। जो लोग यीशु ख्रीष्ट की कलीसिया पर उसकी प्रधानता के अधिकार पर हक जमाते हैं, वे उसके विशेषाधिकारों को अधर्मी रीति से हड़पने के दोषी हैं; और उसकी विश्वासयोग्य प्रजा का यह कर्तव्य है कि उसकी कलीसिया पर उसके राज्य करने और शासन करने के अकेले अधिकार के प्रति दृढ़ता से दावा करके, और ऐसे किसी भी दावे का समर्थन न करके जो कलीसिया के लिए अपमानजनक हो, और कलीसिया के एकमात्र राजा और मुखिया का अनादर करता हो, वे उसके प्रति अपनी निष्ठा को दिखाएं।

अध्याय 26

संतों की संगति

भाग 1

सभी संत जो अपने सिर (प्रधान) यीशु ख्रीष्ट के साथ उसके आत्मा के द्वारा और विश्वास के द्वारा जुड़े हुए हैं, उसके अनुग्रहों, दुःखों, मृत्यु, पुनरुत्थान, और महिमा में उसके साथ संगति रखते हैं (1 यूहन्ना 1:3; इफिसियों 3:16 – 19; यूहन्ना 1:16; इफिसियों 2:5 – 6; फिलिप्पियों 3:10; रोमियों 6:5 – 6; 2 तीमुथियुस 2:12): और प्रेम में एक दूसरे के साथ जुड़े होने के कारण, वे एक दूसरे के वरदानों एवं अनुग्रहों में सहभागिता रखते हैं (इफिसियों 4:15 – 16; 1 कुरिन्थियों 12:7; 3:21 – 23; कुलुस्सियों 2:19), और वे उन सार्वजनिक एवं निजी कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाध्य हैं, जो उनके आन्तरिक एवं बाहरी मनुष्यत्व दोनों में, पारस्परिक भलाई के लिए अनुकूल हैं (1 थिस्सलुनीकियों 5:11, 14; रोमियों 1:11 – 12, 14; 1 यूहन्ना 3:16 – 18; गलातियों 6:10)।

भाग 2

संत लोग, अपने दृढ़-अंगीकार के द्वारा, परमेश्वर की आराधना में पवित्र सहभागिता एवं संगति बनाए रखने, और ऐसी अन्य आत्मिक सेवाओं को करने के लिए के लिए बंधे हुए हैं, जो उनकी पारस्परिक आत्मिक उन्नति की ओर प्रवृत्त हैं (इब्रानियों 10:24 – 25; प्रेरितों के काम 2:42, 46; यशायाह 2:3; 1 कुरिन्थियों 11:20); साथ में अपनी कई योग्यताओं

एवं आवश्यकताओं के अनुसार, सांसारिक बातों में भी एक दूसरे की सहायता करने के लिए बंधे हुए हैं। यह संगति, जैसा कि परमेश्वर मौके प्रदान करता है, उन सभी लोगों तक विस्तारित की जानी चाहिए, जो प्रभु यीशु के नाम को पुकारते हैं (प्रेरितों के काम 2:44 – 45; सम्पूर्ण 2 कुरिन्थियों 8 – 9; 1 यूहन्ना 3:17; प्रेरितों के काम 11:29 – 30)।

व्याख्या

संगति एकता पर आधारित है। ऊपर दिए गए अनुभागों में ये बाते सम्मिलित हैं: *पहला,* संतों का यीशु ख्रीष्ट के साथ मिलन, और उसके साथ उनकी संगति; *दूसरी* बात, सच्चे संतों का एक-दूसरे के साथ मेल-मिलाप और संगति; और *तीसरी* बात, विश्वास के अंगीकार द्वारा मेल, और वह संगति जिसे बनाए रखने के लिए वे बाध्य हैं।

1. *सभी संत यीशु ख्रीष्ट से जुड़े हुए हैं।* यह अनिवार्य मेल नहीं है, जैसा कि परमेश्वरत्व के पवित्र व्यक्तियों के बीच अस्तित्व में है; और न ही यह कोई व्यक्तिगत मेल है, जैसा कि यीशु ख्रीष्ट के व्यक्ति में परमेश्वर और मानवीय स्वभावों के बीच है; और न ही यह केवल एक राजनीतिक मेल है, जैसे कि किसी राजा और उसकी प्रजा की बीच होता है; और न ही यह केवल नैतिक मेल है, जैसा कि दो दोस्तों के बीच होता है। यीशु ख्रीष्ट और विश्वासियों के बीच एक कानूनी मेल होता है, जैसा कि एक जामिन और उस व्यक्ति के बीच होता है जिसके लिए वह जमानत देता है। यह मेल अनन्त काल से ही बना हुआ है, जब यीशु ख्रीष्ट को उनका संघीय मुखिया (Federal Head) नियुक्त किया गया था। परन्तु, इसके अतिरिक्त, समय के साथ उनके बीच एक आत्मिक मेल भी है, जिसके विषय में हमारा अंगीकार-कथन बात करता है। यह एक गहन रहस्य, और, इसी कारण से, इसे रहस्यमय मेल कहा जाता है। लेकिन, यद्यपि यह गहनता से रहस्यमय है, इसकी सच्चाई पर संदेह नहीं किया जा सकता। कभी-कभी पवित्रशास्त्र

में इसे विश्वासियों का मसीह में होने के रूप में बताया गया है: 'अतः अब जो मसीह यीशु में है, उन पर दण्ड की आज्ञा नहीं' (रोमियों 8:1)। अन्य स्थान में कहा गया है कि यीशु मसीह विश्वासियों में है: 'क्या तुम अपने विषय में यह नहीं जानते कि यीशु मसीह तुम में है नहीं तो तुम जाँच में निकम्मे निकले हो' (2 कुरिन्थियों 13:5)। कभी-कभी अभिव्यक्ति के दोनों प्रकारों को एक साथ जोड़ दिया जाता है: 'तुम मुझ में बने रहो, और मैं तुम में' (यूहन्ना 15:4)। पवित्रशास्त्र में इस मेल को कई प्रकार की उपमाओं के माध्यम से दिखाया और समझाया गया है। दाखलता और उसकी डालियों के बीच मेल से (यूहन्ना 15:5), एक घर और उसकी बुनियाद के बीच मेल से जिसके द्वारा घर टिका रहता है (1 पतरस 2:4, 6), पति और पत्नी के बीच मेल से (इफिसियों 5:31, 32), सिर और शरीर के अंगों के बीच मेल से (इफिसियों 4:15, 16) इसकी तुलना की गई है। ये उपमाएँ, यद्यपि उस मेल की बराबरी न कर पाएँ जिसे वे दर्शाते हैं, फिर भी स्पष्ट रूप से उसकी वास्तविकता को बताते हैं।

इन सभी मेल में, कोई न कोई ऐसी बात है जो जुड़ी हुई वस्तुओं या लोगों को एक साथ बांधे रखती है। जैसे ख्रीष्ट और उसके लोगों के बीच मेल का स्वभाव आत्मिक है, वैसे उनके बीच बन्धन भी आत्मिक है; और ये, ख्रीष्ट की ओर से पवित्र आत्मा है, और हमारी ओर से विश्वास है। यीशु ख्रीष्ट उन्हें अपने पवित्र आत्मा के द्वारा पकड़े रहता है, और वे उसे उस विश्वास के द्वारा प्राप्त करते हैं जो पवित्र आत्मा उनमें उत्पन्न करता है। इसलिए कहा जाता है कि वह विश्वास के द्वारा उनके हृदय में वास करता है। यह मेल इतना गहरा और आत्मीय है कि कहा जाता है कि यीशु ख्रीष्ट और विश्वासी लोग एक ही आत्मा हैं: 'और जो प्रभु की संगति में रहता है, वह उसके साथ एक आत्मा हो जाते हैं' (1 कुरिन्थियों 6:17)। लेकिन इस मेल का सबसे उत्कृष्ट गुण यह है, कि इसे कभी तोड़ा नहीं जा सकता। पवित्र आत्मा कभी भी उस व्यक्ति को नहीं छोड़ेगा जिसमें उसने अपना

निवास बना लिया है (यूहन्ना 14:16, 17)। शैतान और उसके सभी दुष्ट अभिकर्ता, अपनी पूरी ताकत और चालाकी के बावजूद, किसी एक आत्मा को यीशु ख्रीष्ट से अलग नहीं कर सकते (रोमियों 8:38, 39)। मृत्यु बाकी सभी सम्बन्धों को तोड़ देगी, और आत्मा को शरीर से अलग कर देगी, लेकिन यह यीशु ख्रीष्ट और विश्वासियों के बीच मेल को समाप्त नहीं कर सकती। इसलिए कहा जाता है कि वे 'प्रभु में मरते हैं' और 'यीशु ख्रीष्ट में सो जाते हैं' (प्रकाशितवाक्य 14:13; 1 थिस्सलुनीकियों 4:14)।

इस प्रकार ख्रीष्ट से जुड़े होने के कारण, विश्वासी लोग उसके दुखों और मृत्यु में उसके साथ सहभागी होते हैं, और इसलिए उनके लिए कहा जाता है कि वे 'मसीह के साथ क्रूस पर चढ़ाए गए और मर गए' (रोमियों 6:6, 8)। उनका ख्रीष्ट के साथ उसके पुनरुत्थान में भी सहभागिता है; क्योंकि वे 'मसीह यीशु के साथ जी उठाए गए', और उसके जीवन में उसके साथ संगति रखते हैं (इफिसियों 2:6; गलातियों 2:20)। वे उसके विजयों में उसके साथ सहभागी हैं। उसने उनके लिए प्रधानताओं, और अधिकारों को ऊपर से उतारा, संसार पर जय प्राप्त की, मृत्यु को नाश किया, और कब्र पर जीत प्राप्त की; और उन सभी को उसके द्वारा इन सब शत्रुओं पर जयवन्त से भी बढ़कर बनाया जाएगा (रोमियों 8:37)। उन सभी लाभों में उनकी उसके साथ सहभागिता है जिन्हें उसने मोल लिया है; इसलिए कहा जाता है कि वे 'मसीह के भागीदार हुए' (इब्रानियों 3:14), और वे 'उसमें भरपूर हो गए हैं जो सारी प्रधानता और अधिकार का शिरोमणि है' (कुलुस्सियों 2:10); उनकी उसकी धार्मिकता में भागीदारी है, जिसके द्वारा उसने उनके स्थान पर व्यवस्था को पूरा किया, और इस रीति से वे धर्मी ठहराए जाने की आशीष के वारिस हैं; उन्हें स्वर्ग के परिवार में लेपालक लिया जाता है, और परमेश्वर के वारिस, और उसके पुत्र यीशु ख्रीष्ट के साथ सह-वारिस बनाया जाता है; उन्हें प्राण, शरीर, और आत्मा में पवित्र किया जाता है, और उसके अनुग्रह से पाप के प्रति और अधिक मर कर धार्मिकता

के लिए जीने में समर्थ किया जाता है; वे अब यीशु ख्रीष्ट के साथ स्वर्गीय स्थानों में बैठे हैं, जो उसका वाचा प्रतिनिधित्व करने वाला सिर या मुखिया है; और सही समय पर, वे उसके साथ स्वयं अपने व्यक्ति में महिमान्वित किए जाएंगे (इफिसियों 2:6; कुलुस्सियों 2:4)। संक्षेप में, जैसा कि प्रेरित पौलुस दृढ़ता से कहता है; और वह ख्रीष्ट के साथ उनके मेल के आधार पर सब वस्तुओं पर उनके अधिकार को आधारित करता है: 'क्या पौलुस, क्या अपुल्लोस, क्या कैफा, क्या जगत, क्या जीवन, क्या मरण, क्या वर्तमान, क्या भविष्य, सब कुछ तुम्हारा है, और तुम मसीह के हो, और मसीह परमेश्वर का है' (1 कुरिन्थियों 3:22, 23)।

2. सभी सच्चे संत एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं, और स्वयं आपस में संगति रखते हैं। वे एक शरीर को बनाते हैं, और सभी अपने साझे सिर के रूप में यीशु ख्रीष्ट से जुड़े हुए हैं, और एक ही पवित्र आत्मा के सहभागी हैं। उन सभी को एक जैसा अनमोल विश्वास मिला है; और सुसमाचार की मुख्य शिक्षाओं के मामले में उनका विश्वास मूल रूप से एक ही है। वे प्रेम के बन्धन में बंधे हुए हैं, जिसे 'सिद्धता का कटिबन्ध' कहा जाता है। आरम्भिक मसीही लोग इस बन्धन से इतने अच्छी रीति से बंधे थे कि वे 'एक चित्त और एक मन' के थे (प्रेरितों के काम 4:32)। हमारे उद्धारकर्ता ने पूरे लगन से अपने अनुयायियों के मनों में आपसी प्रेम से बढ़कर किसी और बात को नहीं बिठाया; उसने इसे उनके लिए सबसे अच्छे प्रमाण और दूसरों के लिए सबसे निर्णायक प्रमाण के रूप में नमूना पेश किया, कि वे उसके वास्तविक शिष्य हैं: 'मैं तुम्हें एक नई आज्ञा देता हूँ कि एक दूसरे से प्रेम रखो; जैसा मैं ने तुम से प्रेम रखा है, वैसा ही तुम भी एक दूसरे से प्रेम रखो। यदि आपस में प्रेम रखोगे, तो इसी से सब जानेंगे कि तुम मेरे चेले हो' (यूहन्ना 13:34, 35)। जैसे संत लोग 'हमारे प्रभु यीशु ख्रीष्ट से सच्चे मन से प्रेम करते हैं', वैसे ही वे उन सभी से प्रेम करते हैं जिनमें वे ख्रीष्ट के स्वरूप को देख सकते हैं। इस प्रकार एक-दूसरे से जुड़े होने के कारण, वे

अपने वरदानों और गुणों में एक-दूसरे के साथ सहभागिता रखते हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक शरीर कई अंगों से बना होता है – कुछ महत्वपूर्ण कार्यों के लिए और कुछ निम्न कार्यों के लिए, और प्रत्येक अंग दूसरे अंगों के काम आता है और पूरे शरीर की भलाई में योगदान देता है – ठीक वैसे ही यीशु ख्रीष्ट का रहस्यमय आत्मिक शरीर भी कई अंगों से बना है, जिन्हें अलग-अलग वरदान और गुण मिले हैं; और सभी अंगों को एक-दूसरे के लिए लाभकारी होना चाहिए, और सम्पूर्ण कलीसिया की भलाई को बढ़ावा देना चाहिए। वे ऐसे कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाध्य हैं जो उनके आपसी हित में हों। उन्हें 'एक-दूसरे के प्रति स्नेह और दया का भाव रखना' चाहिए, 'एक-दूसरे का बोझ उठाना' चाहिए और इस रीति से 'ख्रीष्ट की व्यवस्था को पूरा करना' चाहिए, 'आनन्द मनाने वालों के साथ आनन्द और रोने वालों के साथ रोना' चाहिए, 'सभी पवित्र लोगों के लिए हृदय से प्रार्थना करनी' चाहिए, और जब भी मौका मिले, तो 'सभी लोगों का भला' करना चाहिए, विशेष रीति से उन लोगों का जो 'विश्वास के परिवार के भागी' हैं।

3. पवित्र जीवन जीने का दावा करने वाले संत लोग भी एक ही शरीर में जुड़े हुए हैं, और एक-दूसरे के साथ पवित्र संगति और मेल-मिलाप बनाए रखने के लिए बाध्य हैं। विश्वास करने वाले संत लोग ही उस कलीसिया का निर्माण करते हैं जिसे दृश्यमान माना जाता है; और एकता इस समाज का एक अनिवार्य गुण है। यह मेल केवल उन लोगों तक ही सीमित नहीं है जो एक साथ रहते हैं, और मसीही धर्म के नियमों का पालन करने के लिए एक स्थान पर इकट्ठा हो सकते हैं; 'उन सब के नाम भी जो हर जगह हमारे और अपने प्रभु यीशु मसीह के नाम से प्रार्थना करते हैं'। इस एकता के दिखाई देने वाले बंधन प्रेरित पौलुस द्वारा बताए गए हैं: 'एक ही देह है, और एक ही आत्मा; जैसे तुम्हें जो बुलाए गए थे अपने बुलाए जाने से एक ही आशा है। एक ही प्रभु है, एक ही विश्वास, एक ही बपतिस्मा, और सब

का एक ही परमेश्वर और पिता है, जो सब के ऊपर और सब के मध्य में और सब में है' (इफिसियों 4:4 – 6)। हमारा अंगीकार-कथन ऐसी तीन बातों का उल्लेख करता है जिनमें विश्वास करने वाले संत एक-दूसरे के साथ संगति और मेल-मिलाप बनाए रखने के लिए बाध्य हैं:

पहला, *उन्हें परमेश्वर की सार्वजनिक आराधना में सम्मिलित होने के लिए एक-साथ इकट्ठा होना चाहिए*। आरम्भिक मसीही लोगों द्वारा इस प्रकार की संगति को बहुत ही निष्ठा से बनाए रखा गया था: 'और वे प्रेरितों से शिक्षा पाने, और संगति रखने, और रोटी तोड़ने, और प्रार्थना करने में लौलीन रहे' (प्रेरितों के काम 2:42)। जब बाद के समय में कुछ लोग इस संगति को बनाए रखने में लापरवाह हो गए, तो प्रेरित ने उन्हें चेतावनी दी कि वे 'एक-दूसरे के साथ इकट्ठा होना न छोड़े, जैसा कि कुछ लोगों की आदत है'।

> 'सुसमाचार की विधियों का उद्देश्य मसीही लोगों के बीच एकता का बन्धन होना था; और इनके सामूहिक पालन से ही आपसी मेल-मिलाप या संगति बनी रहती है और प्रकट होती है। 'एक ही आत्मा के द्वारा एक देह होने के लिये बपतिस्मा लिया, और हम सब को एक ही आत्मा पिलाया गया'; 'इसलिये कि एक ही रोटी है तो हम भी जो बहुत हैं, एक देह हैं: क्योंकि हम सब उसी एक रोटी में भागी होते हैं।' (1 कुरिन्थियों 12:13; 10:17)। इस एकता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सभी मसीही लोग आराधना के लिए एक ही स्थान पर इकट्ठा हों – यह भौतिक रूप से असम्भव है; और न ही हमें कलीसिया की संगति को केवल स्थानीय स्तर तक ही सीमित समझना चाहिए। उन्हीं पवित्र विधियों को मानने में यह संगति है – जहाँ कहीं वे इकट्ठा होते हैं, वहाँ इसी प्रकार की आराधना को करने में वह संगति दिखाई देती है; और उनके हर उस मौके को अपनाने और तैयार रहने में दिखाई देती है जिसमें वे उन सभी लोगों के साथ जुड़ते हैं 'उन सब के नाम भी जो हर जगह हमारे और अपने प्रभु

> यीशु मसीह के नाम से प्रार्थना करते हैं।' आरम्भिक कलीसिया में ऐसा ही था; और यदि विश्वव्यापी एकता को बनाए रखा जाता, और यदि यीशु ख्रीष्ट की विधियों को और उनसे जुड़े विश्वास को हर स्थान पर पवित्र और सम्पूर्ण सुरक्षित रखा जाता, तो आज भी ऐसा ही होता।'[131]

दूसरी बात, विश्वास करने वाले संतों को *ऐसी अन्य आत्मिक सेवाएँ करने चाहिए जिनसे वे एक-दूसरे की आध्यात्मिक उन्नति में सहायता कर सकें*। उन्हें आज्ञा दी जानी चाहिए कि वे 'उन बातों में लगे रहें जिनसे मेलमिलाप और एक दूसरे का सुधार हो' (रोमियों 14:19)। 'आपस में एक-दूसरे की आत्मिक उन्नति' करने वाली सेवाओं में इनका उल्लेख किया जा सकता है; आत्मिक बातचीत; एक-दूसरे के प्रति प्रेम और भले कार्यों को सिखाना और उक्साना; निर्बलों को शांति देना, और सम्भालना, बीमार लोगों से भेंट करना और प्रोत्साहित करना (मलाकी 3:16; कुलुस्सियों 3:16; 1 थिस्सलुनीकियों 5:11, 14; इब्रानियों 10:24)।

तीसरी बात, विश्वासी संतों को *अपनी क्षमता और मौकों के अनुसार बाहरी वस्तुओं में एक-दूसरे की सहायता करनी चाहिए*। 'ऐसे बहुत से लोग हैं जो विश्वास में धनी और उस राज्य के अधिकारी हैं, जिसकी प्रतिज्ञा उस ने उनसे की है जो उससे प्रेम रखते हैं', लेकिन इस जगत के कंगाल हैं (याकूब 2:5)। 'जिस किसी के पास संसार की संपत्ति हो तो वह अपने भाई को कंगाल देखकर उस पर तरस खाए', और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करे (1 यूहन्ना 3:17)। कभी-कभी किसी देश में मसीही लोगों के सताव की हिंसा के कारण 'अपनी संपत्ति का नुकसान' उठाना पड़ता है, और वे बहुत बुरी स्थिति में पहुँच जाते हैं; इन मामलों में, दूसरे स्थान के भाइयों को उनकी सहायता के लिए हृदय खोलकर योगदान देना चाहिए। इस कर्तव्य को आरम्भिक मसीही लोगों ने बहुत अच्छी रीति से निभाया था:

[131] M'Crie on the *Unity of the Church*, pp. 19, 20.

‘मकिदुनिया और अखया के लोगों को यह अच्छा लगा कि यरूशलेम के पवित्र लोगों में निर्धनों के लिये कुछ चन्दा करें’ (रोमियों 15:26)। यदि किसी क्षेत्र के मसीही लोग अपने बीच सार्वजनिक मसीही रीति-रिवाजों के नियमित पालन की व्यवस्था स्वयं नहीं कर पा रहे हैं, तो बेहतर स्थिति में रहने वाले उनके मसीही भाइयों का यह कर्तव्य बनता है कि वे उनके लिए आर्थिक सहायता प्रदान करें। इस रीति से बलवान को निर्बलों की सहायता करनी चाहिए, ताकि एक की अधिकता दूसरे लोगों की कमी को पूरा कर सके और समानता बनी रहे। पवित्र लोगों की सेवा को स्पष्ट रूप से संगति कहा गया है (2 कुरिन्थियों 8:4)। हमारे अंगीकार-कथन के इस भाग का अंतिम वाक्य सम्भवतः विशेष रूप से इसी प्रकार की संगति की ओर संकेत करता है: ‘यह संगति, जैसा कि परमेश्वर मौके प्रदान करता है, उन सभी लोगों तक विस्तारित की जानी चाहिए, जो प्रभु यीशु के नाम को पुकारते हैं।’ यह वाक्य ठीक पहले आए उस वाक्यांश से करीब से जुड़ा है, जिसका सम्बन्ध ‘बाहरी मामलों में एक-दूसरे का हाथ बँटाने’ से है; और पवित्रशास्त्र में दिए गए सभी प्रमाण या तो यरूशलेम की कलीसिया की ओर संकेत करते हैं – जहाँ सब कुछ साझे में था – या फिर एक स्थान के पवित्र लोगों की ओर संकेत करता है, जो दूर स्थानों पर रहने वाले उन लोगों को ‘सहायता सामग्री’ भेजते थे, जो सताए जाने के कारण गरीब हो गए थे।

हालाँकि, यह माना जाएगा कि मसीही संगति की और अधिक व्यापक प्रकृति में, वे सभी सेवाएँ सम्मिलित हैं जो आपसी आत्मिक उन्नति को बढ़ावा देती हैं, और प्रभु यीशु का नाम लेने वाले सभी लोगों के साथ, जब भी मौका मिले, व्यापक स्तर पर मसीही संगति को बनाए रखा जाना चाहिए; और हाँ, यदि दृश्यमान विश्वव्यापी कलीसिया वैसे ही होती जैसा उसे परमेश्वर के वचन के अनुसार होना चाहिए, विश्वास की अभिव्यक्ति में एक, तो इस या किसी भी विशेष कलीसिया के सदस्य, जहाँ कही भी

परमेश्वर की इच्छा से रहते हैं, वहाँ कलीसिया की संगति का आनन्द लेने के हकदार होते और उसे बनाए रखने के लिए बाध्य होते। यदि संसार भर के मसीही लोग, अलग-अलग एवं विरोधी गुटों में बंटे होने के बजाए एक पवित्र भाईचारे में एकजुट होते, तो किसी भी स्थान पर कलीसिया की संगति में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति को विश्वव्यापी कलीसिया के सदस्य के रूप में पहचाना जाता, और उसे किसी भी विशेष कलीसिया की संगति में सम्मिलित होने का अधिकार होता जहाँ भी वह रह रहा होता। दूसरी ओर, जिस किसी पर भी एक विशेष कलीसिया में कोई प्रतिबंध लगाया गया होता, उसे बाकी कलीसियाओं में भी उसी प्रतिबंध के दायरे में माना जाता; और उसे तब तक संगति में सम्मिलित नहीं किया जाता, जब तक कि उसी अधिकारी या उससे उच्च अधिकारी द्वारा उस दण्ड को पलट न दिया जाता। इसे ऐसा ही होना चाहिए था: और यदि यह एकता पूरी रीति से साकार हो जाती, जो दृश्यमान कलीसिया की पहचान होनी चाहिए, तो ऐसा ही होता। लेकिन कलीसिया की वर्तमान स्थिति में, जो अनगिनत भागों में विभाजित और बंटा हुआ है, और हर कोई किसी विशेष सिद्धांत या प्रथा के लिए संघर्ष कर रहा है, जो उन्हें महत्वपूर्ण लगती है, और जिनके द्वारा वे न केवल दूसरे मसीही सम्प्रदायों से अलग दिखते है, बल्कि विरोध भी करते हैं, तो ऐसे में कलीसिया की इतनी व्यापक संगति को निरन्तर बनाए रखना असम्भव है। इस बात में शायद ही कोई संदेह हो कि भ्रष्ट कलीसियाओं से अलग होना कुछ मामलों में उचित और आवश्यक हो जाता है; लेकिन 'जहाँ संगति वैध हो, तो वहाँ अलगाव को फूट डालने के आरोप से बचाना आसान नहीं होगा'। यदि किसी विशेष कलीसिया को यीशु ख्रीष्ट की एकमात्र प्रधानता और उसकी कलीसिया की आत्मिक स्वतंत्रता को प्रमाणित करने के विशेष उद्देश्य से बनाया गया है – यदि उस कलीसिया के सदस्य किसी दूसरी कलीसिया के साथ पूर्ण रीति से घुल-मिलकर संगति करते हैं, जिसने या तो स्पष्ट रीति से या व्यावहारिकता में

इन विशेष सिद्धांतों को त्याग दिया था, तो वे वास्तव में यह घोषित करेंगे कि उनके पास अलग होने का पवित्रशास्त्र से या विवेक पर आधारित कोई आधार नहीं है, और वे उस समूह को बिना कारण तोड़ने के आरोप में स्वयं को भागी बना लेंगे, जिसके 'एक' होने के लिए यीशु ख्रीष्ट ने गिड़गिड़ाकर प्रार्थना की थी।

भाग 3

यह संगति, जो कि संतों की ख्रीष्ट के साथ है, उन्हें किसी भी रीति से उसके परमेश्वरत्व के तत्व का भागी नहीं बनाती है, ना ही उन्हें किसी भी रीति से ख्रीष्ट के बराबर बनाती है: इनमें से किसी की भी पुष्टि करना अपवित्र एवं निन्दात्मक है (कुलुस्सियों 1:18 – 19; 1 कुरिन्थियों 8:6; यशायाह 42:8; 1 तीमुथियुस 6:15 – 16; भजन संहिता 45:7; इब्रानियों 1:8 – 9)। और संतों के रूप में एक दूसरे के साथ उनकी संगति, प्रत्येक व्यक्ति के पास उसकी वस्तुओं एवं सम्पत्तियों में, जो उसकी उपाधि या मर्यादा है, उसको न तो छीनती है और ना ही उसका उल्लंघन करती है (निर्गमन 20:15; इफिसियों 4:28; प्रेरितों के काम 5:4)।

व्याख्या

यह भाग दो विधर्मी धारणाओं से बचाता है: एक तो पवित्र विश्वासियों का यीशु ख्रीष्ट के साथ संगति से संबंधित है; और दूसरा, एक-दूसरे के साथ उनकी संगति से है। कुछ रहस्यवादियों ने संतों के यीशु ख्रीष्ट के साथ मिलन और संगति के विषय में अपवित्र और ईशनिंदापूर्ण शब्दों का उपयोग किया है, मानों जैसे कि वे ईश्वर-जैसे या ख्रीष्ट-जैसे बन गए हों। उन्होंने 'परमेश्वर में ईश्वर-जैसे', और 'यीशु ख्रीष्ट में ख्रीष्ट-जैसे' बनने वाले वाक्यांशों और इसी प्रकार के अन्य निराधार शब्दों का उपयोग करने में कोई संकोच नहीं किया है। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में, जर्मनी के एनाबैप्टिस्ट

लोगों ने अन्य बेतुके और खतरनाक सिद्धांतों के साथ-साथ, मसीही लोगों के बीच उनकी संपत्ति को एक समुदाय की होने की आवश्यकता पर जोर दिया। इस सिद्धांत ने इस देश में कभी अधिक प्रगति नहीं की, और आधुनिक एनाबैप्टिस्ट लोगों ने इसे पूरी रीति से नकार दिया है। इन बढ़ा-चढ़ाकर बताई गई धारणाओं के विपरीत, हमारा अंगीकार-कथन यह सिखाता है:

1. यह संगति, जो कि संतों की ख्रीष्ट के साथ है, उन्हें किसी भी रीति से उसके परमेश्वरत्व के तत्व का भागी नहीं बनाती है, ना ही उन्हें किसी भी रीति से ख्रीष्ट के बराबर बनाती है। जो मिलन यीशु ख्रीष्ट और विश्वासियों का है, वह उन्हें अलग-अलग व्यक्ति बनाए रखता है; और ख्रीष्ट के साथ मसीही लोगों की जो संगति है, वह उन्हें मर्यादा और महिमा में उसके समान नहीं बनाती है। वे उसके उन परमेश्वर वाले गुणों में भाग नहीं ले सकते जो किसी और को नहीं दिए जा सकते; और न ही वे उसके मध्यस्थता के कार्य की महिमा में उसके साथ भागीदार बन सकते हैं। उस महा-कठिन कार्य में उसका साथ देने वाला कोई नहीं था, और उस कार्य की सारी महिमा का श्रेय उसी को मिलना चाहिए; जिस रीति से संत लोग परमेश्वर नहीं बन जाते, उसी रीति से उन्हें ख्रीष्ट के साथ मध्यस्थ और उद्धारकर्ता की पदवी नहीं दी जा सकती।

2. संतों के रूप में एक दूसरे के साथ उनकी संगति, प्रत्येक व्यक्ति के पास उसकी वस्तुओं एवं सम्पत्तियों में, जो उसकी उपाधि या मर्यादा है, उसको न तो छीनती है और ना ही उसका उल्लंघन करती है। आठवीं आज्ञा की सदा रहने वाली जिम्मेदारी, नए-नियम में दान-पुण्य, और आतिथ्य-सत्कार की शिक्षा, ऊँची पदवी और निचली पदवी के लिए, अमीरों और गरीबों के लिए विशेष नियम – ये सभी स्पष्ट रीति से प्रमाणित करते हैं कि सुसमाचार के तहत, प्रत्येक व्यक्ति का अपनी वस्तुओं और संपत्ति पर अपना अधिकार बना रहता है। वास्तव में हमें बताया गया है कि आरम्भिक

कलीसिया में 'सब विश्वास करनेवाले इकट्ठे रहते थे, और उनकी सब वस्तुएँ साझे में थीं। वे अपनी–अपनी सम्पत्ति और सामान बेच–बेचकर जैसी जिसकी आवश्यकता होती थी बाँट दिया करते थे' (प्रेरितों के काम 2:44, 45)। इससे यह माना गया है कि यरूशलेम के मसीही लोगों की बीच साझी संपत्ति का वास्तविक समुदाय था; या यह कि हर व्यक्ति अपनी संपत्ति पर अपना अधिकार छोड़कर उसे एक साझा कोष में जमा कर देता था, जिस पर सभी का बराबर हक होता था। हालाँकि, हनन्याह और सफ्फीरा की कहानी से यह प्रगट होता है के चेलों पर कलीसिया के लाभ के लिए अपनी संपत्ति बेचने की कोई मजबूरी या कोई पक्का नियम लागू नहीं था; और यह कि, इसे बेचने के बाद, वे कीमत का पूरा या कोई भी भाग अपने पास रख सकते थे, बशर्ते कि वे उन दुखी व्यक्तियों के समान छल-कपट न करें; और हमारे द्वारा उद्धत अनुच्छेद से यह और भी स्पष्ट हो जाता है, कि हालाँकि कई बार उन्होंने प्रेरितों के पैरों में पैसों को रख दिया और उन्हें ही बाँटने की जिम्मेदारी सौंपी, फिर भी कभी-कभी उन्होंने पैसों को अपने पास ही रखा और गरीबों को आवश्यकता की अपनी समझ के अनुसार बांटा। ये विचार इस बात को प्रमाणित करते हैं, कि आरम्भिक कलीसिया में वस्तुओं का कोई वास्तविक समुदाय नहीं था; बल्कि उनके हृदयों और हितों को जोड़ने वाले गहरे प्रेम के कारण, जैसा कि लूका हमें चौथे अध्याय में बताता है, 'यहाँ तक कि कोई भी अपनी सम्पत्ति अपनी नहीं कहता था', या उन्हें अपने उपयोग के लिए रखा, परन्तु अपने भाइयों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए आनन्द के साथ उन्हें दे दिया। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यरूशलेम की कलीसिया के तौर-तरीकों को किसी अन्य कलीसिया ने अपनाया था, यहाँ तक कि प्रेरितों के समय में भी नहीं; लेकिन जहाँ तक यह स्वार्थी भावनाओं के ऊपर उदार प्रेम की जीत का उदाहरण है, और लोगों को दूसरों की भलाई को अपनी ही भलाई

के समान चाहने के लिए प्रेरित करता है, तो संसार के अंत तक इसका अनुकरण किया जाना चाहिए।'[132]

[132] Dick's *Lectures on the Acts of the Apostles*, lect. lii.

अध्याय 27

मसीही संस्कार (Sacraments)

भाग 1

मसीही संस्कार अनुग्रह की वाचा के पवित्र चिह्न और छाप हैं (रोमियों 4:11; उत्पत्ति 17:7, 10), जिन्हें परमेश्वर ने स्वयं अपने द्वारा (मत्ती 28:19; 1 कुरिन्थियों 11:23), ख्रीष्ट और उसके लाभों को दिखाने के लिए, तथा उसमें हमारी रुचि की पुष्टि करने के लिए (1 कुरिन्थियों 10:16; 11:25 – 26; गलातियों 3:27): साथ में कलीसिया से सम्बन्धित लोगों और शेष संसार के लोगों के बीच एक स्पष्ट अन्तर स्थापित करने के लिए (रोमियों 15:8; निर्गमन 12:48; उत्पत्ति 34:14); और ख्रीष्ट में उन लोगों को परमेश्वर की सेवा में, उसके वचन के अनुसार, गम्भीरता से संलग्न करने के लिए स्थापित किए हैं (रोमियों 6:3 – 4; 1 कुरिन्थियों 10:16, 21)।

व्याख्या

सैक्रामेंट (संस्कार) शब्द पवित्रशास्त्र में नहीं मिलता, बल्कि यह लातीनी भाषा से लिया गया है। रोम के सैनिक इस शब्द का उपयोग अपनी सैन्य शपथ के लिए करते थे, या वह शपथ जिसके माध्यम से सैनिक अपने सेनापति के प्रति विश्वासयोग्य रहने और उसका झंडा न छोड़ने का वचन देते थे; और यह माना जाता है कि कलीसिया के प्रतीकात्मक विधियों के लिए इसे लागू किया गया, क्योंकि इनमें हम एक रीति से यीशु ख्रीष्ट की सेवा में सम्मिलित होते हैं, जो हमारे उद्धार का सेनापति है, और जहाँ कहीं

भी वह हमें ले जाए, उसके पीछे चलने का संकल्प लेते हैं। लेकिन यह ध्यान दिया जा सकता है कि आरम्भिक मसीही लेखकों ने सैक्रामेंटम (*Sacramentum*) शब्द का उपयोग पवित्रशास्त्र में उपयोग होने वाले शब्द रहस्य (*musthrion*) के बराबर ही किया था; और वल्गेट (*Vulgate*) में बाद वाले शब्द का अनुवाद हमेशा पहले वाले शब्द से ही किया जाता है। ऐसा मानने का कारण है कि रहस्य शब्द का उपयोग आरम्भ में बपतिस्मा और प्रभु-भोज के लिए किया जाता था, आंशिक रूप से, क्योंकि, बाहरी प्रतीकों के अधीन, आत्मिक आशीषें छिपी हुई थीं, और बाकी आंशिक रूप से, उस रहस्य के कारण भी, कि सताव के समय मसीही लोग उन्हें बहुत गुप्त रीति से मनाने के लिए बाध्य थे; और चूंकि लातीनी लोगों ने सैक्रामेंट (संस्कार) शब्द का उपयोग रहस्य के पर्यायवाची के तौर पर किया, इसलिए माना जाता है कि हमें इन्हीं प्रतीकात्मक विधियों के लिए इस शब्द के उपयोग को मानना चाहिए।

किसी भी मसीही संस्कार को स्थापित करने के लिए परमेश्वर द्वारा स्पष्ट रूप से उसकी स्थापना किया जाना अनिवार्य है। मसीही कलीसिया में केवल उन्हीं विधियों का पालन किया जाना चाहिए जिन्हें यीशु ख्रीष्ट ने, जो कलीसिया का एकमात्र राजा और प्रधान है, निर्धारित किए हैं। केवल वहीं है जिसके पास मसीही संस्कारों को स्थापित करने का अधिकार है, जिसके पास उन आशीषों को प्रदान करने की शक्ति है, जिन्हें इन संस्कारों के माध्यम से दर्शाया एवं लागू किया जाता है। इसलिए, कोई भी विधि, सैक्रामेंट (पवित्र मसीही संस्कार) कहलाने के योग्य नहीं हो सकती, जब तक कि उस पर परमेश्वर द्वारा स्थापित होने की छाप न लगी हो।

सोसिनियन लोग मसीही संस्कारों को केवल ऐसे गम्भीर चिह्नों के रूप में देखते हैं जिनसे यीशु के अनुयायियों को अन्य लोगों से अलग पहचाना जाता है। यह आसानी से माना जाता है कि ये ख्रीष्ट के शिष्यों की पहचान हैं, जिनके द्वारा वे यहूदियों, मुसलमानों और गैर-मसीही लोगों से अलग

पहचाने जाते हैं; लेकिन यह इनका मुख्य उद्देश्य नहीं है। वे मुख्य रूप से 'अनुग्रह की वाचा के पवित्र चिह्न और छाप हैं'। खतने को स्पष्ट रूप से विश्वास की धार्मिकता का चिह्न और छाप कहा गया है (रोमियों 4:11); और यही विवरण नए नियम के संस्कारों पर भी समान रूप से लागू होता है। चिह्नों के रूप में, वे हमारे सामने यीशु ख्रीष्ट और नई वाचा की आशीषों को दर्शाते एवं प्रकट करते हैं; छाप के रूप में, वे उन पर हमारे अधिकार को पक्का करते हैं, और हमारे विश्वास को प्रमाणित करते हैं।

सैक्रामेंट (मसीही संस्कारों) के मुख्य उद्देश्य और लक्ष्य ये हैं: यीशु ख्रीष्ट और उससे मिलने वाले लाभों को दर्शाना; यीशु ख्रीष्ट और उसकी आशीषों में विश्वासियों की भागीदारी की पुष्टि करना; दृश्यमान कलीसिया के सदस्यों और उससे बाहर के लोगों के बीच में अंतर करना; और विश्वासियों को ख्रीष्ट में, परमेश्वर की सेवा के लिए, उसके वचन के अनुसार, गम्भीरता से समर्पित करना।

भाग 2

प्रत्येक मसीही संस्कार में, चिह्न और चिह्नित की गई वस्तु के बीच एक आध्यात्मिक सम्बन्ध या सांस्कारिक सम्बन्ध होता है; जिसके कारण एक संस्कार के नाम और प्रभाव दूसरे संस्कार के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं (उत्पत्ति 17:10; मत्ती 26:27 – 28; तीतुस 3:5)।

व्याख्या

मसीही संस्कारों के दो भाग हैं: चिह्न और चिह्नित की गई वस्तु। चिह्न ऐसी वस्तु है जिसे महसूस किया जा सके और देखा जा सके – अर्थात जिसे देखा और छुआ जा सके। इस रीति से बपतिस्मा में बाहरी चिह्न जल है, जो हमें दिखाई देता है; और प्रभु भोज में बाहरी चिह्न रोटी और दाखरस है, वह भी दिखाई देते हैं, और जिन्हें हम छू सकते हैं और चख सकते हैं।

जिन्हें चिह्नित किया गया है, वह यीशु ख्रीष्ट और नई वाचा के लाभ हैं। इन्हें सैक्रामेंट या मसीही संस्कार के विषय-वस्तु कहा जाता है। इसका स्वरूप उस आध्यात्मिक सम्बन्ध या सांस्कारिक पवित्र संयोजन में निहित है, जो परमेश्वर की स्थापना द्वारा चिह्न और उससे चिह्नित होने वाली वस्तु के बीच स्थापित होता है। हालाँकि बाहरी चिह्नों और चिह्नित की गई वस्तुओं के बीच कुछ समानता या मेल होता है, फिर भी, उनका सांस्कारिक पवित्र मेल पूरी रीति से यीशु ख्रीष्ट की स्थापना पर निर्भर करता है।

> 'इस मेल से ही सांस्कारिक शब्दावली या ऐसे कुछ विशेष अभिव्यक्तियाँ बनते हैं, जिनमें चिह्न और चिह्नित की गई वस्तु के नामों की अदला-बदली की जाती है। इस रीति से, जब ख्रीष्ट को "हमारा फसह" कहा जाता है, तो चिह्न का नाम चिह्नित की गई वस्तु को दिया जाता है; और चिह्नित की गई वस्तु का नाम चिह्न को दिया जाता है, जब रोटी को ख्रीष्ट का शरीर कहा जाता है। इस अदला-बदली का आधार वह पवित्र मेल है, जो उन्हें इस रीति से आपस में जोड़ता है कि एक के विषय में कही गई बात दूसरे पर भी लागू हो सके।'[133]

भाग 3

वह अनुग्रह, जो मसीही संस्कारों में या उनके द्वारा दर्शाया जाता है, यदि सही रीति से उपयोग किया जाए, तो उनमें किसी शक्ति द्वारा प्रदान नहीं किया जाता है; और ना ही किसी भी संस्कार की प्रभावकारिता उसे देने वाले की धर्मपरायणता या अभिप्राय पर निर्भर करती है (रोमियों 2:28 – 29; 1 पतरस 3:21), परन्तु यह आत्मा के कार्य पर (मत्ती 3:11; 1 कुरिन्थियों 12:13), और वचन के संस्थापन पर निर्भर करती है, जिसमें इसके उपयोग को अधिकृत करने वाली आज्ञा के साथ-साथ, योग्य

[133] Dick's *Lectures on Theology*, vol. iv, p. 118.

प्राप्तकर्ताओं को लाभ पहुँचाने की प्रतिज्ञा भी सम्मिलित है (मत्ती 26:27 – 28; 28:19 – 20)।

व्याख्या

यह अनुभाग रोम के चर्च के दो सिद्धांतों के विरुद्ध है। उस चर्च का मानना है कि मसीही संस्कार, जब उचित रीति से दिए जाते हैं, तो वे अपने आप में अनुग्रह देने में प्रभावशाली हैं; और कि पादरी या संस्कार को देने वाले का *अभिप्राय* मसीही संस्कार के लिए अनिवार्य है; इसलिए, यदि कोई पादरी बपतिस्मा या प्रभु भोज की विधि की सभी प्रथाओं को पूरा करता है, लेकिन मन में उसे देने का *अभिप्राय* नहीं रखता है, तो वास्तव में यह कोई सैक्रामेंट या संस्कार नहीं है। यह बात स्पष्ट है कि मसीही संस्कार अपने आप में उद्धार देने वाला अनुग्रह प्रदान नहीं कर सकते; क्योंकि यदि उनमें यह शक्ति होती, तो वे उन सभी लोगों के लिए समान रूप से प्रभावशाली होते जो उन्हें ग्रहण करते हैं। परन्तु बहुत से ऐसे लोग मसीही संस्कारों में भाग लेते हैं, जो परमेश्वर के अनुग्रह के भागी नहीं है। जादूगर शमौन ने बपतिस्मा लिया, फिर भी वह पित्त की सी कड़वाहट और अधर्म के बन्धन में पड़ा था (प्रेरितों के काम 8:13, 23)। यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि मसीही संस्कारों की प्रभावकारिता उन्हें संपन्न कराने वाले व्यक्ति के *अभिप्राय* पर निर्भर नहीं करती; क्योंकि फिर यह संस्कारों को संपन्न कराने वाले व्यक्ति को परमेश्वर का स्थान दे देगा, जबकि मसीही संस्कारों को उनके निर्धारित उद्देश्यों के लिए प्रभावकारी बनाना केवल परमेश्वर का ही अधिकार है। इसके अतिरिक्त, इस मामले में, कोई भी निश्चित नहीं हो सकता कि उसने संस्कार को ग्रहण किया है; क्योंकि वह दूसरे व्यक्ति के अभिप्राय के विषय में पूरी रीति से निश्चित नहीं हो सकता। इन बेतुके सिद्धातों के विरोध में, हमारा विश्वास है कि मसीही संस्कारों की प्रभावकारिता उन्हें ग्रहण करने वालों की आत्माओं पर पवित्र आत्मा के

कार्य पर; और उसके स्थापना के वचन पर, जो इन विधियों के पालन का अधिकार देने वाले नियम में निहित है, और इन्हें योग्य रीति से ग्रहण करने वालों को इनसे लाभ की प्रतिज्ञा पर निर्भर करता है।

भाग 4

सुसमाचार में हमारे प्रभु यीशु ख्रीष्ट द्वारा केवल दो संस्कार नियुक्त किए गए हैं, अर्थात, बपतिस्मा और प्रभु भोज: इनमें से किसी को भी किसी भी व्यक्ति द्वारा नहीं दिया जा सकता है, परन्तु केवल विधिपूर्वक अभिषिक्त, वचन के सेवक द्वारा दिया जा सकता है (मत्ती 28:19 – 20; 19; 1 कुरिन्थियों 11:20, 23; 4:1; इब्रानियों 5:4)।

व्याख्या

हम केवल उन दो मसीही संस्कारों को मानते हैं जिनकी स्थापना यीशु ख्रीष्ट ने सुसमाचार में की, और ये बपतिस्मा एवं प्रभु भोज हैं; पहला हमारे आत्मिक जन्म का चिह्न एवं छाप है, और दूसरा हमारे आत्मिक पोषण का चिह्न और छाप है। रोम के चर्च ने पाँच अवैध संस्कार जोड़ दिए हैं: पादरियों का अभिषेक, विवाह, चर्च सदस्यता की पुष्टि-संस्कार, काया-क्लेश, और बीमार को तेल लगाना या मरणासन्न संस्कार – इनमें से किसी को भी *सैक्रामेंट* या *मसीही संस्कार* के रूप में परमेश्वर द्वारा स्थापित नहीं किया गया है; और कैथोलिक लोगों द्वारा उपयोग किए जाने वाले अंतिम तीन का बाइबल में कोई आधार नहीं है। इनमें से कोई भी 'अनुग्रह की वाचा' का चिह्न नहीं है, और, इसलिए वे मसीही संस्कार नहीं हैं, बल्कि इन्हें मसीही रीति-रिवाजों की पवित्रता और सादगी में भारी मिलावट और भ्रष्टता के रूप में देख जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, रोम के चर्च के विरोध में, जो आवश्यकता पड़ने पर आम लोगों (पुरुषों और महिलाओं) को बपतिस्मा का संस्कार देने की अनुमति देता है, हमारा अंगीकार-कथन

दृढ़ता कहता है कि केवल वचन का सेवक, जिसका विधिवत् अभिषिक्त किया गया हो, उसी के पास मसीही संस्कार संपन्न कराने का अधिकार है।

भाग 5

पुराने नियम के संस्कार, उनके द्वारा चिह्नित किए गए और दर्शाए गए आध्यात्मिक बातों के सम्बन्ध में, मूलतः नए नियम के संस्कारों के समान ही थे (1 कुरिन्थियों 10:1 – 4)।

व्याख्या

पुराने नियम के सामान्य संस्कार खतना और फसह थे; पहले का स्थान अब बपतिस्मा ने और दूसरे का स्थान अब प्रभु भोज ने ले लिया है। पुराने नियम के संस्कार यीशु ख्रीष्ट के आने की पूर्व-सूचना देते थे, जबकि नए नियम के संस्कार ख्रीष्ट के आ जाने को दर्शाते हैं; और बाद वाले के माध्यम से आत्मिक आशीषें पहले वाले की तुलना में अधिक स्पष्ट रीति से दिखाई जाती हैं। लेकिन रोम के चर्च के विरोध में, जो दावा करते हैं कि पुराने नियम के संस्कार उस अनुग्रह की छाया मात्र थे जो वास्तव में नया नियम देता है, हम मानते हैं कि, उन आत्मिक आशीषों के सम्बन्ध में जो चिह्नित और प्रकट किए गए हैं, पुराने नियम के संस्कार मूल रूप से नए नियम के संस्कारों के ही समान हैं। दोनों ही विश्वास से मिलने वाली धार्मिकता के चिह्न और छाप हैं (रोमियों 4:11)। दोनों ही प्रतिज्ञा के वचन में सहमत रखते हैं (उत्पत्ति 17:7; प्रेरितों के काम 2:38, 39)।

अध्याय 28

बपतिस्मा

भाग 1

बपतिस्मा, यीशु ख्रीष्ट द्वारा नियुक्त (मत्ती 28:19), नए नियम का एक मसीही संस्कार है, जो न केवल बपतिस्मा प्राप्त करने वाले व्यक्ति के दृश्यमान कलीसिया में औपचारिक प्रवेश के लिए है (1 कुरिन्थियों 12:13), बल्कि उसके लिए अनुग्रह की वाचा में होने (रोमियों 4:11 के साथ कुलुस्सियों 2:11 – 12), ख्रीष्ट में उसके अभ्यारोपित होने (रोमियों 6:5; गलातियों 3:27), नए जन्म का (तीतुस 3:5), पापों की क्षमा का (मरकुस 1:4), और यीशु ख्रीष्ट के माध्यम से, जीवन की नवीनता में चलने के लिए, उसके द्वारा स्वयं को परमेश्वर को सौंप दिए जाने हेतु, चिह्न और छाप हैं (रोमियों 6:3 – 4): यह मसीही संस्कार, स्वयं ख्रीष्ट की नियुक्ति के द्वारा, संसार के अन्त तक उसकी कलीसिया में जारी रहना है (मत्ती 28:19 – 20)।

व्याख्या

यह भाग, *सबसे पहले,* पुष्टि करता है कि बपतिस्मा नए नियम का एक मसीही संस्कार है, जिसे यीशु ख्रीष्ट ने नियुक्त किया, और जो संसार के अंत तक उसकी कलीसिया में जारी रहना है; और *दूसरा,* यह बपतिस्मा के उद्देश्यों को बताता है।

1. बपतिस्मा नए नियम का एक मसीही संस्कार है, जिसे ख्रीष्ट ने नियुक्त किया। ख्रीष्ट के अग्रदूत यूहन्ना वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने परमेश्वर

के अधिकार से बपतिस्मा दिया। प्रभु ने उसे 'जल से बपतिस्मा देने को भेजा'; 'सारे यहूदिया प्रदेश के, और यरूशलेम के सब रहनेवाले निकलकर उसके पास गए, और अपने पापों को मानकर यरदन नदी में उस से बपतिस्मा लिया' (यूहन्ना 1:33; मरकुस 1:4)। अपनी सार्वजनिक सेवा आरम्भ करने के बाद, यीशु ने अपने पास आने वाले लोगों का बपतिस्मा देने के लिए अपने प्रेरितों को कार्य में लगाया; क्योंकि 'यीशु स्वयं नहीं वरन् उसके चेले बपतिस्मा देते थे' (यूहन्ना 4:2)। यूहन्ना का बपतिस्मा यीशु ख्रीष्ट में विश्वास का चिह्न था जो शीघ्र ही प्रकट होने वाला था; जबकि यीशु के शिष्यों का बपतिस्मा उसमें उस विश्वास की अभिव्यक्ति थी जो अब आ चुका था।

लेकिन नए नियम की कलीसिया में बपतिस्मा को औपचारिक रूप से हमेशा के लिए एक विधि के रूप में तब तक लागू नहीं किया गया था, जब तक कि यीशु ख्रीष्ट का पुनरुत्थान नहीं हुआ था, जब तक उसने अपने शिष्यों को यह आदेश नहीं दिया: 'इसलिये तुम जाओ, सब जातियों के लोगों को चेला बनाओ; और उन्हें पिता, और पुत्र, और पवित्र आत्मा के नाम से बपतिस्मा दो, और उन्हें सब बातें जो मैं ने तुम्हें आज्ञा दी है, मानना सिखाओ : और देखो, मैं जगत के अन्त तक सदा तुम्हारे संग हूँ' (मत्ती 28:19, 20)। इन वचनों में न केवल बपतिस्मा की स्पष्ट स्थापना है, बल्कि यीशु ख्रीष्ट की इच्छा का भी स्पष्ट संकेत है कि इस विधि को आने वाले युगों में कलीसिया में जारी रहनी चाहिए; क्योंकि उसने अपने शिष्यों से प्रतिज्ञा की है कि वह उन्हें सौंपी गई जिम्मेदारी (महान आदेश) को पूरा करने में न केवल उस युग के अंत तक, बल्कि 'जगत के अन्त तक' उनके संग रहेगा। इसीलिए, क्वेकर्स (Quakers) को छोड़कर मसीही धर्म के सभी सम्प्रदायों द्वारा बपतिस्मा की प्रथा को जारी रखा गया है। उन्हें ऐसा लगता है कि, चूंकि सुसमाचार का विशेष गुण पवित्र आत्मा का दिया जाना है, तो जल का बपतिस्मा केवल एक अस्थायी व्यवस्था थी, और अब

उसका स्थान पवित्र आत्मा के बपतिस्मा ने ले लिया है। परन्तु, इस बात पर कोई संदेह नहीं है कि पवित्र आत्मा के उतरने के बाद भी प्रेरितों ने जल से बपतिस्मा दिया था। प्रेरित पतरस यीशु ख्रीष्ट के नाम में बपतिस्मा लेने और पवित्र आत्मा को प्राप्त करने के बीच अंतर बताता है; और उसने वास्तव में उन्हें बपतिस्मा दिया जिन्होंने पहले ही पवित्र आत्मा पा लिया था (प्रेरितों के काम 2:38; 10:47)। इसलिए, ऐसा लगता है कि पतरस का मानना था कि पवित्र आत्मा का बपतिस्मा जल के बपतिस्मा का स्थान नहीं लेता है।

2. यह भाग बपतिस्मा के उद्देश्यों को बताता है:

क. यह दृश्यमान कलीसिया में, और उसके सभी विशेषाधिकारों के लिए बपतिस्मा पाए व्यक्ति का एक पवित्र प्रवेश है।

> 'इस बात का माना जाना है कि बपतिस्मा पाए व्यक्ति के पास पहले ही से इन विशेषाधिकारों का अधिकार है, और यह उन्हें दृश्यमान कलीसिया का सदस्य नहीं *बनाता* है, बल्कि उन्हें पवित्र गम्भीरता से कलीसिया में *स्वीकार* करता है। और इसलिए इसे न तो '*मसीही बनाना*' कहना चाहिए और न ही ऐसा माना जा सकता है – अर्थात, कि व्यक्तियों को मसीही बनाया जाता है: क्योंकि विश्वासी माता-पिता के शिशुओं का जन्म वाचा के अंतर्गत होता है. और इसलिए वे मसीही हैं और दृश्यमान कलीसिया के सदस्य हैं; और बपतिस्मा के द्वारा उनके इस अधिकार को पहचाना जाता है, और उन्हें कलीसिया के सदस्यों के विशेषाधिकारों में गम्भीरता के साथ प्रवेश दिया जाता है।'[134]

ख. यह अनुग्रह की वाचा, और इस वाचा से मिलने वाले लाभों का चिह्न और छाप है। ये लाभ हैं, यीशु ख्रीष्ट में अभ्यारोपित किया जाना, या उसके साथ मेल; यीशु ख्रीष्ट के लहू के कारण पापों की क्षमा; और ख्रीष्ट

[134] Boston, *Complete Body of Divinity*, vol. iii, p. 307.

के पवित्र आत्मा के द्वारा नया जन्म पाना। इसका यह अर्थ नहीं है कि पापों की क्षमा और नया जन्म बपतिस्मा से अटूट रूप से जुड़े हुए हैं; हमारे अंगीकार-कथन में, बाद वाले भाग में, स्पष्ट रीति से इस विचार के विरुद्ध चेतावनी दी गई है कि 'वे सब जिनका बपतिस्मा होता है निस्संदेह नया जन्म पाएंगे'।

ग. यह बपतिस्मा पाए व्यक्ति का परमेश्वर के प्रति समर्पण, और नए जीवन में चलने के लिए प्रतिबद्धता का चिह्न और छाप है। बपतिस्मा समर्पण की एक विधि है, जिसमें बपतिस्मा पाए व्यक्ति को पूरी गम्भीरता के साथ अब, पूर्ण रूप से, और सदा के लिए परमेश्वर का होने और उसके लिए जीने के लिए सौंप दिया जाता है। मानो उसे शैतान, संसार और शरीर के विरुद्ध लड़ने के लिए यीशु ख्रीष्ट के झंडे तले भरती किया जाता है। वह हर अन्य स्वामी और अन्य प्रभु को त्यागने, और 'अपने जीवन के सभी दिनों में पवित्रता और धार्मिकता के साथ परमेश्वर की सेवा करने के लिए बाध्य है'।

भाग 2

इस संस्कार में उपयोग किया जाने वाला बाहरी तत्व जल है, जिसके द्वारा व्यक्ति को पिता, और पुत्र और पवित्र आत्मा के नाम में, विधिपूर्वक बुलाए गए सुसमाचार के अभिषिक्त सेवक द्वारा, बपतिस्मा दिया जाना चाहिए (मत्ती 3:11; 1 यूहन्ना 1:33; 28:19 – 20)।

व्याख्या

इस भाग में निम्न बिंदु सम्मिलित हैं:

1. बपतिस्मा के संस्कार में उपयोग किया जाने वाला बाहरी तत्व जल है। यह बाहरी चिह्न यीशु ख्रीष्ट के लहू और पवित्र आत्मा को दर्शाता है (प्रकाशितवाक्य 1:5; तीतुस 3:5)। जिस प्रकार जल के पास शरीर से

अशुद्धियों को दूर करने का शुद्धिकरण गुण होता है, उसी रीति से यीशु ख्रीष्ट का लहू पाप के दोष को दूर करता है और दूषित विवेक को शुद्ध करता है, और ख्रीष्ट का पवित्र आत्मा हमारे मन और आत्मा को पाप की गंदगी से पवित्र करता है।

2. बपतिस्मा पिता के नाम से, पुत्र के नाम से, और पवित्र आत्मा के नाम से दिया जाना चाहिए। पिता के नाम से, और पुत्र के नाम से और पवित्र आत्मा के नाम से बपतिस्मा लेने का अर्थ है कि हमें पवित्र त्रिएक परमेश्वर के व्यक्तियों के अधिकार द्वारा बपतिस्मा दिया गया है; कि हमें पवित्र त्रिएक के विश्वास और अंगीकार में बपतिस्मा दिया गया है; और हम परमेश्वर में इन तीनों व्यक्तियों की सेवा के लिए पूरी गम्भीरता से समर्पित हैं।

3. बपतिस्मा विधिपूर्वक बुलाए गए सुसमाचार के अभिषिक्त सेवक द्वारा दिया जाना चाहिए। बपतिस्मा देने का अधिकार केवल उन्हीं के पास है जिन्हें यीशु ख्रीष्ट से सुसमाचार का प्रचार करने का आदेश मिला है (मत्ती 28:19)। आरम्भिक कलीसिया में इस विधि को देने वाले किसी भी व्यक्ति का कोई ऐसा विवरण हमें नहीं मिलता, जिसे सामान्य या अलौकिक रूप से सेवकाई के काम के लिए न बुलाया गया हो। यह एक आधारहीन विचार है कि उद्धार के लिए बपतिस्मा बेहद आवश्यक है, इस बात के कारण रोम के चर्च ने बहुत ही आपात स्थिति में आम लोगों (पुरुषों और महिलाओं) को यह संस्कार निभाने की अनुमति दी है।

भाग 3

व्यक्ति को जल में डुबाना आवश्यक नहीं है; बल्कि बपतिस्मा सही रीति से व्यक्ति पर जल उण्डेल कर या छिड़काव द्वारा दिया जाता है (इब्रानियों 9:10, 19 – 22; प्रेरितों के काम 2:41; 16:33; मरकुस 7:4)।

व्याख्या

यह भाग बपतिस्मा *देने के तरीके* से सम्बन्धित है। यह एक ऐसा विषय है जिसने मसीही लोगों के बीच बहुत विवाद पैदा किया है, और यह विवाद आज भी पूरे जोश के साथ जारी है। मसीही लोगों का एक बड़ा और सम्मानित समूह जोर देकर कहता है कि बपतिस्मा तभी मान्य हो सकता है जब वह व्यक्ति को डुबा कर, या पूरे शरीर को जल में डुबोकर दिया जाए। हमारा अंगीकार-कथन इस बात से इनकार नहीं करता कि बपतिस्मा जल में डुबोकर भी सही रीति से दिया जा सकता है; बल्कि यह मानता है कि व्यक्ति पर जल डालकर या छिड़क कर बपतिस्मा देने का सही तरीका है। यूनानी शब्द *बैपटाइज़* (Baptize) या इसके मूल शब्द से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि यह बात संतोषजनक रीति से प्रमाणित की जा चुकी है कि इसका अर्थ किसी भी रीति से जल से धोना होता है। नए नियम में बपतिस्मा देने के कई उदाहरण लिखे हैं; और इनमें से कुछ मामलों में यह विश्वास करना कठिन है कि बपतिस्मा जल में पूरी रीति से डुबोकर दिया गया था। जब एक ही दिन में तीन हज़ार लोगों को बपतिस्मा दिया गया था, तो यह सोचना कठिन है कि प्रेरित इतने कम समय में इतनी बड़ी भीड़ को जल में डुबोने में सक्षम थे। जब पूरे घराने को उनके घरों में बपतिस्मा दिया गया था, तो यह नहीं माना जा सकता कि हर बार पूरी रीति से डुबकी लगाने के लिए पर्याप्त जल मिल जाता होगा। इसके अतिरिक्त, बपतिस्मा से मिलने वाले आत्मिक लाभ को पवित्रशास्त्र में प्रायः जल छिड़कने और उडेलने के माध्यम से बताया गया है (यशायाह 44:3; यहेजकेल 36:25; इब्रानियों 10:22; 12:24; तीतुस 3:5, 6)। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ मामलों में, सुविधा या मर्यादा के कारणों से; और न ही कुछ देशों में, और कुछ विशेष मौसम में जल में डुबोकर बपतिस्मा नहीं दिया जा सकता; ऐसा करना शरीर के स्वास्थ्य के लिए जोखिम भरा हो सकता है। इससे कम से कम इस बात का दृढ़ अनुमान मिलता है कि

व्यक्ति को जल में डुबोना पूरी रीति से आवश्यक नहीं है; और इन सब विचारों को ध्यान में रखते हुए, हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि व्यक्ति पर जल छिड़ककर या जल डालकर बपतिस्मा देना ही पर्याप्त और सबसे उचित तरीका है।

भाग 4

न केवल उन लोगों को बपतिस्मा दिया जाना चाहिए जो वास्तव में ख्रीष्ट में विश्वास और आज्ञाकारिता को अंगीकार करते हैं (मरकुस 16:15 – 16; प्रेरितों के काम 8:37 – 38), बल्कि एक या दोनों विश्वासी माता-पिता के शिशुओं को भी बपतिस्मा दिया जाना चाहिए (उत्पत्ति 17:7, 9 के साथ गलातियों 3:9, 14 और कुलुस्सियों 2:11 – 12 और प्रेरितों के काम 2:38 – 39 और रोमियों 4:11 – 12; मत्ती 28:19; मरकुस 10:13 – 16; लूका 18:15; 1 कुरिन्थियों 7:14)।

व्याख्या

यह भाग बपतिस्मा पाने *योग्य लोगों* से सम्बन्धित है। कि उन सभी *वयस्क* लोगों को बपतिस्मा दिया जाना चाहिए जो वास्तव में यीशु ख्रीष्ट में विश्वास और आज्ञाकारिता का अंगीकार करते हैं, और जिनका बपतिस्मा उनके बचपन में नहीं हुआ है, इस बात को उन सभी लोगों द्वारा स्वीकार किया गया है जो इस संस्कार को परमेश्वर द्वारा स्थापित मानते हैं।

परन्तु ऐसे बहुत से लोग हैं जो पूरे विश्वास से दावा करते हैं कि बपतिस्मा केवल वयस्कों तक ही सीमित होना चाहिए। मूल रूप से इन्हें एनाबैप्टिस्ट कहा जाता था, क्योंकि वे लोग उन लोगों को फिर से बपतिस्मा देते थे जिनका बचपन में बपतिस्मा हुआ था, और इन्हें एंटी-पेडोबैपटिस्ट (Antipaedobaptist) भी कहा जाता है, क्योंकि ये बच्चों के बपतिस्मा के विरुद्ध थे। वे अब स्वयं को बैपटिस्ट कहते हैं; परन्तु हम उन्हें यह नाम

नहीं दे सकते, यदि इसका अर्थ यह हो कि अन्य लोग सुसमाचार के सिद्धांतों के अनुसार बपतिस्मा नहीं देते हैं, और उन्होंने बपतिस्मा नहीं लिया है।[135] हमारा अंगीकार-कथन इस बात की पुष्टि करता है कि 'एक या दोनों विश्वासी माता-पिता के शिशुओं को भी बपतिस्मा दिया जाना चाहिए'। इस बात की पुष्टि कई तर्कों द्वारा की जा सकती है; लेकिन उनमें से कुछ ही यहाँ बहुत संक्षेप में बताए जा सकते हैं।

1. विश्वास करने वाले माता-पिता के शिशुओं को वाचा के अंतर्गत माना जाना चाहिए, और इसलिए वे उसकी छाप या मुहर प्राप्त करने के लिए अधिकार रखते हैं। परमेश्वर ने अब्राहम से जो वाचा बाँधी थी, वह मूल रूप से वैसी ही थी जैसी वाचा के अंतर्गत अब विश्वासी लोग हैं। यह बात उत्पत्ति 17:7 (जहाँ अब्राहम के साथ बाँधी गई वाचा का उल्लेख है) की तुलना इब्रानियों 8:10 से करने पर स्पष्ट होती है, जहाँ नई वाचा का उल्लेख है। पहली वाचा में, प्रतिज्ञा यह है: 'और मैं तेरे साथ, और तेरे पश्चात् पीढ़ी–पीढ़ी तक तेरे वंश के साथ भी इस आशय की युग–युग की वाचा बाँधता हूँ, कि मैं तेरा और तेरे पश्चात् तेरे वंश का भी परमेश्वर रहूँगा।' और दूसरी में: 'मैं उनका परमेश्वर ठहरूँगा और वे मेरे लोग ठहरेंगे।' इस प्रकार हम देखते हैं कि जब परमेश्वर ने अब्राहम के साथ अपनी वाचा बाँधी, तो उसने उस वाचा में उसकी संतान को भी सम्मिलित किया; और अब्राहम और उसके वंश से की गई वह प्रतिज्ञा आज भी हमारे लिए लागू है, यह बात प्रेरित पतरस की स्पष्ट घोषणा से स्पष्ट होती है: 'यह प्रतिज्ञा तुम और तुम्हारी सन्तानों के लिए भी है' (प्रेरितों के काम 2:39)। यदि बच्चों को वाचा में सम्मिलित किया गया है, तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उनके पास बपतिस्मा का अधिकार है, जो वाचा की छाप या मुहर है।

2. पुराने नियम की व्यवस्था के अधीन शिशुओं का खतना किया जाता था; और चूंकि नए नियम के अधीन बपतिस्मा ने खतना का स्थान

[135] Dwight, *Sermon 147*.

लिया है, इसलिए हम इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत शिशुओं के पास बपतिस्मा का अधिकार है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पुराने नियम के अधीन, परमेश्वर पर विश्वास करने वाले लोगों के बच्चों का खतना किया जाता था; क्योंकि आज्ञा एकदम स्पष्ट है: 'तुम में से एक-एक पुरुष का खतना हो' (उत्पत्ति 17:10)। कि खतने का स्थान अब बपतिस्मा ने लिया है, यह बात कुलुस्सियों 2:11 से स्पष्ट है, जहाँ इसे 'मसीह का खतना' कहा गया है। इससे यह अर्थ निकलता है कि, या तो कलीसिया के विशेषाधिकार अब बहुत कम कर दिए गए हैं, या फिर कलीसिया के सदस्यों के बच्चों को अब बपतिस्मा दिया जाना चाहिए, जिस प्रकार से पुराने व्यवस्था के अधीन उनका खतना किया जाता था।

3. कि विश्वास करने वाले मसीही लोगों के बच्चे दृश्यमान कलीसिया के सदस्य हैं, और इसलिए वे बपतिस्मा पाने का अधिकार रखते हैं, यह बात हमारे उद्धारकर्ता के इन वचनों से स्पष्ट होती है: 'बालकों को मेरे पास आने दो, और उन्हें मना न करो; क्योंकि परमेश्वर का राज्य ऐसों ही का है' (लूका 18:16)। परमेश्वर के राज्य का यहाँ पर अर्थ हम मानते हैं पृथ्वी पर स्थित कलीसिया से है; और यदि बच्चे दृश्यमान कलीसिया के सदस्य हैं, तो इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उनके पास बपतिस्मा लेने का अधिकार है, जो कलीसिया में प्रवेश का चिह्न है। परन्तु यदि 'परमेश्वर के राज्य' को महिमा की अवस्था समझा जाए, तो निष्कर्ष दृढ़ता से निकलता है कि अनन्त जीवन के वारिस होने के नाते, उन्हें उस संस्कार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए, जो उसके लिए उनके अधिकार का चिह्न है।

4. शिशुओं के बपतिस्मा के औचित्य को प्रेरितों को दिए गए 'सब जातियों के लोगों' को बपतिस्मा देने की आज्ञा से निकाला जा सकता है, जिसमें निश्चित रूप से शिशु भी सम्मिलित हैं; और प्रेरितों के उस कार्य से, जिसमें वे 'घरानों या परिवारों' के मुखिया द्वारा विश्वास की घोषणा करने

पर 'पूरे घराने या परिवार' को बपतिस्मा देते थे। पौलुस ने लुदिया और 'उसके घराने', फिलिप्पी के दरोगा और 'उसके अपने सब लोगों' और 'स्तिफनास के घराने' को बपतिस्मा दिया (प्रेरितों के काम 16:15 33; 1 कुरिन्थियों 1:16)।

> 'अब, यद्यपि हमें निश्चित नहीं पता कि इनमें से किसी घराने में छोटे बच्चे थे या नहीं, लेकिन इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि वे रहे होंगे। फिर भी, पारिवारिक बपतिस्मा, परिवार के सभी छोटे सदस्यों को घराने के मुखिया के विश्वास के आधार पर बपतिस्मा देने का महान सिद्धांत स्पष्ट और निर्णायक रूप से स्थापित होता दिखता है। यह एक ऐसा आधार देता है जिस पर शिशु-बपतिस्मा के समर्थक अटूट विश्वास के साथ खड़े हो सकते हैं।'[136]

5. विश्वास करने वाले माता-पिता के शिशुओं को बपतिस्मा दिया जाना चाहिए; और यह पर्याप्त है यदि माता-पिता में से कोई एक दृश्यमान कलीसिया का सदस्य है, यह बात 1 कुरिन्थियों 7:14 से स्पष्ट होती है: 'क्योंकि ऐसा पति जो विश्वास न रखता हो, वह पत्नी के कारण पवित्र ठहरता है; और ऐसी पत्नी जो विश्वास नहीं रखती, पति के कारण पवित्र ठहरती है; नहीं तो तुम्हारे बाल–बच्चे अशुद्ध होते, परन्तु अब तो पवित्र हैं।'

> 'पवित्रशास्त्र में लगभग हर स्थान पर अशुद्ध शब्द, उस बात को दिखाता है जिसे परमेश्वर को चढ़ाया नहीं जा सकता, या जो उसके मंदिर में नहीं लाया जा सकता। सभी गैर-यहूदी इसी श्रेणी में आते थे; और इसीलिए, प्रथानुसार और कहावतनुसार, यहूदी लोग उन्हें अशुद्ध कहते थे। यहाँ जिन अविश्वासियों की बात की गई है, वे गैर-मसीही थे, और इसलिए अशुद्ध माने जाते थे। इस मायने में, गैर-मसीही माता-पिता से जन्में बच्चों को भी

[136] शिशु बपतिस्मा पर Miller की व्याख्या

> यहाँ अशुद्ध कहा गया है, क्योंकि, सही मायने में वे भी गैर-मसीही ही हैं। पवित्र होना, जिस अर्थ में यहाँ उपयोग हुआ है, वह अशुद्ध का विपरीत है, और उस वस्तु को दिखाते है जिसे परमेश्वर चढ़ाया जा सकता है। यहाँ बताई गई वस्तुओं के संदर्भ में पवित्र ठहरने का अर्थ है, धार्मिक कार्यों के लिए अलग किया जाना या परमेश्वर को समर्पित किया जाना – जैसे कि परिवार के पहिलौठे, और मंदिर के बर्तन थे; या फिर परमेश्वर के समक्ष उपस्थित होने के योग्य स्थिति में होना। इस पद में यह बताया गया है कि माता-पिता में से एक अविश्वासी, विश्वास करने वाले एक माता या पिता के साथ अपने सम्बन्ध के कारण इतने पवित्र हो जाते हैं कि उनकी सन्तानें अशुद्ध नहीं होतीं, बल्कि उन्हें परमेश्वर को समर्पित किया जा सकता है। कोई और दूसरा अर्थ नहीं है जिसमें एक यहूदी इन वचनों के साथ कोई शर्त जोड़े बगैर, इन वचनों को लिख सकता था। बपतिस्मा ही वह एकमात्र निर्धारित तरीका है जिसमें बच्चों को परमेश्वर के लिए समर्पित किया जा सकता है। इसलिए, विश्वास करने वाले माता-पिता की सन्तानों को बपतिस्मा में परमेश्वर को समर्पित किया जाना चाहिए।'[137]

शिशुओं के बपतिस्मा के औचित्य के विरुद्ध सामान्य रूप से जो आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, वे या तो अपने आप में नासमझ वाली होती हैं या फिर इस संस्कार के विषय में गलत धारणाओं से निकलती हैं। क्या यह तर्क दिया जाता है कि नए नियम में मसीही विश्वास को मानने वालों के शिशुओं को बपतिस्मा देने की कोई स्पष्ट आज्ञा नहीं है? हम उत्तर देते हैं, कि ठीक यही अपेक्षा की जा सकती थी, क्योंकि पुराने नियम के तहत परमेश्वर पर विश्वास करने वाले लोगों के बच्चों की कलीसियाई सदस्यता पूर्ण रूप से स्थापित की गई थी, और खतना की विधि के माध्यम से उन्हें प्रवेश दिया जाना एक ऐसा अधिकार था, जो अच्छी रीति से प्रसिद्ध था, और सार्वभौमिक रूप से उनको दिया जाता था; इसलिए, जब तक कि इसका

[137] Dwight's *Theology, Sermon 158*.

उद्देश्य नए नियम के तहत विश्वास करने वाले माता-पिता के बच्चों के विशेषाधिकारों को समाप्त करना न रहा हो, तब तक उनकी सन्तानों के बपतिस्मा के लिए किसी स्पष्ट आज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं थी। लेकिन नए नियम में ऐसा कोई भी संकेत नहीं दिया गया है कि शिशुओं को मिलने वाला वह विशेषाधिकार, जिसका लाभ वे पुरानी व्यवस्था के तहत लम्बे समय से उठाते आए थे, उसे अब वापस ले लिया जाएगा; और चूंकि यह विशेषाधिकार रद्द नहीं किया गया है, इसलिए इसे जारी रहना चाहिए।

यदि यह पूछा जाए, बपतिस्मा से शिशुओं को क्या लाभ हो सकता है? तो इसी औचित्य से, हम उत्तर देते हैं, कि यह भी पूछा जा सकता है, कि, आठ दिन का बच्चा, खतना से क्या लाभ पा सकता है? ऐसा प्रश्न पूछना लगभग अधर्म जैसा है, क्योंकि इसका अर्थ होगा – परमेश्वर की बुद्धि पर प्रश्न उठाना। उसने पुराने नियम के तहत शिशुओं का खतना करने का नियम ठहराया था; और इसी औचित्य से नए नियम के तहत भी बपतिस्मा को दिया जाता है।

क्या इस बात पर आपत्ति की जाती है कि नए नियम में शिशुओं के बपतिस्मा का कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं है? हम उत्तर देते हैं, कि नए नियम में बपतिस्मा के जितने भी मामले लिखे हैं, वे ऐसे मामले हैं जिनमें इसे यहूदी धर्म या मूर्तिपूजक धर्म को छोड़कर मसीही धर्म को अपनाने वालों को दिया गया था; और यदि हम कहीं स्पष्ट रूप से यह लिखा हुआ नहीं पाते, कि मसीही माता-पिता से जन्मे किसी भी शिशु का बपतिस्मा नहीं हुआ था, तो हम ऐसा कोई उदाहरण भी नहीं पाते हैं कि मसीही माता-पिता से जन्में हुए लोगों का बपतिस्मा वयस्क उम्र में हुआ था। यह वर्तमान समय में हमारी प्रथा से पूरी रीति से मेल खाता है। हम यहूदियों या गैर-मसीही धर्म में से मसीही धर्म अपनाने वाले वयस्कों को बपतिस्मा देते हैं; और जिस प्रकार प्रेरितों ने घर के मुखिया के विश्वास पर 'पूरे घराने' को बपतिस्मा दिया, वैसे ही हम भी विश्वास करने वाले मसीही लोगों के बच्चों को

बपतिस्मा देने का स्वयं में अधिकार रखते हैं। लेकिन जो लोग विश्वास करने वाले मसीही लोगों के बच्चों के बपतिस्मा को उनके वयस्क होने तक टाल देते हैं, उनकी इस प्रथा के लिए कोई पूर्ववर्ती उदाहरण नहीं है; हालाँकि, प्रेरितों के काम की पुस्तक में तीस वर्ष से अधिक तक कलीसिया का इतिहास मिलता है, जिस दौरान प्रेरितों द्वारा बपतिस्मा पाए लोगों के बच्चे अवश्य ही वयस्क हो गए होंगे, फिर भी हमारे पास मसीही माता-पिता से जन्में किसी भी व्यक्ति के बपतिस्मा का कोई लिखित रिकॉर्ड नहीं है। इस चुप्पी से हम न्यायोचित निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनका बपतिस्मा बचपन में ही हुआ होगा; और हम वयस्क होने पर बपतिस्मा दिए जाने के पक्ष में बोलने वालों को चुनौती देते हैं कि वे इस प्रथा का पवित्रशास्त्र में से एक भी उदाहरण पेश करें।

यह तर्क दिया जाता है, कि शिशु यीशु ख्रीष्ट में अपने विश्वास का अंगीकार नहीं कर सकते? हम उत्तर देते हैं कि, जब बपतिस्मा के लिए विश्वास, या उसके अंगीकार को शर्त के रूप में मानते हैं, तो यह सदैव माना जाता है कि बपतिस्मा पाने वाले, शिक्षा ग्रहण करने में सक्षम हैं; और यदि इससे कुछ प्रमाणित होता, तो यह बहुत कुछ प्रमाणित कर देता; इस आपत्ति के लिए, यदि यह शिशुओं के बपतिस्मा के विरुद्ध है, तो यह शिशुओं के उद्धार के विरुद्ध भी वैध होना चाहिए, क्योंकि वयस्कों के मामले में, पवित्रशास्त्र विश्वास और इसके अंगीकार को, एक के साथ-साथ दूसरे के साथ भी जोड़ता है।

भाग 5

यद्यपि इस अध्यादेश का तिरस्कार या उपेक्षा करना एक बहुत बड़ा पाप है (लूका 7:30; निर्गमन 4:24 – 26), फिर भी अनुग्रह और उद्धार इससे इतने अभिन्न रीति से जुड़े हुए नहीं हैं, कि इसके बिना कोई भी व्यक्ति नया जन्म या उद्धार नहीं पा सकता है (रोमियों 4:11; प्रेरितों के काम

10:2, 4, 22, 31, 45, 47), या यह कि बपतिस्मा लेने वाले सभी लोग निस्संदेह नया जन्म प्राप्त लोग हैं (प्रेरितों के काम 8:13, 23)।

व्याख्या

यह भाग पुष्टि करता है:

1. उद्धार के लिए बपतिस्मा इतना नितांत आवश्यक नहीं है, कि इसके बिना किसी का उद्धार न हो सके। परमेश्वर ने बपतिस्मा और विश्वास को समान रूप से आवश्यक नहीं बनाया है (मरकुस 16:16)। पश्चाताप करने वाले चोर को बपतिस्मा के बिना ही उद्धार प्राप्त हुआ था। परन्तु बपतिस्मा उद्धार का एक स्थापित किया हुआ माध्यम है, और इसका तिरस्कार माता-पिता के लिए एक बड़ा पाप होगा, हालाँकि इसकी अनदेखी के लिए बच्चों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जब तक कि वे परिपक्व नहीं हो जाते, और इसलिए, उन्हें इस दोष में सम्मिलित नहीं कर सकते हैं।

2. बपतिस्मा नया जन्म नहीं है, और न ही बपतिस्मा लेने वाला हर व्यक्ति निस्संदेह नया जन्म प्राप्त व्यक्ति है। कि जल का बपतिस्मा नया जन्म है, और विधिवत् बपतिस्मा लेने वाला हर एक व्यक्ति नया जन्म प्राप्त व्यक्ति है – यह रोम के चर्च (रोमन कैथोलिक) का सिद्धांत है; और इस सिद्धांत को प्रोटेस्टेंट कलीसिया में कई लोगों ने अपनाया है, और चर्च ऑफ इंगलैंड की आराधना विधि से भी इसे बहुत समर्थन मिलता है। यह बहुत ही खतरनाक सिद्धांत है; और कि पवित्रशास्त्र से इसका कोई आधार नहीं है, यह बात शमौन जादूगर के मामले से स्पष्ट होती है, जो बपतिस्मा लेने के बाद भी 'पित्त की सी कड़वाहट और अधर्म के बन्धन में पड़ा था' (प्रेरितों के काम 8:13, 23)। पौलुस कोरिन्थ को लिखते हुए कहता है: 'मैं परमेश्वर का धन्यवाद करता हूँ कि क्रिस्पुस और गयुस को छोड़ मैं ने तुम में से किसी को भी बपतिस्मा नहीं दिया।' परन्तु यदि बपतिस्मा नया जन्म

प्राप्त करना है, तो उसका अर्थ यह होगा: 'मैं परमेश्वर का धन्यवाद करता हूँ कि मैंने तुम में से किसी को नया जन्म नहीं दिया।' और क्या पौलुस सचमुच में इस बात के लिए परमेश्वर का धन्यवाद कर सकता था? यह विचार कितना बेतुका है! वह कहता है, 'मसीह ने मुझे बपतिस्मा देने के लिए नहीं भेजा।' लेकिन क्या यह सोचा जा सकता है कि यीशु ख्रीष्ट ने प्रेरितों के मुखिया को नया जन्म के महान कार्य को आगे बढ़ावा देने के लिए नहीं भेजा था? इसमें कोई संदेह नहीं कि पौलुस ने बपतिस्मा और नया जन्म के बीच बहुत बड़ा अंतर किया।

भाग 6

बपतिस्मा की प्रभावशीलता उस समय के क्षण से बंधी हुई नहीं है जिसमें इसे दिया जाता है (यूहन्ना 3:5, 8); फिर भी, इस अध्यादेश के सही उपयोग के द्वारा, न केवल प्रतिज्ञा किया हुआ अनुग्रह प्रदान किया जाता है, बल्कि परमेश्वर की स्वयं की इच्छा के मत के अनुसार, उसके नियुक्त समय में, उन लोगों के लिए (चाहे वे वयस्क हों या शिशु), वास्तव में पवित्र आत्मा के द्वारा दर्शाया एवं प्रदान किया जाता है, जिनके लिए वह अनुग्रह है (प्रेरितों के काम 2:38, 41; गलातियों 3:27; इफिसियों 5:25 – 26; तीतुस 3:5)।

भाग 7

किसी भी व्यक्ति को बपतिस्मा का संस्कार केवल एक बार ही दिया जाना चाहिए (तीतुस 3:5)।

व्याख्या

1. बपतिस्मा की प्रभावशीलता उस समय के क्षण से बंधी हुई नहीं है जिसमें इसे दिया जाता है; लेकिन भले ही जब इसे दिया जाता है उस समय

यह प्रभावकारी न हो, यह बाद में पवित्र आत्मा के कार्य के माध्यम से प्रभावकारी हो सकता है (यूहन्ना 2:5, 8)।

2. किसी भी व्यक्ति को बपतिस्मा एक से अधिक बार नहीं दिया जाना चाहिए। यह बात इस संस्कार की प्रकृति से ही स्पष्ट है। यह बपतिस्मा पाने वाले व्यक्ति का दृश्यमान कलीसिया के एक सदस्य के रूप में गम्भीर स्वीकृति है; और हालाँकि जो लोग 'अनुशासनहीन जीवन जीते हैं' उन्हें बाहर निकाल दिया जाना चाहिए, फिर भी पवित्रशास्त्र में ऐसा कोई संकेत नहीं है कि, जब पुनः स्वीकृत किए जाए, तो उनका बपतिस्मा फिर से किया जाना चाहिए। बपतिस्मा जिस बात को दर्शाता है, उसे दोहराया नहीं जा सकता, और जिन प्रतिज्ञाओं या दायित्वों को इसके तहत स्वीकार किया जाता है, उन्हें कभी भी रद्द नहीं किया जा सकता।

यह टिप्पणी की जा सकती है, कि बपतिस्मा लेने वाले व्यक्ति का *नामकरण* इस विधि का भाग नहीं है। बपतिस्मा के समय बच्चे का नाम घोषित करने के परम्परा सम्भवतः यहूदियों में खतना के समय अपनाई जाने वाली प्रथा से आरम्भ हुई थी (लूका 1:59 – 63)। अपने बच्चे को नाम देने का कार्य माता-पिता का है, और यह कार्य बपतिस्मा से पहले भी किया जा सकता है। बपतिस्मा लेने वाले व्यक्ति का नाम प्रकट करना उचित हो सकता है, जिसे फिर दृश्यमान कलीसिया का सदस्य स्वीकार किया जाता है; परन्तु यह बपतिस्मा के लिए नितांत आवश्यक नहीं है, और न ही यह इस संस्कार का कोई भाग है।

हमें अपने बपतिस्मा को बेहतर बनाना चाहिए, विशेषकर तब जब हम दूसरों को बपतिस्मा दिए जाने के समय वहाँ उपस्थित रहते हैं:

> 'इसकी प्रकृति और उन उद्देश्यों पर जिनके लिए ख्रीष्ट ने इसे स्थापित किया था, इससे प्राप्त होने वाले एवं मुहरबंद हुए विशेषाधिकारों और लाभों पर, और इसमें किए गए हमारे गम्भीर प्रतिज्ञा पर गम्भीरता और कृतज्ञतापूर्वक विचार करके; हमारे पापमय अशुद्धता, हमारे महिमा से

रहित होने, बपतिस्मा के अनुग्रह, और हमारी प्रतिज्ञाओं के अनुसार जीवन न जीने और उसके उलट जीवन जीने के लिए विनम्र होने के द्वारा; पापों की क्षमा और इस संस्कार में हमारे लिए मुहरबंद अन्य सभी आशीषों के आश्वासन के प्रति आत्मिक उन्नति में बढ़ने के द्वारा; यीशु ख्रीष्ट की मृत्यु और पुनरुत्थान से शक्ति पाने के द्वारा, जिसमें हमारा बपतिस्मा पाप को मारने और अनुग्रह को प्रोत्साहित करने के लिए हुआ है; विश्वास के द्वारा जीवन जीने का प्रयास करके, पवित्रता और धार्मिकता में हमारा वार्तालाप होना, उन लोगों के समान जिन्होंने ख्रीष्ट के नाम को अपनाया है, और भाईचारे के प्रेम में चलना, क्योंकि हमने एक ही आत्मा के द्वारा एक ही शरीर में बपतिस्मा पाया है।'[138]

[138] *The Larger Catechism,* Question 167.

अध्याय 29

प्रभु भोज

भाग 1

हमारे प्रभु यीशु ने, जिस रात वह पकड़वाया गया, संसार के अन्त तक, अपनी कलीसिया में मनाए जाने के लिए, अपनी देह और लहू के संस्कार की स्थापना की, जिसे प्रभु भोज कहा जाता है; यह उसकी मृत्यु में उसके बलिदान की चिरस्थायी स्मरण के लिए, इसके द्वारा सच्चे विश्वासियों को दिए गए सभी लाभों पर मुहर लगाने के लिए, उसमें उनके आत्मिक पोषण एवं उन्नति के लिए, उनके द्वारा उसके प्रति सभी कर्तव्यों में उनकी भागीदारी के लिए और उसकी रहस्यमयी देह के सदस्य के रूप में, उसके साथ, और एक दूसरे के साथ, उनकी संगति का बन्धन एवं प्रतिज्ञा बनने के लिए है (1 कुरिन्थियों 11:23 – 26; 10:16 – 17, 21; 12:13)।

व्याख्या

यह अध्याय प्रभु भोज के विषय पर चर्चा करता है; और वर्तमान भाग घोषित करता है: (1) इस संस्कार के कर्ता को; (2) इसके स्थापन के समय को; (3) कलीसिया में इसके निरन्तर जारी रहने को; (4) इसके लाभों और उद्देश्यों को जिसके लिए इसे ठहराया गया है।

1. *इस संस्कार का कर्ता (रचयिता) प्रभु यीशु ख्रीष्ट है*। कलीसिया का राजा एवं प्रधान के रूप में, मसीही विश्वास की विधियों को स्थापित करना ख्रीष्ट का विशेषाधिकार है; और उसके स्थापन में कुछ भी जोड़ने या घटाने की हमारे पास छूट नहीं है। हमारे उद्धारकर्ता द्वारा इस संस्कार की स्थापना

का उल्लेख पहले तीन सुसमाचार लेखकों (मत्ती 26:26 – 28; मरकुस 14:22 – 24; लूका 22:19, 20), और प्रेरित पौलुस द्वारा किया गया है, जो घोषणा करता है कि, 'यह बात मुझे प्रभु से पहुँची, और मैं ने तुम्हें (कलीसिया को) भी पहुँचा दी' (1 कुरिन्थियों 11:23 – 26)।

2. *हमारे प्रभु यीशु ने इस संस्कार को उसी रात स्थापित किया 'जिस रात वह पकड़वाया गया था'*। जब यीशु अपने शिष्यों के साथ फसह का भोज खा रहे थे, तभी उसने इस पवित्र संस्कार को स्थापित किया; इस परिस्थिति से हम निष्कर्ष निकालते हैं कि एक (फसह) को दूसरे (प्रभु भोज) में बदल दिया गया था, और कि बाद वाला अब से पहले वाले का स्थान लेने वाला था। इसी कारण से इस संस्कार को सामान्य रूप से यह नाम दिया गया है। प्रभु यीशु ख्रीष्ट के द्वारा स्थापित किया जाना, और फसह खाने के तुरन्त बाद उसके द्वारा नियुक्त किया जाना, जो सदैव संध्याकाल को मनाया जाता था, तो इसी अत्यंत औचित्य के साथ इसे *प्रभु भोज* कहा जाता है। जब हम इस संस्कार की स्थापना के समय पर विचार करते हैं, तो हमें उस साहस की एक अद्‌भुत झलक मिलती है जिसके साथ यीशु ने अपने अतुलनीय दुःखों का सामना किया, और उस अनोखे प्रेम की भी जो वह अपने लोगों से करता था; और हमें इस भोज को मनाने की पवित्र जिम्मेदारी को महसूस करना चाहिए। उस रात यीशु को पकड़ने और उसे अपमानजनक मृत्यु देने की योजना बनाने के लिए यहूदी शासक और मुख्य याजक लोग गुप्त रूप से एक साथ मिले थे। उस रात में उसके अपने ही शिष्यों में से एक ने उसके साथ विश्वासघात किया, दूसरों ने पहचानने से इनकार कर दिया, और बाकी सभी ने उसे उसके दुष्ट शत्रुओं के क्रोध के हवाले कर दिया। उसे परमेश्वर के न्याय की तलवार द्वारा मारा जाना, और उसके परमेश्वर द्वारा त्यागा जाना था – क्रूरता से ठट्ठों में उड़ाया जाना था और कोड़े मारे जाने थे – उसे क्रूस पर चढ़ाने के लिए ले जाया जाना था, और वहाँ उसे अपने प्राण को मृत्यु के लिए उंडेलना था। यीशु को इन सब बातों की पूरी जानकारी थी; फिर भी, उन भयानक दुःखों को सामने देखते

हुए जिनको उसने सहना था, उसका मन इतना शांत और स्थिर था, अपने लोगों के प्रति उसका प्रेम इतना अतुलनीय था, उनके आत्मिक लाभ के विषय में उसकी चिंता इतनी थी, कि उसने आने वाले सभी युगों में उनके प्रोत्साहन और सांत्वना के लिए इस संस्कार की स्थापना की। क्या उसे इतनी मार्मिक परिस्थिति में उनका स्मरण आया? और क्या इससे उन्हें भी उसका स्मरण नहीं आएगा? क्या वे जान-बूझकर उस संस्कार या विधि को कम महत्व देंगे जिसे उसने अपनी मृत्यु से ठीक पहले तय किया था, और उस मित्र के अंतिम आज्ञा की अनदेखी करेंगे जिसने उनके लिए अपनी जान दे दी?

3. *प्रभु भोज के संस्कार को संसार के अंत तक कलीसिया में मनाया जाना है*। प्रेरित पौलुस के वचनों में यह बात स्पष्ट रूप से निहित है: 'क्योंकि जब कभी तुम यह रोटी खाते और इस कटोरे में से पीते हो, तो प्रभु की मृत्यु को जब तक वह न आए, प्रचार करते हो' (1 कुरिन्थियों 11:26)। इस बात को हर स्थान में इतना माना गया है कि संसार के अंत तक सभी मसीही लोगों के लिए इस संस्कार का पालन करना बाध्यकारी है; इसलिए, क्वेकर्स (Quakers) को छोड़कर, मसीही कलीसिया में आरम्भिक समयों से लेकर वर्तमान समय तक इसका पालन किया जाता रहा है।

4. *इस संस्कार के उद्देश्य एवं उपयोग अनेक हैं*।

क. ख्रीष्ट की मृत्यु का स्मारक होने के लिए इसे स्थापित किया गया था। यह एक स्मरण करने वाला संस्कार है, यह बात हमारे उद्धारकर्ता के वचनों से प्रकट होती है: 'मेरे स्मरण के लिये यही किया करो'; और कि यह विशेष रूप से उसकी मृत्यु का एक स्मारक है, यह उसके उन वचनों से स्पष्ट होता है जो उसने उन पदार्थों को बाँटते समय कहे थे। जब उसने अपने शिष्यों को रोटी दी, तो उसने कहा: 'यह मेरी देह है, जो तुम्हारे लिये *तोड़ी* जाती है'; और कटोरे के विषय में उसने कहा: 'यह कटोरा *मेरे लहू* में नई वाचा है।' यह संस्कार हमें यीशु ख्रीष्ट की मृत्यु की सच्चाई और उसके दर्दनाक स्वरूप को स्मरण दिलाने के लिए पूरी रीति से उपयुक्त है

– हमें यह स्मरण दिलाने के लिए कि उसकी मृत्यु दूसरों के स्थान पर हुई थी, कि यह हमारे पापों के लिए एक प्रायश्चित के रूप में परमेश्वर को स्वीकार्य योग्य थी, और कि इसकी प्रभावकारिता के विषय में जो आज भी एवं निरन्तर जारी रहने वाली है। और हमें उसकी मृत्यु को एक जीवंत एवं सच्चे विश्वास के साथ; उस व्यक्ति के प्रति गहरे प्रेम के साथ जिसने हमसे पहले प्रेम किया; अपने पापों के लिए गहन पछतावे के साथ, जो उसकी मृत्यु का कारण बने; और परमेश्वर में पवित्र आनन्द के साथ; और ख्रीष्ट के प्रति गहरे आभार के साथ स्मरण रखना चाहिए, जिसने स्वयं को परमेश्वर के लिए एक सुखद सुगंध वाली भेंट और बलिदान के रूप में अर्पण किया।

ख. यह संस्कार सच्चे विश्वासियों के लिए ख्रीष्ट की मृत्यु से मिलने वाले लाभों पर मुहर लगाता है। यह न तो ख्रीष्ट की मृत्यु की सच्चाई पर, और न ही उनके विश्वास की सच्चाई पर मुहर लगाता है; बल्कि यह विश्वास के अधिकार और लाभ पर मुहर लगाता है, जिस प्रकार किसी दस्तावेज पर लगी मुहर उस दस्तावेज के माध्यम से स्थानांतरित की गई संपत्ति में व्यक्ति के अधिकार एवं लाभ को पक्का करती है।

ग. यह विश्वासियों के आत्मिक पोषण एवं विकास को बढ़ावा देता है। इस संस्कार में पूरी श्रद्धा के साथ भाग लेना उनके विश्वास की पुष्टि और दृढ़ करने के लिए, उनके प्रेम को और बढ़ाने के लिए, उनके ईश्वरीय शोक को गहरा करने के लिए, उनके आनन्द को जीवंत करने के लिए, और उद्धारकर्ता के दूसरे आगमन पर उनकी आशा को बढ़ाने एवं दृढ़ करने के लिए, और तब प्रकट होने वाली महिमा के विषय में उपयुक्त है।

घ. यह ख्रीष्ट के साथ विश्वासियों के मेल का एक चिह्न और जमानत है। यह बात पौलुस के इन वचनों से स्पष्ट होती है: 'वह धन्यवाद का कटोरा, जिस पर हम धन्यवाद करते हैं; क्या मसीह के लहू की सहभागिता नहीं? वह रोटी जिसे हम तोड़ते हैं, क्या वह मसीह की देह की सहभागिता नहीं?' (1 कुरिन्थियों 10:16)। इन वचनों का निश्चित रूप से यह अर्थ है

कि, पवित्र प्रभु भोज में, विश्वासियों का ख्रीष्ट के साथ उसके दुखों एवं मृत्यु के फलों में सहभागिता है।

ङ. यह संतों के आपस में मेल-मिलाप का एक प्रतीक है। सभी सच्चे संत एक ही देह के सदस्य हैं, और पवित्र भोज में वे न केवल एक ही मेज़ पर बैठने वालों के साथ, बल्कि 'उन सब के साथ भी जो हर जगह हमारे और अपने प्रभु यीशु मसीह के नाम से प्रार्थना करते हैं' मेल रखते हैं। पौलुस कहता है, 'इसलिये कि एक ही रोटी है तो हम भी जो बहुत हैं, एक देह हैं : क्योंकि हम सब उसी एक रोटी में भागी होते हैं' (1 कुरिन्थियों 10:17)। यह संस्कार संतों की संगति को बहुत अच्छी रीति से दिखाती है, और इसे बनाए रखने एवं इसका आनन्द लेने के लिए शक्तिशाली प्रवृत्ति रखती है। एक ही आत्मिक भोज में भाग लेने के लिए वे एक ही मेज़ पर, एक ही परिवार के भाई-बहनों और बच्चों के समान इकट्ठा होते हैं।

च. इस संस्कार में विश्वासी लोग स्वयं को उन सभी कर्तव्यों में लगाते हैं, जो उन्हें ख्रीष्ट के प्रति निभाने हैं, वे उसे अपने स्वामी के रूप में मानते हैं, और जो कुछ भी करने की आज्ञा उसने उन्हें दी है, उसे करने के लिए वे कार्य करते हैं। लोग कुछ विशेष कार्य करके या स्पष्ट शब्दों में कहकर भी किसी जिम्मेदारी या समझौते से बंध सकते हैं। पुराने नियम के तहत खतने की विधि के लिए समर्पण करने से व्यक्ति 'पूरी व्यवस्था का पालन करने का ऋणी' बन जाता था। इसी रीति से मसीही युग के तहत बपतिस्मा में प्रभु का हो जाने का संकल्प लेना है; और मसीही लोग प्रभु भोज में भाग लेकर इस संकल्प को फिर से नया बनाते हैं। वे स्वीकार करते हैं के वे अपने नहीं हैं, बल्कि उन्हें मूल्य देकर मोल लिया गया है, और वे अपने शरीर एवं आत्मा से, जो उसी के हैं, परमेश्वर की महिमा के लिए स्वयं संकल्प लेते हैं।

भाग 2

इस मसीही संस्कार में ख्रीष्ट को उसके पिता को अर्पित नहीं किया जाता

है, और ना ही जीवित या मृतक लोगों के पापों की क्षमा के लिए कोई वास्तविक बलिदान चढ़ाया जाता है (इब्रानियों 9:22, 25 – 26, 28), परन्तु केवल एक ही बार, क्रूस पर, अपने आप को, उस एक बलिदान को चढ़ाने की यह केवल स्मृति है, और उसी के लिए परमेश्वर को सभी संभावित स्तुति का आत्मिक बलिदान है (1 कुरिन्थियों 11:24 – 26; मत्ती 26:26 – 27); जिससे कि मिस्सा (Mass) का पोप वाला बलिदान, जैसा कि वे इसे कहते हैं, ख्रीष्ट के एकमात्र बलिदान के लिए, जो उसके चुने हुए लोगों के सभी पापों के लिए एकमात्र प्रायश्चित है, सबसे अधिक घृणित अपमान है (इब्रानियों 7:23 – 24, 27; 10:11 – 12, 14, 18)।

भाग 3

प्रभु यीशु ने, इस अध्यादेश में, अपने सेवकों को नियुक्त किया है कि लोगों को इसके संस्थापन के वचन की घोषणा करें, रोटी एवं दाखरस के तत्वों के लिए प्रार्थना करें, और उन्हें आशीषित करें, और इस प्रकार उन्हें सामान्य उपयोग से पवित्र उपयोग के लिए अलग करे और रोटी को लें और उसे तोड़ें, प्याले को लें, और (वे भी स्वयं उन्हें खाएं और पीएं) दोनों तत्वों को प्रभु भोज में भाग लेने वाले सदस्यों को दें (मत्ती 26:26 – 28; मरकुस 14:22 – 24; लूका 22:19 – 20; 1 कुरिन्थियों 11:23 – 27); परन्तु किसी भी ऐसे जन को न दें जो उस समय मण्डली में उपस्थित नहीं है (प्रेरितों के काम 20:7; 1 कुरिन्थियों 11:20)।

भाग 4

निजी रूप से मिस्सा (Mass) मनाना, या अकेले में किसी पुरोहित, या किसी अन्य व्यक्ति से इस संस्कार को ग्रहण करना (1 कुरिन्थियों 10:6); इसी के साथ ही लोगों को प्याला देने से इनकार करना (मरकुस 4:23; 1 कुरिन्थियों 11:25 – 29); तत्वों की पूजा करना, उन्हें ऊपर उठाना, या आराधना के लिए उन्हें इधर-उधर ले जाना, तथा उन्हें किसी

दिखावटी धार्मिक उपयोग के लिए संभाल कर रखना, ये सभी इस संस्कार की प्रकृति, एवं ख्रीष्ट के संस्थापन के विपरीत हैं (मत्ती 15:9)।

भाग 5

इस मसीही संस्कार में भौतिक तत्व, जिन्हें ख्रीष्ट द्वारा निर्धारित उपयोगों के लिए विधिवत् रूप से अलग किया गया है, उसके क्रूस पर चढ़ाए जाने के साथ ऐसा सम्बन्ध रखते हैं, कि वास्तव में, यद्यपि सांस्कारिक रूप से ही, उन्हें कभी-कभी उन नामों से पुकारा जाता है जिनको वे चित्रित करते हैं, अर्थात, ख्रीष्ट की देह और लहू (मत्ती 26:26 – 28); यद्यपि सार और प्रकृति में, वे अभी भी वास्तव में, रोटी और दाखरस ही हैं, जैसे कि वे पहले थे (1 कुरिन्थियों 11:26 – 28; मत्ती 26:29)।

भाग 6

वह सिद्धांत, जो पुरोहित के अभिषेक के द्वारा या किसी अन्य रीति से रोटी और दाखरस के तत्व को ख्रीष्ट की देह और लहू के तत्व में परिवर्तित करने (जिसे सामान्यतः तत्वों का रूपांतरण या तत्त्वांतरण (transubstantiation) कहा जाता है) का समर्थन करता है, वह न केवल पवित्रशास्त्र के लिए बल्कि सामान्य विवेक एवं तर्क के विरुद्ध है; यह संस्कार की प्रकृति को उलट देता है; और यह अनेक अंध-विश्वासों, हाँ, घोर मूर्तिपूजा का कारण रहा है (प्रेरितों के काम 3:21; 1 कुरिन्थियों 11:24 – 26; लूका 24:6, 39)।

व्याख्या

इन भागों में रोमन कैथोलिक चर्च की कुछ खतरनाक त्रुटियों और अंधविश्वासपूर्ण प्रथाओं की निन्दा की गई है; और हमने इन सभी भागों को एक साथ रखा है, ताकि हम उस प्रमुख त्रुटि को सम्मिलित कर सकें, जिसे तत्वों का रूपांतरण या तत्त्वांतरण (transubstantiation) कहा जाता है,

जिसने मिस्सा (Mass) में बलिदान के बेतुके सिद्धांत को, और यहाँ नकारे गए कई अन्य सिद्धांत एवं प्रथाओं को जन्म दिया है।

1. रोमन कैथोलिक चर्च मानता है कि 'यह मेरी देह है' और 'यह मेरा लहू है' – इन वाक्यों को इनके सबसे विशुद्ध शाब्दिक रूप में समझा जाना चाहिए; और कि पादरी, भले अभिप्राय से इन वचनों को बोलने के द्वारा, रोटी और दाखरस के पदार्थ को यीशु ख्रीष्ट की वास्तविक देह और लहू में बदल देता है; इस बदलाव को तत्त्वांतरण (transubstantiation) के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धांत को पवित्रशास्त्र से कोई समर्थन नहीं मिलता, परन्तु यह इसकी बोली या भाषा की घोर विकृति पर आधारित है। 'यह मेरी देह है', और 'यह मेरा लहू है', इन वचनों का उपयोग, हमारे उद्धारकर्ता द्वारा स्पष्ट रीति से लाक्षणिक भाव में किया गया था; और जिन प्रेरितों के लिए इन वचनों को सम्बोधित किया गया था, उन्होंने भी निश्चित रूप से इनका यही अर्थ समझा होगा। पवित्रशास्त्र में इस प्रकार की लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ प्रायः देखने को मिलती हैं। जब हमारे प्रभु ने कहा, 'मैं दाखलता हूँ', 'मैं मार्ग हूँ', 'मैं द्वार हूँ', तो कोई भी यह नहीं सोचता है कि उसका अर्थ हमारे लिए यह था कि हम उसे सचमुच में दाखलता, मार्ग और एक द्वार समझें; और प्रभु भोज की संस्थापना के वचनों को उनके शाब्दिक अर्थ में समझने का कोई संतोषजनक कारण नहीं बताया जा सकता। हमारे उद्धारकर्ता का स्पष्ट रीति से यही अर्थ था कि रोटी और दाखरस उसकी देह और उसके लहू को *प्रकट करते हैं या उनका प्रतीक* हैं; और पवित्रशास्त्र में किसी प्रतीक या चिह्न के साथ उस वस्तु का नाम जोड़ना बहुत सामान्य बात है जिसे वह दर्शाता है; इस रीति से खतने को परमेश्वर की वाचा कहा गया है (उत्पत्ति 17:10); फसह के मेमने को फसह कहा गया है (निर्गमन 12:11); और वह चट्टान जिस पर चोट मारी गई थी, यीशु ख्रीष्ट को कहा गया (1 कुरिन्थियों 10:4)। परन्तु, न केवल तत्त्वांतरण (transubstantiation) के सिद्धांत को प्रेरणा प्राप्त लेखों से कोई समर्थन नहीं मिलता है, बल्कि यह *पवित्रशास्त्र के विरुद्ध* है; क्योंकि प्रेरित पौलुस

आशीष देने के बाद भी उन पदार्थों को वही नाम देता है जो आशीष देने से पहले थे; जो कि निश्चित रूप से बताता है कि उनके मूल स्वरूप में कोई बदलाव नहीं होता है (1 कुरिन्थियों 11:26, 28)। हमारी *इंद्रियों* द्वारा भी इसका खंडन किया जाता है; क्योंकि हम देखते और चखते हैं कि आशीष के बाद वह रोटी और दाखरस है, और जब हम उन्हें वास्तव में ग्रहण करते हैं, तो वे बिना किसी बदलाव या फेरबदल के, रोटी और दाखरस ही बने रहते हैं। यह उतना ही *तर्क* के भी विरुद्ध है; क्योंकि तर्क हमें बताता है कि यीशु ख्रीष्ट का शरीर एक ही समय में स्वर्ग और पृथ्वी, दोनों स्थानों में नहीं हो सकता; लेकिन तत्त्वांतरण के रोमन कैथोलिक सिद्धांत के अनुसार, भले ही यीशु ख्रीष्ट की देह स्वर्ग में है, फिर भी वह पृथ्वी पर केवल एक स्थान पर नहीं, बल्कि उन हजारों स्थानों में है – जहाँ पादरी ने भले अभिप्राय से प्रभु-भोज के संस्थापना के वचन बोले हों। उसी रीति से यह सिद्धांत *संस्कार की प्रकृति को भी नष्ट कर देता है*। मसीही संस्कार के लिए दो बातें आवश्यक हैं – एक चिह्न और चिह्नित की गई वस्तु – अर्थात ऐसी वस्तु जो हमारे इंद्रियों के सामने पेश की गई हो, और कुछ प्रतिज्ञा की गई आशीष, जिसे उसके द्वारा दिखाया एवं निश्चित या मुहरबंद किया गया हो। परन्तु तत्त्वांतरण के द्वारा चिह्न समाप्त कर दिया जाता है और उसके स्थान पर उस वस्तु को डाल दिया जाता है, जिसे वह दिखाता है।

तत्त्वांतरण (transubstantiation) न केवल पवित्रशास्त्र, और तर्क, और सामान्य विवेक के विरुद्ध है, बल्कि *यह कई प्रकार के अंधविश्वासों और हाँ, घोर मूर्तिपूजा का कारण रहा है, और आज भी है*। चौथे भाग में, इनमें से कई अंधविश्वासों और मूर्तिपूजा वाली प्रथाओं का वर्णन है। यह मानते हुए कि रोटी और दाखरस यीशु ख्रीष्ट के वास्तविक देह और लहू में बदल जाते हैं, रोमन कैथोलिक पादरी पवित्र की गई छोटी टिकिया (Wafers) का कुछ भाग बचाकर रखते हैं, ताकि उसे भविष्य में बीमार, या अनुपस्थित लोगों को दिया जा सके। ख्रीष्ट की इस आज्ञा के ठीक विपरीत कि 'तुम सब इसमें से पियो', वे लोगों को प्याला देने से इनकार

करते हैं; और इस आधार पर कि, जैसे रोटी ख्रीष्ट की देह में बदल जाती है, तो सहगमन रीति के द्वारा, वे देह के साथ-साथ लहू में भी सहभागी होते हैं। जब माना जाता है कि पादरी ने रोटी को यीशु ख्रीष्ट की देह में बदल दिया है, तो वह घुटने टेककर उसकी उपासना करता है, और ऊपर उठते हुए, वह उसे उठाता है, ताकि लोग देख सकें और उस रोटी की उपासना कर सकें – जिसे मेजबान की आराधना (elevation of the host) कहा जाता है; इसे एक भव्य जुलूस में घुमाया जाता है, ताकि मार्ग में मिलने वाले सभी लोगों से इसे श्रद्धा मिल सके; और संक्षेप में, इसकी आराधना ठीक वैसे ही की जाती है जैसे स्वयं यीशु ख्रीष्ट की। हमारा अंगीकार-कथन इन सभी रीति-रिवाज़ों को 'इस संस्कार की प्रकृति, और ख्रीष्ट द्वारा इसके संस्थापन' के विरुद्ध घोषित करता है। कलीसिया के आरम्भिक दौर में ये अज्ञात थे और स्पष्ट रीति से तत्त्वांतरण के बेतुके सिद्धांत से पैदा हुए हैं।

2. रोम के चर्च में, पादरी के लिए माना जाता है कि वह रोटी एवं दाखरस को ख्रीष्ट की देह और लहू में बदल देता है। यह भी माना जाता है कि वेदी पर उस वस्तु को रखते हुए, जिसका तत्त्वांतरण हो चुका है, वह परमेश्वर के लिए एक ऐसा बलिदान चढ़ाता है जो, हालाँकि बिना लहू बहाए चढ़ाए जाने के कारण अन्य सभी बलिदानों से अलग है – पर जीवित और मृत लोगों के लिए एक सच्चा, उचित, और प्रायश्चित करने वाला बलिदान है। इसे मिस्सा (Mass) का बलिदान कहा जाता है। चूंकि यह तत्त्वांतरण (transubstantiation) के सिद्धांत पर आधारित है, इसलिए यदि पहला सिद्धांत पवित्रशास्त्र के अनुसार नहीं है, तो दूसरा भी वैसा ही होगा। परन्तु हम पवित्रशास्त्र के उन कुछ स्पष्ट पदों का हवाला दे सकते हैं, जिनसे इस विशेष सिद्धांत का खंडन होता है। 'पर अब युग के अन्त में वह *एक ही बार* प्रगट हुआ है, ताकि अपने ही बलिदान के द्वारा पाप को दूर कर दे'। 'वैसे ही मसीह भी बहुतों के पापों को उठा लेने के लिये *एक बार* बलिदान हुआ'; 'उसी इच्छा से हम यीशु मसीह की देह के *एक ही बार* बलिदान चढ़ाए जाने के द्वारा पवित्र किए गए हैं।' 'क्योंकि उसने *एक ही*

चढ़ावे के द्वारा उन्हें जो पवित्र किए जाते हैं, सर्वदा के लिये सिद्ध कर दिया है' (इब्रानियों 9:26, 28; 10:10, 14)। और इनकी संख्या आसानी से बहुत बढ़ाई जा सकती है, ये पद स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं कि यीशु ख्रीष्ट का एक ही बलिदान, जो उसने स्वयं चढ़ाया था, वह पर्याप्त और परिपूर्ण है; और हमें स्पष्ट रूप से बताया गया है कि 'पापों के लिए फिर कोई बलिदान नहीं है' (इब्रानियों 10:26)। इसलिए, हमारे अंगीकार-कथन की भाषा में, 'मिस्सा (Mass) का पोप वाला बलिदान, जैसा कि वे इसे कहते हैं, ख्रीष्ट के एकमात्र बलिदान के लिए, जो उसके चुने हुए लोगों के सभी पापों के लिए एकमात्र प्रायश्चित है, सबसे अधिक घृणित अपमान है'।

3. यहाँ प्रभु-भोज के संस्कार को संपन्न करने व बाँटने का सही तरीका बताया गया है।

क. पादरी को लोगों के लिए प्रभु भोज के संस्थापन के वचन पढ़ने है, प्रार्थना करनी है, रोटी और दाखरस के पदार्थ को आशीषित करना है, और इस रीति से उन्हें साधारण उपयोग से पवित्र उपयोग के लिए अलग करके रखना है। सुसमाचार लेखक मत्ती के अनुसार, इस संस्कार के संस्थापन में, 'यीशु ने रोटी ली, और आशीष माँगकर तोड़ी' (मत्ती 26:26)। कुछ लोगों ने माना है, कि इससे यह समझने की आवश्यकता नहीं है कि यीशु ने रोटी को आशीष दी, क्योंकि अंग्रेजी सर्वनाम 'it' (इट अर्थात इसे) एक अतिरिक्त शब्द है; और चूंकि 'धन्य (blessed)' शब्द का अर्थ कभी-कभी 'उसने धन्यवाद दिया' भी होता है – विशेषकर जिस प्रकार सुसमाचार लेखक लूका इस वाक्यांश का उपयोग करता है – इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस मामले में ये दोनों शब्द समानार्थक हैं; और कि हमें यह समझना चाहिए कि यीशु ने रोटी को नहीं, बल्कि परमेश्वर को आशीषित या धन्य कहा, या अपने पिता को धन्यवाद दिया। हालाँकि, हमारा सोचना है कि हमारे अनुवादकों द्वारा सर्वनाम 'it' (इट अर्थात इसे) को बहुत ही उचित रीति से आशीष शब्द के बाद उपयोग किया है, क्योंकि '*तोड़ने*' शब्द के बाद भी इसे बहुत उचित रीति से दोहराया गया है; और हम मानते

हैं कि शब्दों का क्रम हम से यह समझने की अपेक्षा करता है कि यीशु ने *रोटी* को आशीष दी। यह समझना भी उतना ही सहज है कि यीशु ने रोटी को कैसे आशीष दी, जितना कि यह समझना कि परमेश्वर ने सातवें दिन या सब्त के दिन को कैसे आशीष दी (उत्पत्ति 2:3; निर्गमन 20:11)। वास्तव में, दोनों ही मामले एकदम एक जैसे हैं; परमेश्वर ने सातवें दिन को पवित्र उपयोग के लिए अलग किया, या उसे पवित्र विश्राम का दिन होने के लिए ठहराया; यीशु ख्रीष्ट ने रोटी को साधारण उपयोग से अलग करके पवित्र उपयोग के लिए ठहराया, या उसे अपनी देह का दृश्यमान प्रतीक होने के लिए ठहराया। और जबकि कलीसिया के प्रधान के रूप में, रोटी और दाखरस को अपनी देह और लहू का प्रतीक होने के लिए ठहराना, केवल यीशु ख्रीष्ट का कार्य था, फिर भी हमारा विश्वास है कि ख्रीष्ट के सेवक, प्रभु भोज का प्रबंध करने में, ख्रीष्ट के संस्थापन और उदाहरण के अनुसार गम्भीर प्रार्थना के माध्यम से, उपयोग होने वाली वस्तु को आम उपयोग से हटाकर पवित्र उपयोग के लिए अलग करने हेतु अधिकृत हैं। कि एक अर्थ है जिसमें ख्रीष्ट के सेवक पदार्थों को आशीषित कर सकते हैं, वह 1 कुरिन्थियों 10:16 से स्पष्ट है, जहाँ पौलुस संस्कार के कटोरे को यह नाम देता है 'वह धन्यवाद का कटोरा, जिस पर हम धन्यवाद करते हैं'। ऐसा दावा नहीं किया जाता कि इससे उन पदार्थों (रोटी और दाखरस) में कोई वास्तविक परिवर्तन आता है, बल्कि केवल एक सापेक्ष परिवर्तन होता है, इस कारण से उन्हें सामान्य या साधारण रोटी और दाखरस के रूप में नहीं, बल्कि ख्रीष्ट की देह और लहू के पवित्र प्रतीकों के रूप में देखा जाना चाहिए।

ख. पादरी को रोटी लेनी और उसे तोड़ना भी है। रोटी को तोड़ना इस संस्कार का एक आवश्यक भाग है, और जब इसे नहीं किया जाता है, तो यह संस्कार मूल विधि के अनुसार मनाया नहीं जाता है। यह वास्तव में, इतना आवश्यक है कि कभी-कभी प्रभु भोज केवल इसी नाम से जाना जाता है, अर्थात पूरे भोज को उसके एक भाग के नाम से पुकारा जाता है।

'रोटी तोड़ने' का उल्लेख सुसमाचार के संस्थापनों में पाया जाता है (प्रेरितों के काम 2:42); और प्रेरितों के काम 20:7 में हमें बताया गया है कि 'सप्ताह के पहले दिन जब हम (शिष्य लोग) रोटी तोड़ने के लिये इकट्ठे हुए': इन दोनों ही पदों में 'रोटी तोड़ने' से निस्संदेह प्रभु भोज के आयोजन और मनाने का ही तात्पर्य है। यह विधि महत्वपूर्ण है, और इस क्रिया के अर्थ को लेकर हमारे मन में कोई संदेह नहीं है। हमारे उद्धारकर्ता ने स्वयं ही इसे समझाया था जब उसने कहा, 'यह मेरी देह है, जो तुम्हारे लिए तोड़ी गई है'; इससे यह संकेत मिलता है कि तोड़ी गई रोटी उसकी उस देह का प्रतीक है जो हमारे पापों का प्रायश्चित करने के लिए घायल, क्षत-विक्षत किया गया और क्रूस पर चढ़ाया गया था। जिस प्रकार बिना तोड़ा गया यीशु ख्रीष्ट पापियों के लिए लाभदायक नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना तोड़ी गई रोटी विश्वास के लिए प्राण के भोजन का पूरी रीति से प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। इसलिए रोटी को वेफर (पतली टिक्की) जैसे छोटे टुकड़ों में बाँटना और हर एक प्रभु भोज में भाग लेने वाले के मुंह में एक वेफर को रखना – जैसा कि रोमन कैथोलिक चर्च में किया जाता है – इस विधि को बुरी रीति से बिगाड़ना है, क्योंकि यह रोटी तोड़ने की महत्वपूर्ण क्रिया को समाप्त कर देता है।

ग. इसके बाद पादरी को कटोरा लेना है, और दोनों ही वस्तुओं को उस व्यक्ति को देना है जो प्रभु भोज में भाग ले रहा है। कटोरे के साथ-साथ रोटी भी, दोनों ही इस संस्कार के अनिवार्य पदार्थ हैं – एक यीशु ख्रीष्ट के लहू का प्रतिनिधित्व करता है, और दूसरा उसकी देह का प्रतिनिधित्व करता है। लगभग 1400 वर्षों तक परमेश्वर की कलीसिया में प्रभु भोज में भाग लेने वालों को दोनों ही पदार्थ देने की सार्वभौमिक प्रथा थी; लेकिन फिर रोमन कैथोलिक चर्च आम लोगों को कटोरा (पवित्र प्याला) न देकर, आरम्भिक संस्थापन, और प्राचीन कलीसिया की परंपरा से अलग हट गया।

कॉन्सटेंस (Constance) की धर्म-परिषद ने यह आदेश निकाला कि, 'हालाँकि यीशु ख्रीष्ट ने अपने शिष्यों को रोटी और दाखरस, दोनों रूपों में यह पवित्र संस्कार दिया था, फिर भी इसके बावजूद, अब केवल एक ही रूप में इसे ग्रहण करने की प्रथा को ही नियम माना जाएगा'। और, 'हालाँकि, आरम्भिक कलीसिया में, विश्वासियों द्वारा इस संस्कार को दोनों रूपों में ग्रहण किया जाता था, फिर भी, इसके बावजूद, आम लोगों के लिए केवल एक ही रूप में इसे ग्रहण करने की जो प्रथा आरम्भ हुई है, उसे अब एक नियम माना जाना चाहिए' (वर्ष 1414, सत्र 13)।

ट्रेंट (Trent) की धर्म-परिषद ने यह भी घोषित किया, 'कि आम लोगों, और उन पादरियों पर जो उस समय प्रभु भोज का संचालन नहीं कर रहे हैं, कोई ईश्वरीय आज्ञा लागू नहीं होती है कि वे प्रभु भोज (यूकेरिस्ट) का संस्कार दोनों रूपों में ग्रहण करें।' 'और आगे यह भी घोषित किया जाता है, कि हालाँकि हमारे उद्धारकर्ता ने अंतिम भोज में इस संस्कार को दो रूपों में स्थापित किया था, और प्रेरितों को इसी रीति से सौंपा था, फिर भी केवल एक ही रूप में, सम्पूर्ण ख्रीष्ट और सच्चा संस्कार ग्रहण किया जाता है; और कि, इसलिए, जो लोग केवल एक ही रूप (रोटी या दाखरस) को ग्रहण करते हैं, वे उद्धार के लिए आवश्यक किसी भी अनुग्रह से वंचित नहीं रहते हैं' (वर्ष 1545, सत्र 21)।

यह ध्यान दिया जा सकता है, कि रोमन कैथोलिक चर्च यह मानता है कि रोटी और दाखरस, दोनों ही रूपों को ख्रीष्ट द्वारा स्थापित किया गया था, और आरम्भिक समय से ही इस विधि को इसी रीति से मनाया जाता था। इसलिए, वह यीशु ख्रीष्ट के अधिकार का खुला विरोध करने का दोषी है, उसने इस पवित्र संस्कार को अपवित्र रीति से विकृत किया है और मसीही लोगों के अधिकारों का उल्लंघन किया है। दाखरस पीने की ख्रीष्ट की आज्ञा उतनी ही स्पष्ट है जितनी कि रोटी खाने की आज्ञा; बल्कि, यह पहले ही से देखते हुए कि आगे चलकर आम लोगों के लिए कटोरे पर रोक लगाकर इस आज्ञा को कैसे तोड़ा-मरोड़ा जाएगा, उसने रोटी की तुलना में

कटोरे के विषय में अपने निर्देश को और भी अधिक स्पष्ट बताया है। रोटी के विषय में, उसने केवल इतना कहा, 'लो खाओ'; लेकिन जब उसने कटोरा दिया, तो कहा, 'तुम सब इसमें से पीओ' (मत्ती 26:26, 27)। इसलिए, परमेश्वर के संस्थापन के अनुसार, प्रभु भोज में भाग लेने वाले सभी लोगों को दोनों ही पदार्थों (रोटी और दाखरस) को दिया जाना चाहिए। और जिस सच्चाई से प्रभु भोज लेने वालों को रोटी और दाखरस दिया जाता है, उसी रीति से यीशु ख्रीष्ट स्वयं को, और अपने सभी लाभों के साथ, योग्य प्राप्तकर्ताओं को देता है; और इन पदार्थों को ग्रहण करने में – रोटी खाने और दाखरस पीने में – वे विश्वास के द्वारा ख्रीष्ट को प्राप्त करने, और अपनी क्षमा एवं उद्धार की आशा को पूर्ण रूप से उसकी मृत्यु पर टिकाए रखने का अंगीकार करते हैं।

भाग 7

योग्य ग्रहणकर्ता, इस संस्कार के दृश्यमान तत्वों को बाहरी रूप से लेते हुए (1 कुरिन्थियों 11:28), इसे विश्वास द्वारा, सच्चे रूप से, और वास्तव में, फिर भी शारीरिक और दैहिक रूप से नहीं, बल्कि आत्मिक रूप से, क्रूस पर चढ़ाए गए ख्रीष्ट और उसकी मृत्यु के सभी लाभों को प्राप्त करते हैं और उनसे पोषण प्राप्त करते हैं: तो फिर ख्रीष्ट की देह और उसका लहू, रोटी और दाखरस में, उनके साथ, या उनके नीचे शारीरिक रूप से या दैहिक रूप से नहीं होता है; फिर भी जैसा कि वास्तव में, परन्तु आत्मिक रूप से, उस अध्यादेश में विश्वासियों के विश्वास के लिए उपस्थित होता है, जैसा कि तत्व स्वयं उनके बाहरी इंद्रियों के लिए होते हैं (1 कुरिन्थियों 10:16)।

भाग 8

यद्यपि अज्ञानी एवं दुष्ट लोग इस संस्कार में भौतिक तत्वों को प्राप्त करते हैं, फिर भी वे इसके द्वारा चिह्नित वस्तु को प्राप्त नहीं करते हैं; परन्तु

अपने अयोग्य रूप से इसमें भाग लेने से वे प्रभु की देह और लहू के दोषी हैं, जो उनके स्वयं के दण्ड का कारण है। इसलिए सभी अज्ञानी एवं दुष्ट लोग, क्योंकि वे ख्रीष्ट के साथ सहभागिता का आनन्द लेने के लिए अयोग्य हैं, इसलिए वे प्रभु की मेज़ के अयोग्य हैं, और जब तक वे ऐसे ही रहते हैं, ख्रीष्ट के विरुद्ध भयंकर पाप के कारण, इन पवित्र रहस्यों में भाग नहीं ले सकते हैं (1 कुरिन्थियों 11:27 – 29; 2 कुरिन्थियों 6:14 – 16), या इसमें प्रवेश नहीं पा सकते हैं (1 कुरिन्थियों 5:6 – 7, 13; 2 थिस्सलुनीकियों 3:6, 14 – 15; मत्ती 7:6)।

व्याख्या

पिछले भागों में, हमने प्रभु भोज के संस्कार के विषय में रोमन कैथोलिक सिद्धांत की कड़ी निन्दा को देखा है, और यहाँ हम लूथरन (Lutheran) सिद्धांत की स्पष्ट निन्दा को देखते हैं। लूथरन लोगों का मानना है, कि भले ही रोटी और दाखरस यीशु ख्रीष्ट की देह और लहू में परिवर्तित नहीं होते हैं, फिर भी प्रभु-भोज लेने वालों के द्वारा इन प्रतीकों के साथ-साथ उसकी वास्तविक देह और लहू को भी ग्रहण किया जाता है। इसे कॉनसबस्टैंशिएशन (consubstantiation) कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि यीशु ख्रीष्ट की देह और लहू का तत्व, उन पदार्थों *में* (in), *उनके साथ* (under), या *उनके अधीन* (under) उपस्थित होता है।

> ‘हालाँकि, यह मत तत्त्वांतरण (transubstantiation) की कुछ बेतुकी बातों से मुक्त है, फिर भी हमें इसमें इतनी स्पष्ट कठिनाइयाँ प्रकट होती है, कि दार्शनिक सोच वाले लोगों द्वारा इसे अपनाए जाने पर हमें आश्चर्य होता है। फिर भी, यह बताना उचित होगा, कि लूथरन चर्च में वास्तविक उपस्थिति का सिद्धांत केवल एक काल्पनिक विचार है, और इसके मानने वालों के व्यवहार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उन्हें ऐसा लगता है कि यह विचार पवित्रशास्त्र के इस पदों की व्याख्या करने का सबसे

> अच्छा तरीका है; लेकिन वे रोटी और दाखरस के साथ ख्रीष्ट की देह और लहू की उपस्थिति को संस्कार में कोई ऐसा भौतिक गुण देने वाले के रूप में; या इसे बलिदान का स्वरूप देने के रूप में; या फिर रोटी और दाखरस को मसीही लोगों के लिए पूजा की वस्तु बनाने के रूप में नहीं मानते, जिससे कि इससे मिलने वाले लाभ, इसे ग्रहण करने वाले व्यक्ति की मनोदशा से स्वतंत्र हों। और इस रीति से रोमन कैथोलिक चर्च की तीन बड़ी व्यावहारिक गलतियों से अलग होने के कारण, उनके सिद्धांत को वे लोग भी, जो इसे गलत और बेतुका मानते हैं, एक प्रकार की ऐसी छूट प्राप्त होती है, जो तत्त्वांतरण (transubstantiation) के सिद्धांत को मिलने वाली छूट से एकदम अलग है।'[139]

हालाँकि हमारा अंगीकार-कथन प्रभु भोज के सम्बन्ध में, रोमन कैथोलिक और लूथरन सिद्धांत को नकारता है, फिर भी यह सिखाता है कि 'ख्रीष्ट की देह और उसका लहू, रोटी और दाखरस में, जैसा कि वास्तव में, परन्तु आत्मिक रूप से, इस अध्यादेश में विश्वासियों के विश्वास के लिए उपस्थित होता है, जैसा कि तत्व स्वयं उनके बाहरी इंद्रियों के लिए होते हैं'। यीशु ख्रीष्ट अपनी मेज़ पर शारीरिक रूप से उपस्थित नहीं हैं; और इसलिए, हम उसे उसके शारीरिक रूप में नहीं देख सकते; परन्तु वह आत्मिक रूप से उपस्थित है, और उसे विश्वास के द्वारा पहचाना जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पवित्र भोज में यीशु ख्रीष्ट की देह और लहू में सहभागिता आत्मिक है। पवित्र और स्थापित पदार्थों या तत्वों में भाग लेने में, इसका बाहरी प्रतिनिधित्व और पुष्टिकरण होता है, जो ख्रीष्ट की तोड़ी गई देह और बहाए गए लहू का प्रतीक है। और जब योग्य प्राप्तकर्ता इस संस्कार में दृश्यमान तत्वों को बाहरी रूप से ग्रहण करते हैं, तो वे अंदरूनी रीति से, विश्वास के द्वारा, क्रूस पर चढ़ाए गए यीशु ख्रीष्ट, और उसकी मृत्यु से मिलने वाले लाभों को ग्रहण करते एवं उनसे पोषण पाते हैं।

---

[139] Hill's *Lectures,* vol. ii., p. 352.

इस संस्कार की प्रकृति और उद्देश्य से, यह स्पष्ट है कि अज्ञानी एवं दुष्ट लोग इसमें भाग लेने के योग्य नहीं हैं। वे बाहरी तत्वों को ग्रहण कर सकते हैं; परन्तु वे उस वस्तु को प्राप्त नहीं करते हैं जो इनके द्वारा दर्शाया जाता है। क्योंकि वे ख्रीष्ट के साथ सहभागिता करने के योग्य नहीं हैं, इसलिए वे उसकी मेज़ पर बैठने के भी योग्य नहीं हैं। वे भारी पाप किए बिना और परमेश्वर के न्याय का सामना करने का जोखिम उठाए बिना उसके पास जाने की हिम्मत नहीं कर सकते। पवित्रशास्त्र घोषणा करता है, कि 'इसलिये जो कोई अनुचित रीति से प्रभु की रोटी खाए या उसके कटोरे में से पीए, वह प्रभु की देह और लहू का अपराधी ठहरेगा। क्योंकि जो खाते–पीते समय प्रभु की देह को न पहिचाने, वह इस खाने और पीने से अपने ऊपर दण्ड लाता है' (1 कुरिन्थियों 11:27, 29)। ऐसा नहीं कि अयोग्य रीति से भाग लेने वाले सभी लोगों का अनिवार्य रूप से सर्वदा के लिए विनाश हो जाएगा। हमारे अनुवाद में जिस शब्द का अनुवाद दुर्भाग्य से 'दण्ड' किया गया है, उसका उचित अर्थ 'न्याय' है; और यहाँ किस प्रकार के न्याय की बात हो रही है, यह संदर्भ से ही निर्धारित किया जाना चाहिए। कि कुरिन्थियों की कलीसिया पर जो न्याय दिया गया, वह मुख्य रूप से सांसारिक प्रकृति का था, यह बात इन वचनों से स्पष्ट पता चलती है जो ठीक इसके बाद कह गए हैं: 'इसी कारण तुम में बहुत से निर्बल और रोगी हैं, और बहुत से सो भी गए।' इस संस्कार का अनादर करने पर अभी भी सांसारिक दण्ड मिल सकता है, लेकिन मुख्य रूप से आत्मिक प्रकृति के न्याय से डरना चाहिए; और यदि इस पाप के लिए पश्चाताप नहीं किया गया, तो अन्य पापों के ही समान, इसके कारण भी अनन्त दण्ड भुगतना पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में, कलीसिया के पदाधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे इस विधि से अज्ञानियों और दुष्ट लोगों को अलग रखने में सावधानी बरतें। सभी को फसह का भोज खाने की अनुमति नहीं थी; और न ही प्रभु की मेज़ पर सभी को बिना किसी भेदभाव के आने दिया जाना चाहिए। अनैतिक और कलंकित लोगों को इसमें भाग लेने देना इस

पवित्र विधि का अपमान करना है और कलीसिया की संगति को दूषित करना है। परन्तु जिन लोगों को कलीसिया के अधिकारियों के दृष्टि में इस विधि में भाग लेने का अधिकार है – जो केवल उनके ज्ञान और बाहरी व्यवहार को जाँच सकते हैं – और हो सकता है कि परमेश्वर की दृष्टि में उन्हें इसका अधिकार न हो। इसलिए, हर किसी को निष्पक्षता और ईमानदारी से स्वयं की जाँच करनी चाहिए कि परमेश्वर के सामने उसकी क्या स्थिति है, और परिणामस्वरूप क्या उसे उस भोज में भाग लेने का अधिकार है जिसे परमेश्वर ने अपने बच्चों के लिए तैयार किया है। प्रेरित का आदेश एकदम स्पष्ट है, और वह अयोग्य रीति से प्रभु भोज में भाग लेने के पाप से बचने के उपाय के रूप में आत्म-परीक्षण करने का निर्देश देता है: 'इसलिये मनुष्य अपने आप को जाँच ले और इसी रीति से इस रोटी में से खाए, और इस कटोरे में से पीए' (1 कुरिन्थियों 11:28)।

अध्याय 30

कलीसिया के निन्दा प्रस्ताव

भाग 1

प्रभु यीशु ने, अपनी कलीसिया के राजा एवं सिर (प्रधान) होने के रूप में, उसमें कलीसिया के अधिकारियों के हाथों में एक सरकार नियुक्त की है, जो नागरिक मजिस्ट्रेट से भिन्न है (यशायाह 9:6 – 7; 1 तीमुथियुस 5:17; 1 थिस्सलुनीकियों 5:12; प्रेरितों के काम 20:17, 28; इब्रानियों 13:7, 17, 24; 1 कुरिन्थियों 12:28; मत्ती 28:18 – 20)।

व्याख्या

ऐसा मानना, जैसा कि कुछ लोगों ने किया है, कि कलीसिया का प्रशासन चलता-फिरता है, अर्थात कि यीशु ख्रीष्ट द्वारा कोई विशेष प्रारूप ठहराया नहीं गया है, परन्तु यह कहना कि उसने इसे मनुष्यों की समझ या मनमर्जी के अनुसार से ढलने और कलीसिया के बाहरी परिस्थिति के अनुसार बदलने के लिए छोड़ दिया है, वास्तव में कलीसिया के प्रति ख्रीष्ट के प्रेम और उस परमेश्वर के प्रति उसकी विश्वासयोग्यता पर प्रश्न उठाना है, जिसने उसे 'याकूब के घराने पर राज' करने के लिए नियुक्त किया है। कोई भी मानव समाज सरकार या प्रशासन के बिना नहीं चल सकता; तो फिर यह सोचना कितना बेतुका है, कि ख्रीष्ट की कलीसिया, जो सभी समाजों में सबसे उत्तम व पूर्ण है, उसे उसके राजा के द्वारा उस बात से वंचित छोड़ दिया गया है जो किसी भी समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है! पुराने नियम के तहत कलीसिया के लिए प्रशासन का एक सबसे उत्तम स्वरूप

निर्धारित किया गया था; परन्तु मसीही कलीसिया के लिए भी व्यवस्था और अनुशासन उतना ही आवश्यक है जितना कि यह यहूदी कलीसिया के लिए था। और क्या यह तर्कपूर्ण रीति से सोचा जा सकता है, कि बाद वाले के लिए प्रशासन-प्रबंध के लिए विस्तृत नियम निर्धारित किए गए थे, वहीं पहले वाले के प्रशासन-प्रबंध की पूरी रीति से उपेक्षा की गई है? वास्तव में, मसीही धर्म के सभी सम्प्रदाय उस प्रशासन के स्वरूप के लिए पवित्रशास्त्र का हवाला देते हैं जो उनकी पसंद का होता है; और इस रीति से वे परोक्ष रूप से यह मानते हैं कि पवित्रशास्त्र में किसी विशेष प्रकार के प्रशासन-व्यवस्था की रूपरेखा तो अवश्य मिलती है।

यहाँ तक कि कलीसियाई प्रशासन या सरकार के ईश्वरीय अधिकार के समर्थक भी इस बात पर एकमत नहीं हैं कि यीशु ख्रीष्ट द्वारा इसके लिए किस प्रकार का स्वरूप ठहराया गया है। रोमन कैथोलिक लोग, यह मानते हुए कि रोम का बिशप (पोप), प्रेरित पतरस का उत्तराधिकारी, और यीशु ख्रीष्ट का प्रतिनिधि होने के नाते, समस्त कलीसिया के ऊपर प्रत्यक्ष प्रमुख या प्रधान है; उनका मानना है कि समस्त सार्वभौमिक कलीसिया का सर्वोच्च शासन उसी के हाथ में है, और कि बाकी सभी बिशप उसी से अपना अधिकार प्राप्त करते हैं। एपिसकोपेलियन लोग (धर्माध्यक्ष प्रणाली) मसीही धर्म के सेवकों के बीच पद-क्रम का अंतर मानते हैं, और कलीसिया का प्रशासन बिशप, आर्च-बिशप, आदि के हाथों में सौंपते हैं। इंडिपेंडेंट (स्वतंत्र प्रणाली) यह मानते हुए कि प्रत्येक मण्डली अपने आप में एक पूर्ण कलीसिया होती है, और उसके अपने भीतर ही अधिकार-क्षेत्र की स्वतंत्र शक्ति होती है, इसलिए वे कलीसिया के प्रशासन का अधिकार विश्वासियों की सभा को सौंपते हैं। प्रेस्बिटेरियन कलीसिया, एपिस्कोपेलियन के विपरीत, यह मानते हुए, कि पवित्र वचन के सभी सेवक, पद और अधिकार के संदर्भ में एक ही स्तर पर होते हैं; और इंडिपेंडेंट मण्डलियों के विपरीत, यह मानते हुए कि अलग-अलग मंडलियाँ केवल एक ही

कलीसिया का भाग हैं, उसका मानना है कि कलीसिया का प्रशासन या सरकार यीशु ख्रीष्ट के अधीन, प्रेस्बिटरी, अर्थात शिक्षा देने वाले एवं प्रशासन करने वाले प्राचीनों को सौंपा गया है; और न्यायालयों में एक पदानुक्रम होता है, जिसके तहत निचले न्यायालय के निर्णयों की समीक्षा की जा सकती है, और उनकी पुष्टि की जाती है या उनके निर्णयों को पलटा जा सकता है। इन अलग-अलग प्रणालियों के दावों की यहाँ जाँच पड़ताल करना उचित नहीं होगा। हमारे विवेक के अनुसार, वेस्टमिन्स्टर असेंबली द्वारा तैयार किया गया 'द फॉर्म ऑफ चर्च गवर्मेंट' (The Form of Church Government) में यह बात पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाती है कि प्रेस्बिटेरियन प्रशासन का रूप 'परमेश्वर के वचन पर आधारित और उससे सहमत है'।

केवल इरास्टियन लोगों के विचारों का उल्लेख करना आवश्यक है, जो मानते हैं कि कलीसिया का बाहरी प्रशासन नागरिक मजिस्ट्रेट के अधिकार-क्षेत्र में आता है। यह विचार हर उस बात के सीधे-सीधे विरोध में है जिस बात को पवित्रशास्त्र, यीशु ख्रीष्ट के राज्य के आत्मिक स्वरूप के विषय में कहता है। ख्रीष्ट की वह उल्लेखनीय घोषणा, 'मेरा राज्य इस संसार का नहीं है', स्पष्ट रूप से दिखाता है कि उसका राज्य, भले ही संसार में है, फिर भी वह संसार में अन्य सभी राज्यों से पूरी रीति और विशिष्ट रीति से अलग है; और जब उसने अपनी प्रजा पर वैसा अधिकार जमाने से मना किया जैसा कि अन्य-जाति के राजा उन पर करते हैं, तो उस प्रशासन या सरकार का एक अलग स्वरूप स्पष्ट रूप से बताया गया जो वहाँ लागू होने वाला था। यीशु ख्रीष्ट ने कलीसिया में जिन अलग-अलग पदाधिकारियों को नियुक्त किया है, उनमें नागरिक या सिविल मजिस्ट्रेट का कहीं भी उल्लेख नहीं है। और यदि यह बात सच होती कि कलीसिया के प्रशासन को निर्धारित करने का कार्य नागरिक मजिस्ट्रेट का है, तो ख्रीष्ट ने अपनी कलीसिया को तीन सौ से अधिक वर्षों तक बिना किसी सरकार के छोड़ा;

क्योंकि चौथी सदी तक कलीसिया को सरकारी नागरिक सत्ता से कोई समर्थन नहीं मिला था।

कई लेखकों द्वारा कलीसिया और संसार के राज्यों के बीच, और इसके परिणामस्वरूप, नागरिक और कलीसियाई अधिकार के बीच, उनकी उत्पत्ति, उद्देश्यों, लोगों, कानूनों, विशेषाधिकारों, साधनों, विस्तार, आदि के सम्बन्ध में औपचारिक और विशिष्ट अंतर को बहुत विस्तार से समझाया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पृथ्वी पर उपस्थित कलीसिया में दूसरे समाजों जैसी कुछ बाते समान होती हैं, और व्यावहारिक रूप से देखें तो दोनों के अधिकार-क्षेत्र के उद्देश्य भी, प्रायः एक जैसे हो सकते हैं; वे एक-दूसरे के प्रति आपसी आदर, और एक-दूसरे के लिए किए जाने वाले कार्यों और कर्तव्यों को भी मानते हैं; लेकिन इनमें से कोई भी बात उनके औपचारिक अंतर के साथ असंगत में नहीं है; बल्कि इसके विपरीत वे इस अंतर को मानते हैं; ताकि प्रत्येक की सारी शक्ति और विशेष कार्य, चाहे वे किसी भी मामले के सम्बन्ध में हों, सदा उसी समाज की प्रकृति के अनुरूप हों जिससे वे सम्बन्धित हैं – एक में पूरी रीति से आत्मिक और दूसरे में सदा और पूरी रीति से सांसारिक। जब वे अपने सही मार्ग पर चलते हैं और अपनी सीमा में रहते हैं, तो वे कभी भी एक-दूसरे के कार्य में दखल देकर रुकावट नहीं डालते: दो सीधी और समानांतर रेखाओं के समान, जो कभी भी आपस में नहीं मिलती और न एक-दूसरे में उलझती हैं। इन समाजों में जो भी खतरे पैदा हुए हैं, या उठ सकते हैं, उनमें से कोई भी खतरा केवल इनके अलग और स्वतंत्र स्वभाव एवं कामकाज के कारण पैदा नहीं हो सकते; इसलिए इनमें से किसी एक को दूसरे के अधीन करने का कोई कारण नहीं हो सकता। सभी राज्यों में एक अविभाजित सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता और राज्य के भीतर राज्य (*imperiun in imperio*) के खतरे का सामान्य तर्क, केवल एक ही प्रकार और स्तर के समाजों और शक्तियों पर लागू होता है। यीशु ख्रीष्ट की कलीसिया के ऊपर सांसारिक शासकों की सर्वोच्चता के लिए इस तर्क का

उपयोग करना बेतुका है, क्योंकि कलीसिया का अधिकार एकदम अलग प्रकार का होता है।[140]

भाग 2

इन अधिकारियों को स्वर्ग के राज्य की कुंजियाँ सौंपी गई हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके पास क्रमशः पापों को बनाए रखने और क्षमा करने, दोनों वचन एवं निन्दा-प्रस्ताव के द्वारा उस राज्य को पश्चाताप न करने वालों के लिए बंद करने; और सुसमाचार की सेवकाई के द्वारा, और आवश्यकता अनुसार निन्दा-प्रस्ताव से मुक्ति देकर, पश्चाताप करने वाले पापियों के लिए उसे खोलने का अधिकार है (मत्ती 16:19; 18:17 – 18; यूहन्ना 20:21 – 23; 2 कुरिन्थियों 2:6 – 8)।

भाग 3

कलीसिया के निन्दा-प्रस्ताव, अपराधी भाइयों को पुनः सुधारने और उन्हें पुनः प्राप्त करने; दूसरों को भी ऐसे ही अपराधों से रोकने; उस खमीर को दूर करने के लिए जो पूरे आटे को संक्रमित कर सकता है; ख्रीष्ट के सम्मान और सुसमाचार के पवित्र अंगीकार को सही साबित करने; और परमेश्वर के उस क्रोध को रोकने के लिए आवश्यक है, जो कलीसिया पर उचित रूप से पड़ सकता है, यदि वे कुख्यात और हठी अपराधियों द्वारा उसकी वाचा और उसकी मुहरों को अपवित्र होने देते हैं (1 कुरिन्थियों 5; 1 तीमुथियुस 5:20; मत्ती 7:6; 1 तीमुथियुस 1:20; 1 कुरिन्थियों 11:27; यहूदा 1:23)।

भाग 4

इन उद्देश्यों की बेहतर प्राप्ति के लिए, कलीसिया के अधिकारियों को

---

[140] Bruce, *Supremacy of Civil Powers,* p. 23.

व्यक्ति के अपराध एवं अवगुण की प्रकृति के अनुसार ताड़ना देने के द्वारा, कुछ समय के लिए प्रभु भोज के संस्कार से निलंबित करने के द्वारा, और कलीसिया से बहिष्कार करने के द्वारा आगे बढ़ना चाहिए (1 थिस्सलुनीकियों 5:12; 2 थिस्सलुनीकियों 3:6, 14 – 15; 1 कुरिन्थियों 5:4 – 5, 13; मत्ती 18:17; तीतुस 3:10)।

व्याख्या

इरास्टियन लोगों के विरोध में, जो कलीसिया के निन्दा प्रस्ताव या दण्ड देने का अधिकार नागरिक मजिस्ट्रेट को सौंपते हैं, हमारा अंगीकार-कथन यहां पर यह पुष्टि करता है, कि स्वर्ग के राज्य की कुंजियाँ उन अधिकारियों को सौंपी गई हैं जिन्हें यीशु ख्रीष्ट ने अपनी कलीसिया पर नियुक्त किया है। यीशु ने पतरस से कहा, है, 'मैं तुझे स्वर्ग के राज्य की कुंजियाँ दूँगा : : और जो कुछ तू पृथ्वी पर बाँधेगा, वह स्वर्ग में बंधेगा; और जो कुछ तू पृथ्वी पर खोलेगा, वह स्वर्ग में खुलेगा' (मत्ती 16:19)। 'स्वर्ग के राज्य की कुंजियों' से हमारा अर्थ कलीसिया में प्रशासन या सरकार और अनुशासन को बनाए रखने की शक्ति और अधिकार; जिसके आधार पर, जिन लोगों को ये कुंजियाँ सौंपी गई हैं, उनके पास निन्दा प्रस्ताव लगाने और हटाने के माध्यम से बाँधने और खोलने का अधिकार है; और जब उनकी कार्रवाही पवित्रशास्त्र के अनुसार की जाती है, तो उनकी अभिपुष्टि स्वर्ग में की जाती है। प्रेस्बिटेरियन लोग मानते हैं कि ये कुंजियाँ पतरस को एक प्रेरित और प्राचीन के रूप में दी गई थीं; और इसलिए, यह अधिकार सभी प्रेरितों को, और उनके बाद, युग के अंत तक सभी सामान्य प्राचीनों को भी दिया गया है। ऊपर दिए गए पद में *बाँधने* और *खोलने* के द्वारा जो बात कही गई है, वही बात दूसरे स्थानों में *पापों को क्षमा करने* और *बनाए रखने* के द्वारा कही गई है। परन्तु ख्रीष्ट ने ये वचन सभी प्रेरितों से कहे: 'तुम्हें शान्ति मिले; जैसे पिता ने मुझे भेजा है, वैसे ही मैं भी तुम्हें भेजता हूँ। जिनके

पाप तुम क्षमा करो, वे उनके लिये क्षमा किए गए हैं; जिनके तुम रखो, वे रखे गए हैं' (यूहन्ना 20: 21, 23)। यह सच है कि यह अधिकार कलीसिया को दिया गया है: 'कलीसिया से कह दे ... ' (मत्ती 18:17); लेकिन इस पद में, *कलीसिया* का अर्थ कलीसिया के *शासकों* या *प्राचीनों* से है; और यह लेख हमारे अंगीकार-कथन के सिद्धांत की और अधिक पुष्टि करता है, कि अनुशासन का अधिकार केवल कलीसिया के पदाधिकारियों को ही सौंपा गया है। कलीसिया और राज्य एक ही मामले पर विचार कर सकते हैं, परन्तु अलग-अलग दृष्टिकोण के तहत; केवल जब इन्हें राज्य के विरुद्ध अपराध माना जाता है, तभी ये नागरिक शासकों के अधिकार-क्षेत्र के तहत आते हैं, और इसलिए इनके लिए सिविल दण्ड दिया जाता है; मसीही धार्मिक समाज के विरुद्ध अपराध के रूप में देखे जाने पर, वे कलीसिया के शासकों के संज्ञान में आते हैं, और उन्हें केवल कलीसिया के निन्दा प्रस्तावों के माध्यम से ही दूर किया जा सकता है।

कलीसिया की ओर से किए जाने वाले निन्दा प्रस्ताव या अनुशासनात्मक कार्रवाही आवश्यक है, ताकि यीशु ख्रीष्ट और उसका मसीही राज्य का सम्मान बना रहे – उसकी आराधना की पवित्रता कायम रहे – अपराध या पाप करने वालों को सुधारा जा सके – दूसरों को वैसे ही अपराध करने से रोका जा सके – कलीसिया से बुराई को दूर किया सके – और परमेश्वर के क्रोध से बचा जा सके, जो कलीसिया के ऊपर उचित रूप से आ सकता है, यदि वे कुख्यात और हठी अपराधियों द्वारा उसकी वाचा और उसकी मुहरों को अपवित्र होने देते हैं।

कलीसिया के निन्दा प्रस्ताव अपने स्वरूप और प्रभावों में आत्मिक होते हैं। उन्हें ख्रीष्ट ने अपराधियों के भले के लिए नियुक्त किया है, और वे एक साधन के रूप में उनके सुधार को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति रखते हैं, न कि उनके विनाश को। चूंकि अपराधों में दोष की मात्रा और अपराध को गम्भीर बनाने वाली परिस्थितियों के आधार पर अंतर होता है, इसलिए

कलीसिया को, किए गए अपराध की प्रकृति और गम्भीरता के अनुसार कार्रवाही करने में आगे बढ़ना चाहिए। कुछ मामलों में एक साधारण चेतावनी पर्याप्त होगी (तीतुस 3:10)। दोष यदि अधिक गम्भीर हो, तो यीशु ख्रीष्ट के नाम पर सख्ती से डांटना आवश्यक होगा (तीतुस 1:13; 1 तीमुथियुस 5:20)। कुख्यात या बहुत गम्भीर अपराधों के मामले में, दोषी व्यक्ति को कुछ समय के लिए प्रभु भोज में भाग लेने से रोकने की आवश्यकता पड़ेगी (2 थिस्सलुनीकियों 3:14)। इसे लघु बहिष्करण (lesser excommunication) कहा जाता है; और वह सबसे बड़ा निन्दा प्रस्ताव जिसे देने के लिए कलीसिया के पास शक्ति है उसे महा-बहिष्करण (greater excommunication) कहा जाता है (मत्ती 18:17)। हमारे पास उस व्यक्ति का उदाहरण है जिसने अपने ही परिवार की महिला के साथ अनैतिक सम्बन्ध बनाए थे, जिसे 'शरीर के विनाश के लिये शैतान को सौंपा गया था, ताकि उसकी आत्मा प्रभु यीशु के दिन में उद्धार पा सके' (1 कुरिन्थियों 5:5)। कैथोलिक मान्यता के अनुसार, इसका अर्थ अपराधी को सचमुच के लिए शैतान को सौंपना नहीं है, बल्कि उसे कलीसिया से बाहर निकालकर संसार में भेज देना है, जिसे पवित्रशास्त्र में शैतान का राज्य बताया गया है।

अध्याय 31

मसीही धर्म महासभाएं (Synods) एवं मसीही परिषद (Councils)

भाग 1

कलीसिया के बेहतर प्रशासन एवं आगे की आत्मिक उन्नति के लिए, ऐसी सभाओं का होना अवश्य हैं जिन्हें सामान्य तौर पर धर्म महासभा या धर्म परिषद कहा जाता है (प्रेरितों के काम 15:2, 4, 6)।

व्याख्या

चर्च ऑफ स्कॉटलैंड की जनरल असेंबली ने 1647 के इस विश्वास के अंगीकार-कथन को स्वीकृति देने वाले अपने प्रस्ताव में एक शर्त जोड़ी: 'इस अंगीकार-कथन में कलीसिया के विभिन्न प्रकार के अधिकारियों एवं न्यायिक सभाओं या परिषदों का उल्लेख नहीं होने के कारण, इन मामलों में ख्रीष्ट की सच्चाई पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, इन बातों को कलीसिया के प्रशासन की नियमावली (Directory of Government) में विस्तार से बताया जाएगा'। इसलिए इस विषय पर चर्च ऑफ स्कॉटलैंड और वेस्टमिन्स्टर असेंबली के विचारों को 'द फॉर्म ऑफ प्रेस्बिटेरियन चर्च गवर्मेंट' (The Form of Presbyterian Church Government) में और अच्छी रीति से समझा जा सकता है, जिस पर उस असेंबली ने स्वीकृति जताई थी, और इसे 'कन्फेशन ऑफ फेथ' (Confession of Faith) के साथ ही जोड़ा गया है। उस लेख में वे घोषणा करते हैं: 'यह परमेश्वर के वचन के अनुसार वैध एवं स्वीकृत है, कि कलीसिया का संचालन कई

प्रकार की सभाओं के माध्यम से किया जाए, जैसे कि स्थानीय मंडली, क्लासिकल (क्षेत्रीय) और सिनॉडिकल (महा-सभा)'; और यह भी: 'कि सिनॉडिकल सभाएँ वैध रूप से कई प्रकार की हो सकती हैं, जैसे प्रांतीय, राष्ट्रीय और सार्वभौमिक'; और इसके अतिरिक्त, यह भी: 'कि कलीसिया की सरकार के लिए कॉग्रेगेशनल (स्थानीय मंडली), क्लासिकल (क्षेत्रीय), प्रोविंशियल (प्रांतीय), और नेशनल (राष्ट्रीय) सभाओं का एक-दूसरे के अधीन होना वैध और परमेश्वर के वचन के अनुसार है।' यहाँ हमारे पास कलीसिया की विभिन्न प्रकार की सभाओं का एक स्पष्ट विवरण मिलता है, और साथ ही कलीसिया की न्यायिक संस्थाओं के बीच उचित अधीनता का भी उल्लेख मिलता है; जिन्हें अब हम कर्क-सेशन (स्थानीय कलीसिया का सेशन), प्रेस्बिटरी, प्रांतीय सिनॉड, और जनरल असेंबली के नाम से जानते हैं। हालाँकि, अभी हमें केवल विचाराधीन अंगीकार-कथन के इस भाग में दिए गए वक्तव्य पर ध्यान देना है। इंडिपेंडेट कलीसियाओं के विरोध में, जो मानते हैं कि हर मंडली के पास अपने में सरकार या प्रशासन चलाने के लिए एक अलग शक्ति होती है, और जो किसी भी प्रकार की न्यायिक सभा के अधीन होने से इनकार करते हैं, हमारा अंगीकार-कथन दृढ़ता से कहता है कि 'कलीसिया के बेहतर प्रशासन एवं आगे की आत्मिक उन्नति के लिए' (अर्थात, कलीसिया के अधिकारियों की छोटी बैठकों की तुलना में बेहतर परिणाम पाने के लिए), 'ऐसी सभाओं का होना अवश्य हैं जिन्हें सामान्य तौर पर धर्म महासभा (सिनॉड) या धर्म परिषद (काउंसिल) कहा जाता है'। इसका उदाहरण हमें उस सभा (सिनॉड) से मिलता है जो खतना के विवाद को सुलझाने के लिए यरूशलेम में इकट्ठा हुई थी।

> यह प्रश्न, कि क्या मसीही धर्म को अपनाने वाले गैर-यहूदियों के लिए खतना करवाना आवश्यक था कि नहीं, यह एक आम चिंता का विषय

था और इसे केवल पूरी कलीसिया की ओर से नियुक्त अधिकारियों के जाँच-पड़ताल और निर्णयों द्वारा ही सुलझाया जा सकता था; और हम पाते हैं कि जब इन पदाधिकारियों ने इस मामले पर विचार करने के लिए न्यायिक रूप से बैठक की, तो उनके निर्णय को सम्पूर्ण कलीसिया के लिए बाध्यकारी माना गया था। और न ही बाद के युगों में उदाहरण बनने वाली इस सभा के लिए यह कहना कोई वैध आपत्ति है, कि इस सभा में आंशिक रूप से प्रेरित सम्मिलित थे; क्योंकि प्रेरित लोग प्राचीन भी थे, क्योंकि कलीसिया में प्रत्येक उच्च पद में निचले पदों से सम्बन्धित आधिकारिक शक्ति सम्मिलित होती है, और हम पूरी चर्चा में ऐसा कहीं नहीं पाते कि, न्यायाधीशों के रूप में, प्रेरितों ने अपने उन भाइयों के ऊपर कोई श्रेष्ठता का दावा किया हो, जिन्हें प्राचीन कहा गया है। जो भी हो, यह निर्णय दोनों के संयुक्त निर्णय के रूप में सुनाया गया (प्रेरितों के काम 15:21 – 31)।[141]

भाग 2

चूंकि मजिस्ट्रेट विधिपूर्वक धर्म के मामलों में परामर्श एवं विचार-विमर्श करने के लिए पादरियों और अन्य योग्य व्यक्तियों की धर्मसभा बुला सकते हैं (यशायाह 49:23; 1 तीमुथियुस 2:1 – 2; 2 इतिहास 19:8 – 11; सम्पूर्ण 2 इतिहास 29 – 30; मत्ती 2:4 – 5; नीतिवचन 11:14); इसलिए, यदि मजिस्ट्रेट कलीसिया के स्पष्ट शत्रु हैं, तो ख्रीष्ट के सेवक लोग (पादरी), अपने पद के आधार पर, या वे, अन्य योग्य व्यक्तियों के साथ, अपनी कलीसियाओं से प्रतिनिधिमंडल लेकर, ऐसी सभाओं में एक साथ मिल सकते हैं (प्रेरितों के काम 15:2, 4, 22 – 23, 25)।

व्याख्या

चर्च ऑफ स्कॉटलैंड की असेंबली ने, जिस अधिनियम के तहत अंगीकार-

[141] Stevenson, *Offices of Christ*, pp. 347, 348.

कथन को अपनाया, उसमें इस भाग का विशेष उल्लेख किया गया है, और स्पष्ट रूप से घोषणा की गई है कि उनका अर्थ 'केवल उन कलीसियाओं से था जो सरकार या प्रशासन के बिंदु पर अभी स्थापित या गठित नहीं हुए थे'; और हालाँकि वे मानते हैं कि 'ऐसी कलीसिया में बिना किसी अन्य बुलावे के, मजिस्ट्रेट के अधिकार और नामांकन द्वारा पादरियों और अन्य योग्य व्यक्तियों की एक सभा बुलाई जा सकती है, 'ताकि धर्म के मामलों में परामर्श किया जा सके', लेकिन वे दृढ़ता से कहते हैं कि जो कलीसियाएँ पहले ही से बनी और स्थापित हैं, उनमें ऐसा नहीं किया जाना चाहिए, और कि पादरियों और प्रशासनिक प्राचीनों को सदा यह स्वतंत्रता है कि वे कलीसियाओं से मिले अधिकार, और ख्रीष्ट से मिली अपनी अंदरूनी शक्ति के द्वारा, सिनॉड के रूप में इकट्ठा हो सकते हैं, चाहे आवश्यकता पड़ने पर (*pro re nata*) या सामान्य समयों में, जब भी कलीसिया की भलाई के लिए ऐसा करना आवश्यक हो, भले ही मजिस्ट्रेट कलीसिया की हानि की कीमत पर अपनी सहमति देने से मना कर दे या रोक दे।' यह सर्वविदित है कि हमारे धर्म-सुधारक (Reformers) कलीसिया की स्वतंत्रता में थोड़ा भी हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं करते थे। राजशाही के साथ उनके सभी विवादों में, अपनी स्वयं की सभाओं को बुलाने की उनकी निहित शक्ति, एक प्रमुख स्थान रखती थी। उनका सिद्धांत था: 'हमसे हमारी सभाओं की स्वतंत्रता छीनने का अर्थ है, हमसे सुसमाचार को छीन लेना।' प्रथम मसीही धर्म-सुधार के समय इस अधिकार का दावा भी किया गया और इसको कार्यान्वित भी किया गया। कलीसिया ने 1560 में, अपनी पहली सभा को पूरी रीति से अपने ही अधिकार से, अपने प्रधान यीशु ख्रीष्ट के अधीन आयोजित की थी; और कम से कम बीस वर्षों तक – जिस दौरान कम से कम उनतालीस या चालीस सभाएँ हुईं – तो राजा या शासक न तो स्वयं वहाँ उपस्थित था और न ही उसका कोई प्रतिनिधि वहाँ था, जैसा कि बाद में प्रथा बन गई थी। दूसरे धर्म-सुधार के दौरान, 1638 में ग्लासगो में हुई

प्रसिद्ध सभा ने कलीसिया की वास्तविक शक्ति को भली प्रकार से साबित किया। हालाँकि, राजा के कमिश्नर ने अपने स्वामी के नाम पर सभा को भंग कर दिया और कड़ी चेतावनी देते हुए उनकी आगे की कार्यवाही को रोक दिया, फिर भी असेंबली ने प्रभु यीशु ख्रीष्ट से मिली अपनी अंतर्निहित शक्ति का दावा करते हुए, सत्र को जारी रखा और उस आवश्यक कार्य को आगे बढ़ाया जिसके लिए वे इकट्ठा हुए थे। हालाँकि, यह मानना चाहिए, कि 1592 के अधिनियम में – जिसे स्थापित कलीसिया का मैग्ना कार्टा माना जाता है और जिसे 1690 के अधिनियम ने फिर से लागू और पक्का किया था – अपनी स्वयं की सभाएँ बुलाने के कलीसिया के अधिकार को पूरी रीति से सुरक्षित नहीं किया गया था। यह अधिकार तभी दिया जाता है जब न तो राजा और न ही उसका कमिश्नर उपस्थित होता है। इसलिए, क्रांति के ठीक बाद, शाही सत्ता द्वारा चर्च की सभाओं को प्रायः अचानक भंग कर दिया जाता था और बार-बार स्थगित कर दिया जाता था।

> 'यह बात (अर्थात – कलीसिया की अपने अधिकार से सभा बुलाने और भंग करने की शक्ति) जिस पर स्कॉटलैंड में राजशाही और प्रेस्बिटेरियन प्राधिकरणों के बीच प्रायः विवाद होता था – कलीसिया की स्वतंत्रता के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है, जो कि पहली दृष्टि में महत्वपूर्ण न लगता हो। इसे बनाए रखे और सुरक्षित रखे बगैर, थोड़ा सोचने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि वे जिन भी अन्य शक्तियों का दावा करते हैं, उनका उपयोग किसी उच्च अधिकारी की इच्छा से न केवल अनिश्चित हो सकता है, बल्कि पूरी रीति से बेकार और अवैध भी हो सकता है। यह बात तो सभी जानते हैं कि संसद को बुलाने और भंग करने के विशेषाधिकार का मनमाना उपयोग करके उन्हें शक्तिहीन बना दिया गया था, और इससे उनके पूर्ण रूप से मिटा दिए जाने का खतरा उत्पन्न हो गया था; और न ही देश ने अपनी नागरिक स्वतंत्रताओं को तब तक पूरी रीति से सुरक्षित

माना, जब तक कि कानून के द्वारा संसद की सालाना या नियमित बैठकें सुनिश्चित नहीं हो गईं। यदि, इसी रीति से कलीसिया की सभाओं को पूरी तरह से राजशाही पर निर्भर कर दिया जाए, तो खतरा और उसका प्रभाव एक जैसा ही होगा; और इंग्लैंड के पादरियों की सभाओं का इतिहास ऐसे ही अनोखे साक्ष्य प्रदान करता है।'[142]

भाग 3

सेवा के रूप में, यह धर्म महासभाओं एवं धर्म-परिषदों का कार्य है कि वे विश्वास के विवादों, एवं विवेक के मामलों का निर्णय करें; परमेश्वर की सार्वजनिक आराधना, और उसकी कलीसिया के प्रशासन के विषय में बेहतर व्यवस्था बनाने के लिए नियमों एवं मार्गदर्शकों को निर्धारित करें; कुप्रशासन के मामलों में शिकायतों को प्राप्त करें, और अधिकारपूर्वक उनका निवारण करें: जो आदेश एवं निर्धारण, यदि परमेश्वर के वचन के अनुरूप हैं, तो न केवल वचन के साथ उनके अनुरूप होने के कारण, बल्कि उस अधिकार के लिए भी जिसके द्वारा उन्हें बनाया जाता है, परमेश्वर के अध्यादेश होने के रूप में, जो उसके वचन में ठहराए गए हैं, उन्हें श्रद्धा एवं समर्पण के साथ ग्रहण किया जाना चाहिए (प्रेरितों के काम 15:15, 19, 24, 27 – 31; 16:4; मत्ती 18:17 – 20)।

व्याख्या

यह भाग स्पष्ट रीति से इंडिपेंडेंट या स्वतंत्र कलीसियाओं के साथ विवाद में एक और महत्वपूर्ण सिद्धांत पर निर्णय लेने के उद्देश्य से बनाया गया है, जो यह तो मानते हैं कि कठिन मामलों में मंडलियाँ पादरियों की सभाओं (सिनॉड) से लाभकारी परामर्श ले सकती है, लेकिन वे इन सभाओं को

[142] Bruce, *Supremacy of Civil Powers*, p.103.

मंडलियों पर कोई अधिकार नहीं देते। प्रेस्बिटेरियन लोग सहजता से मानते हैं कि कलीसिया के प्रशासकों की शक्ति पूर्ण रूप से सेवा-सम्बन्धी होती है। केवल यीशु ख्रीष्ट ही अपनी कलीसिया का एकमात्र प्रभु और व्यवस्था देना वाला है; इसलिए उसका कार्य केवल उन व्यवस्थाओं को लागू करना और उनका पालन करवाना है जो उसने बनाए हैं। हालाँकि, उनकी चर्चाओं को केवल परामर्श के रूप में नहीं, बल्कि अधिकारपूर्ण माना जाना चाहिए; और जिस सीमा तक उनके निर्णय ख्रीष्ट के अपने वचन में बताई गई व्यवस्था के अनुसार हैं, अर्थात उसके नाम में और उससे मिले अधिकार से लिए गए हैं – वहाँ उन्हें विवेक के लिए बाध्यकारी माना जाना चाहिए। यरूशलेम की धर्म-सभा ने न केवल परामर्श दिया, बल्कि उन्हें सौंपे गए मामले पर एक आधिकारिक निर्णय भी सुनाया। तय किए गए निर्णयों ने कलीसियाओं पर एक बोझ डाला, और कुछ आवश्यक बातों को मानने का निर्देश दिया; और उनके निर्णय को सम्बन्धित कलीसियाओं ने आनन्दपूर्वक स्वीकार किया (प्रेरितों के काम 15:28; 16:4)।

भाग 4

प्रेरितों के समय से लेकर अब तक की सभी धर्म महासभाएँ या धर्म-परिषद, चाहे वे सामान्य हों या विशेष, गलत हो सकती हैं, और बहुतों ने गलती की है; इसलिए उन्हें विश्वास या जीवन व्यवहार का नियम नहीं बनाया जाना चाहिए, बल्कि दोनों में सहायता के रूप में उनका उपयोग किया जाना चाहिए (प्रेरितों के काम 17:11; 1 कुरिन्थियों 2:5; 2 कुरिन्थियों 1:24; इफिसियों 2:20)।

व्याख्या

हालाँकि रोमन कैथोलिक चर्च मानता है कि अचूकता (infallibility) का गुण कलीसिया में कही न कहीं उपस्थित है, परन्तु वे इस बात पर आपस

में एकमत नहीं होते कि क्या यह गुण पोप में समाहित है, या आम परिषद (general council) में, या दोनों में मिलकर है। यहाँ इस बात की पुष्टि की गई है सभी परिषदें या सभाएँ गलती कर सकती हैं। चूंकि धर्म-परिषद ऐसे लोगों से मिलकर बनती हैं जिनमें से प्रत्येक गलतियाँ कर सकता है, इसलिए जब वे एक साथ मिलते हैं, तो वे भी गलत करने के उत्तरदायी हो सकते हैं। यह भी दावे के साथ कहा गया है कि उनमें से बहुतों ने गलती की है; और यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि अलग-अलग धर्म-परिषदों ने एक-दूसरे के एकदम विपरीत आदेशों को जारी किया है। एरियन विवाद में, कई परिषदों ने नीकिया (Nicea) की धर्म-परिषद के विरोध में आदेश जारी किए। यूटीकियन (Eutychian) नामक गलत शिक्षा को इफिसुस की दूसरी धर्म-परिषद में स्वीकृत किया गया था, और उसके तुरन्त बाद कैल्सिडॉन (Calcedon) की धर्म-परिषद में उसे गलत ठहराया गया। प्रतीकों की पूजा को कॉन्स्टेंटिनोपल (Constantinople) की धर्म-परिषद में गलत ठहराया गया था, और नीकिया की दूसरी धर्म-परिषद में इसकी स्वीकृति दी गई, और फ्रैन्कफर्ट में इसे फिर से गलत ठहराया गया। अंततः कॉन्स्टेंस (Constance) और बेसिल (Basil) में धर्म-परिषदों के अधिकार को पोप के अधिकार से ऊपर घोषित किया गया; लेकिन इस निर्णय को लेटरन (Lateran) में उलट दिया गया।[143]

भाग 5

धर्म महासभाओं एवं धर्म परिषदों को केवल उन्हीं मामलों का निपटारा या निष्कर्ष निकालना चाहिए जो कलीसिया से सम्बन्धित हैं: तथा उन्हें राष्ट्र से सम्बन्धित नागरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, जब तक कि असाधारण मामलों में विनम्र याचिका के माध्यम से, या नागरिक मजिस्ट्रेट द्वारा माँगे जाने पर, अंतःकरण की सन्तुष्टि के लिए,

[143] *Thirty-Nine Articles*, Art. 21 पर बरनेट की व्याख्या

परामर्श के माध्यम से ऐसा न किया जाए (लूका 12:13 – 14; यूहन्ना 18:36)।

व्याख्या

हालाँकि हमारा अंगीकार-कथन, पूरी रीति से आत्मिक और कलीसिया से सम्बन्धित मामलों में नागरिक मजिस्ट्रेट (सरकारी अधिकारियों) के किसी भी प्रकार के इरास्टियन दखल का विरोध करता है, लेकिन यह चर्च की सभाओं और परिषदों की ओर से पोप के उन सभी दावों को भी उतनी ही स्पष्टता से खारिज करता है, जिनके तहत वे नागरिक मामलों में दखल देने का प्रयास करते हैं – केवल जब तक कि किसी असाधारण मामले में याचिका के माध्यम से या नागरिक मजिस्ट्रेट द्वार माँगे जाने पर परामर्श के माध्यम से ऐसा न किया जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे धर्म-सुधारकों ने नागरिक और कलीसियाई क्षेत्राधिकार की उचित सीमाओं को स्पष्ट रूप से समझ लिया था, और इस बात को लेकर बहुत सावधान रहे कि उनका सख्ती से पालन किया जाना चाहिए। उनका कहना है कि, 'कलीसियाई अधिकार एवं नीति, अपनी प्रकृति में उस अधिकार एवं नीति से अलग और भिन्न है जिसे नागरिक अधिकार कहा जाता है, और जो राष्ट्र की नागरिक सरकार से सम्बन्धित है; भले ही वे दोनों परमेश्वर की ओर से हों और उनका उद्देश्य भी एक ही हो, यदि उनका उचित उपयोग किया जाए, अर्थात परमेश्वर की महिमा को बढ़ावा देने के लिए, और ईश्वर-भक्त एवं भले नागरिक तैयार करने के लिए।'[144] कलीसिया और राष्ट्र, दोनों के लिए समान उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में सहयोग कर सकते हैं; लेकिन इनमें से प्रत्येक को अपनी-अपनी सीमा में रहकर कार्य करने में सावधानी बरतनी चाहिए – कोई भी उन मामलों में दखल न दे जो दूसरे के अधिकार क्षेत्र में उचित रूप से आते हैं।

[144] *Second Book of Discipline*, chaps. i. and vii.

अध्याय 32

मृत्यु के पश्चात् मनुष्यों की अवस्था और मृतकों का पुनरुत्थान

भाग 1

मृत्यु के पश्चात्, मनुष्यों के शरीर मिट्टी में मिल जाते हैं, और सड़ जाते हैं (उत्पत्ति 3:19; प्रेरितों के काम 13:36); परन्तु उनकी आत्माएँ (जो न तो मरती हैं और न ही सो जाती हैं), अमर अस्तित्व होने के कारण (लूका 23:43; सभोपदेशक 12:7), परमेश्वर के पास लौट जाती हैं, जिसने उन्हें दिया था। धर्मी लोगों की आत्माएँ, फिर पवित्रता में सिद्ध बनाए जाने के कारण, सर्वोच्च स्वर्ग में ग्रहण किए जाते हैं, जहाँ वे अपने शरीरों के पूर्ण छुटकारे की प्रतीक्षा करते हुए, प्रकाश एवं महिमा में परमेश्वर के मुख को देखते हैं (इब्रानियों 12:23; 2 कुरिन्थियों 5:1, 6, 8; फिलिप्पियों 1:23; प्रेरितों के काम 3:21; इफिसियों 4:10): और दुष्टों की आत्माएँ नरक में डाल दी जाती हैं, जहाँ वे न्याय के महान दिन तक के लिए, पीड़ा और घोर अन्धकार में लज्जाशील अवस्था में रहते हैं (लूका 16:23 – 24; प्रेरितों के काम 1:25; यहूदा 1:6 – 7; 1 पतरस 3:19)। अपने शरीरों से अलग की गई आत्माओं के लिए इन दो स्थानों के अलावा, पवित्रशास्त्र किसी और बात को नहीं मानता है।

व्याख्या

1. यहाँ पर यह माना गया है कि मृत्यु एक ऐसी घटना है जो सभी मनुष्य के लिए समान बात है। ‘मनुष्यों के लिये एक बार मरना नियुक्त है’

(इब्रानियों 9:27)। यह स्वर्ग की अटल नियुक्ति है, जिसे बदला नहीं जा सकता, और जिसे कोई विफल नहीं कर सकता। इस विषय पर मनन करते हुए, भजन के शाही लेखक ने कहा: 'कौन पुरुष सदा अमर रहेगा? क्या कोई अपने प्राण को अधोलोक से बचा सकता है?' (भजन संहिता 89:48)। अय्यूब मृत्यु को एक ऐसी घटना के रूप में बताता है जो निश्चित रूप से उसकी प्रतीक्षा कर रही थी, और कब्र के लिए जो कि पूरी मानवजाति की आम पात्र-धारक के रूप में है। 'हाँ, मुझे निश्चय है कि तू मुझे मृत्यु के वश में कर देगा, और उस घर में पहुँचाएगा जो सब जीवित प्राणियों के लिये ठहराया गया है' (अय्यूब 30:23)। हमारे अपने अनुभव भी पवित्रशास्त्र की बात की पूर्ण रूप से पुष्टि करते हैं। और न ही हम यह समझने में असमर्थ हैं कि हमारे संसार में मृत्यु कैसे आई और मानव जाति के ऊपर इसका सार्वभौमिक प्रभाव क्यों है: 'इसलिये जैसा एक मनुष्य के द्वारा पाप जगत में आया, और पाप के द्वारा मृत्यु आई, और इस रीति से मृत्यु सब मनुष्यों में फैल गई, क्योंकि सब ने पाप किया' (रोमियों 5:12)।

वास्तव में, धर्मी लोगों और दुष्ट लोगों की मृत्यु के बीच बहुत बड़ा अंतर होता है। दुष्टों के लिए मृत्यु, व्यवस्था के अभिशाप का परिणाम, और अनन्त विनाश का अग्रदूत होता है; लेकिन धर्मियों के लिए, मृत्यु पाप के लिए उचित दण्ड नहीं है, बल्कि यह सभी पाप एवं दुःख का अंत है, और अनन्त जीवन में प्रवेश है। उनके लिए मृत्यु का डंक समाप्त किया जा चुका है, और उन पर कोई वास्तविक हानि पहुँचाने में उसे शक्तिहीन बना दिया गया है। न केवल उन्हें चोट पहुँचाने की मृत्यु की शक्ति को समाप्त कर दिया गया है – बल्कि मृत्यु को उनके साथ मित्रता-पूर्वक व्यवहार करने के लिए मजबूर किया गया है। यह संघर्षों से उनकी मुक्ति है, दुःखों से उनका छुटकारा, और यीशु ख्रीष्ट के साथ रहने के लिए प्रस्थान है। लेकिन, यद्यपि धर्मी लोगों के लिए मृत्यु कोई वास्तविक हानि नहीं है, बल्कि एक बहुत बड़ा लाभ है; फिर भी, क्योंकि इसमें आत्मा और शरीर के बीच

मिलन का टूटना सम्मिलित है, इसलिए यह एक ऐसी घटना है जिससे वे बच नहीं सकते।

निस्संदेह, यदि परमेश्वर चाहे तो अपने संतों को प्राकृतिक मृत्यु से आसानी से बचा सकता है। इसके लिए उसने हनोक और एलिय्याह का प्रमाण दिया है। हालाँकि, भले कारणों के उसने इसके विपरीत निर्धारित किया है।

क. धर्मी लोगों के साथ-साथ अन्यों को भी सांसारिक मृत्यु के अधीन होना चाहिए, यह परमेश्वर के प्रशासन की वर्तमान योजना के लिए सबसे उपयुक्त रीति से अनुकूलित है, और यह मानव समाज के संरक्षण के न सही, परन्तु कम से कम उसकी सुख-शांति के लिए अनिवार्य लगता है। परमेश्वर की प्रशासनिक योजना के अनुसार, पुरस्कार एवं दण्ड को मुख्य रूप से भविष्य के संसार के लिए रखा गया है। परन्तु यदि धर्मी लोगों को मृत्यु से छूट दी गई होती, जबकि दुष्ट लोग इसके तले आ जाते, तो यह इस संसार से जाने वाले हर मनुष्य के अंतिम नियति को दिखाने वाला होता। इसलिए, धर्मी लोगों की मृत्यु भी ठीक उसी बाहरी रूप और उन्हीं बाहरी परिस्थितियों में होती है जैसे कि यह दुष्टों के लिए होती है, ताकि उनके बीच कोई स्पष्ट अंतर न दिखाई दे।

ख. यदि धर्मी लोगों को दुष्ट लोगों से अलग करके बिना मृत्यु का स्वाद चखे सीधे स्वर्ग ले जाया जाता तो समाज में बहुत उलझन पैदा हो जाती। दुष्ट लोगों पर कोई अच्छा प्रभाव डालने के बजाए, यह उन्हें उनके चरित्र के प्रति और भी लापरवाह बना देता, और एक शक्तिशाली प्रेरणा को – भविष्य में मिलने वाली प्रसिद्धि की आशा – को समाप्त कर देगा, जो उन्हें समाज की भलाई के लिए भला कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। यह जीवित लोगों के चरित्र और आनन्द पर बहुत अधिक प्रभाव डालेगा। यदि माता-पिता को मृत्यु का दण्ड देकर परमेश्वर के क्रोध का पात्र बनाया जाता, तो इससे उनके बच्चों पर बदनामी का दाग लग जाता; या यदि बच्चे

को इस रीति से उठा लिया जाता है जिससे कि उसके भविष्य का संकेत मिलता हो, तो यह माता-पिता के हृदय को असहनीय पीड़ा से भर देगा, विशेषकर यदि वे गम्भीर स्वभाव के हैं। सच तो यह है कि इस प्रकार की परिस्थिति का सबसे अधिक प्रभाव धर्मी लोगों पर ही पड़ेगा। इसलिए मृत्यु धर्मी और बुरे, दोनों ही प्रकार के लोगों की आम नियति है।

ग. यह व्यवस्था परमेश्वर की शक्ति और अनुग्रह के बेहतर रीति से प्रकट होने का अवसर प्रदान करती है। जिस रीति से मृत्यु की घड़ी मनुष्यों के लिए सबसे कठिन होती है, उसी प्रकार से उस गम्भीर घड़ी में अपने लोगों को सहारा देने में, परमेश्वर की शक्ति और अनुग्रह सबसे महिमामय रीति से दिखाई देते हैं; यह उन्हें विश्वास एवं आशा के क्रियान्वयन में, मृत्यु के भय से ऊपर उठने और अंतिम शत्रु पर जीत प्राप्त करने में सक्षम बनाता है। और अंतिम दिन उनके शरीरों को फिर से जीवित करने में उसकी शक्ति कितनी महिमामय रीति से दिखाई देगी!

घ. हमारी समझ से, एक और कारण कि धर्मी लोगों को भी शारीरिक मृत्यु का सामना करना पड़ता है, वह यह है, कि वे अपने महिमामय मुखिया या सिर, यीशु ख्रीष्ट के स्वरूप में ढल सकें। इससे पहले कि उसे महिमा और सम्मान के साथ ताज पहनाया गया, उसने मृत्यु का स्वाद चखा; और उन्हें भी 'घोर अन्धकार से भरी हुई तराई में होकर' महिमा में प्रवेश करना होगा।

2. मृत्यु के बाद मनुष्यों के शरीर मिट्टी में मिल जाते हैं, और सड़-गल जाते हैं। मृत्यु जिस बदलाव को मानव शरीर पर लाता है, वह इतना शर्मनाक और डरावना होता है, कि देखना घृणित हो जाता है, और अनिवार्यता जीवित लोगों को उसे अपनी आँखों से दूर करने के लिए मजबूर करता है। उसे कब्र को सौंप दिया जाता है, जहाँ पर वह सड़-गल जाता है; और कुछ समय के बाद शरीर धूल में ऐसे मिल जाता है, कि उसे उस मिट्टी से अलग नहीं पहचाना जा सकता जिसमें वह मिल गया होता है। हालाँकि,

ये बातें केवल जीवित लोगों को ही बुरी लगती हैं; इनसे मृतकों को कोई परेशानी नहीं होती। सच तो यह है कि, दुष्ट लोगों के लिए कब्र एक कैदखाने के समान है, जहाँ उन्हें पुनरुत्थान तक कड़ी कैद में रखा जाता है; परन्तु विश्वासियों के लिए यह आराम का स्थान है, जहाँ वे हर प्रकार के दर्द और थकान से मुक्त होकर, पुनरुत्थान की उस सुबह तक गहरी शांति का अनुभव करेंगे, जब, एक लम्बी और ताजगी भरी नींद से जागने के समान, वे नए बनाए गए जीवन और पौरूष के साथ उठेंगे, ताकि अनन्त परम सुख का आनन्द ले सकें।

3. मनुष्यों की आत्माएँ उनके शरीरों के समाप्त होने के बाद भी बनी रहती हैं, और उनका अस्तित्व अमर होता है। कुछ लोगों का मानना है कि मृत्यु मनुष्य के अस्तित्व का पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाना है; अन्यों का मानना है, कि मृत्यु और पुनरुत्थान के बीच आत्मा सो जाएगी, ठीक उस शरीर के जैसे निष्क्रिय और अचेतन हो जाएगी, जो धूल में मिल जाता है। इन बेतुकी और असहज धारणाओं के विपरीत, हमारा अंगीकार-कथन यह पुष्टि करता है, और पवित्रशास्त्र स्पष्ट रूप से यह सिखाता है कि, मनुष्यों की आत्माएँ शरीर से अलग अवस्था में भी बनी रहती हैं, और इस रीति से बनी रहती हैं कि वे उन शक्तियों और क्षमताओं का उपयोग कर सकें जो उनके लिए अनिवार्य हैं। 'जो शरीर को घात करते हैं, पर आत्मा को घात नहीं कर सकते, उनसे मत डरना' (मत्ती 10:28)। ये वचन उसके हैं जिसने मनुष्यों की रचना की है, और जो उसकी प्रकृति के सभी तत्वों का पूरी अच्छी रीति से जानता है; और वह पुष्टि करता है, कि न केवल आत्मा शरीर से अलग है - न केवल यह कि, वास्तव में, वह शरीर साथ मरता नहीं है, बल्कि यह कि किसी भी रची गई शक्ति के द्वारा आत्मा को मारना असम्भव है। हमारे उद्धारकर्ता ने दृष्टांत वाली भाषा के माध्यम से यही शिक्षा दी: 'ऐसा हुआ कि वह कंगाल मर गया, और स्वर्गदूतों ने उसे लेकर अब्राहम की गोद में पहुँचाया। वह धनवान भी मरा और गाड़ा गया, और

अधोलोक में उसने पीड़ा में पड़े हुए अपनी आँखें उठाईं, और दूर से अब्राहम की गोद में लाजर को देखा' (लूका 16:22, 23)। गरीब लाजर और अमीर व्यक्ति, दोनों मर जाते हैं; दोनों के शरीर मिट्टी में मिल गए; लेकिन शरीर से अलग होने के बाद भी दोनों की आत्माओं का अस्तित्व और चेतना बनी रही। इसमें कोई संदेह नहीं कि पवित्रशास्त्र में धर्मी की मृत्यु का वर्णन नींद के रूप में किया गया है; लेकिन ऐसी भाषा स्पष्ट रूप से लाक्षणिक है, और इस धारणा का कोई समर्थन है कि शरीर से अलग होने पर आत्मा सो जाती है। जब मृतकों को सोया हुआ कहा जाता है, तो इसमें एक रूपक का उपयोग किया जाता है, जो मृत्यु और नींद के बीच गहरी समानता पर आधारित होता है; और साथ ही, एक अलंकार के द्वारा, जब किसी भाग को पूरे के रूप में बताया जाता है। उनके लिए कहा जाता है कि वे सोते हैं, और अचेत एवं निष्क्रिय हैं, क्योंकि ये बाते उनके शरीरों के लिए सच हैं।

4. धर्मी लोगों की आत्माओं को मृत्यु के तुरन्त बाद स्वर्गीय अवस्था के आनन्द में प्रवेश दिया जाता है। कुछ लोग, जो यह मानते हैं कि विश्वासियों की आत्माओं में चेतना होती है और शरीर से अलग होने की अवस्था में आनन्द का अनुभव करते हैं, उनका मानना है कि मृत्यु के समय उनकी आत्मा एक मध्यवर्ती अवस्था में चली जाती हैं, और कि वे स्वर्ग में तभी प्रवेश करेंगी जब अंतिम न्याय होगा। रोमन कैथोलिक चर्च मानता है कि संतों की आत्माएँ, अपने शरीरों को छोड़ने के बाद, कुछ समय के लिए शुद्धि-लोक (परगेटरी purgatory) नामक स्थान पर जाती है, ताकि वे आग के माध्यम से पाप की उस गंदगी से शुद्ध हो सकें, जो इस जीवन में धुल नहीं पाए थे। कैथोलिक चर्च यह भी सिखाता है कि पृथ्वी पर रहने वाले लोगों की प्रार्थनाओं से; स्वर्ग में संतों की मध्यस्थता से; और सबसे बढ़कर, पापियों के नाम में पादरियों द्वारा चढ़ाए गए मिस्सा (पवित्र बलिदान Mass) से शुद्धि-लोक के दर्द और पीड़ा को घटाया या कम किया

जा सकता है; और यह कि, जैसे ही आत्माओं को शुद्धि-लोक से मुक्त किया जाता है, उन्हें तुरन्त ही अनन्त सुख में प्रवेश दिया जाता है। बाइबल में इस सिद्धांत का कोई भी वर्णन नहीं है; यह चालाक लोगों की गढ़ी हुई धोखा देने वाली एक कहानी है, जिसे उन्होंने भोले-भाले लोगों को धोखा देने और अपना खजाना भरने के लिए बनाई है। पवित्रशास्त्र केवल *स्वर्ग* और *नरक* की बात करता है, जिनमें से किसी एक में ही सभी मृत लोगों की आत्माओं ने प्रवेश किया है; और इसी के अनुसार, हमारा अंगीकार-कथन पुष्टि करता है: 'अपने शरीरों से अलग की गई आत्माओं के लिए इन दो स्थानों के अलावा, पवित्रशास्त्र किसी और बात को नहीं मानता है।'

धर्मियों की आत्माओं का *तुरन्त* ही स्वर्ग में प्रवेश होना पवित्रशास्त्र के कई पदों से प्रमाणित होता है। पश्चातापी चोर से हमारे प्रभु की प्रतिज्ञा: 'आज ही तू मेरे साथ स्वर्गलोक में होगा' (लूका 23:43), का यह अर्थ है कि, उस दिन के समाप्त होने से पहले ही, उसकी आत्मा, यीशु ख्रीष्ट की आत्मा के साथ उसी स्थान पर होगी और 'स्वर्गलोक' शब्द से जुड़ी सभी सुखों का आनन्द लेगी। जब स्तिफनुस ने अपनी अंतिम साँस लेते हुए परमेश्वर को यह कहते हुए पुकारा, 'हे प्रभु यीशु, मेरी आत्मा को ग्रहण कर' (प्रेरितों के काम 7:59), तो उसे पक्की आशा थी कि उसकी आत्मा तुरन्त अपने उद्धारकर्ता के पास पहुँच जाएगी। यही बात पौलुस की बोली में भी निहित है: 'क्योंकि मेरे लिये जीवित रहना मसीह है, और मर जाना लाभ है। क्योंकि मैं दोनों के बीच अधर में लटका हूँ; जी तो चाहता है कि कूच करके मसीह के पास जा रहूँ, क्योंकि यह बहुत ही अच्छा है' (फिलिप्पियों 1:21, 23)। निश्चित रूप से यदि उसे यह आशा न होती कि पुनरुत्थान तक उसे यीशु ख्रीष्ट की उपस्थिति में जाने का मौका नहीं मिलेगा, तो वह मरने को लाभ नहीं मानता; और, मरने की इच्छा करने के बजाए, वह मरने प्रति अनिच्छा व्यक्त करता; क्योंकि जब वह शरीर में था, तो वह ख्रीष्ट की सेवा में सम्मानपूर्वक लगा हुआ था, और उसने ख्रीष्ट के साथ आनन्दमय संगति

का अनुभव किया था। परन्तु प्रेरित हमें बताता है कि उसके मरने की इच्छा का कारण यह था कि वह यीशु ख्रीष्ट के साथ रह सके – एक ऐसी आनन्दमय अवस्था में, जो इस संसार की किसी भी वस्तु से कहीं बढ़कर बेहतर है। यही प्रेरित कहता है: 'इसलिये हम ढाढ़स बाँधे रहते हैं, और देह से अलग होकर प्रभु के साथ रहना और भी उत्तम समझते हैं' (2 कुरिन्थियों 5:8)। आत्मा का अपने वर्तमान निवास से निकलकर सीधे यीशु ख्रीष्ट की उपस्थिति में पहुँचने की तत्काल प्रक्रिया को इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। विश्वासी का शरीर से अलग होना और यीशु ख्रीष्ट के साथ उसकी उपस्थिति में होना, आपस में गहराई से जुड़े हैं; शरीर से अलग होने के तुरन्त बाद ही वह ख्रीष्ट के साथ होता है, बीच में कोई समय का अंतर नहीं होता। इसी के अनुसार, प्रेरित यूहन्ना स्वर्ग से एक शब्द सुनता है, जो उससे कहती है लिख: 'जो मृतक प्रभु में मरते हैं, वे *अब से* धन्य हैं' (प्रकाशितवाक्य 14:13) – अर्थात, वे अपनी मृत्यु के समय से ही धन्य हैं।

यदि विश्वासियों की आत्माओं को मृत्यु के तुरन्त बाद स्वर्ग में प्रवेश दिया जाता है, तो यह स्पष्ट है कि उनमें एक अद्‌भुत परिवर्तन अवश्य आता होगा, ताकि उन्हें उस नई अवस्था के योग्य बनाया जा सके जिसमें उन्हें लाया जाता है। जब तक उन्हें अशुद्धि के हर एक दाग से पूरी रीति से मुक्त नहीं किया जाता, तब तक वे स्वर्ग-लोक के समाज के लिए अयोग्य होंगे और उस लोक के सुखों का आनन्द लेने में असमर्थ होंगे। इसी के अनुसार हमारा अंगीकार दृढ़ता से कहता है, कि उनकी आत्माओं को फिर 'पवित्रता में सिद्ध बनाया जाता है'; और पवित्रशास्त्र में संतों की आत्माओं को 'सिद्ध किए हुए धर्मियों की आत्माएँ' कहा गया है (इब्रानियों 12:23)।

5. दुष्ट लोगों की आत्माओं को मरने पर नरक में डाल दिया जाता है। हालाँकि कुछ लोगों का मानना है कि दुष्ट लोगों की आत्माओं को नरक में कभी भी यातना नहीं दी जाएगी, वहीं अन्य लोगों का कहना है कि उन्हें

पुनरुत्थान के बाद ही यातना के स्थान पर भेजा जाएगा; परन्तु, हमारे उद्धारकर्ता के बताए अनुसार, जैसे ही वह अमीर व्यक्ति मरता है, 'अधोलोक में उसने पीड़ा में पड़े हुए अपनी आँखें उठाईं' (लूका 16:23)। नूह के समय जिन लोगों ने आज्ञा नहीं मानी थी, उनकी आत्माएँ उस समय नरक की कैद में बंद थीं जब प्रेरित पतरस ने अपना पत्र लिखा (1 पतरस 3:19)।

भाग 2

अन्तिम दिन पर, जो लोग जीवित पाए जाएंगे वे मरेंगे नहीं, परन्तु बदल जाएंगे (1 कुरिन्थियों 15:51 – 52; 1 थिस्सलुनीकियों 4:17); और सभी मृतक उन्हीं शरीरों के साथ और कोई दूसरा नहीं, यद्यपि भिन्न गुणों के साथ जिलाए जाएंगे, जो कि उनकी आत्माओं के साथ सदा के लिए मिल जाएंगे (अय्यूब 19:26 – 27; 1 कुरिन्थियों 15:42 – 44)।

भाग 3

दुष्टों के शरीर, ख्रीष्ट की सामर्थ्य से अनादर के लिए जिलाए जाएंगे; धर्मियों के शरीर, उसके आत्मा के द्वारा, आदर के लिए जिलाए जाएंगे, और स्वयं ख्रीष्ट के महिमामय शरीर के अनुरूप बनाए जाएँगे (यूहन्ना 5:28 – 29; प्रेरितों के काम 24:15; 1 कुरिन्थियों 15:42; फिलिप्पियों 3:21)।

व्याख्या

1. *अन्तिम दिन पर, जो लोग जीवित पाए जाएंगे वे मरेंगे नहीं, परन्तु उनमें एक अद्भुत बदलाव आएगा।* यह सत्य सबसे पहले पौलुस की कुरिन्थियों के नाम पहली पत्री में कलीसिया को प्रकट किया गया था: 'देखो, मैं तुम से भेद की बात कहता हूँ: हम सब नहीं सोएँगे, परन्तु सब

बदल जाएँगे' (1 कुरिन्थियों 15:51)। जब यीशु ख्रीष्ट संसार का न्याय करने के लिए स्वर्ग से आएगा, तो पृथ्वी पर कुछ लोग जीवित पाए जाएँगे; ये लोग मरेंगे नहीं, और न कुछ समय के लिए पृथ्वी की धूल में सोएँगे; परन्तु वे उन्हीं लोगों के समान बदलाव का अनुभव करेंगे, जैसा उन लोगों में होगा जिन्हें तब कब्र से जिलाया जाएगा; और, जैसा कि हमें बताया गया है, जीवित लोगों के परिवर्तित होने से पहले मरे हुए संत जी उठाए जाएँगे। 'क्योंकि प्रभु आप ही स्वर्ग से उतरेगा; उस समय ललकार, और प्रधान दूत का शब्द सुनाई देगा, और परमेश्वर की तुरही फूँकी जाएगी; और जो मसीह में मरे हैं, वे पहले जी उठेंगे। तब हम जो जीवित और बचे रहेंगे उनके साथ बादलों पर उठा लिये जाएँगे कि हवा में प्रभु से मिलें; और इस रीति से हम सदा प्रभु के साथ रहेंगे' (1 थिस्सलुनीकियों 4:16, 17)।

2. *मृतकों का एक सार्वजनिक पुनरुत्थान होगा।* यह एक ऐसा सिद्धांत है जिसे केवल अपनी बुद्धि के बल पर नहीं खोजा जा सकता। अन्य धर्मों के सबसे बुद्धिमान दार्शनिकों ने इसकी हंसी उड़ाई है। जब पौलुस ने एथेंस में सुसमाचार प्रचार किया, जिसे यूनान की आँख कहा जाता था, तो एपिक्यूरियन (Epicurean) और स्टोइक (Stoic) दार्शनिकों ने मरे हुओं के जी उठने की बात पर उसकी हंसी उड़ाई। परन्तु यह कोई अविश्वसनीय बात नहीं मानी जा सकती कि परमेश्वर मृत लोगों को जिला सकता है। यदि वह सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञानी है – जैसा कि वह निश्चित रूप से है, वरना वह परमेश्वर नहीं रह जाता – तो इसे असम्भव नहीं माना जा सकता। जिसने धूल से मनुष्य के शरीर को बनाया और उसमें जीवन का श्वास फूँका, वह निश्चित रूप से, जब शरीर धूल में मिल चुका हो, तो उसे फिर से जीवित करने और उसमें जान डालने में सक्षम होगा। पुनरुत्थान के सिद्धांत के विरुद्ध उठाई जा सकने वाली सभी आपत्तियों के जवाब के रूप में, परमेश्वर की सामर्थ्य का हमारे उद्धारकर्ता ने उल्लेख किया है। उसने सदूकियों से, जो यहूदियों का एक ऐसा सम्प्रदाय था जो इस सिद्धांत को नहीं मानता था, यह

कहा: 'तुम पवित्रशास्त्र और परमेश्वर की सामर्थ्य नहीं जानते; इस कारण भूल में पड़े हो' (मत्ती 22:29)।

परन्तु यह केवल परमेश्वर की इच्छा के प्रकटीकरण के द्वारा ही है कि हमें पुनरुत्थान की निश्चितता के विषय में पक्की रीति से आश्वस्त किया जाता है। इसे पुराने नियम के लेखों में प्रकट किया गया था। अय्यूब ने अपने शरीर के फिर से जीवित होने पर बहुत ही दृढ़ भरोसा जताया (अय्यूब 19:25)। दानिय्येल नबी की भविष्यवाणी भी उतनी ही स्पष्ट है (दानिय्येल 12:2)। हमारे प्रभु की उद्घोषणा वाले उपदेशों में इस सिद्धांत का एक प्रमुख स्थान था: 'वह समय आता है कि जितने कब्रों में हैं वे उसका शब्द सुनकर निकल आएँगे ...' (यूहन्ना 5:28, 29)। हमारे प्रभु के स्वर्गारोहण के बाद, उसके प्रेरितों की गवाही का महान विषय यही था, क्योंकि इस सत्य पर मसीही विश्वास की पूरी नींव टिकी हुई थी। इसीलिए पौलुस ने कुरिन्थियों की कलीसिया के साथ इस रीति से तर्क किया: 'इसलिये जब कि मसीह का यह प्रचार किया जाता है कि वह मरे हुओं में से जी उठा, तो तुम में से कितने कैसे कहते हैं कि मरे हुओं का पुनरुत्थान है ही नहीं? यदि मरे हुओं का पुनरुत्थान है ही नहीं, तो मसीह भी नहीं जी उठा; और यदि मसीह नहीं जी उठा, तो हमारा प्रचार करना भी व्यर्थ है, और तुम्हारा विश्वास भी व्यर्थ है' (1 कुरिन्थियों 15:12 – 14)।

संतों का पुनरुत्थान स्वयं यीशु ख्रीष्ट के पुनरुत्थान से दृढ़तापूर्वक स्थापित होता है। उस अध्याय में जिसका उल्लेख अभी हमने किया, प्रेरित उन पक्के प्रमाणों को दिखाता है जो उसके पास और उसके भाइयों के पास यीशु ख्रीष्ट के जी उठने के विषय में थे, और फिर वह तर्क देता है कि यदि यह विश्वास किया जाता है कि यीशु ख्रीष्ट जो उनका सिर या मुखिया है वह जी उठा है, तो इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि विश्वासी लोगों का पुनरुत्थान भी अनिवार्य रूप से होगा। कब्र उस वस्तु को अपने पास नहीं रख सकती जो जीवित उद्धारकर्ता के साथ इतनी गहराई से जुड़ी हुई है।

'परन्तु सचमुच मसीह मुर्दों में से जी उठा है, और जो सो गए हैं उनमें वह पहला फल हुआ' (1 कुरिन्थियों 15:20; साथ में देखें 1 थिस्सलुनीकियों 4:14; रोमियों 8:11)।

3. *मरे हुए लोग उन्हीं शरीरों के साथ जिलाए जाएँगे, हालाँकि उन शरीरों के गुण अलग होंगे*। पुनरुत्थान शब्द का अर्थ ही यही है, कि वही शरीर फिर से जिलाए जाएँगे जो मृत्यु के कारण नष्ट हो गए थे; क्योंकि यदि परमेश्वर नए शरीरों को बनाए और उन्हें मरे हुओं की आत्माओं के साथ जोड़े, तो यह पुनरुत्थान नहीं, बल्कि एक नई सृष्टि होगी। हमारे उद्धारकर्ता कहते हैं: 'जितने कब्रों में हैं वे उसका शब्द सुनकर निकल आएँगे'; इसका निश्चित रूप से यही अर्थ है कि जिन शरीरों को कब्र में रखा गया था, वे ही जिलाए जाएँगे; क्योंकि, यदि नए शरीर बनाए जाते और उन्हें उनकी आत्माओं से जोड़ा जाता, तो सचमुच यह नहीं कहा जा सकता था कि वे अपनी कब्र से बाहर आए हैं। प्रेरित पौलुस इस बात की पुष्टि करता है कि वह शरीर फिर से जिलाया जाएगा जो नाशवान अवस्था में बोया गया था, और वह कहता है: 'क्योंकि अवश्य है कि यह नाशवान् देह अविनाश को पहिन ले, और यह मरनहार देह अमरता को पहिन ले'; मानो, उस नाशवान् और नश्वर शरीर की ओर संकेत करता है, जिसे वे इस जीवन में धारण किए हुए थे। परन्तु, भले ही संतों के शरीर मूल रूप से और तत्व के मामले में वही रहेंगे, फिर भी उनके गुणों में बहुत बड़ा परिवर्तन आ जाएगा। 'मांस और लहू' अपने वर्तमान स्थूल और कमजोर अवस्था में, 'परमेश्वर के राज्य के अधिकारी नहीं हो सकते, और न ही नाशवान, अविनाशी का अधिकारी हो सकता है।' इसलिए, पुनरुत्थान वाले शरीर के गुणों के सम्बन्ध में अद्‌भुत परिवर्तन आएगा, ताकि वह स्वर्गीय अवस्था के कार्यों और सुखों के योग्य बन सके। 'शरीर नाशवान् दशा में बोया जाता है और अविनाशी रूप में जी उठता है। वह अनादर के साथ बोया जाता है, और तेज के साथ जी उठता है; निर्बलता के साथ बोया जाता है, और सामर्थ्य के साथ जी

उठता है। स्वाभाविक देह बोई जाती है, और आत्मिक देह जी उठती है : जबकि स्वाभाविक देह है, तो आत्मिक देह भी है' (1 कुरिन्थियों 15:42 – 44)। दुष्ट लोगों के सम्बन्ध में, पवित्रशास्त्र हमें उनके शरीर की अवस्था और गुणों के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं देता है। हम बस इतना जानते हैं कि वे अपनी 'नामधराई और सदा तक अत्यन्त घिनौने ठहरने के लिये' जिलाए जाएँगे; इससे स्पष्ट होता है कि उन्हें अपमान का सामना करना पड़ेगा।

धर्मियों के पुनरुत्थान को पाने के लिए हमें कितनी इच्छा रखनी चाहिए! यही पौलुस की बड़ी इच्छा, और उसके सम्पूर्ण हृदय से किए गए उद्यम का उद्देश्य था (फिलिप्पियों 3:11)। यदि हम उस धन्य पुनरुत्थान को पाना चाहते हैं, तो हमारी चिंता यह होनी चाहिए कि हम 'यीशु ख्रीष्ट में पाए जाएँ'। उसके पवित्र आत्मा के हमारे भीतर वास करने और जीवंत विश्वास के कारण उनसे मेल होने के कारण, हमें मृत्यु या कब्र से कैदियों के समान डरने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यीशु ख्रीष्ट ही 'पुनरुत्थान और जीवन है; जो कोई उस पर विश्वास करता है वह यदि मर भी जाए तौभी जीएगा, और जो कोई जीवित है और उस पर विश्वास करता है, वह अनन्तकाल तक न मरेगा'।

अध्याय 33

अन्तिम न्याय

भाग 1

परमेश्वर ने एक दिन ठहराया है, जिसमें वह यीशु ख्रीष्ट के द्वारा धार्मिकता में जगत का न्याय करेगा (प्रेरितों के काम 17:31), जिसे पिता की ओर से सारी सामर्थ्य एवं न्याय दिया गया है (यूहन्ना 5:22, 27)। उस दिन में, न केवल धर्म-त्यागी व विश्वासघाती स्वर्गदूतों का न्याय किया जाएगा (1 कुरिन्थियों 6:3; यहूदा 1:6; 2 पतरस 2:4), बल्कि पृथ्वी पर रहने वाले सभी लोगों को भी ख्रीष्ट के न्यायाधिकरण के सामने उपस्थित होना पड़ेगा, ताकि वे अपने विचारों, शब्दों एवं कार्यों का लेखा-जोखा दें; और अपने शारीरिक जीवन में किए गए भले या बुरे कार्यों के अनुसार दण्ड प्राप्त करें (2 कुरिन्थियों 5:10; सभोपदेशक 12:14; रोमियों 2:16; 14:10, 12; मत्ती 12:36 – 37) ।

भाग 2

परमेश्वर द्वारा इस दिन को नियुक्त करने का उद्देश्य, चुने हुए लोगों के अनन्त उद्धार में अपनी दया की महिमा को प्रकट करना है; और उन दुष्ट लोगों के नरक-दण्ड देने में अपने न्याय को प्रकट करना है, जो दुष्ट एवं अवज्ञाकारी हैं । क्योंकि तब धर्मी लोग अनन्त जीवन में प्रवेश करेंगे, और आनन्द एवं जीवन से उस परिपूर्णता को प्राप्त करेंगे, जो प्रभु की उपस्थिति से आएगा: परन्तु दुष्ट, जो परमेश्वर को नहीं जानते हैं, और यीशु ख्रीष्ट के सुसमाचार को नहीं मानते हैं, उन्हें प्रभु की उपस्थिति से, और उसकी सामर्थ्य की महिमा से दूर, अनन्त पीड़ा में डाल दिया

जाएगा, और अनन्त विनाश से दण्डित किया जाएगा (मत्ती 25:31 – 46; रोमियों 2:5 – 6; 9:22, 23; मत्ती 25:21; प्रेरितों के काम 3:19; 2 थिस्सलुनीकियों 1:7 – 10)।

व्याख्या

मृत्यु के तुरन्त बाद प्रत्येक व्यक्ति को एक विशेष न्याय से गुजरना पड़ता है; क्योंकि 'मनुष्यों के लिये एक बार मरना और उसके बाद न्याय का होना नियुक्त है' (इब्रानियों 9:27)। एक सार्वजनिक न्याय भी है, जो अंतिम दिन पर, मुर्दों के जी उठने के बाद होगा। वर्तमान भाग: (1) भविष्य में होने वाले न्याय की निश्चितता की घोषणा करते हैं; (2) पुष्टि करते हैं कि इस न्याय के संचालन की जिम्मेदारी यीशु ख्रीष्ट को सौंपी गई है; (3) उन पक्षों का उल्लेख करते हैं जिन्हें उसके न्यायाधिकरण के समक्ष उपस्थित होना होगा; (4) जिन मामलों पर सुनवाई होगी; और, (5) वह निर्णय जो सुनाया जाएगा।

1. भविष्य में होने वाले न्याय की *निश्चितता*। हमें बताया गया है कि पौलुस ने फेलिक्स के सामने आने वाले न्याय के विषय में तर्क दिया (प्रेरितों के काम 24:25)। उसने वस्तुओं की प्रकृति और तर्क के आधार पर इस सत्य को प्रमाणित किया; और भले ही हमारा विश्वास एक बहुत ही दृढ़ आधार पर टिका हुआ है, हमें ऐसे तर्कों को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए।

(क) भविष्य में होने वाले न्याय की निश्चितता विवेक की आवाज़ से प्रकट होती है। यहाँ तक कि जिन मनुष्यों को आलोकिक प्रकाशन नहीं मिला है, वे भी भले और बुरे के बीच के आधारभूत अंतर को समझते हैं। जब वे भला करते हैं, तो उनका विवेक उनके व्यवहार को सही ठहराता है और उनकी प्रशंसा करता है; और जब वे वह कार्य करते हैं जो बुरा है, तो उनका विवेक उनकी उलाहना और निन्दा करता है। यदि उन्होंने कोई बहुत ही बड़ा अपराध किया है, तो उनका विवेक उन्हें पछतावे का चुभन देता है; और यह तब भी होता है, भले ही अपराध गुप्त हो, और हर किसी

मनुष्य की दृष्टि से छिपा हो। यह कहाँ से आता है, केवल भविष्य में मिलने वाले दण्ड के भयानक पूर्वाभास से? इसी के अनुसार, प्रेरित पौलुस बताता है कि सभी मनुष्यों के भीतर इस बात का गवाह है कि भविष्य में एक न्याय होगा (रोमियों 2:15)।

(ख) बुद्धि इस संसार के वर्तमान स्थिति के आधार पर भविष्य के न्याय का अनुमान लगाती है। यहाँ हम धर्म के दो आधारभूत सिद्धांतों को मानकर चलते हैं – परमेश्वर का अस्तित्व और संसार के प्रशासन में उसका दिव्य विधान। वे सभी लोग जो इन सत्यों को मानते हैं, उन्हें यह मानना चाहिए, और वे मानते भी हैं कि परमेश्वर असीम रूप से न्यायप्रिय (धर्मी) और दयालु है; और वह इसके अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकता। इससे यह अनिवार्य परिणाम निकलता है कि धर्मी लोगों का भला होगा और बुरे लोगों का बुरा। परन्तु संसार की वर्तमान परिस्थिति पर सरसरी दृष्टि हमें कायल करने के लिए पर्याप्त है कि, इस संसार में परमेश्वर केवल भले लोगों को समृद्धि, और केवल दुष्ट लोगों को तंगहाली नहीं देता हैं। 'एक व्यर्थ बात पृथ्वी पर होती है, अर्थात् ऐसे धर्मी हैं जिनकी वह दशा होती है जो दुष्टों की होनी चाहिये, और ऐसे दुष्ट हैं जिनकी वह दशा होती है जो धर्मियों की होनी चाहिए' (सभोपदेशक 8:14)। परमेश्वर के कार्य करने के तरीकों ने हर युग में लोगों की बुद्धि को उलझन में डाला है, और परमेश्वर की संतानों के विश्वास की परीक्षा ली है (भजन संहिता 73:4 – 17; यिर्मयाह 12:1, 2; हबक्कूक 1:13)। परन्तु बुद्धि का सही रीति से उपयोग करना हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाएगा कि, परमेश्वर के अस्तित्व और उसके दिव्य विधान के आधार पर, एक ऐसा दिन आ रहा होगा, जब इन बातों की समीक्षा की जाएगी, और जब उन लोगों के बीच एक बड़ा और स्पष्ट अंतर किया जाएगा जो परमेश्वर की सेवा करते हैं और जो उसकी सेवा नहीं करते हैं।

(ग) संसार के आरम्भ से लेकर अब तक परमेश्वर ने जितने भी असाधारण न्याय किए हैं, उनमें उसने इस सत्य की गवाही दी है। हालाँकि इस संसार में बहुत अधिक बुराइयाँ बिना दण्ड पाए और बिना पता चले रह जाती हैं, फिर भी परमेश्वर कभी-कभी दुस्साहसी अपराधियों को दण्ड देता है, ताकि यह दिखाया जा सके कि वह पृथ्वी पर न्याय करता है, और लोगों को आने वाले न्याय के विषय में चेतावनी दी जा सके। न्याय के विशेष मामलों में, 'परमेश्वर का क्रोध तो उन लोगों की सब अभक्ति और अधर्म पर स्वर्ग से प्रगट होता है'; और संकेत भी दिया गया है कि वह इसके बाद आगे क्या करेगा (2 पतरस 2:5, 6; 3:5, 7)।

(घ) पवित्रशास्त्र के सबसे स्पष्ट प्रमाणों द्वारा इस बात की पुष्टि होती है कि भविष्य में न्याय होने वाला है। हनोक ने उस युग के लोगों को, जो बहुत ही अनैतिक जीवन जी रहे थे, चेतावनी देने के लिए इस सार्वभौमिक न्याय के दिन के आने की भविष्यवाणी की थी (यहूदा 14, 15)। सुलेमान ने भोग-विलास में डूबे लोगों को यह गम्भीर चेतावनी दी: 'परन्तु यह जान रख कि इन सब बातों के विषय परमेश्वर तेरा न्याय करेगा' (सभोपदेशक 11:9)। अय्यूब ने अपने मित्र को यह स्मरण दिलाया कि न्याय अवश्य होगा; और भजन का लिखने वाला भी कई बार बहुत ही गम्भीर वचनों में इसका उल्लेख करता है (अय्यूब 19:29; भजन संहिता 50:3 – 6; 98:9)। हमारे प्रभु ने अपनी सेवकाई के दौरान, बार-बार इस आने वाले न्याय की भविष्यवाणी की थी; और उनके प्रेरितों के लेखों में इस सत्य के कई प्रमाण मिलते हैं (मत्ती 25:31 – 46; रोमियों 14:10; 2 कुरिन्थियों 5:10)।

(ङ) यीशु ख्रीष्ट के पुनरुत्थान से इस सत्य की पुष्टि होती है। प्रेरित पौलुस इस बात की पुष्टि करने के बाद कि परमेश्वर ने 'एक दिन ठहराया है, जिसमें वह उस मनुष्य के द्वारा धार्मिकता से जगत का न्याय करेगा, जिसे उसने ठहराया है', वह आगे कहता है, उसने 'उसे मरे हुओं में से जिलाकर यह बात सब पर प्रमाणित कर दी है' (प्रेरितों के काम 17:31)।

यीशु ख्रीष्ट का पुनरुत्थान, सार्वजनिक पुनरुत्थान का एक नमूना और प्रमाण है – न्याय के लिए एक बहुत बड़ी तैयारी है। यह हमारे प्रभु के दिव्य मिशन का अकाट्य प्रमाण है, और इसलिए, उनके सभी दावों की प्रामाणिक पुष्टि है। अपने अपमान (दीनता) के दिनों में, जब लोगों के न्यायालय में उस पर आरोप लगाए गए और उसे दोषी ठहराया गया, तो उसने उन्हें भविष्य के न्याय के विषय में स्पष्ट रीति से चेतावनी दी, और घोषणा की कि वह स्वयं ही न्यायाधीश होगा; 'यीशु ने उससे कहा, वरन् मैं तुम से यह भी कहता हूँ कि अब से तुम मनुष्य के पुत्र को सर्वशक्तिमान के दाहिनी ओर बैठे, और आकाश के बादलों पर आते देखोगे' (मत्ती 26:64)। अब, चूंकि परमेश्वर ने उसे मृतकों में से जिलाया है, - हालाँकि इसी बात को कहने के कारण उसे परमेश्वर की निन्दा करने का दोषी ठहराया गया था, - तो क्या यह स्वर्ग की ओर से इस बात का पक्का प्रमाण नहीं है कि उसने जो दृढ़ता से कहा था, वह सच था?

2. भविष्य के न्याय का कार्य यीशु ख्रीष्ट को सौंपा गया है: 'यह वही है जिसे परमेश्वर ने जीवतों और मरे हुओं का न्यायी ठहराया है' (प्रेरितों के काम 10:42)। वास्तव में, प्रायः कहा जाता कि 'परमेश्वर जगत का न्याय करेगा'; और भजन का लिखने वाला कहता है: 'परमेश्वर तो आप ही न्यायी है' (भजन संहिता 50:6)। इन घोषणाओं में कैसे सामंजस्य स्थापित किया जाए? पौलुस के वचन हमें इस कठिनाई को सुलझाने में सहायता करते हैं। उसने हमें बताया है कि 'उसने एक दिन ठहराया है, जिसमें वह उस मनुष्य के द्वारा धार्मिकता से जगत का न्याय करेगा, जिसे उसने ठहराया है' (प्रेरितों के काम 17:31)। इस बात से ऐसा लगता है कि परमेश्वर पिता, अपने पुत्र के द्वारा जगत का न्याय करता है। न्याय की सर्वोच्च शक्ति परमेश्वरत्व (त्रिएक परमेश्वर) में निहित है, और उस शक्ति का क्रियान्वयन यीशु ख्रीष्ट को, एक मध्यस्थ के रूप में सौंपा गया है (यूहन्ना 5:22)।

इस व्यवस्था में एक अनोखा औचित्य और उपयुक्तता है:

क. यह उचित है कि यीशु ख्रीष्ट को यह उच्च पद, उनके अत्यधिक अपमान और अपमानजनक कष्टों के लिए सम्मानजनक पुरस्कार के रूप में प्रदान किया जाए।

ख. चूंकि पुनरुत्थान के बाद मनुष्यों का न्याय उनके शारीरिक अवस्था में किया जाना है, इसलिए यह उचित है कि उनका न्यायाधीश भी दिखाई देने वाला हो।

ग. यह भी उचित है यीशु ख्रीष्ट को ही सर्वोच्च न्यायाधीश होना चाहिए, क्योंकि इससे संत लोगों को बहुत सांत्वना मिलेगी कि उनका न्याय उस व्यक्ति के द्वारा होगा जो उनके स्वभाव का भागीदार है, जिसने अपने लहू से उन्हें छुड़ाकर परमेश्वर के लिए मोल लिया है, और जो पिता के सामने उनका वकील या अधिवक्ता है।

घ. यह भी कहा जा सकता है कि इससे दुष्टों की निन्दा और भी स्पष्ट रूप से न्यायपूर्ण साबित होगी; क्योंकि यदि एक मध्यस्थ – उद्धारकर्ता – पापियों का मित्र उन्हें दोषी ठहराता है, तो वे सचमुच दोषी ठहराए जाने के ही योग्य होंगे।

3. अब हम उन पक्षों पर विचार करेंगे जो यीशु ख्रीष्ट के न्याय-आसन के सामने उपस्थित होंगे। पवित्रशास्त्र अच्छे व भले स्वर्गदूतों के न्याय के विषय में कुछ नहीं कहता है, परन्तु यह स्पष्ट रूप से सिखाता है कि उन स्वर्गदूतों का न्याय किया जाएगा, जो अपने पद को स्थिर न रख सके और गिर गए हैं (यहूदा 6; 2 पतरस 2:4)। यह स्पष्ट रीति से बताया गया है कि सभी लोग यीशु ख्रीष्ट के न्याय-सिंहासन के सामने खड़े होंगे (2 कुरिन्थियों 5;10)। हमें बताया गया है यीशु ख्रीष्ट 'अपने प्रगट होने पर जीवतों और मृतकों का न्याय करेगा' (2 तीमुथियुस 4:1)। 'जीवतों और मृतकों' वाले वाक्यांश में समस्त मानवजाति सम्मिलित है। *मृतकों* का तात्पर्य उन लोगों से समझा जाना चाहिए, जो ख्रीष्ट के न्याय के लिए आने से पहले मर चुके

थे; और *जीवतों* का तात्पर्य उन लोगों से है, जो उस समय जीवित पाए जाएँगे।

4. जिस मुद्दे पर न्याय होना है। इसे बहुत ही व्यापक शब्दों में बताया गया है: 'परमेश्वर सब कामों और सब गुप्त बातों का, चाहे वे भली हों या बुरी, न्याय करेगा' (सभोपदेशक 12:14)। मनुष्यों के पुत्रों के सभी कामों का न्याय किया जाएगा, और शरीर में रहते हुए उन्होंने जो कुछ भी किया होगा, चाहे भला या बुरा, उसके अनुसार उन्हें फल मिलेगा। न केवल जीवन के कार्यों का, बल्कि मनुष्यों के वचनों का भी न्याय किया जाएगा; क्योंकि हमारे उद्धारकर्ता ने हमें आश्वस्त किया है कि 'मैं तुम से कहता हूँ कि जो जो निकम्मी बातें मनुष्य कहेंगे, न्याय के दिन वे हर एक उस बात का लेखा देंगे' (मत्ती 12:36)। और न केवल मनुष्यों के कामों और वचनों का, बल्कि उनके विचारों का न्याय भी किया जाएगा; क्योंकि हमें बताया गया है कि 'परमेश्वर मेरे सुसमाचार के अनुसार यीशु मसीह के द्वारा मनुष्यों की गुप्त बातों का न्याय करेगा' (रोमियों 2:16)।

5. जो न्यायिक निर्णय सुनाया जाएगा, वह उन अलग-अलग अवस्थाओं के अनुसार होगा जिनमें मनुष्य पाए जाएँगे। उन्हें उनके कामों के अनुसार दण्ड मिलेगा (प्रकाशितवाक्य 20:13)। ध्यान देने वाली बात यह है कि, उस दिन धर्मी लोगों के भले काम - उनके बरी होने या उन्हें अनन्त जीवन के योग्य माने जाने के लिए नहीं, बल्कि उनके अनुग्रह की स्थिति में होने के प्रमाण के रूप में, और यीशु ख्रीष्ट की धार्मिकता उनके लिए गिने जाने के रूप में - प्रगट होंगे। परन्तु दुष्ट लोगों के बुरे काम - न केवल यीशु ख्रीष्ट से अनजान होने के प्रमाण के आधार पर, बल्कि उनके दण्ड के आधार पर भी - प्रगट किए जाएँगे। राजा अपने दाहिनी ओर खड़े महिमा पाए लोगों के समूह से कहेगा: 'हे मेरे पिता के धन्य लोगो, आओ, उस राज्य के अधिकारी हो जाओ, जो जगत के आदि से तुम्हारे लिये तैयार किया गया है।' उसके बाईं ओर खड़ी दोषी भीड़ को जो दण्ड सुनाया

जाएगा, वह कितना अलग होगा! उनसे वह कहेगा: 'हे शापित लोगो, मेरे सामने से उस अनन्त आग में चले जाओ, जो शैतान और उसके दूतों के लिये तैयार की गई है।' इस न्यायिक निर्णय को सुनाए जाते ही तुरन्त इस पर कार्यवाही की जाएगी। जबकि पतित स्वर्गदूतों और दुष्ट मनुष्यों को न्यायाधीश के सामने से सर्वदा के लिए विनाश के गड्ढे (नरक) में डाल दिया जाएगा, धर्मी लोगों को स्वर्गीय निवासों में ले जाया जाएगा, और वे 'फिर कभी बाहर न निकलेंगे'। 'ये अनन्त दण्ड भोगेंगे; परन्तु धर्मी अनन्त जीवन में प्रवेश करेंगे'। यही वाक्यांश धर्मी लोगों के आनन्द और दुष्ट लोगों के दण्ड के लिए उपयोग होने के कारण, हम इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि दोनों का समय-काल एक जैसा ही होगा।

भाग 3

जैसे कि ख्रीष्ट चाहते हैं कि हम निश्चित रूप से आश्वस्त रहें कि न्याय का दिन अवश्य आएगा, ताकि सभी मनुष्य पाप से दूर रहें, और धर्मी लोगों को उनकी विपत्ति में अधिक सांत्वना मिले (लूका 21:27 – 28; रोमियों 8:23 – 25; 2 कुरिन्थियों 5:10 – 11; 2 थिस्सलुनीकियों 1:5 – 7; 2 पतरस 3:11, 14): उसी रीति से वह चाहता है कि वह दिन मनुष्य के लिए अज्ञात रहे, ताकि वे सभी सांसारिक आश्रय को दूर कर सकें, और सदा जागते रहें, क्योंकि वे नहीं जानते हैं कि प्रभु किस समय आएगा; और कि वे सदा यह कहने के लिए तत्पर रहें, हे, प्रभु यीशु, शीघ्र आ। आमीन (मत्ती 24:36, 42 – 44; मरकुस 13:35 – 37; लूका 12:35 – 36; प्रकाशितवाक्य 22:20)।

व्याख्या

अनन्त न्याय का वह दिन परमेश्वर की दिव्य योजना में तय है; परन्तु, इसलिए कि हम सदा जागते रहें, परमेश्वर ने अपनी बुद्धिमत्ता में उस दिन

की जानकारी को हमें छिपा कर रखा है। भले ही संसार का न्याय करने के लिए स्वर्गीय बादलों में यीशु ख्रीष्ट के आने में कई युग बीत जाए, लेकिन हर किसी को यह स्मरण रखना चाहिए कि उसकी अपनी मृत्यु का दिन उसके लिए जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही महत्वपूर्ण संसार के न्याय का दिन भी उसके लिए है; क्योंकि जिस स्थान पर मृत्यु मनुष्य को छोड़ती है, वह वहाँ पर न्याय को पाएगा। इसलिये, 'हे प्रियो, जब कि तुम इन बातों की आस देखते हो, तो यत्न करो कि तुम शान्ति से उसके सामने निष्कलंक और निर्दोष ठहरो'। हर पाठक को उसे सौंपे गए तोड़ों को बेहतर बनाने का लगन से प्रयास करना चाहिए, और स्वर्ग में अपने स्वामी से प्रशंसा पाने को उत्सुक रहना चाहिए। वह उन सभी लोगों की कितनी अधिक प्रशंसा करेगा जो उसकी सेवा में परिश्रमी और विश्वासयोग्य रहे हैं! वह उन्हें सबसे बेहतरीन प्रशंसा (शाबाशी) प्रदान करेगा: 'धन्य, हे अच्छे और विश्वासयोग्य दास'; और उन्हें उनके 'स्वामी के आनन्द में प्रवेश' देगा। सचमुच, ऐसा ही हो कि सच्चा विश्वासी यीशु ख्रीष्ट के 'प्रगट होने को प्रिय जाने'; क्योंकि जब ख्रीष्ट प्रकट होगा, तो वह भी उसके साथ महिमा में प्रकट होगा। और चूंकि ख्रीष्ट अपने वचन में घोषणा करता है, 'देख, मैं शीघ्र आनेवाला हूँ', इसलिए हर मसीही विश्वासी आनन्द के साथ प्रत्युत्तर दे, 'आमीन। हे प्रभु यीशु आ!'

परिशिष्ट 1

विश्वास के अंगीकार-कथन को स्वीकृति देने वाला अधिनियम

एडिनबर्ग में असेंबली, 27 अगस्त, 1647. सत्र 23.

तीनों राज्यों में परमेश्वर की कलीसियाओं के लिए विश्वास का अंगीकार-कथन, जो मसीही धर्म में एकरूपता का सबसे प्रमुख भाग है, जिसे पवित्र संघ एवं वाचा '**सॉलेम लीग एंड कवनेन्ट**' (**Solemn League and Covenant**) के तहत बनाए रखने के लिए हम वचनबद्ध हैं: और इसी के अनुसार, वेस्टमिन्स्टर में बैठे धर्म-गुरुओं की सभा ने स्कॉटलैंड की कलीसिया से प्रतिनिधियों की सहायता से विश्वास के अंगीकार-कथन पर सहमति बनाई; इसी अंगीकार-कथन को लंदन में स्थित हमारे प्रतिनिधियों ने पिछले जनवरी में एडिनबर्ग में एकत्रित कलीसिया के प्रतिनिधियों को भेजा था, और इस असेंबली में इसे दो बार सार्वजनिक रूप से पढ़ा, जाँचा और विचार किया गया है; इसकी प्रतियां भी छपवाई गईं ताकि इस असेंबली के सभी सदस्य इसे अच्छी रीति से पढ़ सकें, जिन्हें सार्वजनिक रूप से बार-बार सूचित किया गया कि यदि उन्हें कोई संदेह या आपत्ति हो, तो वे उसे सामने लाएं: और असेंबली ने इस अंगीकार-कथन की जाँच-पड़ताल करने के बाद पाया कि यह परमेश्वर के वचन से पूरी रीति से सहमत है, और हमारी कलीसिया द्वारा विश्वास किए जाने वाले सिद्धांत,

आराधना, अनुशासन एवं कलीसियाई प्रशासन के किसी भी रीति से विरुद्ध नहीं है। और अंत में, यह इतना आवश्यक, और बेहद प्रतीक्षित है कि, इस अंगीकार-कथन को – मसीही धर्म में एकरूपता लाने की योजना के प्रमुख भाग के तौर पर, और इन समयों की कई खतरनाक गलतियों एवं विधर्मी शिक्षाओं को अधिक प्रभावशाली रीति से दबाने के विशेष साधन के रूप में – दोनों राज्यों में पूरी तत्परता और तेज़ी के साथ स्वीकृति और मान्यता दी जाए। इसलिए, यह जनरल असेंबली परिपक्व विचार-विमर्श के पश्चात (इसे सबसे अधिक रूढ़िवादी और परमेश्वर के वचन पर आधारित मानते हुए), इस बात की सच्चाई के विषय में उक्त अंगीकार-कथन से सहमत होती है और उसे अनुमोदित करती है; और साथ ही, एकरूपता के बिंदु पर, हम इस बात से सहमत हैं कि यह तीनों राज्यों के लिए विश्वास का एक साझा अंगीकार-कथन हो। यह असेंबली परमेश्वर को धन्य कहती है, और उसकी महान दया को आभारपूर्वक स्वीकार करती है, कि विश्वास का इतना उत्कृष्ट अंगीकार-कथन तैयार किया गया है और दोनों राज्यों में अब तक उस पर सहमति बनी है; जिसे हम सच्चे रिफॉर्म्ड मसीही विश्वास के आम शत्रुओं के विरुद्ध और अधिक दृढ़ करने वाली एक बड़ी बात मानते हैं। परन्तु, कहीं हमारे अभिप्राय और अर्थ कुछ बातों में गलत न समझ लिए जाएं, इसलिए यह स्पष्ट रीति से घोषित किया और बताया जाता है, कि इस अंगीकार-कथन में कलीसिया के अलग-अलग प्रकार के अधिकारियों और सभाओं का उल्लेख न होने से, इन मामलों में यीशु ख्रीष्ट के सत्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, इन बातों को डायरेक्टरी ऑफ गवर्नमेंट (Directory of Government) में पूरी रीति से बताया जाएगा। इसके अतिरिक्त यह भी घोषित किया जाता है, कि असेंबली इकतीसवें अध्याय के दूसरे अनुच्छेद के कुछ भागों को केवल उन कलीसिया के संदर्भ में समझती है जो अभी व्यवस्थित नहीं हुए हैं, या जिनका प्रशासन अभी तक स्थापित नहीं हुआ है: और हालाँकि, ऐसी कलीसियाओं में, मजिस्ट्रेट के अधिकार और नामांकन से पादरियों, और अन्य योग्य व्यक्तियों के एक

महा-सभा (सिनॉड) बुलाई जा सकती है – बिना किसी अन्य बुलाहट के – ताकि मसीही धर्म से जुड़े मामलों पर परामर्श किया और मार्गदर्शन दिया जा सके; और भले ही, इसी रीति से, यीशु ख्रीष्ट के सेवक अपनी कलीसियाओं से अधिकार मिले बिना, अपने पद के कारण, ऐसी कलीसियाओं में जो अभी पूरी रीति से बनी नहीं हैं, आपस में सभा (सिनॉड) कर सकती हैं, फिर जो कलीसियाएँ पहले से बनी और स्थापित हैं, उनमें ऐसा नहीं किया जाना चाहिए; मजिस्ट्रेट के पास सदा यह अधिकार है कि वह पादरियों और प्रशासनिक प्राचीनों की सभाओं के साथ परामर्श ले सकता है, ये सभाएँ उनकी कलीसियाओं द्वारा भेजे गए प्रतिनिधियों से मिलकर बनती हैं और या तो नियमित रूप से होती हैं, या फिर मजिस्ट्रेट के आदेश पर, आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी बुलाई जाती हैं; यदि मजिस्ट्रेट कलीसिया की हानि करने के लिए, अपनी सहमति देने से मना कर दे या सहमति को रोक दे, तो भी कलीसियाओं से अधिकार मिलने पर, और ख्रीष्ट से मिली अंदरूनी शक्ति के माध्यम से, कलीसिया की भलाई के लिए जब भी आवश्यक हो, वे सामान्य समयों के साथ-साथ आवश्यकता पड़ने पर भी सभा (सिनॉड) को बुलाने के लिए स्वतंत्र हैं; सबसे पहले विनम्र निवेदन के माध्यम से मजिस्ट्रेट को कभी-कभी सभाएँ बुलाने की आवश्यकता के विषय में समझाया जाए।

ए. कर. (A. Ker.)

विषय सूची

Adam (आदम) 10, 83, 89, 128-136, 137-152, 180-181, 194-195, 216-217, 223-224, 238-239, 270-271, 335-337, 346-348, 402-404, 447-448
Adoption (लेपालकपन) 91, 237-241, 243, 317-318, 321-328
Chastisement (अनुशासनात्मक दण्ड) 232-233
Privileges of adoption (लेपालकपन के विशेषाधिकार) 237-240
Anabaptists एनाबैपटिस्ट लोग 167, 276, 424, 489-490, 507-508
Angels (स्वर्गदूत) xxiii, 9, 17, 39, 41, 46-47, 53, 67, 79-80, 97, 103, 106, 113, 114, 118, 169, 171, 178, 181, 194, 238, 241, 320, 356, 376-382, 393, 460, 561, 571, 576, 578
Antinomians (एंटीनोमियन – व्यवस्था-विरोधी) 246, 249, 268, 344
Appollinarians (अपोलिनेरियन) 166
Apostasy (विश्वास से भटकना या त्यागना, धर्म त्याग) 131, 301, 302, 305, 314, 449
Arian (एरियन) xxii, 65, 163, 554
Arminian (आर्मिनियन) 76-77, 82, 85, 87, 92, 130, 144, 153, 193, 197, 206, 219, 289, 300-301, 318
Assurance (आश्वासन) 20, 88, 178, 259-265, 270, 285, 287, 317-334, 354, 472, 517
Atonement, Limited (प्रायश्चित, सीमित) 91, 92
Backsliding (विश्वास से भटक जाना) 307
Baptism (बपतिस्मा) 63, 466, 448
Its Mode (इसका तरीका) 505

Its End (इसके उद्देश्य) 501-503
Its Administration (इसका संचालन) 505-506
Its Subject (इसके पात्र) 506-513
Its efficacy (इसकी प्रभावकारिता) 496-497, 514-515
See, Sacraments (देखें, मसीही संस्कार) 493-499
Bible (बाइबल या पवित्रशास्त्र) xiii-xiv, 11-12, 19-20, 81-82, 93, 112, 328-329, 563
Apocrypha (अपोक्रिफा) 11-15
Authority of Scripture (पवित्रशास्त्र का अधिकार) 11-12, 14-15, 19-21, 113, 540
Inspiration of Scripture (पवित्रशास्त्र की प्रेरणा) 11-12, 16-23
Interpretation of Scripture (पवित्रशास्त्र की व्याख्या) 29-33
Perfection of Scripture (पवित्रशास्त्र की सिद्धता) 20-26
Perspicuity of Scripture (पवित्रशास्त्र की स्पष्टता) 23-24, 28-29, 34-35
Preaching and hearing of Scripture (पवित्रशास्त्र का प्रचार और सुना जाना) 213, 391-392
Reading of Scripture (पवित्रशास्त्र का पढ़ा जाना) 391-392
Standards of Religious Truth (मसीही धार्मिक सत्य के मानक) 31-35
Christian Liberty (मसीही स्वतंत्रता) 351-371
Church (कलीसिया)
Invisible Church (अदृश्य कलीसिया) 457-464
Visible Church (दृश्यमान कलीसिया) 238, 457-517
Christ, Head of the Church (ख्रीष्ट, कलीसिया का सिर या मुखिया) 472-475

Pope, not the head of the Church (पोप, कलीसिया का मुखिया नहीं) 471-473
Ruled by elders (प्राचीनों द्वारा प्रशासन) 540,543-544, 548-549, 550
Episcopalian (एपिसकोपेलियन – धर्म-अध्यक्ष प्रणाली वाली कलीसिया) xxxiv, xliv, 540
Erastian (इरास्टियन) xxvi, 431, 436, 472, 540, 544
Independent (इंडिपेंडेंट, स्वतंत्र कलीसिया) xliv, 464, 466
Presbyterian (प्रेस्बिटेरियन) xliv, 366, 439, 441, 551-552
Civil Magistrate (नागरिक मजिस्ट्रेट) 366-368, 423-445
Confession of sin (पाप का अंगीकार) 278-279
Covenant of God with man (परमेश्वर का मनुष्य के साथ वाचा) 141-158
Covenant of works (कार्यों की वाचा) 133-134, 141, 144, 145, 146, 151, 173, 335, 337, 340, 345, 346, 353
Covenant of grace (अनुग्रह की वाचा) 12, 144-158, 257, 261, 299, 312, 340, 493, 495, 498, 501, 503
Council of Constance (कॉन्स्टेंस की परिषद) 532
Council of Trent (ट्रेंट की परिषद या धर्म-सभा) 14, 300, 379, 380, 532
Creation (सृष्टि) 101-109
Creation of man (मनुष्य की रचना) 104
Image of God (परमेश्वर का स्वरूप) 107, 123, 128, 131, 146, 248, 335
Death (मृत्यु)
Continuation of the soul after death (मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व बना रहना) 559-562
Of the righteous (धर्मी लोगों की मृत्यु) 557-561

Resurrection of the dead (मृतकों का पुनरुत्थान) 557-559, 566, 567-569, 571-572
Souls of the righteous enter heaven at death (धर्मी लोगों की आत्माएँ मरने पर स्वर्ग में प्रवेश करती हैं) 557-565
Souls of the wicked enter hell at death (दुष्ट लोगों की आत्माएँ मरने पर नरक जाती हैं) 557, 565
Divorce (तलाक) 447-455
Effectual Calling (प्रभावशाली बुलाहट) 201-211
Election (चुनाव) 80-100, 202-203, 211, 261, 299, 308, 319, 330
God's eternal decrees (परमेश्वर के अनन्त विधान) 71-87
And the Holy Spirit (और पवित्र आत्मा) 94
And foreknowledge (और पूर्व-ज्ञान) 72-73, 115
And Reprobation (और नरक-दण्ड) 80, 96
Faith (विश्वास) 210, 214, 216, 219-220,
And Repentance (और पश्चाताप) 220, 268-271
Assurance of Faith (विश्वास का आश्वासन) 261-266, 287, 317, 331-332
Faith in Christ (ख्रीष्ट में विश्वास) 89, 91, 94, 152, 157, 198, 210, 250, 267, 269, 271, 337, 502, 513
Fellowship with Christ (ख्रीष्ट के साथ संगति) 482
Free will (स्वतंत्र इच्छा) 77, 193-199, 205
Arminian understanding (आर्मिनियन समझ) 193-194
Calvinist understanding (कैल्विनवाद की समझ) 193-194
God (परमेश्वर)
Natural Knowledge of God (परमेश्वर का स्वाभाविक ज्ञान) 1-8
Unity of God (परमेश्वर की एकता) 39-40

God is a spirit (परमेश्वर आत्मा है) 107
Attributes of God (परमेश्वर के गुण) 43-44
Eternal decrees of God (परमेश्वर के अनन्त विधान) 71-100
Trinity (त्रिएक परमेश्वर) 37-69, 102, 162, 165, 505
Good works (भले कार्य) 80, 283-298, 486, 577
Roman Catholic teachings (रोमन कैथोलिक शिक्षाएँ) 293-296
Value of good works (भले कार्यों का महत्व) 293
Hell (नरक) 44, 122, 140, 356, 472, 557, 561-562, 563, 565
Holy Spirit (पवित्र आत्मा) xv, xviii, xxxix, 16, 19, 20, 29, 31, 36, 62-63, 65, 68-69, 93, 95, 107, 147, 154, 157, 167, 169-170, 178, 202, 203, 205, 206, 208, 231, 247, 250, 255, 256, 269, 288, 290, 300, 306, 311-312, 313, 322, 387, 458, 481
Baptism of the Spirit (पवित्र आत्मा का बपतिस्मा) 503
And conviction of sin (और पाप के प्रति कायल करना) 268
And effectual calling, see Effectual calling (और प्रभावशाली बुलाहट, देखें प्रभावशाली बुलाहट)
And good works (और भले कार्य)
Internal call (अंदरूनी बुलाहट) 203
Witness of (की गवाही) 325
Humanity (मानवजाति)
Creation of Man (मनुष्य की रचना) 105-106
Image of God (परमेश्वर का स्वरूप) 107, 123, 132, 146, 246, 249, 335-336
Fall of man (मनुष्य का पाप में गिरना) 123-140
Consequences of original sin on Adam and Eve (आदम और हव्वा पर मूल पाप का परिणाम) 131

Consequences of sin on the human race (मानवजाति पर पाप का परिणाम) 132-140
Jesus Christ (यीशु ख्रीष्ट)
Ascension of Christ (ख्रीष्ट का स्वर्गारोहण) 358
Atonement of Christ (ख्रीष्ट का प्रायश्चित) 188
Limited Atonement (सीमित प्रायश्चित) 91-92
Deity of Christ (ख्रीष्ट का परमेश्वरीय स्वरूप) 65, 68, 163, 164, 178
Death of Christ (ख्रीष्ट की मृत्यु) 91-94, 157, 173, 183-184, 189, 190, 191-192, 218, 274, 357, 403, 520-522
Eternal Sonship (सनातन पुत्रत्व) 164, 165
Exaltation of Christ (ख्रीष्ट की महिमा) 177-184
Future Judge (भविष्य का न्यायाधीश) 181, 571-579
Humanity of Christ (ख्रीष्ट का मानवीय स्वरूप) 165-169
Holy Spirit and Christ (पवित्र आत्मा और ख्रीष्ट) 169-170
Hypostatic Union (अतिरक्तता संबंधी मेल) (परमेश्वरीय और मानवीय स्वरूप का मिलन) 169-170
Incarnation (देहधारण) 162, 163-164, 185, 187
Intercession of Christ (ख्रीष्ट की मध्यस्थता) 169, 171, 179, 180, 187, 190, 299, 310, 311, 381
Law fulfilled by Christ (ख्रीष्ट द्वारा व्यवस्था को पूरा किया करना) 173, 174
Mediatorial Office (मध्यस्थता का पद) 169, 187
Person of Christ (ख्रीष्ट का व्यक्ति) 167-187, 259, 480-481
Pre-existence of Christ (ख्रीष्ट का पूर्व-अस्तित्व) 163-164
Resurrection of Christ (ख्रीष्ट का पुनरुत्थान) 177, 401-408, 502, 517, 567, 574
Second Adam (दूसरा आदम) 140, 147, 150

Second coming (दूसरा आगमन) 390, 471, 522
Suretyship of Christ (मसीह की ज़मानत/प्रतिभूति) 171-174
Justification (धर्मी ठहराया जाना/धर्मीकरण) 213-233, 257
By faith alone (केवल विश्वास के द्वारा) 227
Imputation (अभ्यारोपण) 221-224
Judicial act (न्यायिक कार्य) 214, 247
And sanctification (और पवित्रीकरण) 247-248
A completed act (एक ही बार में पूरा कार्य) 215
Last judgment (अंतिम न्याय) 571-579
It's certainly (इसकी निश्चित्तता) 571-575
Committed to Jesus Christ (यीशु ख्रीष्ट को सौंपा गया है) 572-576
Law of God (परमेश्वर की व्यवस्था) 27, 106, 131, 138-139, 267, 270, 283, 335-249
Lord's Supper (प्रभु-भोज) 519-537
Consubstantiation (संतत्वीकरणवाद) 534
Transubstantiation (तत्त्वांतरण, तत्वों का रूपांतरण) 524-529, 534
Its dispensing (इसको बाँटना) 528-529
Its end and uses (इसका उद्देश्य और उपयोग) 520-524
Unworthy partaking (अयोग्य रूप से भाग लेना) 532-537
See, the Sacraments (देखें, मसीही संस्कार) 493-499
Marriage and divorce (विवाह और तलाक) 447-455
Oaths and Vows शपथ और व्रत 413-421
Pelagians (पेलाजियन लोग) 132, 139, 144, 197, 216, 289
Perseverance of the Saints (संतों का अंत तक दृढ़ बने रहना) 299-315

Prayer (प्रार्थना) xix, xlvi, 63-64, 69, 121, 164, 251, 253, 266, 296, 297, 304, 307, 381-399, 409, 485, 530
Pray for the dead (मृतकों के लिए प्रार्थना) 390
Predestination (पहले ही से निर्धारित) xxiii, xxiv, 73, 79-80, 82, 86, 98
Providence (परमेश्वर का दिव्य-प्रबंधन) 111-122
And Sin (और पाप) 123-128
Purgatory (शुद्धि-लोक) 562-564
Quakers (क्वेकर्स) 415, 425, 502, 521
Reprobation (अनन्त नरक-दंड के लिए ठहराया जाना) xxiv, 80, 96
Repentance (पश्चाताप) 267-281
Resurrection (पुनरुत्थान) 557-569
Right to private property (निजी संपत्ति का अधिकार) 490
Roman Catholic Church (रोमन कैथोलिक चर्च) 462-470
Roman Catholic Teachings (रोमन कैथोलिक शिक्षाएँ)
Assurance (आश्वासन) 318
Attitude to marriage (विवाह के प्रति दृष्टिकोण) 449-450
Civil magistrate (नागरिक मजिस्ट्रेट) 441-444
Faith (विश्वास) 259
Good works (भले कार्य) 358-408
Liberty of conscience (विवेक की स्वतंत्रता) 358-361
Moral law (नैतिक व्यवस्था) 337-339
Oaths (व्रत) 417-420
Perseverance of the saints (संतों का अंत कर दृढ़ रहना) 300-303
Purgatory (शुद्धि-स्थल) 562-563
Repentance (पश्चाताप) 271-281
Sanctification (पवित्रीकरण) 247-249

Sin (पाप) 275-276
Confession of Sin (पाप स्वीकार करना) 275
Worship (आराधना)
Use of images (मूर्तियों या प्रतीकों का उपयोग) 338-339
Prayer for the dead (मृतकों के लिए प्रार्थना) 390
Saints and angels (संत लोग और स्वर्गदूत) 376-381
Sabbath (सब्त या विश्राम-दिन) 373-412
Sanctification (पवित्रीकरण) 245-252
Satan (शैतान) 1, 26, 41, 120, 123, 125, 238, 300, 304, 305, 351, 354, 373, 377, 469, 471, 481, 546
Sin (पाप) 118-119, 268-269
Socinians (सोसिनियन लोग) 34, 55, 65, 68, 75, 82, 85, 130, 139, 144, 162, 172, 175, 215, 216, 222, 229, 233, 249, 274, 494
Spiritual union (आत्मिक मेल)
Believers united to Christ (ख्रीष्ट के साथ विश्वासियों का मेल) 458-465, 479, 482
Believers united to one another (विश्वासियों का एक-दूसरे के साथ मेल) 479-480, 482, 483-484
Unitarians (एकेश्वरवादी लोग) 60, 66, 162
Worship (आराधना)
Religious Worship (मसीही धार्मिक आराधना) 373-412
Angels and Saints not to be worshipped (स्वर्गदूतों और संतों की आराधना नहीं करनी चाहिए) 373-382
Preaching and hearing the Word (वचन का प्रचार और सुनना) 391-394

Singing of psalms (भजनों का गाया जाना) 395
Family Worship (पारिवारिक आराधना) 398
Personal Worship (व्यक्तिगत आराधना) 399
Public Worship (सार्वजनिक आराधना) 394-400, 464, 469, 485, 552